S.4

महाभारतकालीन राज्य-व्यवस्था

(मध्यकालीन यूरोपीय राजशास्त्रीय चिन्तन और संस्थाओं के साथ विशेषतः मैकियावेलीकृत 'प्रिंस' के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन)

[अलीगढ़ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का परिष्कृत रूप]

डॉ० रघुवीर शास्त्री
एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यशास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़ ।

भूमिका :
डॉ० हरवंशलाल शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय एवं
(अध्यक्ष, पारिभाषिक शब्दावली आयोग शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार)

प्रकाशक :
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ ।

[मूल्य ३०·००
१९७१]

प्रकाशक
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

प्रथम संस्करण : १९७१
मूल्य : तीस रुपये मात्र

मुद्रक
राजकिशोर शर्मा
सर्वोदय प्रेस,
२९४, जत्तीवाड़ा, मेरठ।
दूरभाष : ४३५२

समर्पण

त्याग, तपस्या और देशभक्ति
के ज्वलंत प्रदीप
कर्मवीर स्वतन्त्रता सेनानी
मेरे पूज्य पितृ चरण
दिवंगत श्री रामकृष्णसिंह जी
की पावन-स्मृति में
प्रथम भेंट

भूमिका

महाभारत भारतीय संस्कृति, धर्म और राजनीति का विश्वकोष कहा जाता है। कहा गया है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्'। अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की भाँति महाभारत की सर्जना-तिथि निश्चित नहीं है। इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि इसके तीन संस्करण पृथक्-पृथक् उपलब्ध हुए हैं। तृतीय संस्करण में एक लाख श्लोक हैं। साथ ही २५,००० श्लोकों का परिशिष्ट भी हरिवंशपुराण के रूप में है। परन्तु तृतीय संस्करण का रूप चाहे कितना ही विस्तृत एवं विशाल क्यों न हो महाभारत की सभी मूल बातें उसमें सुरक्षित है। इसलिए सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के मूल तत्त्वों और संस्थाओं के अध्ययन की दृष्टि से प्रथम संस्करण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना तृतीय संस्करण। वस्तुस्थिति तो यह है कि परवर्ती धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परम्पराओं पर भी महाभारत का स्पष्ट प्रभाव है। बौद्ध और जैन धर्म के मूलतत्त्व भी महाभारत में उपलब्ध हो जाते हैं। एक सबसे बड़ी बात इस ग्रन्थ की यह है कि इसमें वे मूल्य निहित हैं जो समाज, राजनीति तथा संस्कृति के मूल सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। इसलिए हम उन मूल्यों को सार्वभौम सार्वजनीन और सर्वांगीण कह सकते हैं। किसी भी देश की राजनीति अथवा शासन-संस्थाओं का मूल रूप महाभारत में देखा जा सकता है।

महाभारत को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, विशाल साहित्य की सर्जना हुई है तथा महाभारत के मूल सिद्धान्तों पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है। महाभारत की मूल आत्मा संघर्षमय है इसलिए इस ग्रन्थ में राजनीति का जितना विशद विश्लेषण हुआ है इतना और किसी अंग का नहीं है। भारतीय राजनीति की यह विशेषता रही है कि वह धर्म और समाज से सापेक्ष होकर ही वैशिष्ट्य ग्रहण करती है। आज के युग में धर्म और राजनीति को अलग रखने का जो नारा है उसमें धर्म को संकीर्ण अर्थ में लिया जाता है। महाभारत में धर्म के लिए स्पष्ट घोषणा है कि 'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' अर्थात् 'ध्रियतेऽनेन अथवा धारयति-इति धर्मः' इन दोनों ही व्युत्पत्तियों में वह व्यापकता है जो तात्विक धर्म की ओर संकेत करती है। महाभारत में प्रतिपादित राजनीति का अध्ययन इस रूप में नगण्य सा ही है। वास्तव में यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि विश्व के प्रख्यात राजनयज्ञों के सिद्धान्तों का अध्ययन महाभारत के सन्दर्भ में किया जाय। इस दिशा में छुट-पुट प्रयत्न अवश्य हुए हैं परन्तु उनसे किन्हीं महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का प्रतिपादन नहीं हो सका है। हमें महाभारत का अध्ययन विश्वधर्म, विश्व संस्कृति और विश्वराजनीति के परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए। विज्ञान की उपलब्धियों से देश और काल

की सीमाएँ टूटती जा रही हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि लगभग ५००० वर्ष पूर्व लिखित महाभारत में विज्ञान की आज की उपलब्धियों का सन्दर्भ मिल जाता है। इस अभाव की पूर्ति कुछ अंश में प्रस्तुत प्रबन्ध से हो जाती है।

डा० रघुवीर-शास्त्री एक अनुभवी, कुशल और योग्य विद्वान हैं। संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि कई भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार है। वर्षों के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन के पश्चात् उन्होंने यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है जिसमें दस अध्यायों में महाभारत में प्राप्त होने वाली राजनीति-सम्बन्धी सामग्री पर उसके समकालीन और पूर्ववर्ती साहित्य में भी उपलब्ध सामग्री के सन्दर्भ में नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। साथ ही मध्यकालीन यूरोपीय राजनीति के मूलतत्त्वों और शासन-व्यवस्था का विशेषतः मेकियावेली के 'प्रिंस' के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में भारत में राजशास्त्र के उद्भव और विकास की सामान्य पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए महाभारत से पूर्व की शासन-संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में यह दिखाया गया है कि महाभारत में आदर्श और व्यावहारिक राजनीति की दोनों पराकोटियों के सुन्दर सामंजस्य के दर्शन होते हैं। यहीं यूरोपीय और भारतीय राजशास्त्र एवं शासन-व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में राज्य-व्यवस्था की सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए 'राज्य' और 'राजतंत्र' के उद्भव और विकास के विषय में प्रसिद्ध अनेक मतों की समीक्षा की गई है। यहीं अनेक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के द्वारा अब तक प्रतिपादित किए गये अनेक मतों के अग्राह्य एवं असंगत होने के विषय में स्पष्ट एवं विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहीं भारत और पश्चिमी जगत् में वर्ण-व्यवस्था की वस्तुस्थिति और उसके राजनीति पर पड़ने वाले विशेष प्रभावों का विश्लेषण भी किया गया है अगले अध्याय में राज्य-व्यवस्था और राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि, शासक और शासित जनता के परस्पर सम्बन्ध, राजतन्त्र, राजा या शासक के उत्तरदायित्वों तथा जनता के 'न्यासपात्र' के रूप में राजा की स्थिति आदि का यथावत् विवरण दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में राज्य और नागरिकों के परस्पर सम्बन्ध, उत्तरदायित्व, और हित-संघर्ष का तथा चारों वर्णों के विशेषाधिकारों और कर्तव्य तथा उत्तरदायित्त्वों का वर्णन है और इसके बाद पाँचवें अध्याय में राज्य के स्वरूप, भेद, उद्देश्य, अंग तथा विभिन्न संविधानों का विस्तृत विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में राजा और उसके पद तथा उसकी दिव्यता, निरंकुश सत्ता, आचार-संहिता, उत्तराधिकार एवं अभिषेक आदि के विषय में लिखा गया है तथा सातवें अध्याय में प्रशासन तंत्र, सभा, समिति, मन्त्रिपरिषद् तथा नगर एवं ग्राम-प्रशासन का वर्णन करते हुए आठवें अध्याय में कर-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए न्याय-व्यवस्था तथा आपद्कालिन विशेष अधिकारों की व्याख्या की गई है। अन्त में शान्ति एवं युद्ध-काल में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों तथा मण्डल-सिद्धान्त, युद्ध-

तन्त्र सेना, शस्त्रास्त्र, दूत-सम्बन्ध, गुप्तचर-व्यवस्था और युद्ध-नीति आदि सभी सम्बद्ध विषयों का विशद विवेचन प्रस्तुत कियाँ गया है। अन्तिम अध्याय में प्रस्तुत प्रबन्ध के निष्कर्षों पर विहंगम दृष्टि से विचार किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पक्ष अर्थात् उन राजशास्त्रीय सिद्धान्तों और शासन-संस्थाओं के उद्भव और क्रमिक विकास का वैज्ञानिक-ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनके माध्यम से युग-युगों से भारत की राष्ट्रीय चेतना अभिव्यक्त होती आई हैं। कहा गया है कि इतिहास राष्ट्र का आत्म-पर्यवेक्षण, आत्मानुचिन्तन और आत्म-स्मरण तथा आत्मानुध्यान हैं – वह अतीत की ज्योति से अपने वर्तमान स्वरूप को पहचानने और भविष्य के मार्ग को उजियारा करने की चेष्टा है। राष्ट्र की आत्मानुभूति अपने इतिहास के स्मरण द्वारा होती है।

उक्त सन्दर्भ में, प्राचीन भारतीय 'राजशास्त्र' या 'हिन्दू पालिटी' तथा शासन-व्यवस्था के ऐतिहासिक विवेचन क्रम में डा० रघुवीर शास्त्री का ग्रन्थ 'महाभारत कालीन राज्य-व्यवस्था' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। ऐतिहासिक-वैज्ञानिक शोध-प्रणाली के अनुसार विशेषतः महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष पर आधारित इतना विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण पहली बार विद्वानों के सामने रखा गया है। भारतीय राजशास्त्र के मूलतत्वों तथा विकास का सूक्ष्म निरीक्षण, अभिनव चिन्तन एवं निष्पक्ष परीक्षण प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ लेखक का मौलिक योगदान है तथा इसमें उसके वैदुष्य तथा उसकी ऐतिहासिक दृष्टि दोनों का परिचय मिलता है। लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए सामग्री-संग्रह करने तथा उसका तर्कसम्मत सप्रमाण उपयोग करते हुए वर्तमान बहुमूल्य विवरण प्रस्तुत करने में जिस अध्यवसाय, धैर्य एवं विदग्धता का परिचय दिया है वह प्रशंसनीय है।

यद्यपि अपने विचारों और मन्तव्यों की युक्तियुक्त स्थापना करने के प्रसंग में अनेक स्थलों पर लेखक ने डा० विश्वनाथ प्रसाद, ई० डब्ल्यू० हार्पकिंस, ब्लूम फील्ड, तथा डा० वेणी प्रसाद जैसे मूर्धन्य प्राच्य विद्या विशारदों का अतिक्रमण किया है किन्तु ऐसा जहाँ कही भी हुआ है उसके आधार के रूप में ठोस तर्कों एवं प्रमाणों को हृदयंगम रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक का लक्ष्य सत्य की खोज ही रहा है अनावश्यक आलोचना-प्रत्यालोचना नहीं।

शासन-व्यवस्था के सम्पूर्ण तन्त्र के केन्द्र बिन्दु 'राजा' और उसके 'पद' की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमियों के सन्दर्भ में महाभारतीय राज्य-व्यवस्था एवं प्रशासन-तंत्र के सभी अंग-प्रत्यंगों का यथावत् यथोचित विवेचन करना अपेक्षित होने के कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कुछ अधिक विस्तृत हो गया है किन्तु ऐसा होना अनिवार्य ही था। फिर भी लेखक ने अनावश्यक विस्तार से बचने की सदैव चेष्टा की है जिससे उसकी समीक्षात्मक विश्लेषण एवं न्याय्य मूल्यांकन की क्षमता प्रमाणित होती है।

निश्चय ही डा० रघुवीर शास्त्री का यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय राजशास्त्रीय अध्ययन को एक नई दिशा प्रदान करता है। राष्ट्रीय पुनर्जागरण और पुनर्निर्माण के वर्तमान युग में राष्ट्रीय इतिहास-साहित्य की श्री-वृद्धि राष्ट्र-भाषा के माध्यम से करने वाले इस ग्रन्थ का मैं विशेषतः हिन्दी भाषा की समृद्धि में रुचि रखने वालों की ओर से स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ अधिकारी विद्वानों, विद्यार्थियों और विद्यानुरागी प्रवुद्ध पाठकों का समान रूप से आदर-पात्र होगा। अन्त में कल्हण (११४९ ई०) के शब्दों में यही कहना पर्याप्त है—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थ-कथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

डॉ० हरवंश लाल शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

हिन्दू समाज ने सुदीर्घ प्राचीन काल से ही हजारों वर्षों तक राज्य के अनेक महान् तथा विविध तन्त्रों एवं शासन-व्यवस्थाओं के क्षेत्र में अगणित मौलिक प्रयोग किये हैं किन्तु दुर्भाग्यवश अपने भारत-विद्या विषयक ज्ञान की वर्तमान अवस्था में भी हम हिन्दुओं के संवैधानिक जीवन के क्रमिक विकास का समग्र इतिहास प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं हैं ।

भारतीय राष्ट्र के पुनर्जागरण और पुनर्निर्माण के वर्तमान युग में उपर्युक्त स्थिति भारत विद्या के प्रत्येक अनुसन्धान प्रेमी विद्यार्थी एवं विद्वान के लिए उत्तेजक आह्वान है । इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि गत दस-पन्द्रह शताब्दियों के राष्ट्रीय ह्रास के युग में हमारे राष्ट्रीय जीवन में जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकृतियाँ संक्रमण कर गई है उनका निवारण करने के लिए अपने प्राचीन भारतीय महाप्राण पूर्वजों की उपलब्धियों का आकलन एवं अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। क्योंकि तभी हम वह राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं आत्म विश्वास अर्जित कर पायेंगे जिसके आधार पर नये युग के नये मूल्यों का निर्धारण सम्भव है ।

अपने समूचे और सच्चे इतिहास के पुनर्निर्माण का प्रश्न हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है। प्रायः अपने राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित होकर पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा हमारे इतिहास के रूप में प्रचारित किए गये अनर्गल, निराधार एवं अनैतिहासिक तथ्यों एवं कथ्यों के इस 'श्वेत-जनों के भार' को हम कब तक ढोते रहेंगे और ये अनेक 'अंग्रेजीदाँ' भारतीय लेखक भी पाश्चात्यों के दिशा-निर्देश के अनुसार नई पीढ़ी को गलत इतिहास पढ़ाकर कब तक मानसिक दासता का परिचय देते रहेंगे ? राम-राज्य, स्वराज्य, आत्म-निर्भरता, सर्वोदय एवं सत्य की विजय आदि के उदार उद्घोषों से अनुप्राणित आज के राष्ट्रीय वातावरण में अपने राष्ट्र को आत्मानुभूति कराने एवं उज्जवल भविष्य के लिए सच्चा मार्ग-दर्शन कराने के हेतु अब हमें अपने इतिहास का पुनर्निर्माण करने के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने की चुनौती स्वीकार करनी ही चाहिए। प्रसिद्ध भारतीय इतिहास शास्त्री यदुनाथ सरकार ने कहा है कि "किसी राष्ट्र की सन्तानों को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें कोई भी विदेशी नहीं पा सकता। हम (अपने) ऐतिहासिक अतीत के जीवित अवतार हैं; वह अतीत हमारे खून और हमारी हड्डियों में हमारे विचार और विश्वास में व्याप्त हैं।" इसी निष्ठा और विश्वास के साथ लगभग एक हजार वर्षों के महाकाव्य-काल ('ऐपिक एज') के राजनीतिक चिन्तन एवं संस्थाओं के इतिहास को 'महाभारत कालीन राज्य-व्यवस्था' के रूप में पहली बार विद्वान् पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

आजकल उपलब्ध इने-गिने साक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं के विषय में परिश्रमपूर्वक अनुसन्धान करने वाले अधिकारी विद्वानों के द्वारा भी प्रायः तत्कालीन वास्तविक ऐतिहासिक राजनीतिक परिस्थितियों की ओर ध्यान न देते हुए केवल सैद्धान्तिक उद्धरणों के आधार पर ही धर्म-चक्र-प्रवर्तन, राज्य, राजतंत्र, गणतंत्र, वर्णाश्रम-धर्म, राजा, मन्त्रिपरिषद्, सभा, प्रशासन-पद्धति, राजनय एवं युद्ध आदि के विषय में प्रस्तुत किए गये विवेचनों से अनेक परस्पर विरोधी मतों और सिद्धान्तों का बवण्डर सा उपस्थित हो गया है। कुछेक विचारकों ने एक प्रकार की अर्ध-आधुनिक प्रणाली का अनुसरण तथा आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग करके राज्य-विषयक आधुनिकतम मान्यताओं की कल्पना उस सुदूर अतीत उस काल की राजनीतिक परिस्थितियों का कहीं-कहीं जैसा चित्रण किया है उसे ऐतिहासिक एवं यथार्थ नहीं कहा जा सकता। डा० काशीप्रसाद जायसवाल जैसे मूर्धन्य विद्वान् भी प्राचीन ग्रन्थों में नूतन भावनाओं का आरोप कर डालने का लोभ संवरण नहीं कर पाये हैं। प्राचीन भारत के संवैधानिक इतिहास के वैज्ञानिक निरूपण के लिए महाभारत आदि साक्ष्य ग्रन्थों में उपलब्ध प्रचुर पौराणिक सामग्री में से सावधानीपूर्वक यथार्थवत् साक्ष्यों की गवेषणा करनी आवश्यक है और फिर इन्हीं साक्ष्यों की सुदृढ़ नीव पर आधुनिक वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रणाली के द्वारा सभी साक्ष्यों के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों का समालोचनात्मक परीक्षण करते हुए व्यावहारिक राजनीतिक अवस्थाओं का ऐसा दिग्दर्शन अपेक्षित है जिसकी ऐतिहासिकता आज की तरह कुशंकाओं और कटु आलोचनाओं का लक्ष्य न बनी रहे।

इसीलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में महाभारत में प्राप्त राजशास्त्र विषयक सामग्री का नये दृष्टिकोण से आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए तथा समकालीन एवं प्राचीन ग्रन्थों से उपलब्ध पूरक सामग्री का भी उपयोग करते हुए **'हिन्दु राजतंत्र के संवैधानिक विकास'** का चित्रण किया गया है और यूरोप के मध्यकालीन राजतंत्र विषयक सिद्धान्तों और शासन-संस्थाओं के साथ तुलनात्मक विवेचन के आधार पर उसे एक सर्वथा नये कलेवर में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। महाभारत में जिन बातों का जैसा उल्लेख हुआ है उन्हें अन्य पूर्ववर्ती विद्वानों की तरह वैसे ही उपस्थित करने में लेखक को रुचि नहीं है। क्योंकि वैसा ही एक और कार्य अनुपयोगी और निरर्थक होता।

भारतीय राजनीतिक मान्यताओं और संस्थाओं के स्वरूप और उनकी विशेषता का वैज्ञानिक अध्ययन तथा उसमें व्याप्त अनेक परिवर्तनों और प्रवृत्तियों के कारणों की मीमांसा करना यूरोप की इसी प्रकार की राजनीतिक मान्यताओं और संस्थाओं के अध्ययन तथा परिचय से उपलब्ध तर्कसम्मत कल्पना के आधार पर कहीं अधिक सुसंगत, लाभकर एवं वांछनीय माना जायगा। इसी प्रयोजन से महाभारतीय काल के भारतीय राजतन्त्र के इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यूरोप के पुनर्जागरण

काल के इटली के विख्यात राजनीतिज्ञ मैकियावेली के मूर्धन्य ग्रन्थ "प्रिन्स" में वर्णित राजनीतिक चिन्तन को विशेष रूप से चुना गया है। महाभारत में प्रतिविम्बित राजनीतिक चिन्तन का मैकियावैली के उसी प्रकार यथार्थवाद तथा व्यावहारिक बौद्धिकवाद से अनुप्राणित राजनीतिक चिन्तन के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में प्राप्त हुए बाह्य एवं प्रामाणिक साक्ष्यों के प्रकाश में यह विश्लेषण कहीं अधिक वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित हो गया है, क्योंकि इसमें उच्छृंखल कल्पनाओं और अनुमानों का स्थान विश्वासोत्पादक एवं त्रुटि-रहित साक्ष्यों और तथ्यों ने ले लिया है।

अनावश्यक ग्रन्थ विस्तार के भय से केवल राजतन्त्र-विषयक उन्हीं तत्वों और प्रश्नों को सुसंश्लिष्ट, संक्षिप्त किन्तु पूर्ण व्याख्या के लिए चुना गया है जिनका प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन से सीधा सम्बन्ध है। कहीं-कहीं वर्ण्य विषय की पूर्णता और विशदता के हेतु पूरक सामग्री के लिए अन्य अधिकृत साक्ष्य ग्रन्थों का भी सीमित उपयोग किया गया है। वर्ण्य विषय के विशेष स्वरूप के कारण उपस्थित विवशता और कठिनता के बावजूद महत्वपूर्ण विषयों के साथ पूर्ण न्याय करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

लेखक इस क्षेत्र के पूर्ववर्ती लेखकों का ऋणी है और उसने अपनी इस कृतज्ञता का नियमतः सर्वत्र प्रकाशन किया है। अपने ज्ञान के स्रोतों का निष्ठापूर्वक निर्देश करते हुए कहीं-कहीं अनेक यथातथ उद्धरण भी दिए गये हैं जिससे कि मेरे निष्कर्षों की उनके आधारभूत मूल प्रमाणों के सन्दर्भ में परीक्षा हो सके।

मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर्य डा० हरबंस लाल शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०, डि० लिट्० के प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार-प्रदर्शन करता हूँ जिनकी अगाध विद्वत्ता और असीम अनुकम्पा से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर ही मैं यह अनुसंधान कार्य पूर्ण कर पाया हूँ और जिन्होंने मेरे शोध-प्रबन्ध का निर्देशन और निरन्तर परिमार्जन करने की कृपा की। अपने पूज्य आचार्य, भारतीय इतिहास के मूर्धन्य विद्वान, दिवंगत डा० राधामुकुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् के प्रति भावभरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना मेरा पुनीत कर्तव्य है क्योंकि उनके ही तीन वर्ष के मार्गदर्शन में मैंने अपनी मातृ-संस्था दिल्ली विश्वविद्यालय में अनुसंधान के क्षेत्र में पदार्पण किया। मेरी शिक्षा-दीक्षा और अनुसंधान कार्य के लिए अभिभावक की तरह छात्रवृत्ति देकर सहायता करने वाले भरतपुर-नरेश ब्रजेन्द्र सवाई ब्रिजेन्द्रसिंह जी महाराज का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा। मैं अपनी धर्म-सहचरी श्रीमती कमला रानी एम० ए० का अतीव आभारी हूँ जिन्होंने प्रबन्ध की पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे अमूल्य सहयोग दिया। मेरे कनिष्ठ भ्राता डा० हरीन्द्र शास्त्री ने समय समय पर अपने अमूल्य परामर्श एवं सहयोग देकर जिस प्रकार सहायता दी है उसके लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। डा० निरूपण विद्यालंकार, डा० कर्णसिंह वर्मा तथा श्री गणेशदत्त शर्मा आदि मित्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए हर्ष का विषय है जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य में निरन्तर सहयोग प्रदान किया है।

अन्त में मैं साहित्य-भण्डार मेरठ के संस्थापक श्री रतिरामजी शास्त्री तथा सर्वोदय प्रेस के व्यवस्थापक श्री राजकिशोर शर्मा एम० ए० के प्रति आभार प्रकट करना अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता हूँ जिनकी कृपा के बिना यह ग्रन्थ इतने थोड़े समय में इस कलेवर में सहृदय पाठकों के समक्ष उपस्थित नहीं किया जा सकता था।

अलीगढ़
वर्ष प्रतिपदा
संवत् २०२६ वि०

रघुवीर शास्त्री

विस्तृत विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

प्रथम अध्याय
सामान्य पृष्ठभूमिका

- भारत में राजनीतिक तत्व-दर्शन का क्रमिक विकास
- राजधर्म की स्वतंत्र मौलिक विचारधारा
- आधार-ग्रन्थ महाभारत
- काल-निर्णय, मौलिकता तथा ऐतिहासिकता
- राज्य-व्यवस्था के अध्ययन की वैज्ञानिक-ऐतिहासिक शोध-प्रणाली
- पाश्चात्य-चिन्तन के साथ तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्व

प्रथम अध्याय

सामान्य पृष्ठभूमिका

भारत में राजनीतिक तत्त्व-दर्शन का क्रमिक विकास

भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। विश्व-साहित्य की प्राचीनतम कृतियों में गिने जाने वाले ऋग्वेद और वैदिक वाड्मय के अन्य ग्रन्थरत्नों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुदूर अतीत काल में ही भारतीय जन-जीवन में ईश्वर के द्वारा प्रदत्त अथवा प्रकृति-संजात मानवीय वुद्धि एवं संकल्प के वरदान स्वरूप उन उत्कृष्ट मानवीय तत्वों का विकास हो चुका था जिनके आधार पर किसी जन-समुदाय को सुसभ्य, सुसंस्कृत समाज तथा क्रमशः राष्ट्र (जनपद) एवं राज्य की संज्ञा दी जाती है[1]। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों के समूहीकरण के आधार पर समाज-व्यवस्था की प्रतिष्ठा होती है और उसका संचालन परम्परा प्राप्त धर्मों, नियमों एवं व्यवहारों के अनुसार होता है। समाज की सामूहिक भावनाओं की केन्द्रीय अभिव्यक्ति के रूप में या मानव की शक्तियों और प्रवृत्तियों के संगठन और केन्द्रीकरण के लिए शासन-संस्थाओं की आवश्यकता होती है[2]। वास्तव में उक्त प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के बिना हमें मानव-समुदाय के सांस्कृतिक विकास की कल्पना ही नहीं कर सकते। भले ही हम ऐसी संस्थाओं एवं सत्ताओं को आधुनिक राजनीतिक संज्ञाओं जैसे राज्य आदि से विभूषित करना न चाहें परन्तु आदिम युगों में भी मानव-हितों की रक्षा के लिए कोई न कोई ऐसी ही सत्ताएं उत्तरदायी रही हैं। सभी समाजों के क्रमिक विकास के इतिहास में जन-जीवन की स्वाभाविक जटिलताओं के कारण उत्पन्न संघर्षों एवं परिणामस्वरूप राजनीतिक संस्थाओं के अस्तित्व में आने से पहले आदिम युगों में भी एक सामाजिक व्यवस्था अथवा "धर्म" की सत्ता का अस्तित्व अनिवार्य रूप से विद्यमान

---

१. ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १९१, "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" (मं० २) तथा 'समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्' (मं० ३) तुलनीय अथर्ववेद ६, ७४, १–३।

२. डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, राजनीति और दर्शन, पृ० १२९–३१ "राज्य"।

प्रतीत होता है[१]। समाज के विकास की प्रारंभिक दशाओं में भी मानव की सामाजिक मूल प्रवृत्ति के रूप में सहकार्य की भावना ही मानव के स्वभाव और उसके चारों ओर के वातावरण के अनुरूप किसी न किसी प्रकार के विशिष्ट कार्यों एवं किन्हीं विशिष्ट संस्थाओं के रूप में परिणत होती हुई दिखाई देती है। यद्यपि समाज विशेष के विशिष्ट वातावरण के स्वरूप से भी मानवीय संस्थाओं एवं संगठनों के रूप का निर्धारण होता है तथापि इनके विकास की दिशाओं का निर्धारण बहुत अंशों में इनका निर्माण करने वाले समाज की अपनी विशेष प्रतिभा पर ही निर्भर होता है। यही कारण है कि प्रायः सभी युगों और सभी समाजों में मानव-जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक, अथवा यों कहिए कि प्रत्येक पृथक् कार्य क्षेत्र में हमें संस्थाओं एवं संगठनों के अनेक रूपों और भेद-प्रभेदों का अस्तित्व दिखाई देता है, फिर चाहे वे संस्थाएं एवं संगठन कितने ही प्रारंभिक या अविकसित ही क्यों न रहे हों।[२] वस्तुतः समाज के कार्य-व्यवहारों के दिशा-निर्धारण में सक्रिय-मार्गदर्शन करने वाले प्रतिभा सम्पन्न विचारक और मनीषी ही देश एवं काल-विशेष की नित्य और अनित्य समस्याओं के तात्कालिक अथवा शाश्वत समाधान के द्वारा मानव मात्र की सहायता और कल्याण करने की कामना से यथापेक्षित नीतियों एवं संस्थाओं की नींव डालने में प्रवृत्त होते हैं। मानव जीवन की समस्याओं के अनन्त और समय साध्य होने तथा मनुष्य की अपनी आयु के अपेक्षाकृत बहुत छोटे होने के कारण ऐसे मनीषियों का अपने अर्जित अनुभवों एवं ज्ञान-विज्ञान को अपने जीवन काल में तथा उसके बाद भी मानवमात्र के मार्गदर्शन के लिए शास्त्र के रूप में अभिव्यक्त करने के लिए प्रवृत्त होना नितान्त नैसर्गिक है। विचारकों एवं दार्शनिकों के देश भारत में भला यह नैसर्गिक प्रभाव क्यों अवरुद्ध हो जाता ?

वैदिक-काल से ही लौकिक चिन्तन की परम्परा

प्रकृति के नन्दन-कानन भारतवर्ष में तो अति प्राचीन काल से ही मौलिक दार्शनिक चिन्तन के लिए उर्वरतम क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक और सुलभ था। अतः इस विस्मयावह तथ्य से किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारतीय समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं के उषःकाल में ही हमें उस उत्कृष्ट दार्शनिक चिन्तन के प्रकाश के दर्शन होते हैं जिसमें मानव जीवन के स्वरूप, इसके सर्वांगीण विकास एवं इसके परम उद्देश्य आदि गहन विषयों के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन को परम्परा

---

१. महाभारत में समाज की प्राग्-राजनीतिक अवस्था का वर्णन—

न वै राज्यं न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्तिं स्म परस्परम्॥ शान्ति ५९, १४

तथा वही ६७, १८–१९ में समाज के नियमों को भंग करने के लिए बहिष्कार दण्ड की व्यवस्था।

२. मजूमदार, आर० सी०, कार्पोरेट लाइफ इन एंश्येंट इंडिया, पृ० ११।

का सूत्रपात होता है[1]। सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं के साक्षात् तथा घनिष्ठ रूप से आपस में सम्बद्ध होने के कारण राजनीतिक चिन्तन का उदय और क्रमिक विकास प्राचीन भारत में अन्य परा एवं अपरा विद्याओं के साथ ही साथ प्रारंभ हो गया था। हाँ, यह सर्वथा स्वाभाविक है कि मानव, व्यक्ति की प्रकृति के विषय में विशेष धारणाओं, मानव-जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में विशेष मान्यताओं तथा अपने निजी पर्यावरण एवं परिस्थितियों का भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर व्यापक प्रभाव पड़ा हो और इसलिए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के विभिन्न युगों में विभिन्न विचारकों की कतिपय मान्यताएं भिन्न-भिन्न और कभी कभी तो परस्पर विरोधी तक परिलक्षित होती हों। परन्तु मूल रूप से परस्पर सम्बद्ध तथा सामान्य भारतीय राजनीतिक तत्व दर्शन की अनेक ऋषियों, धर्मशास्त्रकारों और अर्थशास्त्रियों के चिन्तन में व्याप्त विशेषताओं का ठीक-ठीक अवधारण एवं मूल्यांकन करने के लिए उस पृष्ठभूमि को भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है जिसके प्रभाव से भारतीय जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक आदि सभी पक्ष समान रूप से प्रभावित हैं। हम यह मानते हैं कि पश्चिम जगत् के प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, हेगेल, एक्वायनास, ह्यम, ग्रीन और वोसांक्वेट जैसे महादार्शनिकों एवं युग विधाता राजनीतिशास्त्रियों की सी कोई सम्बद्ध राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधारा किसी एक ग्रंथ में सुरक्षित उपलब्ध नहीं है परन्तु भारतीय विद्या-विशारदों के द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक साक्ष्य-ग्रंथों के समन्वित अध्ययन से भारतीय राजनीतिक विचारधारा का जो स्वरूप सामने आता है उसकी पूर्णता और उत्कृष्टता में कोई सन्देह नहीं हो सकता[1]। भारतीय राजनीतिक

१—द्रष्टव्य ऋग्वेद, मण्डल १०, पुरुष, हिरण्यगर्भ तथा नासदीय सूक्तों में कहीं कहीं आलंकारिक और कहीं स्पष्ट भाषा में उच्च दार्शनिक समस्याओं का विवेचन।

१—हम डा० वर्मा के इस मत से सहमत नहीं हैं कि "राजनीतिशास्त्र के मूलभूत प्रश्न-संप्रभुता, विधि, न्याय, राज्य आदि पर भारतीय दार्शनिकों की कुछ उल्लेखनीय देन नहीं है। दूसरी ओर जिन अर्थशास्त्रकारों और स्मृतिकारों-कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने राजनीति पर विचार किया है वे कोई महान् दार्शनिक नहीं थे। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हमारे देश में एक ओर तो महान् दार्शनिकों की परम्परा है और दूसरी ओर अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों की। किन्तु दार्शनिक राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं (अं० पोलिटिक्ल फिलासफर्स) की नितान्त कमी है।" यह मत कितना अत्युक्तिपूर्ण एवं अनधिकृत है इस बात का ज्ञान 'राजनीतिशास्त्र के मूल प्रश्नों' के विषय में मनु, महाभारतकार और कौटिल्य के विचारों के अध्ययन से हो जाता है। प्रस्तुत महानिबन्ध में ही इन प्रश्नों के विषय में महाभारत में उपलब्ध सामग्री से भारतीय देन का मूल्यांकन सरलतापूर्वक किया जा सकता है भले ही वह तथाकथित 'दार्शनिकों की देन' न मानी जाय।

तत्वदर्शन के विशिष्ट समग्र रूप का अध्ययन भारतीय परम्परा एवं इतिहास की विशिष्ट वस्तु-स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक रीति से किया जाना चाहिए, न कि आधुनिक पाश्चात्य प्रभावों से जन्य पूर्वाग्रहों से बेवस होकर मनमाने, अनर्गल, अनधिकृत एवं अन्याय्य निष्कर्षों को बिना पूरी तरह जाने-पहचाने भारतीयों के मत्थे मढ़ दिया जाय। ज्ञान-विज्ञान की दुनियां में यह अनवस्था ठीक नहीं है, किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि आज के युग के कुछेक विरले तत्वदर्शी विद्वानों को छोड़कर प्रायः बहुसंख्यक विदेशी और भारतीय प्राच्य-भाषा-विशारद (अं० ओरियण्टलिस्ट) विद्वान् भी संभवतः प्रायः मूल भारतीय साक्ष्य-ग्रंथों का साक्षात् एवं सावधानी से अनुशीलन न करने के कारण भारतीय विचारधारा का पाश्चात्य विचारधारा से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अनेक भ्रान्तिपूर्ण असत्यों और अर्धसत्यों का भी प्रतिपादन कर बैठे हैं जिनका दिग्दर्शन हम प्रसंग के अनुसार आगे करेंगे। वस्तुतः आज इस प्रकार के तर्कसम्मत यथातथ्य अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है जिसमें भारतीय स्रोतों का वैज्ञानिक ऐतिहासिक अनुसन्धान प्रणाली के अनुसार अनुशीलन करके राजनीतिक प्रश्नों के विषय में मौलिक भारतीय विचारधारा को प्रकाश में लाया जाय क्योंकि कतिपय विद्वानों की अतिशय राष्ट्रीय कट्टरता से प्रेरित होकर प्राचीन स्रोतों में नवीन आधुनिक राजनीतिक विचारों को खोजने की प्रवृत्ति जिस प्रकार अवांछनीय है[1], उसी प्रकार अज्ञान या पक्षपात अथवा पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर साभिप्राय, अनर्गल आरोपों एवं अपवादों की जानबूझ कर मनमानी कल्पना कर लेने वाले कुछेक हाप्किंस जैसे पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करते हुए बिना बात अपने ही सिर पर धूल डालने की 'गजप्रवृत्ति' भी अशोभनीय है[2]।

राजधर्म की स्वतन्त्र, मौलिक, विचारधारा

आजकल न केवल राजनीतिशास्त्र के अपितु समाजशास्त्र, संस्कृति, कला

१—द्रष्टव्य काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० ८६–७ पर' 'न वै राज्यं न राजासीत्' आदि साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारत में' अराजक अनार्किस्ट संविधानों (अं० कौंस्टिट्यूशन्स) का समर्थन, यद्यपि अराजक राज्य के सिद्धान्त का समर्थन महाशय गौडविन ने १९ वीं शताब्दी में किया है। अन्य ऐसे ही उदाहरणों के लिए सभा और समिति के विषय में आधुनिक संसदीय प्रणाली के 'लोअर और अपर हाउस' (संसद के दोनों सदनों) की सी कल्पना आदि।

२—हापूकिंस ई० डबल्यू०, 'जनरल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी' पुस्तक १३, 'प्राचीन भारत में शासक जाति' शीर्षक वाले महानिबन्ध में व्याप्त वे पक्षपातपूर्ण स्थापनाएँ जिनकी समीक्षा इसी पुस्तक में यथास्थान की गई है। भारतीय विद्वानों में जैसे वेणीप्रसाद और डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के क्रमशः राज्य और अधिकार एवं कर्तव्य आदि की मान्यताओं के विषय में विचार।

एवं दर्शन आदि शुद्ध भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में भी मौलिक भारतीय उपलब्धियों को कम करके दिखाने के लिए अथवा हो सकें तो उन्हें मानने से इंकार ही करने के लिए उन पर विदेशी प्रभाव खोज निकालने का फैशन दशाब्दियों से चला आ रहा है। उदाहरण के लिए भारत की सांस्कृतिक एकता, राष्ट्रीय अखण्डता तथा दार्शनिक क्षेत्र की निर्विवाद श्रेष्ठता आदि इतिहास प्रमाणित तथ्यों के लिए भी पश्चिम की आक्रामक बर्बर शक्तियों को ही श्रेय देकर अनेक भारतीय भी अपनी 'मानसिक दासता' का परिचय देते हैं। इस 'दासता' की पराकाष्ठा के रूप में हम आधुनिक भारतीय संविधान के तथा-कथित 'जनक' डा० भीमराव अम्बेडकर की उस मनोवृति को पाते हैं जिसके कारण उन्हें स्वतन्त्र भारत के संविधान में संकलित करने योग्य कोई ग्राह्य तत्व ही भारतीय राजनीतिशास्त्र में नहीं मिले। यद्यपि इससे तीस-चालीस वर्ष पूर्व डा० राधाकुमुद मुकर्जी के महानिबन्ध 'प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन' (अं० लोकल सैल्फ गवर्नमेण्ट इन एश्यैण्ट इण्डिया की भूमिका में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री के० जी० के ने तथा इस ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाले अनेक प्रकाण्ड एवं मूर्धन्य अंगरेज विद्वानों ने "स्थानीय स्वशासन" जैसी संस्थाओं के लिए भारतीयों की मौलिक राजनीतिक प्रतिभा को अद्भुत और अनुकरणीय घोषित किया था।[1] अतः भारतीय वसुन्धरा तथा भारतीय पूर्वजों की मौलिक देन के रूप में प्राप्त हुई राजनीतिक विचार धारा के तथा शुद्ध भारतीय संस्थाओं के प्रति तथाकथित आधुनिक प्रवुद्ध वर्ग की यह उपेक्षा तथा परदेशी विचारों एवं संस्थाओं के प्रति आश्चर्यजनक भक्ति को निश्चित रूप से अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक अभिनिवेश ही मानना चाहिए। आधुनिक भारत के मूर्धन्य राजनीति-शास्त्रवेत्ता डा० यू० एन० घोषाल के निम्नलिखित शब्दों में भारतीय राजनीतिक विचारधारा एवं शासन पद्धति की मौलिकता का समर्थन किया गया है। वे कहते हैं—भारतीय राजनीतिक विचारों के दीर्घकालीन एवं विविध विकास के तथा परवर्ती ह्रास के इतिहास में, भारतीयों के विदेशीय विचार प्रणालियों के साथ अनेक बार सम्पर्क में आने पर भी, इन भारतीय विचारों के सर्वथा भारतीय प्रेरणा-स्रोतों और राष्ट्रीय स्वरूप के विषय में किसी भी प्रकार के न्याय संदेह का अवकाश नहीं है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट हो गया है कि भारतीय राष्ट्रीय राजनीतिक दर्शन और उसके द्वारा प्रवृत्त शासन संस्थाओं के समूचे अध्ययन के लिए तथा इनका अन्य समानान्तर विदेशी दर्शनों और संस्थाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन

१—दे० वहीं विशेष सम्मतियाँ शीर्षक से संग्रहीत लार्ड हाल्डेन, लार्ड ब्रायस, डा० ए० बी० कीथ, प्रो० रैप्सन, डा० वी० ए० स्मिथ, डा० एफ० डबल्यू० थामस तथा प्रो० सिडनी वेब आदि के मत।

२—डा० घोषाल, यू० एन०, ए हिस्टरी ऑफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० ३।

करने के लिए सबसे पहले उन विशेषताओं का आकलन किया जाय जो भारतीय इतिहास की परिस्थितियों और भारतीयों की राष्ट्रीय प्रकृति का साक्षात् प्रतिफल हैं। भारतीय प्रतिभा एवं प्रकृति की विशेषताओं की ओर दुर्लक्ष्य करके भारतीय समाज की सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों की मान्यताओं तथा उनके विकास के इतिहास को हृदयंगम कर लेना नितान्त असंभव है। इन विशेषताओं को भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को निरन्तर प्रभावित करने वाले 'मूल तत्व' मानते हुए महा-दार्शनिक महर्षि अरविन्द ने इनका विशद विवेचन किया है।[१]

भारतीय प्रतिभा की विशेषताएं—

भारत की पुरातन प्रकृति और विशिष्ट आत्मा के ये तीन मूल तत्व हैं:—

१. आध्यात्मिकता
२. विलक्षण जीवन-शक्ति और
३. बौद्धिकता।

भारतीय संस्कृति के विकास और ह्रास की सोपपत्तिक व्याख्या करने के लिए इन तत्वों के द्वारा भारतीय हिन्दुओं में आविर्भूत होने वाली शक्तियों और साथ ही इन्हीं तत्वों के विकार के रूप में इन्हीं के कारण उत्पन्न हुई दुर्बलताओं को जानना और समझना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि इन्हीं शक्तियों और दुर्बलताओं पर भारतीय हिन्दुओं के विकास और ह्रास तथा उत्थान और पतन की गाथा का विवेचन निर्भर है।

महर्षि अरविन्द ने यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय आध्यात्मिकता ही वस्तुतः भारतीय मस्तिष्क का मूल सिद्धान्त है। दूसरे, भारतीय जीवन में जीने की शक्ति (अं० व्हाइटलिटी) और जीवन में प्रसाद (अं० जौय) का जो अक्षय भण्डार भरा है वह उसकी अनुपम जीवन-शक्ति के ही कारण है। यही शक्ति भारतीयों की विलक्षण सर्जन–शक्ति और रचनात्मक विधायकता का प्रेरक रहस्य है। तीसरे, भारतीय प्रतिभा की 'सशक्त बौद्धिकता' की सैद्धान्तिक समृद्धि बड़ी विपुल है, इसकी जिज्ञासावृति की कोई सीमा ही नहीं है तथा यह उग्र और समृद्ध, महान् और सूक्ष्म, तथा अति प्रचण्ड और सुकुमार भी होने के कारण बड़ी विलक्षण है। हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में समग्रजीवन को एक विज्ञान किंवा कला के रूप में मानकर उसकी व्याख्या करने के अध्यवसाय का मूल कारण ये तीनों विशेषताएं ही हैं। भारतीय मनीषी आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं सभी महत्वपूर्ण उद्देश्यों की साधना उनकी चरम सीमाओं तक करना चाहता है और वह उस क्षेत्र की उच्चतम संभावनाओं को खोजने की आकांक्षा रखता है। भारतीय प्रतिभा ने प्रकृति से परे की, ऊंची से ऊंची, सम्भावित सीमाओं तक का साक्षात्कार करते हुए सम्पूर्ण दिव्य प्रकृति और उससे भी परे जो कुछ अतिदिव्य है उस सभी को जानने का प्रयास किया। जब

१—अरविंद, भारत में पुनर्जागरण, 'दि रिनेसां इन इण्डिया', पृ० ७–२९।

इसने आध्यात्मिक बुद्धिवाद का प्रतिपादन किया तो उसे भी ज्ञान के यथासम्भव चरम उत्कर्ष पर पहुंचा दिया और जब यह प्रतिभा कोरे भौतिक नास्तिकवाद की ओर प्रवृत्त हुई तो फिर आदर्शवाद और नैतिकता की तनिक भी परवाह न करते हुए उसने उसे भी बड़े साहसिक और नग्नप्राय रूप में नियमबद्ध कर डाला। परन्तु इन दोनों परस्पर विरोधी पराकोटियों के प्रतिफल के रूप में होने वाली अव्ययवस्था को किस प्रकार से भारतीय भावनाओं की 'सन्तुलन और सामञ्जस्य की प्रवृति' संयत कर लिया करती है, इस विषय में महर्षि अरविन्द का कथन है कि भारतीय मस्तिष्क केवल आध्यात्मिक और नैतिक ही नहीं है, वह बौद्धिक और कलापरक भी है। बुद्धि (तर्क) और सौंदर्य के सामंजस्य का शासन (प्रभाव) अव्यवस्था (विप्लव) की वृति का विरोधी है।' इसी समन्वयात्मक भावना के कारण भारतीय मस्तिष्क प्रत्येक अर्थ को उसकी दूरतम सीमाओं तक अनुसरण करने के पश्चात् उससे प्राप्त हुए ज्ञान के सम्मिश्रण के द्वारा 'कार्य-व्यवहार एवं संस्थाओं में एक प्रकार की संगति और सन्तुलन' के रूप में एक नये मार्ग पर लौट आता है।

भारतीय प्रतिभा की विशेषताओं का जीवन-दर्शन पर प्रभाव—

यद्यपि इन विशेषताओं का प्रभाव भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होता है, तथापि सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं और संस्थाओं में अभिव्यक्त भारतीय प्रवृतियों में इनका प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। महाभारत का राजनीतिक दर्शन सन्तुलन और सामंजस्य की भारतीय प्रवृति का उत्कृष्ट उदाहरण है। महाभारतीय राजनीतिक दर्शन में हमें आध्यात्मिकता, आदर्शवाद और नैतिकता की प्रतिनिधि धर्मशास्त्रीय परम्परा और भौतिक समृद्धि और अभ्युदय के लिए अधार्मिक एवं अनैतिक कार्यों और नीतियों को भी अपनाने का साहसिक उपदेश देने वाली अर्थशास्त्रीय परम्परा का समन्वय प्राप्त होता है। इन दोनों पराकोटियों के सन्तुलित समन्वय और विभिन्न विचारों और भावनाओं के उपादेयतापरक सामंजस्य के द्वारा महाभारत में नितान्त व्यावहारिक राजनीति का विकास हुआ है। महाभारतीय दृष्टिकोण की लौकिकता और व्यावहारिकता का अनुशीलन करने के पश्चात् भारतीय राजशास्त्र के विषय में कतिपय लेखकों की वह धारणा बिल्कुल भ्रान्त एवं निराधार लगने लगती है जिसके अनुसार वे यह मानते हैं कि "भारतीय मस्तिष्क के धर्म और नैतिकता से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की तरह भारतवर्ष में राजनीतिक चिन्तन का विकास नहीं हुआ। साथ ही भारतीयों के भावुक एवं अनुशासन और संगठन में कट्टरपंथी होने के कारण उनके जीवन के सभी विभाग असंगठित रह गये तथा भारतीय मस्तिष्क में समन्वय की प्रवृत्ति खूब है किन्तु उसमें विश्लेषणात्मक और निगमनात्मक प्रवृत्तियों का अभाव है[1]। हिन्दु धर्म के स्वरूप और प्रभाव के विषय में इस प्रकार की अनिष्ट

१—डा० वेणी प्रसाद—'थियरी आफ् गवर्नमेंन्ट इन एंश्यैंट इंडिया; पृ० २–६।

कल्पना का मूल कारण अंशतः उक्त विद्वानों की भारतीय तत्व दर्शन के प्रति उपेक्षा और अज्ञान तथा अंशतः पाश्चात्य प्रभाव के कारण अध्यात्म (अं० रिलीजन) के सम्बन्ध में बनाई गई धारणाओं को हिन्दु धर्म (जिसका कोई उपयुक्त अंगरेजी पर्याय नहीं हो सकता) की सर्वथा विभिन्न मान्यताओं पर आरोपित कर देने से प्राप्त हुआ दृष्टि-दोष है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे विश्वविख्यात दार्शनिक के भारतीय धर्म एवं आध्यात्मिकता सम्बन्धी विचारों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भारतीय आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृतियाँ लौकिक विकास की विरोधी नहीं हैं वे कहते हैं कि "भारत की अति गहन आध्यात्मिकता ने भारत को काल की विडम्बनाओं और इतिहास की दुर्घटनाओं का प्रतिरोध करने का सामर्थ्य प्रदान किया है और इसी के द्वारा भारत को मानवीय कार्य-व्यवहार के सभी पक्षों, आन्तरिक सत्यों और वास्तविक सिद्धान्तों को समझने में सफलता मिली है[1]।" इस विषय में डा० हावेल का मत भी मननीय है। उनका कहना है कि "भारत में धर्म का तात्पर्य कट्टर मताभिमान नहीं है। अपितु यहाँ धर्म आध्यात्मिक विकास की विभिन्न दशाओं के अनुरूप मानव के आचार का एक व्यावहारिक सिद्धान्त है[2]।" अतः यह स्पष्ट है कि सामान्यतः भारतीय अध्यात्म, धर्म एवं नैतिकता तथा विशेषतः बौद्धिकता के व्यापक एवं सार्वगींण प्रभाव में ही भारतीय राजनीतिक चिन्तन का बहुमुखी एवं स्वतन्त्र विकास सम्भव हुआ है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के अनेक परिवर्तनों, विकासों और विप्लवों का भारतीय इतिहस पर भी अनावश्यक अनुचित आरोप न करते हुए उसे मौलिक रूप में वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाना चाहिए तथा उसके वाद ही उसका विदेशीय विचार धाराओं और संस्थाओं के साथ सोपपत्तिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए। वेदों से लेकर कलात्मक काव्य साहित्य तक सम्पूर्ण भारतीय वाङ्०मय एवं साहित्य भारतीय राजनीतिक मान्यताओं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सुभाषितों और सन्दर्भों से भरा हुआ है जिनमें मानव-स्वभाव, समाज-व्यवस्था, राज्य, राजसत्ता और शासनतंत्र, विधि एवं न्याय, राजनय और युद्ध जैसे अनेक लौकिक विषयों पर शुद्ध राजनीतिक दृष्टि से प्रेरित विचार-धारा का समाहार हुआ है। इसी तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि भारत में सच्चे अर्थों में भारतीय राजनीतिक चिन्तन का राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र विकास हुआ है।

राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में पाश्चात्य मतों की समीक्षा—

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के क्रमिक विकास में भारतीय समाज-व्यवस्था की विशिष्ट परिस्थितियों का वड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन भारत में शताब्दियों तक भारतीय सामाजिक जीवन का नियमन वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था के द्वारा

१—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, 'इण्डियन फिलासफी; पृ० २४।

२—ई० वी० हावेल, आर्यन रुल इन इण्डिया, पृ० १७०; तुलनीय डा० राधाकृष्णन्, वही पुस्तक, १ पृ०—२६।

होता रहा। इस व्यवस्था में जहाँ सम्पूर्ण अध्यात्म एवं विद्याओं का संसार ब्राह्मण वर्ण के स्वधर्म का क्षेत्र है वहाँ समाज में सुव्यवस्था की स्थापना और सुरक्षा का प्रबन्ध क्षत्रिय वर्ण का स्वधर्म माना गया है। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्णों के द्वारा भी क्षत्रिय वर्ण को उनके क्षात्र धर्म का पालन करने में यथोचित सहयोग और समर्थन दिये जाने के कारण ये चारों वर्ण परस्पर-विरोधी न होकर समाज-व्यवस्था के पूरक तत्वों की तरह ही काम करते आये हैं। पाश्चात्य जगत् के धर्म-गुरुओं, पोपों और पुरोहितों की तरह भारतीय प्रबुद्ध वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों ने या अन्य वर्णों ने क्षात्र-धर्म के क्षेत्र में कभी कोई स्थायी संघर्ष या व्याघात उपस्थित नहीं किया है। इस स्थायी सामाजिक आधार के परिणामस्वरूप राजनीतिक चिन्तन की दिशाएँ और लौकिक प्रेरणाएँ निर्बाध रूप से विकसित होती आई हैं। इसके कारण राजशास्त्र का नाम ही हमारे यहाँ राज-विद्या, क्षत्रविद्या, दण्डनीति एवं राजधर्म, पड़ गया है। वर्णाश्रम धर्म जैसी सामाजिक संस्थाओं को तर्कपूर्ण लौकिक राजनीतिक चिन्तन के विकास के लिए घातक मानने वाले कुछेक वरिष्ठ पाश्चात्य विद्वानों के मत भारतीय परम्पराओं के मौलिक तत्वों के प्रति उनके अज्ञान और उपेक्षा वृत्ति के ही सूचक हैं।[1]

---

१. हम ब्लूमफील्ड के उन विचारों से सहमत नहीं है जिनमें वर्णाश्रम व्यवस्था को राजशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय विचारधारा के विकास के लिए घातक बतलाया गया है। वे कहते हैं "मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटने वाली आश्रम-व्यवस्था जैसी धार्मिक संस्थाओं के अत्यधिक प्रभाव के कारण व्यक्ति को केवल एक धर्म-परायण शिष्य, ईश्वर से डरने वाला और यज्ञ करने वाला गृहस्थ, एक मननशील अरण्यवासी और संसार का त्याग करने वाला संन्यासी बना दिया गया और इसलिए (भारत में) राज्य के हितों और समाज के विकास की दिशा में विचार करने का अवकाश ही नहीं रहा।" (रिलीजन ऑफ दि वेद, पृ० ४–५) यह मत तर्कहीन एवं असंगत है और केवल भारतीय विषयों एवं व्यवस्थाओं के विषय में लेखक के अज्ञान का सूचक है। साथ ही विलोबी (पोलिटिकल थियरीज़ ऑफ दि एश्येंट वर्ल्ड, ११४) का यह मत कि "सृष्टि और समाज व्यवस्था की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्तों में अति कट्टर विश्वास रखने के कारण उन (हिन्दुओं) में अपनी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में के विषय तर्कपूर्ण विचार करने की प्रवृत्ति ही नहीं उत्पन्न हुई।" कोरा पक्षपातपूर्ण है। राजनीति के सिद्धान्तों के इतिहास प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बार्कर ने भारतीयों की तुलना में यूनानियों को "श्रद्धा और विश्वास के आधार पर किसी भी वाक्य को ग्रहण न करने वाले और बुद्धि विवेक की कसौटी पर कसकर ही विश्व के विलक्षण सत्यों को तर्क के प्रकाश में परखने का प्रयास करने वाले बतलाया है। यूनानियों के राजनीतिक चिन्तन के आधार के रूप में "व्यक्ति के महत्व के साक्षात्कार" की स्थापना करते हुए बार्कर ने इनकी तुलना में भारतीयों और हिन्दुओं के विषय में कहा

(शेष टिप्पणी पृ० १२)

भारतीयों की धर्म विषयक मान्यताओं के स्वरूप और शासन संस्थाओं पर उसके प्रभाव के विषय में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे और इसलिये यहाँ अनावश्यक ग्रंथ विस्तार न करते हुए हम डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के उन शब्दों को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं जिनके द्वारा भारतीय धर्म के वास्तविक स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है "भारतीय धर्म कट्टर मताभिमान से मुक्त एवं आध्यात्मिक मान्यताओं का ऐसा विवेकपूर्ण समन्वय है, जो दार्शनिक विचारों की प्रगति के साथ-साथ नई मान्यताओं को आत्मसात् करता हुआ चलता है। इसका स्वरूप ही प्रयोगात्मक एवं कार्यनिर्वाही (अस्थायी) है, जिसमें विचार की प्रगति के साथ ही साथ प्रगति करने का प्रयास निरन्तर रहता है। भारतीय चिन्तन में बुद्धि को अधिक महत्व दिये जाने के कारण दर्शन को ही धर्म का स्थान दे दिया जाता है। यह साधारण आलोचना ही भारत के धर्म की तर्क-शीलता को सिद्ध करती है कि भारत में अपने लिए किसी दार्शनिक आधार का विकास किये बिना किसी धार्मिक आन्दोलन का कभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ।'

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि भारतीय धर्म की इसी तर्कशीलता एवं बौद्धिकता के कारण भारतीयों का शास्त्र-ज्ञान धर्मग्रंथों तक ही कदापि सीमित नहीं रहा। बाइबिल और कुरान की तरह न मानकर हिन्दुओं ने वेदों को सत्य ज्ञान के स्रोत और प्रमाण ग्रंथ मानते हुए भी उन्हें कभी भी दार्शनिकोत्तर प्रामाण्य से युक्त नहीं माना। वेदों के प्रामाण्य का सहारा लेकर तथा उनमें प्रतिपादित शाश्वत सत्य अर्थात् धर्म की व्याख्या के रूप में किये गये राजनीतिक विवेचनों में भी मताभिमान या रूढ़िवादिता की गन्ध तक नहीं है। अपितु किसी विशेष युग में राष्ट्र की आवश्यकताओं, भावनाओं और सामर्थ्य आदि के अनुरूप सभी शास्त्रीय सिद्धान्तों की नवीन धर्मशास्त्रीय व्याख्यायें समय-समय पर की जाती रही हैं। श्रुतियों और स्मृतियों के अतिरिक्त सभी कर्मों और व्रतों के विषय में सुसंस्कृत, अनुभवी, ज्ञानवृद्ध, धर्मात्मा विद्वानों के वचनों एवं व्यवहार को भी प्रमाण माना गया है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि विशेषतया महाभारत जैसे इतिहास ग्रंथों में अभिव्यक्त भारतीय राजनीतिक दर्शन में ऐतिहासिक परम्परा की सुदृढ़ नींव पर वर्तमान और भविष्य की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करने वाली शुद्ध राजनीतिक मान्यताओं का विकास हुआ है। सामाजिक ऐतिहासिक अनुभव और जातीय बुद्धि-विवेक का ही योगदान इन मान्यताओं की प्रतिष्ठा का मूल कारण है। धार्मिक

है कि "ये लोग राजनीति के क्षेत्र में इसीलिए विकास न कर पाये क्योंकि वे अन्धे होकर धर्म के क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ते चले गये।" (सर अर्नेस्ट बार्कर, दि पोलिटिकल थॉट ऑफ प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल, पृ० १–२)। वस्तुतः इस प्रकार के मति-भ्रम का कारण धर्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में उक्त विदेशी विद्वान् का अज्ञान ही है।

रूढ़िवादिता और अन्ध श्रद्धा के आधार पर उनका विकास कदापि सम्भव नहीं।[1]

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र एवं महत्व—

हिन्दू धर्म के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना है। ये पुरुषार्थ हैं :—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तात्पर्य यह है कि धर्म के अनुसार ही अर्थ और काम की साधना करते हुए जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। राजनीतिशास्त्र या दण्डनीति का लक्ष्य त्रिवर्ग अथवा धर्म, अर्थ तथा काम तक ही सीमित है। अतः धर्म, अर्थ और काम अर्थात् व्यवहार रूप में क्रमशः वैधानिक व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था और सामाजिक व्यवहार के सिद्धान्तों का विवेचन राजधर्म या राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है[2]। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये तीनों विषय आजकल की राजनीतिक व्यवस्था के भी महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। इन तीनों विषयों का प्रतिपादन करने वाले नीति-ग्रन्थों की शैली इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि राजनीति शास्त्र प्राचीन भारत का अतीव व्यापक, लोकप्रिय और सामाजिक रुचि का विषय था। राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी साहित्य की विपुलता से भी इसी बात

---

१. द्रष्टव्य—इस विषय में भारत-विरोधी पक्षपात की पराकाष्ठा के परिचायक वे विचार जिन्हें विलोबी, डनिंग और मैक्समूलर ने प्रकट किया है। विलोबी का कहना है कि "पूर्व के सुसंस्कृत समाज भी एक पृथक् विद्या के रूप में राजनीति-शास्त्र का विकास करने में इसलिए असफल रहे क्योंकि उनके मस्तिष्क में विधि और धर्म के विषय में बड़ा मतिभ्रम था।" ('नेचर ऑफ दि स्टेट' पृष्ठ ४२)। धर्म के स्वरूप के विषय में दे० यही पुस्तक, अ० २ तथा विधि के स्वरूप के लिए यही पुस्तक अ० ८); महाशय डब्ल्यू० ए० डनिंग (ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थियरीज, एश्येंट एण्ड मैडीवल, भूमिका, पृ० १९–२०) कहते हैं कि 'पूर्वीय आर्यों अर्थात् भारतीयों ने अपने राजनीति-शास्त्र को कभी धार्मिक एवं दार्शनिक पर्यावरण से मुक्त नहीं किया अतः वे इस क्षेत्र में वह महत्ता प्राप्त नहीं कर सके जो संसार के अनन्यतम राजनीतिक लोगों अर्थात् यूरोपीय आर्यों ने प्राप्त की है।' मैक्समूलर महोदय सैद्धान्तिक गप्पियों की इस परम्परा में सबसे बाजी ले गये हैं। वे कह गये हैं "हिन्दू राष्ट्र दार्शनिकों का राष्ट्र था, उनके संघर्ष विचारों के संघर्ष थे, उनका अतीत था उत्पत्ति की समस्या और उनका भविष्य जगत् की सत्ता का प्रश्न। अतः यह कहना 'न्याय्य' है कि विश्व के राजनीतिक इतिहास में भारत का कोई स्थान नहीं है।' (हिस्टरी ऑफ एश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३१) मैक्समूलर के इन्हीं विचारों की विशदतर प्रतिध्वनि प्रसिद्ध फ्रांसी राजनीति-शास्त्री पी० जैनेट (हिस्टरी दे ला साइन्स पोलितिके, पु० १, पृ० २६) के विचारों में तथा इटली के मो० कार्लो फोर्मिची (ग० इंडियानी एला लोरो साईजा पोलितिया, पृ० २०–२१) के मन्तव्यों में मिलती है।

२. शान्ति, ५९, २९।

की पुष्टि होती है। साथ ही जन-साधारण में पौराणिक गाथाओं की तरह सुनाये और सुने जाने वाले इस साहित्य में राजनीतिशास्त्र के अनिवार्य तत्वों, राज्य के अंगों, राष्ट्र की सुरक्षा तथा राजनय के उपायों एवं नीतियों के विषय में सूत्र रूप से किये गये संकेतों—जैसे सात प्रकृतियाँ, चार उपाय, छः नीतियाँ आदि से यह सिद्ध होता है कि इनके तात्पर्य को जनसाधारण भी भली प्रकार समझते थे और इसीलिए सामान्य सुभाषितों तक में इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विना किसी संकोच के किया जा सकता था।

राजधर्म की महत्ता—

राजधर्म की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले अनेक उद्धरण भारतीय राजनीतिक चेतना के उज्ज्वल दर्पण हैं। इनमें राजा को व्यवस्था स्थापित करने, आर्थिक प्रगति का निर्देशन करने तथा सामाजिक व्यवहार का नियन्त्रण करने के द्वारा क्रमशः धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की साधना के द्वारा चौथे पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के लिये मार्ग प्रशस्त करने वाला कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति का रंजन करने के कारण ही उसे "राजा" बतलाया गया है और यह विचार सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में एक सूक्ति की तरह स्वीकार कर लिया गया है[1]। राजनीति शास्त्र अथवा राजधर्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए यहां तक कहा गया है कि "दण्डनीति" (राज्य की नियामक शक्ति) के नष्ट होने पर तीनों वेद डूब जायेंगे, सभी कर्त्तव्य कर्म एवं धर्म (सभ्यता के मूल आधार) चाहे वे कितने ही विकसित और उन्नत क्यों न हों, क्षीण हो जायेंगे तथा परम्परा प्राप्त राजधर्म के त्याग दिए जाने पर सभी आश्रम धर्म (वैयक्तिक जीवन के विभाजन के मूल आधार) नष्ट हो जायेंगे। राजधर्म में ही सम्पूर्ण त्यागों की पूर्ति होती है, सभी दीक्षाएं राजधर्मों में संयुक्त होती हैं और सभी विद्याओं का समन्वय राजधर्म में ही होता है। सभी लोक (लोक और परलोक आदि) इस राज-धर्म में केन्द्रित हैं[2]। इन उक्तियों से भारतीय राजनीतिक चिन्तन की व्यापकता पर प्रकाश पड़ता है।

व्यापकता, उपादेयता और अन्य विद्याओं में स्थान—

प्राचीन मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक

१—'राजा प्रकृतिरंजनात्'। "रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते'
शान्ति–५९, १२५।

२—मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युःक्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषुदृष्टाः, सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥
शान्ति ६३, २८–२९।

व्यवहार के सम्पूर्ण क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए वेदों के अनुकूल शाश्वत धर्मों और अपने युग के अनुरूप युगधर्मों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया। महाभारत और कौटलीय अर्थशास्त्र में राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र का विवेचन करने वाले अनेक विचारक विद्वानों और ऋषियों के नाम उपलब्ध होते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि इन विषयों के सांगोपांग विवेचन की परम्परा भारतवर्ष में बहुत पुरानी है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। तो भी जो सामग्री आज उपलब्ध है वह भी इतनी प्रचुर और महत्वपूर्ण है कि प्राचीन शास्त्रों में दर्शन शास्त्र के बाद राजनीति शास्त्र का ही ऐसा सोपपत्तिक और सांगोपांग वर्णन मिलने के कारण इसे एक "पूर्ण विद्या" का गौरव दिया जा सकता है। भारतीय राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की ऐतिहासिकता और समीचीनता का वैज्ञानिक परीक्षण करने के लिये पर्याप्त सामग्री ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में भी उपलब्ध है। पौराणिक, बौद्ध और जैन साहित्य इसके व्यावहारिक ऐतिहासिक पहलू पर बड़ी समृद्ध पूरक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इतिहास ग्रन्थों अर्थात् महाभारत और रामायण आदि के द्वारा अनेक शासन संस्थाओं पर विशद प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त व्याकरण साहित्य के अध्ययन के द्वारा भी डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे मनीषियों ने हिन्दू राज शास्त्र के नितान्त वैज्ञानिक और व्यावहारिक पहलुओं पर अमूल्य मननीय सामग्री प्रस्तुत की है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य के वैदिक काल से लेकर लौकिक संस्कृत के महाकाव्य काल तक प्राप्त सामग्री के सूक्ष्म सर्वेक्षण के द्वारा हम इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य में राजशास्त्र के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए सामग्री का विशाल भण्डार सुरक्षित है। इस सामग्री के अनुशीलन से हिन्दुओं की राजनीतिक मान्यताओं के उद्गम और विकास पर विचार करने के पश्चात् प्राचीन काल की राजनीतिक दशा का जो चित्र उभरता है उसे प्रस्तुत करना अपेक्षित है। यह चित्र महाभारत कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को समझने और उस समय की शासन व्यवस्थाओं और विधियों के वास्तविक स्वरूप के जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

महाभारत से पूर्व का शासन संस्थाएं और उनका सर्वेक्षण—

भारतीय गणराज्य तथा राजतन्त्रों में भारतीय संस्कृति और धर्म की मान्यताओं के अनुरूप अनेक शासन संस्थाओं का विकास हुआ। यह निःसन्देह सत्य है कि इनका स्वरूप वर्तमान काल की शासन संस्थाओं से भिन्न रहा होगा। प्राचीन भारत की परिस्थितियों में किये गये अनेक प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर विकसित हुए विचारों तथा संस्थाओं को उस प्ररिप्रेक्ष्य से पृथक् करके समझना असम्भव है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का सर्वेक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सांस्कृतिक दृष्टि से एकता विद्यमान रहते हुए भी भारत देश

बहुत से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनमें अनेक प्रकार की शासन सत्ताएं विद्यमान थीं[1]। वैदिक युग भी पहले आर्यों के अनेक अनवस्थित और अवस्थितजन जब स्थायी रूप से किसी प्रदेश में बस गये तो ग्रामों और जनपदों का निर्माण हुआ। इन जनपदों का स्वरूप प्रायः वैसा ही था जैसा कि प्राचीन ग्रीस के "पोलिस" और प्राचीन इटली के "सिवितास" का था। इन्हीं गणों और ग्रामसंघों और जनपदों व नगर-राज्यों में अनेक प्रकार की शासन संस्थाओं का विकास हुआ। कुछेक जनपदों में गणशासन की सत्ता थी और कुछेक में वंशानुसंक्रमित राजाओं के शासन की।

स्थानीय स्वशासन—

गणराज्यों में भी कुछ में श्रेणितन्त्र या कुलतन्त्र शासन विद्यमान थे और कुछ में लोकतन्त्र की सत्ता थी। सब राजतन्त्र जनपदों की शासन संस्थाएं भी एक सी नहीं थीं। उनमें द्वैराज्य, वैराज्य, भोज्य, राज्य तथा एकराज्य आदि अनेकविध शासन थे[2]। कुछ राज्यों में प्रजा (विशः) के द्वारा राजा के वरण किये जाने की प्रथा थी और कुछ में राजा स्वेच्छाचारी रूप से शासन किया करते थे[3]।

परन्तु इन सभी गणराज्यों और राजतन्त्रों में एक ऐसी भारतीय राजनीतिक संस्था विद्यमान थी जिसे आधुनिक परिभाषिक शब्दावली के अनुसार "स्थानीय स्वशासन" कह सकते हैं। शासन चाहे गणतन्त्रीय हो या राजतन्त्रीय, भारत का प्रत्येक ग्राम अपने आप में स्वयं एक छोटा सा आत्मनिर्भर गणराज्य था। केन्द्रीय शासन इसकी व्यवस्था में केवल सीमित सा ही हस्तक्षेप करता था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने इसी स्वशासन को भारतीय राजनीतिक ढाँचे का "प्राण" कहा है[4]। इसी कारण बड़ी बड़ी राजनीतिक उथल-पुथलों में, राज्यक्रान्तियों की आंधियों के आने और उतर जाने की परवाह न करते हुए, बड़े बड़े गणों अथवा साम्राज्यों की स्थापना और विघटन के क्षणों में भी भारत का मूलभूत राजनीतिक ढांचा न कभी चरमराया और न कभी नष्ट हुआ। काल और देश की परिस्थितियाँ ही संस्कृति को और उसकी उपलब्धियों को कार्यान्वित करने के लिये राजनीतिक संस्थाओं को जन्म देती हैं। यह स्वशासन इसीलिये विकसित हुआ क्योंकि प्राचीन भारत की परिस्थितियों में इतने विशाल देश के सुदूर प्रान्तरों में यातायात के लिए केवल घोड़े के ही द्रुततम साधन होते हुए शायद सत्ता का केन्द्रीयकरण सम्भव नहीं था या विकेन्द्रीकरण एक अनिवार्य आवश्यकता या विवशता रही होगी।

१—सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, प्रस्तावना पृ० १।

२—काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू राजनीति, अ० १०।

३—वही, अ० २३।

४—राधाकुमुद मुकर्जी, 'लोकल सैल्फ गवर्नमैण्ट इन एंश्येंट इण्डिया, भूमिका।

जनमत का प्रभाव—

वैदिक काल में ही सभा तथा समिति[1] और बाद में परिषद्[1] जैसी प्रभावपूर्ण संस्थाओं की उत्पत्ति और उनका शासन पर प्रभाव इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में शासकसत्ता जनता और उसकी इच्छा शक्ति के प्रभुत्व को चुनौती देने की स्थिति में नहीं थी। जनता (विशः) के द्वारा अपने राजाओं के चुने जाने और उनके पदच्युत किये जाने के अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं।

जनता के महत्व का प्रतिपादन इस तथ्य से भी स्पष्ट रूप से होता है कि इन प्राचीन राज्यों को राजतन्त्र या राज्य न कहकर केवल राष्ट्र[1] की संज्ञा दी जाती थी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत में जनता के इस प्रभुत्व को अभिव्यक्त करने वाली सभा और समिति नामक जन संस्थाओं का विकास अति प्राचीनकाल में ही हो चुका था। और इसीलिये इन्हें प्रजापति की बेटियां कहा गया है।[2]

इन सभाओं के प्रस्तावों और निर्णयों के अनुसार आचरण करने के लिये जनता ही नहीं राजाओं (शासकों) को भी बाध्य होना पड़ता था[3]। मैगस्थनीज ने इस प्रकार की गणतन्त्रीय प्रवृत्तियों से युक्त राजतन्त्रों, गणराज्यों तथा गणसंघों का उल्लेख किया है[4]।

काल और देश की विशिष्ट आवश्यकताओं के कारण गणतन्त्र शासनों के "राजतन्त्र" स्वीकार कर लेने के भी वर्णन मिलते हैं[5]। इसके विपरीत अनेक राजतन्त्र जनपदों में बाद में गणराज्य शासन की स्थापना हो गई। इस दृष्टि से भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास प्राचीन ग्रीस के इतिहास के समान है[6]।

हिन्दु राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन की उचित प्रणाली—

आजकल उपर्युक्त पृष्ठभूमि की ओर जाने या अनजाने दुर्लक्ष्य किए जाने के कारण भारतीय राजनीतिक संस्थाओं के विषय में जो अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं, उनके विषय में बड़ी अनवस्था और अनावस्था की सी स्थिति विद्यमान है। प्राचीन ग्रंथों से प्राचीन उद्धरण लेकर ही कुछेक मनीषियों ने जहां प्राचीन भारतीय परम्पराओं में अनेक नवीनतम राजनीतिक मान्यताओं को खोज निकाला है वहां कहीं-

१—'नाराजकेषु राष्ट्रेषु' शान्ति ६७,५।
२—अथर्ववेद ७-१३-१ 'समा च मा समितिश्च मा प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने'।
३—सायणकृत अथर्व भाष्य, ७.१३.२।
४—मैक्क्रिडल—मैगस्थनीज और एरियन, पृ० २००।
५—ऐतरेय ब्राह्मण, १-१४, 'देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतंत' तांस्ततोऽसुरा अजयन् देवा अब्रुवन् अराजतया वै नो जयंति राजानं करवामहा इति तथेति।
४—काशी प्रसाद जायसवाल, पृ० २३-९।

कहीं वह प्राचीन पाठों में नये भावों के अध्ययन के लोभ को भी संवरण नहीं कर पाये हैं। इस अर्ध-आधुनिक खोज-प्रणाली की प्रवृत्तियों का कितने ही इस क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वान् विरोध करते हैं।

प्रसिद्ध इतिहास विशेषज्ञ डा० नीलकण्ठ शास्त्री ने इस लेखक को इस महा-निबन्ध में उनका यह मत उद्धृत करने का अधिकार दिया था कि 'डा० जायसवाल की खोजों का अमूल्य महत्व होते हुए भी उनकी व्याख्या पद्धति बड़ी दोषपूर्ण है क्योंकि उन्होंने, उदाहरण के लिए पौर-जानपद के स्वरूप को इस ढंग से प्रतिपादित कर दिया है, मानों वे वर्त्तमान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदृश हैं। प्राचीन भारत में पौर-जानपद नामक संस्थानों की सत्ता अवश्य थी, पर वे राज्यों के केन्द्रीय संसद न होकर पुर-संघ (पुर-सभा) व जनपद-संघ (जनपद-सभा) की ही स्थिति रखती थीं। उनकी भी तुलना प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों की सभाओं से अवश्य की जा सकती है किन्तु आधुनिक युग के संसदीय प्रणाली वाले राज्यों की पार्लियामेण्ट से उनके सादृश्य को प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है।'

सारांश यह है कि प्राचीन भारत के जनपदों के स्वरूप और शासन संस्थाओं की विशेषताओं के सम्बन्ध में अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि अपने उपलब्ध प्राचीन साहित्य की सामग्री का इस प्रकार अध्ययन किया जाय कि जिसके द्वारा उन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तों और आदर्शों की स्थापना ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में की जाये जिनका समर्थन उसी साहित्य में प्राप्त ऐतिहासिक पक्ष के द्वारा भी होता हो। इस प्रकार के साक्ष्यों की परीक्षा तत्कालीन अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में प्राप्त साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भी होनी चाहिए। चाहे फिर भारत की शासन संस्थाओं और राजनीतिक सिद्धान्तों के क्रमिक विकास का अध्ययन ठीक उसी प्रकार न किया जा सके जिस प्रकार उनके पाश्चात्य रूपों के सम्बन्ध में किया गया है।

आधार ग्रन्थ महाभारत—

प्राचीन भारतीय राजनीति शास्त्र का इस प्रकार का वैज्ञानिक—ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करने के लिए उपलब्ध सामग्री की दृष्टि से महाभारत एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से महाभारत के राजधर्म विषयक विवेचनों का महत्व उसी प्रकार का है जैसा भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उपनिषदों का। महाभारत वह विशाल खान है जिसमें भारतीय प्रतिभा की आध्यात्मिक और लौकिक क्षेत्रों की हजारों वर्षों की उपलब्धियों की अमूल्य मणियां भरी पड़ी हैं। सुदूर अतीत से लेकर नितान्त अर्वाचीन गौरवपूर्ण राजनीतिक जीवन के काल तक के विचारों का यह अनूठा संकलन है। यह एक ऐसा विश्वकोष है जिसमें हिन्दुओं के शताब्दियों तक के धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन को अनेकानेक आख्यानों और उपाख्यानों की लड़ियों में पिरोकर सजाया और अमर बना दिया गया

है। महाभारत किसी एक काल का नहीं अपितु हजारों वर्षों में सम्पन्न हुए भारत के सांस्कृतिक विकास का एक विशद चित्र प्रस्तुत करता है। इसीलिए प्राचीन भारत की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए साहित्यिक साक्ष्य के रूप में उपलब्ध अनेक उपकरण-ग्रन्थों में महाभारत का महत्व और भी अधिक हो जाता है क्योंकि यह एक इतिहास-ग्रन्थ है और इसके प्रत्येक तत्व तथा सिद्धान्त को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और सामाजिक पर्यावरण में अनुसंधान की आधुनिक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक पद्धतियों के अनुसार परखा जा सकता है। यह सुविधा 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' जैसे परिपक्व मूर्द्धन्य ग्रन्थों के अधीती विद्वानों तक को प्राप्त नहीं हो सकती।

लोकप्रियता और महत्त्व—

महाभारत के राजधर्म-पर्व और अन्य पर्वों में प्राप्त सामग्री प्रचुर होने के साथ ही साथ बड़ी लोकप्रिय और मनोरंजक भी है क्योंकि इनमें प्राप्त शासन संस्थाओं सम्बन्धी विचार निरे शास्त्रीय और अन्य शास्त्रों की तरह सूत्रात्मक नहीं है। ये सभी ग्रन्थ-भाग विद्वानों की तरह ही जनसाधारण में भी प्रचलित और उनके लिये परिचित से हैं। सामान्य जीवन में अच्छे या बुरे लोगों के लिए महाभारत के पात्रों की उपमान के रूप में स्थापना करना जनता में भी सर्वसाधारण बात है।

शायद ही कोई ऐसा भारतीय होगा जो महाभारत के नाम से परिचित न हो। जिस प्रकार यूरोप के कवियों के लिए 'इलियड' और 'औडिसी' सदा से उपजीव्य और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं, भारत में भी प्रायः अनेक परवर्ती कवियों ने बहुत कुछ महाभारत से लिया है। सभी भारतीय बूढ़े-बच्चे, नर-नारी, राजा-रंक आदि इसकी रमणीय कथा से प्रभावित और द्रवित होते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत ने, रामायण की तरह, भारतीय राजनीतिक जीवन को उपनिषदों और अन्य वैदिक साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावित किया है, क्योंकि इसका वर्ण्य विषय उपनिषद् आदि में वर्णित दार्शनिक तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और रोचक है। कितने ही विद्वानों इसीलिए वेदों की तरह इसकी भी प्रामाणिकता स्वीकार करते हुए इसे 'पाँचवाँ वेद' होने का गौरव प्रदान किया है। श्री जवाहरलाल नेहरु ने लिखा है कि "विश्व में कहीं भी कोई इस प्रकार का ग्रन्थ नहीं है, जिसने रामायण और महाभारत की तरह जन-मानस पर इतना सतत और व्यापक प्रभाव डाला हो। अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक भी वे भारतीय जनता के जीवन के शक्तिशाली जीवन-स्रोत हैं। कुछेक इने गिने विद्वानों को छोड़कर जनता के लिये मूल संस्कृत में महाभारत चाहे सुगम न हो परन्तु फिर भी वह सभी को सुलभ है अनेक अनुवादों और रूपान्तरों में तथा उन अनेक असंख्य रूपों में जिनके द्वारा समाज की परम्पराएँ और गाथाएँ प्रसारित होती हैं और

उसके जीवन का विभिन्न अंग बन जाती हैं[१]।' महाभारत की लोकप्रियता का ही यह चमत्कार है कि लगभग छठी शताब्दी में ही इसके पर्वों और हरिवंश का अनुवाद जावा और बाली द्वीपों में प्राचीन 'कवि' नाम की भाषा में हो गया था। महाशय रौकहिल् ने तिब्बती भाषा में हुए अनुवाद की भी चर्चा की है[२]।

महाभारत का ऐतिहासिक-वैज्ञानिक पक्ष—

अतः महाभारत में वर्णित राजधर्म के भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण और रोचक अध्याय राजतन्त्र को लेकर किया जाने वाला प्रस्तुत विवेचन सार्वजनिक रुचि और जिज्ञासा की दृष्टि से भी बड़ा उपादेय है। सामान्य पाठकों की भी प्राचीन भारतीय पर्यावरण तथा इतिहास में अभिरुचि और उसके मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए इसका सर्वथा रुचिकर और ग्राह्य होना स्वाभाविक है। इसकी प्रामाणिकता इसलिए और भी बढ़ जाती है क्योंकि इसमें राजनीति के सिद्धान्तों का कोरा शास्त्रीय विवेचन नहीं है जिसे अत्युक्ति पूर्ण या आदर्शवादी कहकर ठुकराया जा सके। सम्पूर्ण ग्रन्थ में बिखरे हुए प्रासंगिक विवेचन वैदिक साहित्य में प्राप्त प्रासंगिक उल्लेखों और संकेतों की ही तरह सर्वथा प्रामाणिक हैं और इनकी सहायता से निरी सैद्धान्तिक उक्तियों को परख कर केवल ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तथ्यों का ही चयन, यदि परिश्रम से किया जाय तो, सर्वथा सम्भव है।

आज के युग में संचार और यातायात के साधनों के विकास के कारण संसार की देशकाल की दूरियाँ स्वयं सिमटने लगी हैं। पूर्व और पश्चिम हाथ फैलाकर मिलने के लिये निकट बढ़े चले जा रहे हैं। इस प्रक्रिया में पूर्व और पश्चिम की शासन-संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए जैसे पूर्ण और स्वाभाविक चित्रण की आवश्यकता है उसके लिए भी महाभारत ही सबसे अधिक उपादेय ग्रन्थ है।

महाभारत में संकलित साक्ष्यों से प्राप्त होने वाले भारतीय राजनीतिक चिन्तन के मूल तत्त्व पुराने से पुराने और लगभग गुप्त काल तक के राजनीतिक दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं इस प्रकार हिन्दू राजनीति के इतिहास के परिनिष्ठित या क्लैसिक काल की राजनीति, प्रशासन, न्याय-व्यवस्था और राजनीतिक दर्शन के मूल तत्त्वों का पाश्चात्य जगत् में ग्रीक और लैटिन राजनीतिक दर्शन के आधार पर विकसित हुए क्लैसिक चिन्तन के साथ समालोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिये महाभारत से अच्छा और कोई उपयुक्त स्रोत नहीं हो सकता। पाश्चात्य क्लैसिक राजनीतिक विचारधारा और व्यावहारिक राजशास्त्र के प्रतिनिधि मैकियावेली के विचारों से महाभारत में राजसंस्था के विषय में प्राप्त होने वाली सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन की समीचीनता का प्रतिपादन करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि क्या वस्तुतः महाभारत में प्राप्य सामग्री भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास के क्लैसिक युग

१—जवाहर लाल नेहरु, डिस्कवरी आफ् इण्डिया, पृ० ७८।
२—रौक्हिल, लाइफ आफ् दि बुद्ध, पृ० २८।

का प्रतिनिधित्व करती है? मैकियावेली के 'प्रिंस' और महाभारत के काल में सदियों का अन्तर होते हुए भी यह निर्विवाद सत्य है कि ये दोनों ग्रन्थ पूर्व और पश्चिम के राजनीतिक इतिहास के 'क्लैसिक' युग के ही प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। दोनों में प्राचीन राजनीतिक अनुभवों, प्रयोगों तथा सिद्धान्तों का संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध है। और यदि किन्हीं दो देशों के किसी विशेषकाल के मूलभूत तत्त्वों का तुलनात्मक विवेचन ही अपेक्षित हो तो उसका पूर्णतया कालक्रमानुसारी होना न तो संभव ही है और न अपेक्षित ही। प्राचीन काल एवं मध्यकाल (अं० एंश्येण्ट एण्ड मैडीवल पीरियड्स) आदि के प्रारम्भ और अन्त की सीमाएं कालगणना की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो सकती हैं और यद्यपि काल-निर्धारण विद्या (अं० क्रौनीलोजी) को इतिहास की 'चक्षु' कहा जाता है तो भी यह मानना पड़ेगा कि हो सकता है कि किन्हीं दो देशों की विचारधाराओं और संस्थाओं में स्वाभाविक मौलिक अद्भुत समानता होते हुए भी उनके विकास और ह्रास की कालानुक्रम विषयक तिथियों में सदियों का अन्तर हो। परन्तु इससे मौलिक तत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन की उपादेयता और प्रामाणिकता में कोई कमी नहीं आती। अपितु दो विभिन्न राष्ट्रों की संस्थाओं को कालानुक्रम की सीमाओं में बाँधकर जबर्दस्ती से किये गये अध्ययन में कृत्रिमता और अपूर्णता ही आ जाने की आशंका होती है। अतः महाभारत के काल निर्णय का प्रश्न विवादास्पद होने तथा इसमें वर्णित राजतन्त्र विषयक भारतीय विचारों तथा इटली के पुनर्जागरण काल के प्रतिनिधि तत्वद्रष्टा मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन के अभिव्यक्ति-काल में सदियों का अन्तर होने पर भी मौलिक तत्त्वों की समानता के कारण इसके तुलनात्मक अध्ययन के औचित्य और वैज्ञानिक आधार के विषय में कोई विवाद नहीं हो सकता।

काल-निर्णय, मौलिकता तथा ऐतिहासिकता

महाभारत के काल-निर्णय का प्रश्न बड़ा जटिल है। यह निर्णय करना प्रायः असम्भव है कि महाभारत के क्रमिक विकास की 'जय', 'भारत' और 'महाभारत' इन तीनों दशाओं की रचनाओं का काल पृथक्-पृथक् क्या है? तथापि इनके पौर्वापर्य की सापेक्ष काल-गणना करना इसलिए उपादेय है, क्योंकि हो सकता है कि उसके द्वारा हम उनके काल की लगभग ठीक सी सीमायें निर्धारित कर सकें।

संस्कृत साहित्य में महाभारत का सबसे पहला उल्लेख 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में प्राप्त होता है[1]। "सांख्यायन श्रौत सूत्र' में भी महाभारत का नाम आया है[2]। डा० रामगोपाल ने 'सां० श्रौ० सूत्र' को आ० गृ० सूत्र का परवर्ती तथा पाणिनि से पर्याप्त

१—आ० गृ० सूत्र ३, ४, ४ में भारत तथा महाभारत का उल्लेख।

२—द्रष्टव्य—त्र्यम्बक गुरुनाथ काले (दि वैदिक मैगजीन एण्ड गुरुकुल समाचार पु० ७, भाग ६–७, पृ० ५२८—५३२) का बौधायन धर्म सूत्र में महाभारत के उपाख्यानों और भावों का उल्लेख तथा बूलर, एस० बी० ई० १४, भूमिका पृ० १२, में विरोधी मत का खण्डन।

पूर्ववर्ती माना है[१]। परन्तु हिलेब्राण्ट सां० श्रौ० सूत्र को आश्वालायन श्रौत सूत्र से पूर्व का मानते हैं। अतः चाहे यह आ० गृ० सूत्र के बाद का भी मान लिया जाय तो भी आ० श्रौ० सूत्र से पूर्व का होने के कारण यह आ० गृ० सूत्र के प्रायः समकालीन ही माना जाना चाहिए[२]।

आश्वलायन गृह्य सूत्र के रचयिता भगवान् आश्वलायन षड्गुरु शिष्य के द्वारा उल्लिखित एक परम्परा के अनुसार[३] "ऋग्वेद प्रातिशाख्य" के विख्यात प्रणेता शौनक के शिष्य थे।[४]

स्वयं आश्वलायन ने भी कई वार महर्षि शौनक का सादर उल्लेख किया है जिससे उक्त मत की पुष्टि के लिए एक अन्तःसाक्ष्य की कमी पूरी हो जाती है।[५]

इस सम्बन्ध में हमें "वृहद्देवता" से एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य की उपलब्धि होती है। महर्षि शौनक को "वृहद्देवता" का भी रचयिता बतलाया जाता है। परन्तु हो सकता है कि यह उनके किसी ऐसे शिष्य की रचना हो जो काल की दृष्टि से महर्षि शौनक से बहुत बाद का न हो।[६] "वृहद्देवता" (४,१३९) में आश्वलायन के (आ० गृ० सूत्र २–९–१२) मत को पूर्णरूपेण उद्धृत किया गया है। इस उद्धरण से "आश्वलायन गृह्य सूत्र" की सापेक्ष काल-गणना करने में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि "वृहद्देवता" कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के प्रमुख स्रोतों में से एक है और निश्चित रूप से कात्यायन से पूर्वकालीन है[७]। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में आये हुए शब्दों के अनेक प्राचीन तथा पाणिनीय व्याकरण के प्रतिकूल रूप इस बात के पर्याप्त पुष्ट प्रमाण माने जाते हैं कि कात्यायन पाणिनि के पूर्ववर्ती थे[८]। इस प्रकार "वृहद्देवता" में उपलब्ध आश्वलायन के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि आश्वलायन पाणिनि से पर्याप्त पूर्ववर्ती रहे होंगे।

१—डा० रामगोपाल, इंडिया आफ् वैदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ७१–७२ तथा ८६।
२—हिलेब्राण्ट—रिच्वललिटरेचर, पृ० २५; सां, श्रौ सू०, पु० १, प्राक्कथन, पृ० १०; रामगोपाल, पृ० ७२।
३—राजेन्द्रलाल मित्र; ऐतरेय आरण्यक की भूमिका, पृ० ८,
शौनकस्य तु शिष्योभूद् भगवानाश्वलायनः।
स तस्मात् श्रुतसर्वज्ञः सूत्रं कृत्वान्यवेदयत्॥ षड्गुरुशिष्य।
४—मैक्समूलर, वही, पृ० १२० आदि।
५—आ० गृ० सू० ४, ७, १४ तथा ४, ६, ४५।
६—मैक्डोनल, 'वृहद्देवता', भूमिका पृ० २४; कीथ, ऐतरेय आरण्यक भूमिका पृष्ठ २१; विंटरनीज, हिस्टरी आफ् इंडियन लिटरेचर, पुस्तक १, पृ० २८६।
७—मैक्डोनल,' वृहद्देवता', भूमिका, पृ० २१–२२; सर्वानुक्रमणी, भूमिका पृ० ७; कीथ, ऐ० आ०, भूमिका, पृ० २१।
८—मैक्डॉनल, वृहद्देवता, भूमिका पृ० २२–२३; कीथ ऐ० आ० भूमिका, पृ० २१।

आश्वलायन के उक्त अनुमानित कालक्रम की पुष्टि 'ऐतरेय' आरण्य से भी होती है। षड् गुरु शिष्य "ऐतरेय आरण्यक" के पंचम अध्यायं को आश्वलायन कृत मानते हैं[1]। क्योंकि 'ऐतरेय आरण्यक' पाणिनि से पहले[2] का माना जाता है इसलिये आश्वलायन भी पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं।

इसके अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी आ० गृ० सू० सूत्रकाल के प्रारम्भिक युग की रचना प्रतीत होती है क्योंकि कुछेक स्थलों में तो इसकी शैली ब्राह्मण-ग्रन्थों के अधिक निकट प्रतीत होती है[3]। अतः यह सर्वथा सम्भव है कि आश्वलायन गृह्य-सूत्र पाणिनि की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है।

महाभारत के संकलन काल की पूर्व मर्यादा और अन्तिम सीमाओं के निर्धारण करने के जटिल प्रश्न का समाधान अपेक्षाकृत सरल तब हो सकता है जब हमें पाणिनि के यथासम्भव ठीक काल का पता लग जाये। परन्तु दुर्भाग्यवश पाणिनि का काल भी अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाया है और विख्यात भारत-विद्या-शास्त्रियों ने इस प्रश्न पर अनेक परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन किया है। प्रो० आर० जी० भण्डारकर, गोल्डस्टूकर, बेलवलकर तथा पाठक ने पाणिनि का काल ७०० ई० पूर्व प्रतिपादित किया है। इसके विपरीत प्राध्यापक लैसन, बोलिंग और कीथ पाणिनि को चतुर्थ शताब्दी ई० पू० का मानते हैं[4]।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल कृत 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' के काल निर्णय के विषय में विवेचना प्रस्तुत करने वाला अन्तिम ग्रन्थ है। डा० अग्रवाल के अनुसार पाणिनि गौतम बुद्ध के परवर्ती थे और ५ वीं शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य में विद्यमान थे[5]।

डा० अग्रवाल के आधारभूत तर्कों की मीमांसा और कुछेक अंशों में खण्डन[6] करते हुए डा० राम गोपाल ने कीथ, कीलहार्न, मैकडानल, मैक्समूलर और भण्डार-

---

१—रामगोपाल. वही पृ० ६६।
२—कीथ; ऐ० आ० भूमिका, पृ० २१ आदि।
३—आ० गृ० सू० ३·३·१–४; वही, ४·४·२–८।
४—आर० जी० भण्डारकर, बम्बई गजेटियर, १,२ पृ० १४० आदि; गोल्डस्टूकर, पाणिनि, पृ० २२५–७; बेलवलकर, सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, १५; पाठक, ए० बी० ओ० आर० आइ० ११,८३; लैसन, इंडियन एंटिक्वरी, २,४७७; बोलिंग, अष्टाध्यायी, भूमिका; कीथ, एच० ओ० एस०, पु० १८, पृ० १३८ आदि; ऐ० आरण्यक भूमिका, पृ० २१; एच० स्कोल्ड, 'पेपर्स आन पाणिनि', पृ० २४ आदि।
५—वासुदेव शरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष ८,४६७–४८०।
१—रामगोपाल, इण्डिया ऑफ् वैदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ८६–८७

कर[1] आदि विद्वानों के मतों का हवाला देते हुए महाभाष्यकार पंतजलि और वार्तिककार कात्यायन और सूत्रकार पाणिनि की तिथियों को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। उनके मत के अनुसार पतञ्जलि, कात्यायन तथा पाणिनि की तिथियां क्रमशः लगभग १५० ई० पूर्व, चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व तथा ६००–५५० पूर्व होनी चाहियें[2]।

इस प्रकार यदि यह मान लिया जाय कि पाणिनि का काल छठी शताब्दी ई० पू० का मध्य हो सकता है तो हमारे पहले किये गये विवेचन के अनुसार सूत्रकाल के प्रारम्भ में ही निवद्ध हुए आ० गृ० सू० का रचनाकाल लगभग ८०० ई० पू० माना जा सकता है। इस काल क्रम की सीमाओं को और पीछे की ओर भी ले जाया जा सकता है; किन्तु यदि डा० अग्रवाल के पाणिनि के काल निर्णय के अनुसार ही इसकी नीचे की सीमा का आकलन किया जाये तो भी आ० गृ० सू० की रचना का काल पाणिनि के काल से कम से कम २०० वर्ष पूर्व अर्थात् सातवीं शताब्दी ई० पू० का मध्यकाल अवश्य मानना होगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भली प्रकार प्रतिपादित हो जाता है कि यदि महाभारत के उपवृंहित रूप की नहीं तो उसके पूर्व रूप की रचना या संकलन ७०० अथवा ८०० ई० पू० में अवश्य हो चुकी थी। हम पहले कह चुके हैं कि महाभारत एक विश्व कोश जैसा है, वह एक संकलन है और किसी एक व्यक्ति की किसी एक काल की रचना नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि इसमें संकलित सामग्री की प्राचीनता सुदूर अतीत तक पहुँचती है। मनु के नाम से प्रसिद्ध अनेक श्लोकों का महाभारत में पाया जाना इस वात का प्रमाण है कि अति प्राचीन काल से परम्परा के सहारे चले आये वहुत से ज्ञान का संचय महाभारत में कर लिया गया है। महाशय हाप्किंस और वूह्लर[3] ने यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीन भारत में मनु रचित माने जाने वाले सुभाषितों की एक विपुल "चल-सम्पत्ति" पहले से ही विद्यमान थी जिन्हें अनेक ग्रन्थकारों ने आदरपूर्वक उद्धृत किया है[4]। यह वात मनुस्मृति के लग-

१—ए० बी० कीथ, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ४२७ आदि; गोल्डस्टूकर, वही २८८; भण्डारकर, इंडियन एण्टीक्वरी, १,२९९,२,५९; बूह्लर, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, पु० २ पृ० ४३ टिप्पणी; एगलिंग वही (एस० वी० इ०) पु० १२, ३५–३९; वी० स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३३७ टिप्पणी २; कीलहार्न, इंडियन एण्टीक्वरी १६, पृ० १०३; मैकडानल, इंडियाज़ पास्ट, आक्सफोर्ड (१९२७) पृ० १३८।

२—रामगोपाल, पृ० ८८।

३—हाप्किस-जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टलिस्ट सोसायटी पु० ११, पृ० २५७; दे० बूह्लर वही पु० २५, पृ० ९०।

४—कौशीतकी गृह्य सूत्र २,३,१९ तुलनीय मनु २,२४६; वही ३,७,१३० तथा मनु ४, ११९ इत्यादि।

भग दो तिहाई श्लोकों के महाभारत में भी संकलित कर लिये जाने के तथ्य से और भी पुष्ट हो जाती है। साथ ही इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन मनुश्लोकों के आधार पर महाभारत को मनुस्मृति (३०० ई० पू०) से परवर्ती सिद्ध करने के प्रयास सर्वथा भ्रान्तिमूलक हैं।

इस प्रकार सुदूर अतीत के ज्ञान-विज्ञान का यह आकर ग्रन्थ अनेक सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक वर्ण्य विषयों की सामग्री को अपने आप में आत्मसात् करते हुए अपने वर्तमान उपवृंहित रूप में कब तक संपन्न हुआ ? इसका निर्णय करना नितान्त आवश्यक है। आपेक्षिक कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार की निचली सीमा का निर्धारण किये बिना हमें यह ज्ञात नहीं हो पायेगा कि राजतन्त्र की दृष्टि से हम महाभारत की जिस सामग्री का ऐतिहासिक-वैज्ञानिक विश्लेषण कर रहे हैं उसके द्वारा किस काल तक के भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर प्रकाश पड़ता है।

मैक्क्रिडल ने लिखा है कि जिस काल में यूनानी सेनाएं सिकन्दर के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण कर रही थीं (४०० ई० पू०) उस काल में भारतीयों के पास एक "इलियड" जैसा महाकाव्य था। मैक्क्रिडल द्वारा उल्लिखित यह महाकाव्य महाभारत ही हो सकता है[1]। परन्तु महाभारत के उपवृंहित एक लाख श्लोकों वाले हरिवंश समेत रूप का उल्लेख हमें सबसे पहले एक गुप्तकालीन शिलालेख में प्राप्त होता है[2]। इस प्रकार इस शिलालेख से पूर्व महाभारत के उपवृहित रूप का और कहीं स्पष्ट वर्णन न होने से उत्साहित होकर कई विद्वानों ने महाभारत के राजधर्म पर्व को महाभारत में एक अर्वाचीन प्रक्षेप सिद्ध करने का प्रयास किया है और इसे गुप्त काल की रचना बतलाने की चेष्टा की है। इस प्रकार राजधर्म पर्व को अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और अन्य नीति ग्रन्थों से भी परवर्ती सिद्ध करने के लिए अनेक साक्ष्यों का सहारा लिया गया है जिसमें एक यह भी है कि इसमें जैन साधुओं का उल्लेख[3] और तोखारी आदि ऐसी यवन जातियों के नाम[4] मिलते हैं जो ई० पू० काल में भारत में थीं ही नहीं। इन मतों की क्रमशः समीक्षा आवश्यक है।

१—मैक्क्रिडल (एंश्यैण्ट इंडिया, मैगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० २००–५) के उल्लेख पर आधारित इस मत की पुष्टि महाशय उतूगीकर (भाण्डारकर स्मृति ग्रंथ, पृ० ३४०) के इस मत से भी होती है कि पाणिनि महाभारत के मूल और उपबृंहित दोनों ही रूपों से परिचित थे (पाणिनिकालीन भारत, पृ० १७८ पर उद्धृत, ।

२—इन्स्क्रिप्शनम् इण्डीकेरम्, भाग ३, पृ० १३४ पर प्रकाशित यह शिलालेख चेदि संवत् १९७ या विक्रमी संवत् ५०२ में लिखा गया अर्थात् ई० सन् ४४५ में।

३—दे० आदि, पौष्य-आख्यान में 'क्षपणक', वन, १९०,६८ में 'एडूक' नामक बौद्ध स्मारक।

४—न शशाक वशीकर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजासीद् यवनाधिपः॥ आदि, १३९, २१।

महाभारतकार कौटिल्य के पूर्ववर्ती

अधिकारी विद्वानों ने अर्थशास्त्र की तिथि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मानी है।[1] महाभारत के राजधर्म पर्व में जिसमें शायद तत्कालीन शासकवर्ग के मार्ग-दर्शन के लिए उस काल में प्रचलित सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का एकत्र संकलन कर दिया गया है, उस समय के तथा पूर्ववर्ती अनेक वृहस्पति, शुक्र, वामदेव, मनु आदि राजनीतिक विचारकों के नामों का उल्लेख हुआ है। इनमें कौटिल्य के नाम का न होना यह सिद्ध करता है कि इस पर्व की बहुत सी सामग्री निश्चित रूप से कौटिल्य से पहले ही रही होगी और उसके इस संकलन को वर्ण्यविषय, प्रतिपाद्य वस्तु और उचित वर्गीकरण आदि की पूर्व निश्चित योजना के बिना एक शिथिल और अनुपयुक्त विवेचन के रूप में देखकर ही कौटिल्य ने राजधर्म का एक क्रमिक विश्लेषणात्मक और विस्तृत सफल विवेचन प्रस्तुत करने की आवश्यकता को अनुभव किया होगा[2]। कौटिल्य के अनेक विचारों पर महाभारत का स्पष्ट प्रभाव[3] देखते हुए यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि राजधर्म पर्व को अर्थशास्त्र का परवर्ती कहने वाले विद्वानों का कथन केवल आंशिक सत्य ही समझा जा सकता है[4]।

महाभारत-युद्ध का काल

महाभारत की विमल वोधाचार्य कृत टीका की पाण्डुलिपियों में से प्राप्त ज्योतिष सम्वन्धी सामग्री से यह संकेत मिलता है कि महाभारत युद्ध का काल लगभग ११वीं या १२वीं शताव्दी ई०पू० होना चाहिए क्योंकि यही वेदांग ज्योतिष का भी काल है[5]। यदि लगभग यही महाभारत—संहिता का काल मान लिया जाय क्योंकि महा-

---

१—जौली–जैड० डी० एम० जी०, पु० ६७, पृ० ६९–९६; विशेषत: ९५–९६।

२—द्रष्टव्य-दीक्षितार, वी० आर० रामचन्द्र, मौर्यन पालिटी, मैसूर (१९३२), पृ० १४।

३—अर्थशास्त्र १·६; ६·८।

४—द्रष्टव्य मजूमदार, आर० सी०, पृ० २५; मैकडानल; सं० सा० इ०; पृ० ३०९।

५—मैसूर पुरातत्व विभाग का वार्षिक प्रतिवेदन, सन् १९२७, पृष्ठ ८ से आगे देखिये प्रधानकृत 'क्रौनौलोजी आफ् एँश्यैण्ट इण्डिया'; तुलनीय वासुदेव शवरण अग्रवाल, पृ० ४७१ पर महाभारत में पहले धनिष्ठा नक्षत्र से और वाद में श्रवण नक्षत्र से (श्रवणादीनि ऋक्षाणि, अश्वमेध पर्व ४४·२) नक्षत्र गणना किए जाने का उल्लेख। इससे भी पूर्व रोहिणी आदि नक्षत्रों से काल गणना (वनपर्व, २१९,१० । धनिष्ठादिस्तद कालो—एवं संख्या समाभवत्)। महाशय फ्लीट (जे० आर० ए० एस०, (१९१६), पृ० ५७०) के अनुसार श्रवण नक्षत्र से गणना 'वेदाङ्ग ज्योतिष' की गणना के अनुकूल है। कीथ (जे० आर० ए० एस० (१९१७), १३३) ने हार्पकिंस (जे० ए० ओ० एस०, १९०३) तथा फ्लीट

(शेष·पृष्ठ २७ पर)

भारत में धनिष्ठा नक्षत्र से अयन के प्रारम्भ का वर्णन किये जाने के आधार पर की गई ज्योतिष-गणना से भी महाभारत का काल लगभग १० वीं शती ई० पू० ही प्रमाणित होता है, तो महाभारत के एक महत्वपूर्ण अंश राजधर्म पर्व को दस शताब्दी बाद का मानने वाले विद्वानों का मत भला कैसे माना जा सकता है। साथ ही यदि १५० ई० पू० की रचना माने जाने वाले पतञ्जलि कृत महाभाष्य में महाभारत का नाम नहीं है तो क्या इस नकारात्मक साक्ष्य के आधार पर आप कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सत्ता भी महाभाष्य से पूर्व काल में स्वीकार न करेंगे। अज्ञात से अज्ञात के समर्थन की यह पद्धति कदापि तर्क संगत नहीं हो सकती। न ही कुछेक शक, हूण और तुषार (तोखारी) आदि जातियों के नामों[1] के आधार पर राजधर्म पर्व का काल १०० से ५०० ई० के पश्चात् तक का सिद्ध किया जा सकता है[2]। क्योंकि इस प्रकार के उल्लेखों को यदि बाद में मिलाये हुए प्रक्षेप भी मान लिया जाये तो भी इस तथ्य का कदापि खण्डन नहीं होता कि महाभारत का आधुनिक विकसित स्वरूप राजधर्म-समेत लगभग ३५० ई० पू० में (प्रथम शताब्दी से बहुत पहले ही) विकसित हो चुका था[3]। उस काल में दक्षिण की यात्रा करने वाले यूनानी यात्री तथा मेक्किंडल कृत मैगस्थनीज के उल्लेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय हिन्दुओं के पास एक लाख श्लोकों का एक "इलियड" विद्यमान था और ये यूनानी महाभारत की कुछ कथाओं से परिचित थे[4]। यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त काल-निर्णय सम्पूर्ण महाभारत- ग्रंथ को दृष्टि में रखकर किया गया है, यद्यपि यह संभव है कि इसी सुदीर्घ काल में इसके कतिपय अंश प्रक्षिप्त किए गये हों और घटाये भी गये हों।

(पृष्ठ २६ का शेष)
के मत को स्वीकार किया है। श्री योगेशचन्द्र रे के मत को मानकर डा० अग्रवाल 'श्रवणादीनि ऋक्षाणि' इस उल्लेख की तिथि ४०१ ई० पू० मानते हैं। बाल गंगाधर तिलक ने (गीता रहस्य भूमिका-परिशिष्ट, भाग ५, पृ० ५६२) शंकर बालकृष्ण दीक्षित (भारतीय ज्योतिःशास्त्र पृ० ८०–९०, १११ तथा १४७) के अनुमान को मानकर महाभारत का काल शक संवत् से ५०० वर्ष (पूर्वमर्यादा) स्वीकार किया है।

१—शान्ति पर्व, ६५।

२—जायसवाल, भूमिका, पृ० ५।

३—चिन्तामणि विनायक वैद्य—'दि महाभारत—ए क्रिटिसिज़्म', पृ० १८५।

४—बाल गंगाधर तिलक, गीता रहस्य—सप्तम संस्करण पृ० ५५८–५६४। लोकमान्य तिलक ने डा० भाण्डारकर, काशीनाथ पन्त तैलंग, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, त्र्यम्बक गुरुनाथ काले तथा चिन्तामणि राव वैद्य के मतों का भी समाहार करते हुए गीता एवं हरिवंश समेत पूर्ण महाभारत का काल शक से ५०० वर्ष पूर्व माना है।

महाभारत की मौलिकता एवं ऐतिहासिकता—

महाभारत में संकलित सामग्री की इस संभावित अर्वाचीनता से उसकी ऐतिहासिकता और मौलिकता की हानि कदापि नहीं होती। हमारा विचार है कि प्राचीन भारत की चरण-परम्परा से अपरिचित होने के कारण ही संपूर्ण महाभारत के वेदव्यास द्वारा रचित होने का रहस्य अनेक देशी और विदेशी विद्वान् नहीं समझ सके हैं और उन्होंने कई एक स्थानों पर कोरे तर्कों अथवा कुतर्कों के आधार पर महाभारत की मौलिकता की खिल्ली उड़ाने का शिशु-प्रयास किया। प्राचीन भारत में अनेक विद्याओं का अध्ययन चरण-संस्था के अन्तर्गत होता था। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय शाखा का अर्थ तितिर-प्रोक्त शाखा न होकर तैत्तिरीय चरण वालों का छन्दोन्दोग्रन्थ, ऐसा समझना चाहिये[1]। प्राचीन संस्कृत साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास-पुराण का विकास प्राचीन भारत में बहुत पहले से हो चुका था[2]। इतिहास ग्रन्थों की मान्यता और प्रामाणिकता के आधार पर इस विद्या को पञ्चम वेद का नाम दिया जाता था। कालान्तर में महर्षि पाराशर्य वेदव्यास के चरण के अन्तर्गत इतिहास-विद्या का अध्ययन प्रारम्भ हुआ[3]। महाभारत के पूर्वरूप से लेकर उपबृंहित रूप के एक लाख से भी अधिक श्लोकों का यह इतिहासग्रन्थ वेदव्यास की कृति के रूप में विख्यात हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि इसके बृहत् आकार, वर्ण्य विषयों के वैविध्य और इसके विकास की अनेक दशाओं के आधार पर इसकी सामग्री की मौलिकता को चुनौती देना केवल वस्तु स्थिति से अज्ञान प्रकट करना है।

ई० डवल्यू० हापकिन्स का मत है कि 'महाभारत का आदिम स्रोत वीरगीतियों और वीर-गाथाओं में है[4]। गाने वाले चारण क्षत्रियों और गाथा-लेखक पुरोहितों की परम्परायें बहुत पुरानी हैं। ऋग्वेद काल में भी अनेक ऐसी ऐतिहासिक गाथाओं को अनेक यज्ञों एवं अनुष्ठानों के अवसरों पर गाया जाता था जिनमें प्रतापी पूर्वजों के पराक्रमों, युद्धों और विजयों का वर्णन होता था[5]।' इन गीतों की प्रशंसात्मकता से इनके ऐतिहासिक पक्ष की अवश्य क्षति हुई होगी और ये तथ्यात्मक नहीं रह पाये होंगे[6]। महाशय लैसन महाभारत में गाथा, शास्त्र और आख्यान के इन तीनों तत्त्वों का सुन्दर मिश्रण मानते हैं[7]। महाभारत के उपबृंहित रूप में रामायण की सी

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २९३।
२—अथर्ववेद १५. ६. ११।
३—कृष्णयजुर्वेद, कठकसंहिता में नाम—व्यास पाराशर्य।
४—हापकिन्स. वही, पृ० ३२२।
५—लैसन, वही, पु० १, ५८०।
६—वैबर, जैड० डी० एम० जी०, १५, १३६, तुलनीय—जिम्मर, आल्टिंडिश्चे लेबन, पृ० १७०।
७—लैसन, पु० १, पृ० १००४।

रमणीय काव्यात्मकता के दर्शन इस सामंजस्य के परिणामस्वरूप ही होते हैं[1]। अतः यह मानना ठीक है कि वैदिक काल से ही विद्यमान अनेक गीतात्मक वीर गाथाओं और इतिहासों को ही महाकाव्य काल में रमणीय काव्यात्मक रूप में एकत्र संकलित कर दिया गया[2]। यह काल सम्भवतः ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों के बिल्कुल बाद का है, जिसमें भारतीय साहित्य ने प्रत्येक दिशा में बड़ी तीव्र प्रगति की[3]। यही कारण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र-साहित्य के बिल्कुल विपरीत महाभारत में कहीं अधिक जीवन जागृति के दर्शन होते हैं और इसका वातावरण स्वतन्त्रता और आत्म निर्भरता की भावनाओं से कहीं अधिक ओत-प्रोत है। महाभारत चाहे किसी विशेष पीढ़ी के विचारों और संस्थाओं का प्रतिनिधित्व न करता हो परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमें भारतीय इतिहास का एक अतीव सक्रिय एवं संघर्षपूर्ण युग प्रतिम्बित है।

यह मानना पड़ेगा कि लगभग एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घकाल की भारतीय जीवन की अनेक प्रवृत्तियों और विकासों का यह प्रतिनिधि-ग्रन्थ भारतीयों के तत्कालीन राजनीतिक चिन्तन के विकास का भी उत्कृष्ट दर्पण है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये उसके प्राचीन तथा मध्य युग से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री महाभारत में उपलब्ध है। इस सामग्री के आपेक्षिक कालक्रम के निर्धारण करने में इतर संस्कृत साहित्य अर्थात् वैदिक साहित्य, सूत्र-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा स्मृति-पुराण-साहित्य से अमूल्य सहायता मिल सकती है। महाभारत और साहित्य के अन्य अंगों की शब्दगत तथा अर्थगत समताओं के आधार पर राजनीतिक विचारों के पौर्वादर्य का निर्णय किया जा सकता है, क्योंकि भारत-विद्या-संबंधी ज्ञान की विद्यमान दशा में हम अब ऐसी सौभाग्यपूर्ण स्थिति में हैं कि प्राचीन साहित्य के प्रमुख अंगों का आपेक्षिक कालक्रम प्रायः निश्चित रूप से निर्धारित हो चुका है। साथ ही राजनीतिक चिन्तन के क्रमिक विकास की शृंखला में जो कड़ियाँ किसी प्रकार से अनुपलब्ध प्रतीत हों, उनकी पूर्ति तत्कालीन ग्रन्थ-स्रोतों से पूरक सामग्री लेकर की जा सकती है।

यह मानना होगा कि महाभारत में कुछेक अध्याय बाद में मिलाये गये हैं। कुछेक अध्यायों में बाद में अनेक परिवर्तन, संशोधन और प्रक्षेप भी हुए हैं और इस लिए कुछेक अवान्तर घटनायें और भावनायें परस्परविरोधी प्रतीत होती है, तो भी इनकी उपादेयता असंदिग्ध है। इनकी सहायता से समय के कुहासे के गहन आवरण को चीर कर जिन युगों का और सब कुछ काल कवलित हो चुका है, उन युगों की झाँकी प्राप्त करने के लिए उत्सुक गवेषणा परायण मस्तिष्क को अतीत के इतिहास की साक्षात् ठोस और अमूल्य सामग्री मिल जाती है। उनमें भारत के लोगों, उनके

१—श्रोडर, एल० यू० सी०, पृ० ४५६।
२—मुल्लर, एंश्यैण्ट वैदिक लिटरेचर पृ० ३६-४०।
३—ब्राडके, जैड० डी० एम० जी० पु० ३६, पृ० ४७४ तथा ३७, ५४ एवं ३९, ५२।

शासकों, उनके युद्धों, उनके राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन आदि का वह विवरण प्राप्त होता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

महाभारत में वर्णित महान् युद्ध, उससेपहले की वह घटनाएं जिनके परिणाम-स्वरूप यह युद्ध हुआ और इस युद्ध के परिणाम आदि का आधार वह प्राचीन परम्परायें हैं जिनका उपयोग उस काल के इतिहास के पुनर्गठन और तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करने के लिए किया जा सकता है।

श्री चक्रवर्ती के मत में 'यह उस काल का चित्रण है जब आर्य सभ्यता का प्रभाव पंजाव से वाहर की ओर फैलता हुआ पूर्व में विहार तक और दक्षिण में नर्मदा से नीचे तक फैल गया था और जिस काल तक बुद्ध मत तथा जैन मत का उदय नहीं हुआ था। यह काल वैदिक युग के अन्तिम चरण के पश्चात् की तथा बौद्ध और जैन मतों के उदय से पूर्व की उन कुछेक शताब्दियों के युग का है जिसमें महा काव्यों का प्रणयन हुआ और जिनके द्वारा भारत के वीर-युग का प्रतिनिधित्व हुआ है'[1]। अतः यह स्पष्ट है कि महाभारत में उपलब्ध साहित्यिक सामग्री और उसमें प्रतिविम्वित युग का ऐतिहासिक मूल्य भारतीय विद्या के जिज्ञासुओं के लिए अपरिमित है।

राज्य व्यवस्था के अध्ययन की वैज्ञानिक-ऐतिहासिक शोध प्रणाली

हिन्दू राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को भारत की प्राचीन शासन संस्थाओं के स्वरूप, संगठन और कार्य पद्धति आदि का अध्ययन करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अपने पूर्वजों को "उनमें ऐतिहासिकता का अभाव था" इत्यादि आरोपों से दूषित करना निरर्थक है। साथ ही कोरे उपदेशात्मक और आदर्शवादी वर्णनों को व्यावहारिक और ऐतिहासिक तथ्य समझकर उनका सांगोपांग कल्पित उदार चित्रण कर देना भी वौद्धिक ईमानदारी नहीं है। यद्यपि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य और नाटक आदि ग्रन्थों में प्राप्त होने वाली प्रासंगिक सामग्री निःसंदेह मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण तथा सर्वथा विश्वसनीय है; क्योंकि इनके अध्ययन से जो संकेत प्राप्त होते हैं उनमें उस प्रकार काल्पनिकता और आदर्शवाद के दोषों का आरोप नहीं किया जा सकता जिस प्रकार अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अपने पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण प्रायः उन ग्रन्थों के विषय में किया गया है जिनमें राजशास्त्र ही प्रतिपाद्य विषय है। ये विद्वान् तो शान्तिपर्व, कौटलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीति शास्त्र आदि तक को उपदेशात्मक और आदर्शवादी कहकर उनके कभी भी वास्तविक व्यावहारिक राजशास्त्रों के रूप में प्रचलित होने में संदेह करते हैं। इन पण्डितों ने मनु आदि

१—के० सी० चक्रवर्ती—एंश्यैंट इंडियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, पृ० ७६।

धर्मशास्त्रों तक को केवल धार्मिक कल्पना-ग्रंथ मान लिया है[1]। और तर्क प्रस्तुत किया है कि "निरंकुश हिन्दू राजा" लोग शायद ही इनकी परवाह करते हों। जब कि सत्य यह है कि नितान्त आधुनिक काल तक भारतीय हिन्दू कानून की व्यवस्था पर इन धर्मशास्त्रों का पर्याप्त प्रभाव चला आ रहा है। किंतु इस मत का आधार यह भ्रान्त धारणा है कि प्राच्य देशों में केवल निरंकुश राजतंत्र प्रचलित रहा है और मानों प्रजातंत्र का वरदान हमें यूरोपीयों ने दिया है। ऐसी स्थिति में महाभारत के आधार पर भारतीय राज संस्था के सुसम्वद्ध, वास्तविक तथा ऐतिहासिक स्वरूप को प्रस्तुत करने का कार्य और भी कठिन हो जाता है। यह आवश्यक हो जाता है कि इस स्वरूप के संदिग्ध या अपूर्ण पक्षों को आधुनिकतम वैज्ञानिक ऐतिहासिक अनुसंधान प्रणाली का आश्रय लेकर उसके वास्तविक रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसकी ऐतिहासिकता और व्यावहारिकता संदेह और क्रूर आलोचना का उसी प्रकार असहाय लक्ष्य न बनती रहे जैसी कि वह आज तक बनती रही है। भ्रान्ति और अज्ञान के अन्धकार से अपने गौरवपूर्ण इतिहास की रक्षा अपने आप में एक ऐसी चुनौती है जिसे स्वीकार किया ही जाना चाहिये। हमारे नव-स्वतन्त्र राष्ट्र की आधुनिक परिवर्तमान परिस्थितियों में यदि हम राष्ट्र की चेतना को प्रवुद्ध करना चाहते हैं और उसके चरित्र और व्यक्तित्व को परिपक्व और प्रभविष्णु बनाना चाहते हैं तो उसे विश्व के राष्ट्रों में अपने ऐतिहासिक गौरव के अनुरूप ऊंचे धरातल पर प्रतिष्ठित होना ही चाहिये। इसके विना उसके अपने नीति-वोध और बुद्धि-विवेक के आधार पर अपने नये मूल्यों का निर्धारण नहीं हो सकता। यांत्रिक आविष्कारों और ज्ञान-विज्ञान के अन्वेषणों तथा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में उत्कृष्ट ज्ञानयुक्त नये विचारों और साधनों को ऋण-रूप में वाहर से लेना बुरा नहीं है। विश्व समाज की आज की व्यवस्था और विश्व की आधुनिक परिस्थितियों में यह नितान्त आवश्यक और वांछनीय भी है किन्तु केवल इतने से ही हमारे राष्ट्र को "पिछड़ेपन" के अभिशाप से मुक्ति नहीं मिल सकती। आज के वैज्ञानिक युग में आखिर हमारा अपना सांस्कृतिक योगदान क्या होना चाहिये ? गत हजार पन्द्रह सौ वर्षों के ह्रास के इतिहास से पहले प्राचीन भारतीय एक सप्राण, प्रभावशाली, सर्जनशील और महत्वपूर्ण जाति थे। विश्व के इतिहास पर उनकी अमिट छाप अभी तक विद्यमान है। विश्व की संस्कृति और सभ्यता की प्रगति में भारत ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। अतः एक आत्म गौरव सम्पन्न राष्ट्र के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि आज पिछड़े हों तो सही, अपनी प्राचीन काल की सांस्कृतिक और सामाजिक उपलब्धियों को उसी काल की महान् जातियों के साथ तुलना करते हुये उचित परिप्रेक्ष्य में परखें और उसके महत्व का आकलन करें तथा उसके द्वारा भविष्य के उत्कर्ष युग के लिये उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त करें। हम यह भी मानते हैं कि प्राचीन मूल्यों पर निर्भर रहना

१—रामप्रसाद दास गुप्ता, ए स्टडी इन हिन्दू एण्ड यूरोपियन पोलिटिकल सिस्टम्स, भूमिका, पृ० ९।

पर्याप्त नहीं है। अतः नये उत्कर्ष युग के लिये उत्कर्षप्राप्त विकसित देशों के मार्ग-दर्शन का महत्त्व हम भी स्वीकार करते हैं किन्तु भारतीय प्रतिभा की मौलिक विशेषताओं को ध्यान में न रखकर भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक धारणाओं और परम्पराओं पर नई विदेशी परम्पराओं और प्रयोगों को थोपने के प्रयत्नों का इस जनतंत्र के युग में सफल होना संदिग्ध है और न वह उचित ही है। इसीलिये प्रस्तुत प्रवन्ध में प्राचीन भारतीय अथवा हिन्दू राजनीति की उपलब्धियों का मूल्यांकन यूरोप की प्राचीन भारतीयों के समान ही विकासशील राजनीतिक परम्पराओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा करने का प्रयास किया गया है।

पश्चात्य चिन्तन के साथ तुलनात्मक अध्ययन का महत्व

हिन्दू शासन संस्थाओं और विशेषतः राज-संस्था के याथातथ्यपूर्ण विवेचन के लिये आजकल अनेक विद्वानों ने हिन्दू शासन संस्थाओं और यूरोपीय शासन संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी की भूरि भूरि संस्तुति की है। इसके द्वारा प्राचीन भारत के राजशास्त्र का विवेचन करने में बड़ी सहायता मिल सकती है, क्योंकि उपमहाद्वीप भारतवर्ष और महाद्वीप यूरोप में व्यावहारिक रूप में राजनीतिक संस्था का इतिहास प्रायः एक सा है। प्रारम्भ में दोनों में एक सी ही शासन संस्थाओं की सत्ता थी और उनके विकास की दिशाएं भी आश्चर्यजनक रूप में प्रायः समान ही मिलती हैं[1]।

इसलिये तुलनात्मक अध्ययन पद्धति की उपादेयता असंदिग्ध और निर्विवाद है। महाशय फ्रीमैन का मत है कि "मानवीय ज्ञान की अज्ञान और भ्रान्ति के अन्धकार से भरी हुई अनेक शाखाओं में तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ज्ञान और व्यवस्था के प्रकाश का संचार हुआ है। इसके द्वारा एक ऐसी तर्कप्रणाली का आविष्कार हुआ है जिसके सहारे उच्छृंखल कल्पनाओं के क्षेत्र में नैतिक प्रामाणिकता का पदार्पण हो गया है। जिन विषयों में वास्तविक आन्तरिक साक्ष्य और प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकते उनमें इस (तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति) के द्वारा ऐसे नितान्त वाहरी साक्ष्य प्राप्त हो गये हैं जिनका स्वरूप कहीं अधिक विश्वसोत्पादक और त्रुटिरहित है[2]।

यदि हम हिन्दू राज-संस्था का अध्ययन यूरोपीय राजनीतिक विकास की जानकारी के साथ आरंभ करें तो हम हिन्दू राजनीतिक परंपराओं और राजनीतिक चिन्तन की उत्कृष्टताओं और न्यूनताओं को भली प्रकार जान सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा अनेक हिन्दू संस्थाओं के स्वरूप और विशेषताओं तथा अनेक परिवर्तनों और प्रवृत्तियों के कारणों को समझने में सहायता मिलेगी और इसकी सहायता से हम उन विषयों में तर्कपूर्ण कल्पना करने में समर्थ होंगे जिनके प्रतिपादन के लिये हमारे पास पर्याप्त सामग्री नहीं है या जिन विषयों से हम अभी पूर्णतया अपरिचित

१—रामप्रसाद दास गुप्ता, भूमिका, पृ० १५।
२—फ्रीमैन, कम्परेटिव पौलिटिक्स, पृ० १।

हैं क्योंकि यूरोप की इसी प्रकार की समान राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा यह कार्य सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

भाषावैज्ञानिक अध्ययन-एक उदाहरण

इस प्रसंग में तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा के वास्तविक स्वरूप का निदर्शन करने के लिए केवल एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारंभ होकर बीसवीं में पूर्ण हुए भारतीय भाषाओं और यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन ने किस प्रकार मानवीय ज्ञान और विशेषतः मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया है। वैदिक संस्कृत के लैटिन और ग्रीक से किये गये तुननात्मक अध्ययन और भारत तथा यूरोप की अन्य भाषाओं के उद्गम और विकास की दिशाओं के भाषा शास्त्रीय अध्ययन ने अनेक वैज्ञानिक ऐतिहासिक और सामाजिक मान्यताओं को जन्म दिया है। भारतीय और यूरोपीय परिवार की भाषाओं के एक ही स्रोत से उत्पन्न होने का सिद्धान्त अब सर्वमान्य है। तो भी इन दोनों महाद्वीपों में बसनेवाली मानव जाति का मूल उद्गम एक भाषा बोलने वाला एक ही कोई पुरातन वंश है यह तर्क सम्मत कल्पना किसी भी समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र के मनीषी विद्वान् को भाषा के क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रों में गवेषणा करने के लिये प्रेरित अवश्य करती है। प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में महाभारत में वर्णित राजसंस्था के स्वरूप का पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के एक विख्यात मनीषी तथा युग प्रवर्तक मैकियावेली के तत्सम्बन्धी विचारों से तुलना करने के इस प्रयास का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का मनोरंजक होने के साथ ही लाभप्रद होना भी अवश्यम्भावी है।

यूरोपीय भाषा परिवार की अनेक भाषाओं के आधुनिक रूप भिन्न भिन्न होते हुये भी जिस प्रकार इन भाषाओं की मूल प्रवृत्तियाँ और विकास के नियम समान है तो क्या यह सम्भव नहीं है कि इस सम्पूर्ण मानव वंश की संस्कृति, जिसे आर्य संस्कृति कहा जा सकता है, अपनी विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों के अनुसार ही अनेक सामाजिक और राजनीतिक परम्पराओं और विचारों के रूप में विकसित हुई हो। आर्य प्रतिभा की ये मूल प्रवृत्तियाँ और मुख्य विशेषताएँ कौन सी हैं? जिनके कारण आर्य जगत् की विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनके उद्गम और विकास की परम्परा के इतिहास में विस्मयजनक साम्य के दर्शन होते हैं।

मूल प्रवृत्तियों के एक होते हुए भी शासन संस्थाओं और राजनीतिक मान्यताओं की अनेक विशिष्टताओं का विकसित होना स्वाभाविक है, क्योंकि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं पर भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु के परिवर्तनों, प्राकृतिक सम्पत्तियों तथा दूसरे समाजों और संस्कृतियों के सम्पर्क का बहुत प्रभाव पड़ता है। इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य संक्रमण राजनीतिक परम्पराओं और विचारों का निर्धारण करते हैं। एक ही प्रवृत्ति, व्यवहार रूप में निरन्तर परिवर्तनशील काल

और इतिहास की आवश्यकताओं के अनुसार, कई बार विरोधी से दिखाई देने वाले रूपों में परिणत होती है, जिन्हें जिज्ञासु अनुसंधानकर्ता की पैनी दृष्टि अवश्य बेध सकती है। साथ ही विशेष प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव समाज के मन और हृदय पर अमिट रूप से होता है और यह आश्चर्य की बात है कि इन देश और काल की आवश्यकताओं और समस्याओं के समाधान के लिये एक सी मूल प्रवृति वाले समाज के अनेक वर्गों में प्रायः एक सी ही प्रतिक्रिया होती है और इसके परिणामस्वरूप जिन उपायों, नीतियों तथा संस्थाओं का विकास होता है उनमें आश्चर्यजनक साम्य दृष्टिगोचर होता है।

द्वितीय अध्याय

सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि
तथा
महाभारतीय राज्य और राजतंत्र
का उगद्म और विकास

- सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : महाभारतीय विशिष्ट जीवन-दर्शन ।
- विशेष सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्य ।
- भारतीय समाज-व्यवस्था का राजनीतिक चिन्तन व संगठन पर प्रभाव ।
- राज्य तथा राजतंत्र के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में विभिन्न मत और सिद्धान्त ।
- हिन्दू राजतंत्र का वास्तविक स्वरूप ।

द्वितीय अध्याय

सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि तथा महाभारतीय राज्य और राजतन्त्र का उद्‌गम और विकास

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि[1]—महाभारतीय विशिष्ट जीवनदर्शन

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि किसी समाज की भौगोलिक परिस्थितियों, उसके भौतिक और आत्मिक जगत् के संघर्षों और उपलब्धियों तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्यों और मूल्य दृष्टियों का प्रभाव उसकी नैतिक और राजनीतिक मान्यताओं पर समान रूप से पड़ता है। मानव एक सृजनशील एवं विचारशील प्राणी है। अपने मौलिक अस्तित्व की समस्याओं से जूझने में और उन्हें न्यूनाधिक रूप में हल करके ही वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता, उसके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष जिसे हम आत्मिक कह सकते हैं, अवकाश उपलब्ध होते ही उन प्रश्नों से उलझ जाता है, जिनका सम्बन्ध उसके जीवन को सुभग और परिष्कृत बनाने वाले तत्त्वों से है।

इस प्रकार मौलिक आवश्यकताओं और सांस्कृतिक रुचियों से सम्बन्धित इन वांछित मूल्यों के आपेक्षिक महत्त्व और उनके मूल्यों का लाभ कराने वाले साधनों की आपेक्षिक उपादेयता के विषय में गहन चिन्तन करने के लिये वाध्य होना मानवमात्र के लिये अनिवार्य ही है।

इसी नैसर्गिक प्रेरणा के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत तथा समष्टिगत जीवन की जो अनुभव-पूत मान्यताएँ विकसित होती हैं, वे ही समाज की तथाकथित नैतिकता और संस्कृति का अभिन्न अंग होती हैं। समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप में नैतिक मूल्यांकन के अस्तित्व से सहचरित है।

नैतिक और दूसरी वैसी ही समस्याओं पर अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर विचार करने में प्रवृत्त होने वाले मनुष्य के हृदय में प्रायः परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ उदित होती हैं और उसकी विभिन्न इच्छाएँ उसे विभिन्न दिशाओं में चलने की प्रेरणा देती हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य को एक या दूसरे रास्ते को पसन्द करना पड़ता है। एक विचारशील प्राणी होने के नाते मनुष्य उन सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहता है जो उसकी पसन्दों के पीछे छिपे रहते हैं। मनुष्य की शक्तियाँ और

१—डा० देवराज, 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' पृ० २८८।

उसके साधन सीमित होते हैं। फलतः वह दुनिया की सब चीजों को चाहते हुए भी नहीं पा सकता। इसलिए इस प्रकार असामंजस्य, अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व की दशा में वह अपने विकास और स्थिति के अनुरूप जिन सामंजस्यों और समन्वयों तक पहुँचा है उनके द्वारा उसमें एक व्यक्तिगत सांस्कृतिक विशेषता का उदय होता है, जिसका उपयोग वह अपने वांछित मूल्यों के उत्पादन के लिए करता है। इस विशेषता के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के मूल्यांकन के आधार पर ही किसी व्यक्ति विशेष की महत्ता या हीनता का आकलन सम्भव है। जो वात व्यक्ति पर लागू होती है वही समाज पर भी। अवस्था की परिपक्वता और अनुभूतियों की प्रौढ़ता मानव के चिन्तन-सामर्थ्य और रुचि-परिष्कार के विषय में जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उतनी ही किसी विशेष में भी। किसी समाज या जाति के जीवन-लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों के विषय में वहुत काल तक चलने वाले अनेक प्रयोगों, अनुभवों और नियोजनों के आधार पर उस समाज या जाति के विचारक अपने साहसपूर्ण मौलिक और दूरगामी चिन्तन के द्वारा जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा कर देते हैं वे ही उनके शास्त्रों का गौरव बढ़ाया करते हैं। अपेक्षाकृत अधिक उन्नत समाजों में अपने जीवन-मूल्यों और उससे सम्बद्ध नैतिक मन्तव्यों के रूप में प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है और फिर यही नैतिक मन्तव्य शास्त्रीय विधियों अथवा कानूनी धाराओं के रूप में निवद्ध कर दिये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि किसी समाज की मानव-जीवन तथा उसके जीवन मूल्यों, लक्ष्यों या पुरुषार्थों के विषय में विशेष मान्यताओं का अध्ययन किये विना उसकी राजनीतिक मान्यताओं का तत्त्व पूरी तरह समझ में नहीं आ सकता। इसलिये प्रस्तुत निवन्ध में राज-संस्था के सम्बन्ध में महाभारत में वर्णित सिद्धान्तों और धारणाओं का अध्ययन प्रस्तुत करने से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि उक्त सिद्धान्तों और धारणाओं की पृष्ठभूमि पर भी संक्षेप में दृष्टिपात कर लिया जाये।

प्रश्न यह है कि महाभारत में भारतीय समाज के जीवन के लक्ष्य, नैतिकता और व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन की व्यवस्था के विषय में जिन तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है उनकी तुलना में पाश्चात्य नैतिक तत्त्व दर्शन की स्थिति क्या है? क्या पश्चिम और पूर्व की दो प्रतिनिधि विचारधाराओं में ऊपर दिखाई देने वाली विषमताओं में कोई ऐसी मौलिक समताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके आधार पर इन विषमताओं को विविधता कहना ही अधिक उपयुक्त माना जाये।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और नैतिकता के अनुशीलन के संदर्भ में उन दशाओं और परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें सम्बन्धित समाज पलता और पनपता है। ये दशाएँ और परिस्थितियाँ ही बहुत सीमा तक समाज की जीवन दिशा का निर्माण और नियमन करती है। मनुष्य के सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि अपने अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने के

पश्चात् उसके पास यथासम्भव अधिक से अधिक शक्ति और समय उन भौतिक या अभौतिक उपलब्धियों के लिए मिल जाये जो उसके निरे भौतिक अस्तित्व के लिए प्रायः अनुपयोगी हैं। इस शक्ति और समय को अरस्तू ने "अवकाश" की संज्ञा दी है[1]। यह मानना पड़ेगा कि भारतीय जाति उन भाग्यशाली जातियों में से है जिन्हें अपने भौगोलिक पर्यावरण[2], मूलभूमि की उत्पादन-क्षमता[3] और जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यक अन्य उपादानों की उपलब्धि आदि के द्वारा मानव-संस्कृति के शैशव काल से ही सबसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त हुई। आर्यों के मूल निवास-स्थान, उनके प्रवासों और विभिन्न प्रदेशों में बसने के इतिहास का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है[4]।

महाभारतीय जीवनदर्शन की विशेषता

शायद यह भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक तथा भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में जो संस्कृत अंकुरित हुई वह प्रारम्भ में बड़ी भावनात्मक, सरल और उल्लासमय प्रतीत होती है। वैदिक वाङ्मय में अभिव्यक्त संस्कृति ही कालान्तर में जीवन की जटिलता, जीवन-ध्येयों की अनेकरूपता और अनेकानेक विरोधाभासों के प्रभाव से सामाजिक और राजनीतिक जीवन के नये नये परिप्रेक्षितों के अनुरूप विविध मूल प्रवृत्तियों और पक्षपातों से पूर्ण हो गई। देश की समूची लम्बाई-चौड़ाई में आर्य-संस्कृति के विस्तार के इतिहास के उतार-चढ़ावों से परिचित व्यक्ति के लिए यह जानना कठिन नहीं है कि वैदिक काल से महाभारत काल तक आर्य-संस्कृति के विकासों और परिवर्तनों की कहानी वस्तुतः इतिहास के द्वारा उपस्थित की गई नई सम्भावनाओं के अवसरों का लाभ उठाते हुए आर्यों के सृजनात्मक प्रगतिशील आत्मविस्तार की कहानी है। यही कारण है कि महाभारत में पल्लवित हिन्दू जीवन-मूल्य, मूल्य-दृष्टियाँ और जीवन-दर्शन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ नैतिक संवेदना के विभिन्न स्तरों पर द्वन्द्व और दुविधा से पूर्ण है। परन्तु वह महाभारत में जिस युग का चित्रण हुआ है, उसके नितान्त जटिल और संघर्षपूर्ण होने के ही कारण हैं। खेद की बात है कि तथाकथित पुरातत्त्वविद् पाश्चात्य विचारकों को इसमें सांस्कृतिक ह्रास के सड़न की दुर्गन्ध कहाँ से आ गई? यह तो तथाकथित 'ब्राह्मणिक पुनर्जागरण' की वैतालिक वह मान्यताएँ हैं, जिन्होंने हिन्दू-इतिहास के

१—'मैटाफिजिक्स' १.१.६८१।

२—'हिन्दू-सभ्यता', डा० रा० कु० मुकर्जी, पृ० ४५ से आगे।

३—'इन इक्वालिटी आफ् मैन', जे० बी० एस० हाल्डन, पृ० ४६–४८, ७१–७६; देखिये, हिन्दू-सभ्यता, पृ० ४२–३ पर आचार्य डा० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा संयोजित पाद-टिप्पणी।

४—महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री, 'आर्यों का मूल निवास' (अंग्रेजी) दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन।

स्वर्ण-युग अर्थात् गुप्तकाल के लिए सदियों से पहिले से ही मार्ग प्रशस्त किया। अतः महाभारत में वर्णित जीवन-मूल्यों और मूल्य-दृष्टियों का अपने विषय के अनुरूप संक्षेप में विवेचन करते हुए भी यह निवेदन करना आवश्यक है कि मानव मूल्यों की इस विविधता का अध्ययन करते हुए विद्वान् पाठकों को उस वैदिक काल से आती हुई मूलभूत एकता का दामन नहीं छोड़ देना चाहिए, जिसे छोड़ते ही इनमें असंगति, परस्पर विरोध, काल्पनिकता और अव्यावहारिकता आदि का आभास अपने आप होने लगता है[1]। इस बोधाभास के शिकार हुए अनेक पाश्चात्य विद्वानों के महाभारत विषयक मनमाने मत-मतान्तरों को पढ़कर कोई भी संवेदनशील भारतीय अपने खेद, रोष और आक्रोश के भाव को संयत नहीं रख सकता।

यह एक विस्मयजनक तथ्य है कि महाभारत की मानव जीवन-विषयक मान्यताओं में (१) कठोर यथार्थवाद, (२) अदम्य आशावाद, (३) जीवन के प्रति उल्लास और (४) विश्व के नैतिक दृष्टि से नियंत्रित होने के विश्वास विशेष रूप से ओतप्रोत हैं। उनमें सन्तुलन, सामंजस्य, समन्वय, प्रगति और कर्मशील विकास का ही स्वर सब ओर मुखरित होता है। निराशा, निवृत्ति, परलोक-परायण निर्वेद, कोरे आदर्श का रुढ़िवाद, तथा अवैज्ञानिक सांस्कृतिक विघटन की वे प्रवृतियां वहाँ आश्चर्यजनक रूप में अनुपस्थित है जो हिन्दू जाति के लिए आज युगों से अभिशाप बनी हुई हैं। 'शरीर रोगमन्दिरम्' के न्याय के अनुसार भारतीय संस्कृति के इन रोगों या विकारों के किसी भी काल में समाज में विद्यमान होने से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु शरीर के रोगों के ही आधार पर जिस प्रकार शरीर के मूल तत्त्वों की व्यवस्था नहीं की जा सकती, उसी प्रकार महाभारत-काल की मूल प्रेरणाओं की ओर दुर्लक्ष्य करके केवल तथाकथित ऐतिहासिक पक्ष को प्रस्तुत करने के नाम पर विकारों को ही महत्त्व देना निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिचायक होगा। महाभारत-काल की हिन्दू-संस्कृति और समाज निश्चित रूप से आज की हिन्दू संस्कृति और समाज की अपेक्षा कहीं अधिक प्रगतिशील, विकासोन्मुख व्यावहारिक और श्रेष्ठ है। महाभारत-काल पर वर्तमान काल के सदियों की दासता के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए विकारों और दोषों से ग्रस्त समाज और उसकी संस्कृति की हीनताओं का आरोप कर डालना अवैज्ञानिक भी हैं, साथ में अवांछनीय भी। अतः हमें व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित उन विचारों का ही यहाँ वर्णन करना है जो महाभारत कालीन "नैतिकता" के अविभाज्य अंग हैं।

'व्यक्ति का जो संस्कार होता है, वही समष्टिगत रूप में समाज की 'संस्कृति' है। महाभारत की आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं और उपाख्यानों में हमें व्यक्ति और समष्टि दोनों की प्रकृति के दर्शन होते हैं। यह बात नहीं कि महाभारत के चरित्र सभी दृष्टियों से कमनीय या आदर्श हैं। मानव तो अच्छाइयों और

१—द्रष्टव्य—ई० डबल्यू० हाप्किन्स—जे० ए० ओ० एस०, पुस्तक १३।

बुराइयों का एक जंजाल है, वह गुणों और दोषों से परे नहीं हो सकता। मानव के व्यक्तिगत और समष्टिगत गुण-दोषों का सांगोपांग वर्णन करना एक कष्ट कल्पना है। महाभारत जैसे दुर्लंघ्य वन से लकड़ियां चुन-चुनकर अनेक प्रकार के ग्रन्थ गट्ठरों को निबद्ध करना कोई कठिन कार्य भी नहीं है, किन्तु यहाँ हम मानव के केवल उन्हीं गुण-दोषों का विवेचन करेंगे, जिनकी प्रतिक्रियाएँ निश्चित रूप से उसके सामाजिक और राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं, क्योंकि मानव एक सामाजिक और विचारशील प्राणी है, उसकी सामाजिक संवेदना और चेतना का उसकी शासन-सत्ता से सम्बन्धित धारणाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है। मानव-विकास के इतिहास में ऐसे किसी काल की कल्पना नहीं की जा सकती। जब उसका शासन करने वाली कोई सत्ता न रही हो। अतः मानव का सत्ता के प्रति दृष्टिकोण और सत्ता का शासित के प्रति व्यवहार उन विशेष मूलभूत प्रवृत्तियों और मूल्य दृष्टियों से नियमित होते हैं, जो व्यक्ति और समष्टि इन दोनों रूपों में मानव-मात्र में विकसित होती है। इस प्रसंग में मध्यकालीन भारत और मध्यकालीन इटली के राजनीतिक सत्ता-सम्बन्धी और विशेषतः राजतंत्र सम्बन्धी विचारों को प्रेरित और प्रभावित करने वाली मूलभूत प्रवृतियों और मूल दृष्टियों के विवेचन से पूर्व और पश्चिम के 'राजतंत्र' सम्बन्धी तत्त्व-दर्शन को पूरी तरह हृदयङ्गम कर पाना और अधिक सरल हो जाता है। साथ ही विश्व-मानव की मूल भूत समानता का साक्षात्कार करने के लिए यह नितान्त आवश्यक भी है। तब ऐसे तुलनात्मक अध्ययन की मनोरंजकता कहीं अधिक बढ़ जाती है, जिसके द्वारा भारतीय और यूरोपीय जीवन मूल्यों का अंशतः तुलनात्मक व्यावहारिक चित्रण प्रस्तुत होता हो।

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य हैं, जिन्होंने भारत और पाश्चात्य जगत् के राजनीतिक विचारों की पृष्ठ-भूमि का काम लिया है। इस प्रसंग में पहले भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अधिक उचित और सुविधाजनक रहेगा।

विशेष सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्य—

भारत में मानवीय-सत्ता के अस्तित्व के हेतु, प्रयोजन तथा उद्देश्य आदि के विषय में शास्त्रीय ऊहापोह ऋग्वेद से आरम्भ होकर संपूर्ण अवान्तरकालीन साहित्य में व्याप्त है। मानवीय सत्ता के प्रयोजन के रूप में चार जीवन-मूल्यों अथवा पुरुषार्थों की स्थापना हिन्दू शास्त्रों में की गई है। ये निम्नलिखित हैं:—

१—धर्म (सदाचार)
२—अर्थ (आर्थिक हित)
३—काम (यौन एवं भावनात्मक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों की तृप्ति),
४—मोक्ष (आत्मा की मुक्ति)

"धर्म" के विषय में हिन्दू मान्यताएं—

इनमें से धर्म का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और सम्पूर्ण मानव जीवन का सन्निवेश इसके क्षेत्र में हो जाता है। धर्मशास्त्रों में 'धर्म' शब्द की विविध परिभाषाएं उपलब्ध हैं, जो इसके द्वारा अभिव्यक्त व्यापक अर्थों की द्योतक हैं। केवल किसी 'मजहब' या सम्प्रदाय को धर्म नहीं कहा गया है। अपितु धर्म शब्द का तात्पर्य एक विशेष सारणी या आचार संहिता से हैं। यह आचार संहिता एक व्यक्ति के नाते और समाज के एक घटक के रूप में मानव की क्रियाओं और चेष्टाओं का इस प्रकार नियमन करती है कि उसके द्वारा उसका निरन्तर विकास हो सके और वह मानवीय सत्ता के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य बन सके। धर्म की परिभाषा करते हुए महाभारतकार लिखते हैं कि धारण करने वाला अर्थात् रक्षा और पोषण करने वाला होने के कारण धर्म इस नाम से पुकारा जाने वाला धर्म ही प्रजाओं का अर्थात् प्राणियों का धारण करता है जिससे लोक का धारण हो, लोक की स्थिति हो, वही निश्चय रूप से धर्म है[1]। 'इसके अतिरिक्त वनपर्व में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने धर्म के विषय में ये वाक्य कहे हैं—'रक्षा किया हुआ धर्म (धर्मरक्षकों की) रक्षा करता है और हनन किया हुआ धर्म उनका (हनन करने वालों का) ही नाश कर डालता है। इसीलिये धर्म का हनन नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि कहीं धर्म निहत होकर हमारा नाश न कर दे[2]। वेदोक्त, धर्मशास्त्रोक्त और शिष्टों द्वारा आचरित इन तीन प्रकारों या रूपों में प्राप्त होने वाले सभी सनातन और शाश्वत नियम धर्म माने गये हैं, जिनमें पहला सर्वश्रेष्ठ हैं और उसके बाद दूसरे और उससे भी नीचे का तीसरे का स्थान माना गया है[3]। स्मार्त धर्म की व्याख्या करते हुए भी कहा गया है कि धर्म ६ प्रकार का है:—वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म, निमित्त धर्म, तथा साधारण धर्म। वर्ण धर्मों और प्रायः उन्हीं से सम्बन्धित पहले पाँच प्रकारों का वर्णन हम आगे करेंगे।

यहाँ साधारण धर्म अर्थात् मानव जाति मात्र से सम्बन्धित धर्म के विषय में दो शब्द कहने आवश्यक हैं। जाति प्राचीन वैदिक-काल से लेकर महाभारत-काल तक साधारण धर्म या आचार-शास्त्र या सामान्य नैतिकता के सिद्धान्तों का बड़ा सांगोपांग और पूर्ण विवेचन हमें प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में सत्य

१—धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ —कर्ण, ५, २६३

२—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥ —वन २१३, ११८।

३—वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तः त्रयो धर्माः सनातनाः॥ अनुशासन १४१, ३५० वन २०७, तुलनीय-शान्ति ३५४, ६ मी; दे० बौधा० ध० सू० १,१,१,४।

की सर्वोपरि महिमा का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है कि "सत्य और असत्य वचनों में एक दूसरे के विरुद्ध स्पर्धा रहती है। इन दोनों में जो सत्य है और ऋजीय अर्थात् उदात्त है उसकी रक्षा सोम करते हैं और वह असत्य का हनन करते हैं।"[1] ऋग्वेद में "ऋत" की धारणा और यह मान्यता "ऋत" (सत्य) ही ब्रह्माण्ड का नियमन करने वाली सार्वभौम सत्ता है, यही कालान्तर में 'धर्म की प्रभुता' के सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई है। 'शतपथ ब्राह्मण' में सत्य ही बोलने का आदेश देते हुए असत्य बोलने वाले पुरुष को अमेध्य (अपवित्र) कहा गया है[2]। तैत्तिरीय उपनिषद् में सत्य को धर्म से भी पहला स्थान देकर, 'सत्य बोलो,' 'धर्म का आचरण करो, यही उपदेश स्नातक शिष्य को दिया गया है[3]। बृहदारण्यक उपनिषद् में मानव जीवन में सत्य और धर्म को एक दूसरे का पर्याय बतलाया गया है और यह जप करने का परामर्श दिया गया है कि मानव प्राणी असत्य से सत्य, अन्धकार से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर प्रेरित हों[4]। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सत्य की ही विजय होती है असत्य की नही, देव मार्ग सत्याचरण से ही युक्त है[5]। इस प्रकार अनेक शास्त्रों में स्थान-स्थान पर आचरण के वरणीय व्रतों जैसे तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य वचन, दम, दान और दया[5], अस्तेय मद्य न पीना और कुसंगति न करना आदि का उपदेश दिया गया है[6]। महाभारत में तो मानों आचार-शास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण विचार धाराओं का सागर ही समाहित हो गया है। 'उद्योग पर्व' में ४३ वें अध्याय में आचार के उदात्त व्रतों और संयमी पुरुष के लक्षणों का वर्णन है। शान्तिपर्व (१६२,७) में सत्य के १३ पहलुओं का वर्णन है और यहीं (२१ वें श्लोक में) मन, वाणी और कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह तथा अनुग्रह और दान ही सज्जनों का शाश्वत नित्य धर्म कहा गया है[7]। वहीं १६० वें अध्याय में आत्म-संयम (दम) के महत्त्व का रहस्य-पूर्ण विश्लेषण किया गया है और भीष्म पर्व के २५ वें से ४२ वें अध्याय तक 'भगवद्गीता पर्व' में 'वेदो' उपनिषदों और धर्मशास्त्रों का सम्पूर्ण सार संगृहीत कर

१—सविज्ञाने चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचस पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यत्रख् ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यसत्॥ —ऋ० ७, १०४-१२।

२—शतपथ ब्रा० १,१,१,५ तथा १,१,१,१।

३—तैतरीय उपनिषद् १,१,१,१।

४—बृहदारण्यक उ० १,४,१४,१,३,२८।

५—'सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो दैवयानः॥'

६—छान्दोग्य उप० ३।१रू।

७—अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥
—शान्ति १६२,२१।

देखिये—दया सर्वभूतेषुक्षान्तिरनसूयाशौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति॥
—गौ० ध० सू० ८, २३–२४।

दिया गया है[1]। आचार शास्त्र का ऐसा सांगोपांग विवेचन भारतीय वाङ्मव में अन्यत्र दुर्लभ है। दार्शनिक और धर्मशास्त्रीय परम्पराओं, प्रवृत्ति-मार्ग तथा ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग सभी का समन्वित और सन्तुलित सार भागवत-धर्म के रूप में वहाँ प्रतिपादित है तथा आज के संसार की लगभग प्रत्येक भाषा में अनूदित और प्रचारित इस एकमात्र अद्‌भुत तत्त्वदर्शन का स्रोत होने के कारण स्वयं 'पंचम' महा-भारत भी गौरवान्वित हो गया है।

ऐसी स्थिति में कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के 'भारत में आचार शास्त्र (अं० एथिक्स) और नैतिकता (अं० मौरलिटी), पर कोई विचार ही नहीं किया गया तथा सैण्ट फ्रांसिस जैसे सन्तो ने पश्चिम में जिस प्रकार सक्रिय समाज सेवा (अं० सोशल सर्विस) और नैतिकता प्रतिपादन और कार्यान्वियन किया है उसका कोई प्रति-द्वन्द्वी व्यक्ति या आन्दोलन भारत में प्राप्त नहीं है[2], आदि आरोप कितने धृष्ट और भ्रान्त हैं यह स्वतः स्पष्ट है। इन आरोपों में इन पश्चिमी विद्वानों की ईसाई-पादरियों की-सी भारतीयता के प्रति सहानुभूतिहीन पक्षपातपूर्ण तथा जाति-गर्वित मनोवृत्ति ही अभिव्यक्त हुई है। ब्रिटानिका-विश्वकोप में समाज-सेवा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बीसवीं शताब्दी से पहले लोक-वन्धुता और दान के अभिप्राय से ही समाज सेवा शब्द का प्रयोग होता था[3]। प्रश्न यह है कि क्या प्रिंसीपल जौन मैक्कैंजी यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि भारत विश्ववन्धुत्व और दानशीलता के आदर्शों से, पश्चिम की तुलना में नितान्त अपरिचित और पिछड़ा हुआ देश है। सौभाग्य की बात है कि सर शिव स्वामी अय्यर जैसे विद्वानों ने इस प्रकार के अपमानजनक आरोपों का सोपपत्तिक खण्डन कर दिया है[4]। तो भी प्रस्तुत प्रसंग में उनकी संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है। यहां यह स्मरणीय है कि भारतीय जीवन-मूल्यों और मूल्य दृष्टियों के अनुसार कर्मकाण्डीय यज्ञों के अनुष्ठान तथा अशौच-निवारक एवं अन्य धार्मिक प्रक्रियाओं का स्थान बहुत नीचा है और इनकी तुलना में आत्मा के नैतिक गुणों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हाँ यह बात मानी जा सकती हैं कि अनेक प्रश्नों जैसे मनुष्य सच क्यों बोले ? वह प्राणिमात्र को कष्ट क्यों न पहुँचाये और अन्य

१—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।'

२—देखिए—हाप्किन्स 'ऐथिक्स आफ इण्डिया' तथा डा० जौन मैंक्कैजी 'हिन्दू ऐथिक्स', (११२४), पृ २५१।

३—महामहोपाध्याय काणे, हिस्टरी आव् धर्मशास्त्र, पु० २, भाग १. पृ० ४ की पाद-टिप्पणी में उद्धृत 'सोशल सर्विस' शब्द के अर्थ के लिए 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।'

४—द्रष्टव्य, शिव स्वामी अय्यर, 'इवोल्यूशन आवं हिन्दू मौरल आइडियाज' (१९३५) कलकत्ता विश्वविद्यालय।

वरेण्य उदात्त नैतिक गुणों को क्यों आत्मसात् करे ? आदि प्रश्नों के विषय में विशेष विस्तृत व्याख्याएँ नहीं की गई हैं, किन्तु इसका कह अभिप्राय नहीं है कि हेतु-मीमांस को बिल्कुल ही छोड़ दिया गया हो। सारांश यह है कि भारतीय नैतिकता के संदर्भ में आलोचनीय विपुल पाठ्य सामग्री के गहन अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय-नैतिकता और धर्म के दो मूल सिद्धान्त हैं। एक तो इस बात पर सबसे अधिक बल दिया गया है कि व्यक्ति को ऐसा आचरण करना चाहिए जो उसके 'अन्तर पुरुष' अन्तरात्मा अथवा अन्तश्चेतना (अं० इन्नर कान्शैन्स) के प्रतिकूल न हो। वन पर्व में कहा गया है कि अन्तर पुरुष और देवता मनुष्य को सदैव देखते रहते हैं और वे सब कुछ जानते हैं अतः पाप करते हुए यह नहीं समझना चाहिए कि मुझे कोई नहीं जानता[1]। दूसरे, दया, अहिंसा आदि उदात्त गुणों को मनुष्य क्यों धारण करे ? इसका हेतु वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी में एक ही 'आत्मा' को सर्वत्र व्याप्त होना स्वीकार किया गया है और जिसकी अभिव्यक्ति 'तद् त्वमसि' इस महावाक्य में हुई है। भारतीय दर्शन की यह चरम उपलब्धि है और इसमें नैतिकता और दर्शन दोनों का समन्वय हो जाता है। इस सिद्धान्त की यह अपेक्षा है कि मनुष्य के कार्यों की अच्छाई या बुराई का निर्णय इस आधार पर किया जाय कि उस कार्य के द्वारा अन्य व्यक्तियों पर कैसा अच्छा या बुरा प्रभाव होता है। मनुष्य जिन कार्यों को अपने लिए अप्रिय और अहित मानता है और चाहता है कि कोई स्वयं उसके प्रति वैसा व्यवहार न करे, ऐसा प्रतिकूल व्यवहार उसे दूसरे के प्रति कदापि नहीं करना चाहिए[2], यही धर्म है। इस प्रकार मनुष्य के नैतिक आचरण के दो प्रमाण-भूत शास्त्रीय आधार हैं। एक तो, 'तत्त्वमसि' यह 'साक्षात् कृत सत्य' (श्रुति) और दूसरा' अन्तरात्मा का प्रकाश।' इसके अतिरिक्त चारों पुरुषार्थों में 'उत्कृष्ट' का सेवन और 'निकृष्ट' का त्याग करने का नियम भी उच्च नैतिक आचरण का प्रेरक-सूत्र है। महाभारत में कहा गया है कि प्राज्ञ व्यक्ति त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए उद्योग करते हैं। त्रिवर्ग के असम्भव होने पर 'धर्म' और 'अर्थ' की प्राप्ति के लिए, और एक ही सम्भव होने पर धीर पुरुष धर्म का ही अनुरोधपूर्वक पालन करते हैं, मध्यम व्यक्ति 'अर्थ' की, और ऐसे समय बालिश (मूर्ख) व्यक्ति काम के ही प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु त्रिवर्ग की प्राप्ति

१—तुलनीय—वन पर्व २०७, ५४, आदि पर्व ७४, २८,२९ मनु० ४,१६१, ४, २३९, ८,८५, ९१-९२, दक्ष ३,२२, अनुशासन २.७३-७४।

२—न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥
प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणः प्रमाणमधिगच्छति ॥ —अनुशासन ११३, ८-९।

का एक मात्र उपाय होने के कारण 'अर्थ' और 'काम' की अपेक्षा 'धर्म' को ही प्रधानता दी जानी चाहिए[१]।

'भीष्म-पर्व' में भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म से अविरुद्ध काम को लोक में अपना ही स्वरूप बतलाया है[२]। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के अन्य फलों की तरह काम की भी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु इसके लिए धर्म (शिष्टाचार) का उल्लंघन क्षम्य नहीं है[३]। कौटिल्य का यह आदेश है कि काम (यौन सुख) का सेवन अवश्य करे, किन्तु इससे धार्मिक हितों की हानि नहीं होनी चाहिए। कौटिल्य 'अर्थ' को सबसे अधिक प्रधान मानते हैं और यह बलपूर्वक कहते हैं कि यही धर्म और काम का साधन है (अर्थमूलौ हि धर्मकामौ[४]) यह मनोरंजक बात है कि महर्षि वात्स्यायन भी काम-सूत्र में अर्थ को ही राजाओं (शासकों) के लिए प्रधान बतलाते हैं, किन्तु साधारणतया 'धर्म' 'अर्थ' और 'काम' में 'काम' से 'अर्थ' को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं[५]। इसका अभिप्राय यह है कि महाभारत सामान्य जीवन-मूल्यों की अपेक्षा उत्तम और परम पुरुषार्थ धर्म को महत्त्व देता है और मन और संयम को उच्चतर-जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य मानता है। भूख, प्यास, मैथुन आदि नैसर्गिक तृष्णाओं की तृप्ति के लिए अनवरत चेष्टा सर्वसामान्य और नैसर्गिक होते हुए भी इन पर जोर न देकर इनके संयम पर जोर देना आवश्यक है, क्योंकि सभी चेष्टाओं का फल सुनिश्चित कल्याण होता है अथवा होना चाहिए[६]।

'शान्ति-पर्व' (२८८, २० तथा ३३०, १३) में घोषणा की गई है कि जिसके द्वारा प्राणियों का अधिकतम कल्याण हो वही "सत्य" (धर्म) है। महाभारत में प्रत्येक वर्ण और वर्ग के व्यक्ति के लिए निर्वैरता (किसी से वैर न करना) सत्य और अक्रोध इन तीनों गुणों को श्रेष्ठ बतलाया है[७]। एक अन्य प्रसंग में अद्रोह, दान और सत्य इन तीनों को मनुष्य के उत्तम व्रत कहा गया है[८]। शान्ति-पर्व (६०, ७–८) में कहा गया है कि अक्रोध सत्यवचन, संविभाग (अपने धन में दूसरों को भी भाग देना) क्षमा,

---

१—द्रष्टव्य–उद्योग १२४,३४–३८, शान्ति, १६७.८-९. ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येष: स्वर्गा-रोहण. ५,६२, शल्य, ६७,२४, द्रोण १५१. ३७१।

२—भीष्म ३१,११।

३—अनुशासन १११. १८-९।

४—अर्थशास्त्र १, ७।

५—कामसूत्र १. २, ७-१५।

६—द्रष्टव्य–मनु ५; ५६, २,४।

तुलनीय—अरिस्तू को राजनीति–भोलानाथ शर्मा द्वारा अनूदित का प्रथम वाक्य।

७—आश्रमवासिपर्व २८, ९।

८—अनुशासन १२०, १०, देखिए याज्ञ० १,१, वसिष्ठ ४।४, १०।५२, मनु० १०।६३, ६,६२ सभी आश्रमों के लिए दश धर्म, ४।१७५ आदि।

अपनी धर्मपत्नी से ही सन्तानोत्पादन, शुद्धता, अद्रोह, ऋजुता (स्पष्टवादिता) और आश्रितों का पोषण ये नौ-धर्म सभी वर्णों के लिए पालनीय हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि महाभारत में नैतिक गुणों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के द्वारा उनके अनुरूप आचरण करते हुए इस सामान्य धर्म के पालन के लिए यथासम्भव अधिक से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता बतलाई गई है। यहाँ तक कि 'भीष्म-पर्व' में इस धर्म का पालन प्राणपण से करने की प्रेरणा दी गई है।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में मानव-जीवन की सत्ता के प्रयोजनों और उनके साधनभूत नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का अनुशीलन करने के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाभारत का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही पक्षों पर पर्याप्त बल देते हुए भी सदैव मानवीय और बहुत हद तक व्यावहारिक और लौकिक है। संपूर्ण विवेचन का शीर्षक अथवा सम्पूर्ण समीक्षा का केन्द्रबिन्दु एक ही है और वह है "मानव-जीवन"। "मानव और मानवता" की रक्षा के बिना और सब व्यर्थ है।

महाभारत की मान्यता है कि "जीवन मृत्यु से सदैव श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है, जीते हुए ही मानव अपने 'धर्म' को सफलतापूर्वक उपलब्ध कर सकता है। जीवन का स्रोत जिस प्रकार से भी, निर्बाध रूप से प्रवाहित होता रहे उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा को दृष्टि में रखकर कार्य करना चाहिए और इस कर्त्तव्य में किसी प्रकार की अवहेलना नहीं होनी चाहिए[2]।" अन्य प्रसंग में महाभारतकार ने (विदुर नीति में) आत्म-रक्षा के महत्त्व को तोलने के प्रसंग में समस्त पृथिवी को आत्मा की रक्षा के लिए छोड़ देने का उपदेश दिया है[3] और कहा है कि 'आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु सदैव आत्मा की रक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए, चाहे उसके लिए धन और स्त्री को भी छोड़ना पड़े।"[4]

'रक्षा'–सिद्धान्त

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सुरक्षा की इस भावना और राज्य-संस्था की उत्पत्ति अर्थात् समाज के राजनीतिक संगठन का साहचर्य मौलिक है। यही मानव के सामाजिक प्राणी होने का मूल भी है और यही व्यक्ति के क्रमशः परिवार, कुल, जनपद और राष्ट्र के सदस्य के रूप में बने रहने की आवश्यकता का कारण भी। कहना न होगा कि इसी 'रक्षा' के उद्देश्य से मानव को अनुरोध एवं दण्डभय के द्वारा

१—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' भीष्म २७,३५।
२—यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्मवाप्नुयात्॥ —शान्ति पर्व, १४१,६५।
३—'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।' —उद्योग पर्व, ३७।
४—आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥ —उद्योग पर्व ३७. १८।

शासित करना अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। शासक सत्ता के अधिकार और दण्ड-प्रयोग की प्रभुता की स्वीकृति इसी परम उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानी गई है तथा मानव की व्यक्तिगत और समष्टिगत रक्षा की इस उत्कट प्रवृत्ति और इसके समुचित प्रबन्ध के बिना मानव समाज की स्थिति असंभव है।[1] मानव तो क्या, पशुओं पक्षियों, कीट और पतंगों तक में आत्म-रक्षा के लिए संगठित होने समष्टिगत अनुरोध और अनुशासन (दण्ड) के द्वारा शासित होने और आत्म रक्षा के लिए वैयक्तिक और सामूहिक रूप में सामान्य भय हेतुओं के विरुद्ध सचेष्ट होने, आक्रमण करने और उन पर विजयी होकर फलने-फूलने की यह प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती हैं। महाभारत आत्म-रक्षा के प्रश्न के उपस्थित होने पर सभी धार्मिक, नैतिक और आचार-संहिता सम्बन्धी अन्य मान्यताओं को तिलांजलि देने का उपदेश देता है। राजर्षि विश्वामित्र की चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराकर खाने के समय की उक्तियों में इस सिद्धान्त का मार्मिक विवेचन है।[2] महाभारत के इस दृष्टिकोण का उसकी समाजगत, राज्यगत अन्तर्राष्ट्रीय मान्यताओं पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका तो विचार हम आगे करेंगे। किन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मानव-जीवन के मूल्य और उसकी सुरक्षा और समृद्धि को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ही महाभारत में एक नयी कूट-नीति का प्रतिपादन किया गया है जिसे हम 'कणिक–नीति' कह सकते हैं और इसे सब प्रकार से यूरोप के "मैकियावेली वाद" का ही भारतीय-पर्याय या रूप माना जा सकता है। मानव-जीवन की सुरक्षा के आपेक्षिक कम और अधिक महत्त्व के पहलुओं पर विचार करते हुए यहाँ तक कहा है कि एक कुल की रक्षा के लिए एक व्यक्ति का, ग्राम की रक्षा के लिए एक कुल का और जनपद (राष्ट्र) की रक्षा के लिए एक ग्राम का त्याग कर देना चाहिए इस प्रकार आत्म-रक्षा विषयक विचारों के परिणाम स्वरूप एक ओर जहाँ सामाजिक जीवन में मात्स्य-न्याय को रोकने और परस्पर संघर्षशील सर्वभक्षी मानव-समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी संघर्ष और उसके विनाशकारी परिणामों से बचने के लिए गुण-कर्म पर आधारित वर्णाश्रम-व्यवस्था के द्वारा अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा और सामाजिक अव्यवस्था और अनवस्था के रोकने का प्रयास किया गया[3], वहाँ दूसरी ओर आंतरिक राजनीतिक संकटों का उन्मूलन करने के लिए 'आपद् धर्म पर्व' में नये राजधर्म की व्यवस्था की गई है[4] तथा युद्ध, राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में कूट-युद्ध और कूट-नीति के विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।[5] मानना होगा कि इन सभी मान्यताओं की मूल प्रेरणा व्यक्ति एवं समष्टिगत मानव की आत्म-

---

१—'रक्षा लोकस्य धारिणी'

२—शान्ति पर्व अ० १४१।

३—वर्णाश्रम धर्म के विषय में दे० यही पुस्तक अ० ४।

४—दे० यही पुस्तक अ० ८।

५— ,, अ० ९।

रक्षा की भावना में ही निहित है और इसी "रक्षा" के लिए भीतरी कण्टकों और बाहरी शत्रुओं के विषय में ऐसे "भयंकर" विचारों का प्रतिपादन किया गया है कि जिन्हें सुनते-पढ़ते ही कोई भी रूढ़िवादी या अतिशय आदर्शवादी हिन्दू भी नाक-भौं सिकोड़ने लगेगा। महाशय कणिक ने इस विषय में मानों कौटिल्य को भी मात दे दी हो। वह कहते हैं दुर्बल शत्रु की भी उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए अपकार करने वाले शत्रु को नष्ट करना ही ठीक है। उसे शरणागत समझकर कभी भी उस पर दया नहीं करनी चाहिए, शत्रु को मार ही डालना चाहिए फिर कोई खतरा नहीं रहता, क्योंकि उसे समाप्त कर देने पर प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक समय बदल कर अपने अनुकूल न हो जाये तब तक शत्रु को कन्धे पर बिठाकर भी ढोना पड़े तो ऐसा भी करे और फिर समय अनुकूल हो जाने पर उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ डालते हैं[1]।'

इस प्रकार जीवन मात्र के धारण और पोषण के प्रति महाभारत की आस्था का प्रभाव मानव-जीवन के मूल्यों और सभी सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं पर स्पष्ट अंकित प्रतीत होता है।

महाभारत की तरह ही मैकियावेली भी मानव-समाज की व्यवस्था और सर्वोपरि हित के लिए ही अरिस्तू की तरह[2] राज्य को नितान्त आवश्यक सत्ता मानता है। उसके राज्य की सुरक्षा, राजकीय उत्तरदायित्व एवं नैतिकता-सम्बन्धी विवेचन से इस बात की पुष्टि होती है।

राज्य के हित को सर्वोपरि स्थान देते हुए वह यह आदेश देता है कि यदि राज्य खतरे में हो तो मनुष्य को चाहिए कि समस्त उपलब्ध साधनों द्वारा वह उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो। ऐसे समय उसे दया या निर्दयता, न्याय या अन्याय, लज्जा या निर्लज्जता का विचार नहीं करना चाहिए, उसे वही मार्ग अपनाना चाहिए, जिसकी सहायता से राज्य बना रहे[3]। इसी विषय में राज-धर्म का विवेचन करते हुए उसने कहा है कि राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा के जीवन की स्वतन्त्रता,

---

१—'वधमेव प्रशंसन्ति रिपूणामपकारिणाम्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन॥
दया न तस्मिन् कर्त्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति न हताज्जायते भयम्॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
ततः प्रत्यागते काले भिद्याद् घटमिवाश्मनि॥
आदि १४०, ६–८ तुलनीय प्रिंस अ० ३।

२—द्रष्टव्य—अरिस्तू की राजनीति, भोलानाथ शर्मा द्वारा अनूदित पुस्तक १, खण्ड २।

३—दे० प्रिंस, १७।

उनकी संपत्ति तथा उनकी नारियों के सतीत्व पर कभी कुदृष्टि न डाले। वह विशेष रूप से किसी के प्राण न ले। परन्तु यदि उसे किसी को प्राण-दण्ड देना ही पड़े तो वह तभी देना चाहिए जब उसके लिए पर्याप्त न्याय्य औचित्य हो[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव जीवन के गौरव और उसमें दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या सुख के संचार के विषय में महाभारत और मैकियावेली के विचारों में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है।

प्रमुख जीवन मूल्यों अर्थात् महाभारत के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में महाभारत में वर्णित दृष्टिकोण न तो पूरी तरह कल्पना-विलासी है और न क्रान्तिशील है; अपितु, प्रायः कल्पना और यथार्थ के समन्वय के परिणामस्वरूप निसर्गतः रूढ़िवादी जैसा है। मैकियावेली भी प्लेटो की तरह न तो कल्पना-विलासी और क्रान्त द्रष्टा ही है और न अरिस्तू की तरह दार्शनिक यथार्थवाद और नैतिकता का पुजारी। उसका जीवन-दर्शन अपने अनुभव जन्य सिद्धान्तों की अर्ध सोपपत्तिक परम्परा है। इसलिए धर्म शब्द के नैतिक अर्थों की जो व्याख्या अनेक प्रसंगों में महाभारत में की गई है वैसी व्याख्या मैकियावेली में प्राप्त नहीं होती। परन्तु नैतिक पक्ष के अतिरिक्त सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थों में प्रयुक्त 'धर्म' के सम्बन्ध में जैसी मान्यताएँ महाभारत में हैं, वैसी ही मैकियावेली की भी हैं। आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में 'विधि', रीति-रिवाज, कर्त्तव्य-अधिकार तथा न्याय एवं सत्य आदि शब्दों का जिन अर्थों में प्रयोग होता है, प्राचीन काल में ये सब विशाल धर्म-वृक्ष की ही शाखाएं समझी जाती थीं। वेदों और शास्त्रों में प्रतिपादित 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' के साधक विश्व के चराचर को धारण करने वाले सभी शाश्वत नियमों, सिद्धान्तों और आचरणों का नाम, धर्म माना गया है। राजनीतिक जीवन में धर्म के महत्त्व का निर्धारण हम प्रसंगानुसार आगे करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही विवेचन अभिप्रेत है कि महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन के जो सामान्य नैतिक नियम धीरे धीरे व्यवहार में परिष्कृत और सुव्यवस्थित होकर आचरण के सिद्धान्त बन गये तथा जो परम्पराएं काल की कसौटी पर खरी और शाश्वत सिद्ध होकर पत्थर की लकीर की तरह दृढ़ होती गयीं वे समाज-व्यवस्था और शासन तन्त्र के कानूनों के रूप में धर्म बन गई। इन धर्मों की रक्षा पर ही समाज और राज-संस्था की रक्षा निर्भर है। मैकियावेली इस धर्म व्यवस्था के सामाजिक और राजनीतिक दोनों पहलुओं का पोषक है। वह राजा को सभी अनुकरणीय सौम्य और उदार गुणों को आचरण में ढालने का उपदेश देता है[२]। वह चाहता है कि समाज की व्यवस्था की रक्षा और राज-संस्था की सुरक्षा के लिए यदि कुछ कार्य ऐसे भी किये जायें, जिन्हें समाज की सामान्य नैतिकता की अनुमति प्राप्त होनी संभव न हो, परन्तु संकट का उन्मूलन करने और

२—दे० प्रिंस, १७, १३१।

१—प्रिंस अ० ३।

राज्य की सुरक्षा और संवर्धन के लिए अतीव आवश्यक होने पर ही उनका आश्रय लिया जाय और उसे इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से किया जाय कि सामान्य जनता की भावनाओं को उनसे ठेस न पहुँचे[1]। अन्यथा जन-आक्रोश और सार्वजनिक घृणा राज्य व्यवस्था और शासकों को ले डूबेगी। इसलिए मैकियावैली विशेषतः स्वायत शासन के अभ्यस्त, नव विजित और सुव्यवस्थित परम्पराओं वाले प्रदेशों के नये शासक को वहाँ के प्राचीन विधानों में कोई परिवर्तन न करने और पुराने धर्मों का ही आदर करने और उन्हीं के अनुरूप व्यवस्था स्थापित करने का उपदेश देता है[2]।

इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था (धर्म) समाज के आर्थिक (अर्थ) और सामाजिक कल्याण (काम) के लिए नितान्त आवश्यक है। इसीलिए शासक का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति और समाज तथा (इन दोनों के कल्याण के लिए आवश्यक) राज्य-संस्था इन तीनों के ही हित को दृष्टि में रखते हुए वह स्वयं भी धर्म का पालन करे और जनता के द्वारा उसके पालन किए जाने की व्यवस्था करे[3]। मानव मात्र की यह नैसर्गिक इच्छा होती है कि वह सम्पत्ति का (अर्थ) अर्जन करे और अपनी कामनाओं की यथेष्ट तृप्ति (काम) के लिए अपने सभी उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करे।[4] किन्तु महाभारत मानव जीवन के इन नितान्त उपादेय प्रयोजनों अर्थात् अर्थ और काम को यथा योग्य महत्त्व देते हुए भी धर्म की ही महत्ता को इन दोनों से ऊपर प्रतिष्ठित करता है।

मैकियावैली अर्थ और काम अर्थात् आर्थिक उपलब्धियों और उपभोग के साधनों की मानवीय नैसर्गिक महत्ता और आवश्यकता को व्यष्टि और समष्टिगत मानव जीवन में महाभारत की ही तरह स्वीकार करता है। यह इसी से स्पष्ट है कि वह राजा को यह उपदेश देता है कि 'वह ऐसी व्यवस्था करे कि जिसके द्वारा जन-साधारण की आर्थिक दशा सुधरे[5]। वह अर्थोपार्जन के सभी साधनों को बढ़ाये और ऐसे नागरिकों को प्रोत्साहन दे जो इन जीवनोपयोगी व्यापारों में लगे हुए हों, योजना-पूर्वक लगना चाहते हों या विशेष सफलताएं प्राप्त कर चुके हों।'[6] वह कहता है कि शासक को दूसरों के धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। यह एक स्पष्ट अनाचार है[7]।

१—प्रिंस अ० १८ तथा १९।

२—वहीं ९–'जन-आक्रोश'।

३—'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते' महाभारत का अन्तिम महावाक्य। देखिये प्रिंस, अध्याय ९, 'वैध आचरण पर बल'।

४—शांति पर्व अध्याय १६७, ५–४६।

५—शान्ति अ० ८, श्लोक ३–५,८,११,१४–१८।

६—प्रिंस २१,१७७।

७—वही, १७, १३१ तुलनीय 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' ईशावास्य १।१ तथा उद्योग १३९, ७७ आदि।

मैकियावैली ने राजा को सावधान किया है कि कोष और सेना तथा दुर्गों को ही रक्षा का साधन समझना मूर्खता है। सच्ची रक्षा का साधन तो जनता की घृणा और निरादर से बचने के लिए उचित आचरण करना है।[1] सम्पत्ति का अपहरण सबसे अधिक भयंकर होता है। बलपूर्वक सम्पत्ति का अपहरण करने वाले शासक को प्रजा कभी क्षमा नहीं करती। लोग अपने पिता की हत्या को भूल जाते हैं किन्तु पैतृक सम्पत्ति के अपहरण को कभी नहीं भूलते[2]। इसी प्रसंग में वह शासक को यह भी उपदेश देता है कि वह किसी भी महिला की इज्जत पर आक्रमण न करे और न ही किसी को कुदृष्टि डालने दे।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों के क्षेत्रों में समाज में अव्यवस्था और अनैतिकता बनी रही तो राज्य का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और इस व्यवस्था और नैतिकता का सूत्रधार वही होता है जो श्रेष्ठ है, शासक है, नेता है, प्रमुख है अथवा बड़ा है[3]। तात्पर्य यह है कि समाज की नैतिक चेतना और जीवन मूल्यों के विकास, स्थिरता और परिष्कार का उत्तरदायित्व उक्त प्रकार के व्यक्तियों पर ही होता है। वे जैसा आचरण करते हैं सामान्य जन उसी का अनुकरण करते हैं, क्योंकि मानव प्राणी स्वभाव से ही उसी मार्ग का अनुगमन करते हैं जिसका और लोग अनुसरण कर रहे हों और वे उन्हीं नियमों, आचरणों तथा व्यक्तियों को भी पूजा और आदर की दृष्टि से देखते हैं जिन्हें वे दूसरों के द्वारा सम्मानित होते हुए देखते हैं। अतः समाज में श्रेष्ठ व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे समाज में नैतिक और भौतिक संगठन और समृद्धि को बनाये रखने के लिए निरन्तर इस प्रकार आचरण करें कि सामान्य अज्ञानी जैसे तथा जीवन में अप्राप्त पदार्थों की उपलब्धि के लिए उद्योग (कर्म) करने में जुटे हुए सामान्य लोग कहीं उदासीन तथा कर्मपराङ्मुख न हो जायें तथा उनमें मतिभ्रम उत्पन्न न हों[4]। अतः समाज में अच्छाइयां या बुराईयां समृद्धि या दरिद्रता, उन्नति या अवनति सभी के लिए श्रेष्ठ या शासक वर्ग उत्तरदायी माना गया है[5]। इस मान्यता ने शासन-तन्त्र का संचालन करने वाले राजा और उसके सभी अधिकारियों के लिए अपने वैयक्तिक और सामाजिक आचरण में संयम और आदर्श का पालन किये जाने को किस प्रकार और क्यों एक अनिवार्य शर्त बना दिया गया है इसका विवेचन हम आगे चल कर यथास्थान करेंगे[6], परन्तु यहाँ यह कह देना

१—प्रिंस, २०।
२—वही, १७।
३—भीष्म ४७, २१, ईशावास्योपनिषद् १, २।
४—भीष्म २७, २६—'न बुद्धिभेदं जनयेद्'।
५—'राजा कालस्य कारणम्', शान्ति ६९,७९।
सु०-'ब्राह्मणः प्रमाणं लोकस्य' मनु ११,८५।
६—यही पुस्तक अ० ६ परिच्छेद ४।

आवश्यक है कि महाभारत में राजा को पूर्णतया धार्मिक और नैतिक आचरण करने का उपदेश देते हुए यह आदेश दिया गया है कि वह व्यवस्था और धर्म की रक्षा के लिए क्रूर और अनैतिक युद्ध, वध और विध्वंस आदि कार्य करते हुए भी ऊपर से अपना आचरण बड़ा मृदु, करुणापूर्ण और मानवीय बनाये रहे[1]। यही संतुलन हमें मैकियावैली में भी प्राप्त होता है। प्रिंस के १८ वें अध्याय में शासक को सभी अनुकरणीय गुणों का पालन कर यश अर्जन करने की प्रेरणा देते हुए भी वह उसे राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था के लिए लोमड़ी की तरह चतुरता पूर्वक विपरीत आचरण करने का उपदेश देता है।

मानव स्वभाव और नैतिकता—

हम देखते हैं कि इस प्रकार महाभारत में नैतिकता के आधार सर्वथा लौकिक एवं वैज्ञानिक हैं वे निरे रूढ़िवादी और पारलौकिक आकांक्षाओं से प्रेरित कदापि नहीं है। मानव सामाजिक प्राणी है, वह बुद्धिशील है और संवेदनाओं का पुतला है। वह स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए भी सुख और सभी अभावों और यातनाओं से मुक्ति चाहता है। इसीलिए मानव जीवन के चौथे और अंतिम प्रयोजन को मोक्ष कहा गया है। मनुष्य इसी मोक्ष की प्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशील रहते हुए कुछेक नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कई बार अपने आपको संकट में डालकर भी दूसरों की सेवा, सहायता और रक्षा करने में प्रवृत्त होता है। महाभारत में मानव स्वभाव के इस वरणीय पक्ष को भी पर्याप्त महत्त्व देकर प्रस्तुत किया गया है। परोपकार को सर्वोपरि पुण्य और दूसरों को कष्ट देना ही पाप का मूल बताया गया है[2]। मानव ही क्या सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया और करुणा की भावना और सबके लिए समान हित भावना महाभारतकालीन संस्कृति की विशेषताएं हैं। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' का सिद्धान्त ही आगे चलकर हिन्दू राजतन्त्र में 'सर्व-हित-राज्य' का आधार वन जाता है[3]। 'बहुजन सुखाय', 'बहुजन हिताय' की भावना महाभारत के अनुकूल नहीं है। मानवीय नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिए निष्काम कर्त्तव्य-कर्म करना और उसके द्वारा ही जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति बतलाया गया है। दैवी और उदार गुणों से युक्त व्यक्ति तो स्वयं नर से नारायण बन जाता है। मैकियावैली मानव स्वभाव के इस उज्ज्वल पक्ष से अपरिचित नहीं है। यद्यपि एक व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ होने के नाते उसने उसके काले और दूषित पक्ष को ही अधिकतर सामने रखकर विचार किया है। मैकियावेंली का व्यक्तित्व वड़ा मानवीय 'विश्व की विडम्बनाओं' और उत्थान पतनो को देखने और अनुभव करने के कारण नितान्त विवेकशील और देश भक्ति एवं मानव-कल्याण की भावनाओं से

१—'दम्भनार्थं तु लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत् क्रियाम्' शान्ति पर्व तथा तुलनीय-प्रिंस-१८।
२—सर्वभूत हित की भावना के लिए द्रष्टव्य भीष्म ३९, २५०, ३६, ४ आदि।
३—प्रिंस २५, ११९, प्रिंस १५, ११७।

ओत-प्रोत है। अतः स्वाभाविक रूप से वह मानव मात्र की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि मानव अपने जीवन में यश और समृद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे। उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य चाहे वह एक सामान्य नागरिक हो चाहे कोई ऊँचे पद पर आसीन श्रेष्ठ पुरुष या कोई नरेश, समाज में यश और ख्याति का अर्जन तभी कर सकता है जब उसमें वे गुण हों जिनके कारण लोग उसकी प्रशंसा करें। परन्तु मैकियावेली का विचार है कि नैतिकता के उदार मूल्यों और सद्गुणों को धारण करना और उनके अनुरूप व्यवहार करना सदैव सम्भव नहीं होता, इसका कारण वे मानवीय परिस्थितियाँ हैं जिन पर हमारा कोई वस नहीं है।[1] अतः यह मानना पड़ेगा कि मैकियावैली का नैतिकता विषयक दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यावहारिक और अपने जीवन में प्रयोगों और अनुभवों पर आधारित है। उसका विवरण बड़ा सन्तुलित और अनुकरणीय है। उसकी तुलना में महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि जीवन-मूल्यों, अनुकरणीय गुणों और कर्त्तव्यों का अलग-अलग तथा सम्भव विस्तार और महत्त्व देकर अपने प्रसंग के अनुकूल बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। कई विद्वान् यह कहते हैं—"महाभारत की कथावस्तु में किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसने राज-धर्म पर्व में वर्णित आचार धर्मों का पालन किया हो। इस लिए यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि राजा और उसके अधिकारियों के व्यवहार और आचरण के विषय में प्रतिपादित किये गये नियम शायद ही कभी व्यवहार में परिणत किये गये हैं। यह मत महाभारत के सांस्कृतिक अध्ययन के पश्चात् विद्वज्जन के द्वारा सामान्यतः प्रस्तुत और हमारे द्वारा आंशिक रूप से निवेदित सम्मतियों के ही विपरीत नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिकवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा किए गए क्रमिक विकास के इतिहास की बोध-राशि इसका शब्दशः खण्डन करती है। हाप्किन्स का मत है कि 'हिन्दू संस्कृति के विकास की दिशाओं का अंकन करने वाले प्रत्येक विद्वान् को यह सत्य स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रारम्भ में हिन्दू जाति की धार्मिक भावनाएं अतीव प्रभावपूर्ण और समुन्नत थीं तथा उनकी तुलना में नैतिकता की भावना धार्मिक विश्वासों तथा कर्म-काण्ड और तन्त्र के प्रभाव से दबी हुई तथा गौण थी। धीरे-धीरे विचित्र परिवर्तन हुआ और रूढ़ धार्मिक विश्वासों का अवरोहण और नैतिकता आरोहण और उत्थान प्रारम्भ हुआ। पिछले युगों की धार्मिक भावना और कम सरल तथा अपेक्षाकृत कम पवित्र होती गई है तथा साथ ही हिन्दू समाज की नैतिकता पहले युगों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत और कठोर होती गई है और महाभारत में वर्णित सैद्धान्तिक नीतियां महाभारत में ही पहले-पहले स्वीकृत नीतियों से कहीं अधिक कठोर हैं[2]। इसके अतिरिक्त यूनानी लेखकों की मैक्क्रिडल द्वारा संगृहीत सम्मतियों के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि बुद्धकालीन और परवर्ती भारत का धार्मिक और नैतिक

१—प्रिंस १५, ११८।
२—हाप्किन्स—जे० ए० ओ० एस०, १३, पृ० ६३।

जीवन पर्याप्त परिष्कृत और उन्नत था। लोग झूठ नहीं बोलते थे, चोरी नहीं करते थे, सामाजिक और सांस्कृतिक ही नहीं राजनीतिक दृष्टि से भी तत्कालीन जीवन पर्याप्त समृद्ध था। सारांश यह है कि महाभारत के उपदेशात्मक आदर्श वाक्यों को अक्षरशः शत-प्रतिशत रूप में व्यावहारिक और प्रचलित होने के विषय में दावा करने का दुःसाहस न करते हुए भी हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि महाभारत के तत्त्वदर्शन को नितान्त शून्य में ही कल्पना के सहारे खड़ा किया गया तत्त्व-ज्ञान सिद्ध करने का प्रयत्न न तो समाजशास्त्र और न मनोविज्ञान का ही दृष्टि से सुसंगत और समीचीन है और न वैज्ञानिक हीं। महाभारतीय जीवन-दर्शन को उचित परिप्रेक्ष्य में परखने वाले और सराहने वाले अनेक विदेशी विद्वानों ने बिना संकोच के ग्रन्य उद्घोष करने का सौजन्य भी दिखाया है। महाशय मैक्समूलर ने यह स्वीकार किया है कि 'महा-भारत में मानव की उस दिव्य प्रतिभा के दर्शन होते हैं जो संसार को स्वर्ग में बदल देती है 'काश ! मानव के पास वह 'कला' न होती जिसके द्वारा वह संघर्षों और युद्धों की ज्वालाओं से संसार को नरक बना देता है[२]।'

यह मानना पड़ेगा कि महाभारत में मानव-जीवन के प्रयोजन और मानवीय नैतिकता के विषय में जो विचार प्रगट किये कये हैं, वे निरी साहसी और दूरगामी कल्पना के परिणाम (स्पेकुलेटिव) नहीं हैं। उनका आधार तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में शताब्दियों तक संघर्ष और पुनर्जागरण की चेतना से अनुप्राणित व्यावहारिक जीवन है। मैकियावैली के विचार भी उसकी अपने काल की परिस्थितियों से प्रभावित हैं और उनका प्रतिनिधित्व करते हैं और वे इतने प्रावैधिक (टैक्नीकल) हैं कि दर्शन सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है।

इस कथन की सत्यता महाभारत और 'प्रिंस' में आये हुए मानव स्वभाव और मानव व्यवहार के विषय में प्रगट की गई आस्थाएं ही इन दोनों ग्रन्थों में प्रस्तुत की गई शासन सत्ता सम्बन्धी उन मान्यताओं और व्यावहारिक राजनीति तथा शासन-व्यवस्थाओं की आधार हैं, जिनका विवरण हम यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि समाज की संस्कृति और नैतिकता उसकी भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का सोपपत्तिक परिणाम होती है और वही व्यक्ति और समष्टि इन दोनों स्तरों पर मानव के व्यवहार और चिन्तन को प्रेरणा देती है। मानव संस्कारों का ही समन्वित नाम मानवीय संस्कृति है। अब प्रश्न यह है कि इन संस्कारों की प्रेरणा के परिणामस्वरूप मानव का स्वभाव कैसा बना है ? और वह किस प्रकार व्यवहार करता है ? मानव समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का विचार मानव स्वभाव की व्याख्या से ही प्रारम्भ होता है।

मानव प्रकृति के दो पक्षः दैवी एवं आसुरी सम्पदा—

हम यह संकेत पहले ही कर चुके हैं कि महाभारत के सिद्धान्त पक्ष और इतिहास

२—मैक्समूलर, हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर, भूमिका।

पक्ष की मीमांसा के आधार पर व्यक्तिगत और समष्टिगत मानव स्वभाव् एवं व्यवहार की पूर्ण विवेचना के लिए एक पृथक् प्रवन्ध की आवश्यकता है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में मानव प्रकृति की संक्षिप्त व्याख्या नितान्त अपेक्षित है। भीष्म पर्व के भगवद्गीता पर्व में मानव प्राणी के स्वभाव, कर्म, भावनाओं और संवेदनाओं का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए कहा गया हैं कि मानव प्राणी सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का ही स्वरूप होते हुए भी अपनी सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों वाली प्रकृति के वश होकर कर्म करने के लिए प्रेरित होता है[1]। यहां मानव-स्वभाव के दो नैसर्गिक पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। एक है दैवी संपदा और दूसरी आसुरी सम्पदा। दैवी सम्पदा 'मोक्ष' अर्थात् मानव के इहलोक और परलोक के परप कल्याण और दुःख के आत्यन्तिक अभाव की हेतु होती है जबकि आसुरी प्रकृति 'बन्धन' अर्थात् दुःख और विनाश की हेतु मानी गई है।[2]

महाभारत में मानव प्रकृति के इन दैवी और आसुरी दोनों पहलुओं को समक्ष रखते हुए ही साधु और सच्चरित्र मानव-समाज की रक्षा करना और दुराचार, अपराध और आसुरी कार्य करने वाले समाज-विरोधी तत्त्वों का उन्मूलन करना, ये दोनों भावात्मक और अभावात्मक कार्य या उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति, समाज एवं राज्य के दुपहले आदर्श के रूप में स्थापित किए गये हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण ने धर्म की स्थापना के लिए इनके आवश्यक और उपादेय होने का संकेत किया है।[3]

कर्म का सिद्धान्त—

मानव प्रकृति अधोगामिनी है। मानव-स्वभाव ठीक उसी प्रकार प्रवाहित होता है जैसे सरिताओं के स्रोत नीचाई की ओर बहते हैं। यदि सत्ता निरन्तर जागरूक होकर उन्हें अपने-अपने कर्म, कर्त्तव्यों अर्थात् वर्णाश्रमों के पालन करने के लिए प्रेरित न करे तो लोग उदासीन और अकर्मण्य हो जायें। कामवश होकर पारिवारिक जीवन की पवित्रता को नष्ट कर दें[4] और जिस प्रकार छोटी मछली बड़ी मछली से का शिकार हो जाती है और प्रत्येक मछली निरन्तर भयभीत और विनाश की आकांक्षा से आशंकित रहती है उसी प्रकार के मात्स्य न्याय में मानव का सुखी जीवन एक स्वप्न बनकर रह जाय[5]। अतः मानव प्रकृति की न्यूनताओं और पूर्णताओं को उनके वास्तविक स्वरूप में समझाते हुए एक व्यवस्था 'ऋत' 'धर्म' या 'शासन की सत्ता' अनिवार्य हो जाती है जो उसे उसके जीवन

१—भीष्म २६, २५—२८, ६२—६४, प्रकृतिजैर्गुणैः २७, ५, ४२, ४०।

२—'दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'—भीष्म ४०, ५ आदि।

३—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥' —भीष्म २८,८।

४—'उसीदेयुरिमे लोका:'—भीष्म २७, विशेषतः श्लोक २४।

५—मात्स्यन्याय सम्बन्धी महाभारतीय विवेचन के लिए देखिए यही पुस्तक अध्याय ३।

के चारों पुरुषार्थों और विशेषतः धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग की प्राप्ति के लिए प्रेरित करें। महाभारत की यह मान्यता है कि मानव स्वभाव अर्थात् मानवीय विचार और कार्य अपनी प्रकृति के कारण ही काम तथा क्रोध रूपी दोषों से उसी प्रकार आवृत हैं जैसे आग धुएं से[१]। परन्तु जीवन के दोषमय, दुःखमय और नश्वर होने के कारण किसी प्रकार के निर्वेद और निवृत्ति मार्ग को अपनाने को महाभारत में अवैज्ञानिक, अव्यवहार्य और असम्भव तथा भयंकर ठहराया गया है[२]। मनुष्य का यह धर्म है कि वह निरन्तर कर्मशील रहकर पूर्ण आयुष्य का सुख भोगे। कर्म मात्र में निहित इस दुःख के कांटे को निकालने के लिए महाभारत में कर्त्तव्य-बुद्धि से निष्काम कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। कर्त्तव्य बुद्धि से यज्ञ-भावना अर्थात् सार्वजनीन हित की स्वार्थ-हीन भावना से किया गया कर्म मानव को लिप्त नहीं करता[३]। अतः युद्ध जैसे भयंकर मार-काट से भरे हुए कृत्य को भी क्षत्रिय के लिए परम श्रेय और स्वर्ग का खुला हुआ द्वार माना गया है। और इस प्रकार के युद्ध करने का अवसर जिन्हें प्राप्त हुआ हो उन्हें सौभाग्यशाली और सुखी बतलाया गया है[४]। जिस प्रकार प्लेटो स्वधर्म पालन और स्वधर्म निरति का समावेश अपनी 'जस्टिस' में करता है उसी प्रकार महाभारत की सबसे बड़ी शिक्षा अपनी योग्यता के अनुसार अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन निष्काम दृष्टि से करना है[५]। महाभारत का यह धर्म और कर्त्तव्य सम्बन्धित दृष्टिकोण कोरा रूढ़िवादी और सैद्धान्तिक (स्कोलैस्टिक) नहीं है अपितु महाभारत की सर्वत्र ओत-प्रोत संतुलन और सामंजस्य की भावना के अनुरूप (दिव्य वैदिक विधान के अनुरूप अवश्य कर्त्तव्य होते हुए भी) मानव प्रकृति की आवश्यकताओं, सामर्थ्य योग्यता और भावनाओं के अनुरूप परिवर्तनीय और पालनीय है[६]। महाभारत का दृष्टिकोण अभावात्मक और निराशावादी नहीं है। बौद्धों का दुःखवाद भी महाभारत के आदि-पर्वान्तर्गत वक-वध-पर्व (अध्याय १५६) आदि स्थलों में लगभग उसी रूप में उपलब्ध है, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि महाभारत मानव-जीवन के सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण

१—भीष्म—२७, ३७—३८।

२—भीष्म २७, १९—३०।

३—वही २६,४७ कर्मण्येवाधिकारः २७, ३० युध्यस्व विगतज्वरः आदि तुलनीय—बार्कर, पालिटिक्स पृ० ११८, १२० द्रष्टव्य कौटिल्य अर्थशास्त्र १, ३, १, ७ मनु ७। ३५।
वासिष्ठ धर्मसूत्र १९, २, कामन्दक २—२५, भीष्म पर्व ४२—४१, शान्ति ८५, २ ईशावास्य १।२ कुर्वन्नेवेह कर्माणि—तुलनीय जिजीविषेत् शतं समाः।

४—यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ भीष्म २६, ३२।

५—द्रष्टव्य प्लेटो—'पालिटिक्स' तथा 'गीता-रहस्य', पृ० ५२३।

६—घोषाल, पृ० ७।

प्रश्नों को किसी एक वाद की लाठी से हांकने का प्रयास नहीं है। मानव और समष्टि के रूप में—एक अद्‌भुत त्रिकोण है और सत्त्व, रजस और व्यक्ति और तमस् के इस त्रिकोण के दो पहलू अर्थात् दैवी और आसुरी क्रमशः उसकी उन्नति और अधोगति के मूल कारण हैं। महाभारत के अनुसार मानव न बुरा है और न अच्छा। मानवीय कर्म, अकर्म और विकर्म की गति बड़ी गहन है[1]। मानव (पुरुष) श्रद्धा का बना है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है[2]। दैवी श्रद्धा नर को नारायण और आसुरी श्रद्धा नर को पशु और असुर बना देती है। दैवी सम्पदा वाले पुरुषों के गुणों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है[3]। सर्वथा भय का अभाव, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान योग में निष्ठा, दान, दया, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, सत्य, अहिंसा, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनता का अभाव; मृदुता, लज्जा, चंचलता का अभाव, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, द्रोह का अभाव, अतिमानी न होना-ये सब दैवी संपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के लक्षण भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कहे हैं। मानव विधाता की सृष्टि का बड़ा विलक्षण प्राणी है। मानव स्वभाव की जटिलता और विविधता की कोई सीमा नहीं है। उदाहरण के लिए दान, तप और यज्ञ के सात्त्विक, राजस् और तामस् इन तीन प्रकार के भेदों तथा इसी प्रकार तप आदि के वाचिक, कायिक और मानसिक आदि अवान्तर भेदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणों और इनके विपरीत इतने ही दुर्गुणों की सत्ता मानव स्वभाव में है[4]। आसुरी सम्पदा के जो लक्षण अर्थात् दम्भ, अभिमान, क्रोध, पारुष्य तथा अज्ञान बतलाये गये हैं, उनका बड़े विस्तार के साथ सरल भाषा में वर्णन किया गया है–'मानव के आसुरी स्वभाव वाले वर्ग में अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और अनिष्ट कर्म से निवृत्ति का ज्ञान नहीं होता। न ही उनमें शुचिता और श्रेष्ठ आचरण होता है। वे जगत् को आश्रय-रहित, असत्य और अनीश्वर समझते हुए इसे अपने आप स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ और कामनाओं को (भोगों को) भोगने के लिए ही बना हुआ मानते हैं। इसी प्रकार के दृष्टिकोण के कारण वे हृदयहीन और मन्द बुद्धि तथा सबका अपकार करनें वाले लोग जगत् के विनाश के लिए क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। मद्य, मान और मद से युक्त ये लोग कभी न पूरी होने वाली कामनाओं के सहारे अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों में प्रवृत्त होते हैं। मरण-पर्यन्त अनन्त चिन्ताओं में घिरे हुए और विषय भोगों को ही सर्वोत्कृष्ट मानने वाले ये लोग काम और क्रोध के वश में हुए तथा आशा रूपी रस्सी के पाशों में बंधे हुए विवश होकर विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संचय करना चाहते हैं। वह सदा यही सोचते रहते हैं कि मेरा ये मनोरथ पूरा होगया, उसे प्राप्त कर लूंगा। यह

१—भीष्म २८, १६-१८, 'गहना कर्मणो गतिः।'
२—भीष्म ४१, ३–४ 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'।
३—वही ४०, १–४।
१—द्रष्टव्य, वही (भगवद्‌गीता पर्व) अ० ४१–४२।

धन तो मिल गया, उसे भी हथिया लूँगा। यह शत्रु मैंने मार डाला, औरों को भी मार डालूंगा, मैं ईश्वर, योगी, बलवान् और सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है', इत्यादि[1]।

देवासुर संग्राम—एक लौकिक सत्य—

इस प्रकार इन आसुरी प्रकृति वाले विध्वंसक सामाजिक तत्त्वों की सत्ता मानव जीवन का उतना ही कटु सत्य हैं, जितना दैवी प्रकृति वाले विधायक तत्त्वों की सत्ता। दैवी और आसुरी, सत्य और असत्य, धार्मिक और अधार्मिक, इन दोनों तत्त्वों का संघर्ष शाश्वत है। देवासुर-संग्राम कोई स्वर्गीय या अलौकिक कल्पना नहीं है, आदि काल से चलते हुए इसी संघर्ष का आलंकारिक नाम है। दैवी और आसुरी प्रभावों की न्यूनाधिकता के अनुपात के आधार पर ही कृत युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चारों युगों में काल का विभाजन किया गया है। दैवी तत्त्वों की रक्षा और आसुरी तत्त्वों का विनाश एक पवित्र और दिव्य उत्तरदायित्व है जिसे पूर्ण करने के लिए स्वयं भगवान् भी अवतरित होते हैं। और जिसे पूर्ण करने वाले मानव भी भगवान् ही के रूप अथवा अंशावतार माने जाते हैं। धर्म की रक्षा करने वाले शासक और वीर पुरुष महाभारत में इसीलिए 'देवता' के रूप में सम्मानित हुए हैं चाहे फिर उनकी जाति आभीर या गोपाल ही क्यों न रही हो? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत में आसुरी अर्थात् स्वार्थी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, द्रोही, हिंसक, लोलुप तथा अहंकारी जन समुदाय से राज्य सत्ता और समाज व्यवस्था की रक्षा करने के लिए राज्य की दमन-शक्ति या दण्ड को आवश्यक समझा गया है। इस क्षात्र-शक्ति के विना समाज की दैवी अथवा ब्रह्म-शक्ति की रक्षा नहीं हो सकती। जिस प्रकार वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती उसी प्रकार शासक के द्वारा धर्म और सत्य अर्थात् दैवी सम्पदा की रक्षा के लिए दमनात्मक शक्ति का वल और बुद्धि के द्वारा प्रयोग न्याय्य और अनिवार्य हो जाता है।

इस विवेचन के विस्तार में न जाते हुए यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि इसी प्रकार मानव-प्रकृति के व्यष्टिगत और समष्टिगत स्वभाव और आचरण के सभी पहलुओं के विवेकपूर्ण व्यावहारिक चिन्तन और उसके अनुसार किये गये नीति-विवेक ने महाभारत के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया है। परिवर्तनशील संसार की देश और काल की वदलती हुई परिस्थितियों में मानव-प्रकृति का एक-सी बने रहना सम्भव नहीं है। इसलिए परिवर्तनशील ऐतिहासिक परिस्थितियों में तत्त्व दर्शन में भी परिवर्तन परिष्कार, संशोधन और संवर्धन की प्रक्रिया के निरन्तर चलते रहने के कारण महाभारत के चिन्तन में सोपपत्तिक एकरूपता की अपेक्षा करना दुराशा मात्र है, और यह सन्तुलन, समन्वय, सामंजस्य और विविधता में एकता निष्पन्न करने वाली

१—भीष्म ४०, ७—१८।

२—राजशक्ति की न्याय्यता पर द्रष्टव्य—यही पुस्तक, अ० ६।

विशेष हिन्दू-प्रतिभा की प्रवृति के विरुद्ध भी है। अतः महाभारत में हिन्दुओं के धर्म नैतिकता, सौन्दर्य-बोध और नीति-विवेक के विषय में विविध और परस्पर विरोधी तर्क भी यदि प्राप्त होते है तो वे नितान्त स्वाभाविक हैं। यह परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तनशील, यथा-काम संग्रथनीय और सन्तुलित जीवन-दर्शन ही तो महाभारत की विशेषता है। अतः महाभारत का यह मानव-प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण और दर्शन नितान्त सत्य और व्यावहारिक है। कतिपय मूर्धन्य पश्चिमी दार्शनिकों के विचारों के साथ तुलना करने से इसकी सोपपत्तिकता एवं वैज्ञानिकता और भी स्पष्ट हो जायगी। इसलिए हम इसकी तुलना सुकरात, प्लेटो और अरिस्तू से करेंगे, क्योंकि इन तीनों मनीषियों की विचारधारा ने ही अनिवार्य रूप से मैकियावैली की भी विचारधारा को अंशतः प्रभावित किया हैं और उसके साथ ही हमें तुलनात्मक अध्ययन करना अंत में अभिप्रेत भी है।

पश्चिम के यथार्थवादी दृष्टिकोण से तुलना—

सुकरात का 'सत्ता का सिद्धान्त' और प्लातोन का 'मानव-दर्शन' महाभारत के उक्त दर्शन के पर्याप्त निकट है। सुकरात यह मानता है कि पूर्ण, स्थायी, अपरिवर्तनशील, स्वयंभू सत्ताएं जो वस्तुओं के विचारों में निहित हैं वही इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील अपूर्व पदार्थों के मूल में रहती हैं। इन्ही विचारों को बीज रूप से ग्रहण कर प्लातोन ने अपने ग्रन्थ 'पोलितेइया' में राज्य के शासन अथवा संविधान की व्याख्या और विवरण देते हुये मानव को एक समष्टि मानकर उसके कार्यों को समझने के लिए उसके विचारों और स्वभाव को जानना आवश्यक बतलाया है। उसने मानवीय आत्मा के चरम उत्थान और गहनतम पतन के बीज का मानवीय आत्मा और उसकी प्रकृति में ही निहित होना प्रतिपादित किया है।

हम यह देख चुके हैं कि सुकरात और प्लातोन का मानवीय आत्मा और मानवीय प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण और राज्यविषयक धारणाएं प्रायः आध्यात्मिक और नैतिक हैं[1]। इन अतिवादी विचारकों की तुलना में अरिस्तू ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है और उसकी धारणा है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य तथा अन्य पशुओं में कोई भेद नहीं हैं। उसकी इनसे विलक्षणता, तर्कशील, विवेक और भाषा की शक्ति है। मनुष्य की उच्चतर प्रकृति की बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक और प्राकृतिक है कि उसे कुटुम्व, ग्राम और राज्य-संस्थाओं के द्वारा अच्छे जीवन की प्राप्ति होनी चाहिए। इस प्रकार राज्य का उत्तरदायित्व केवल आसुरी प्रभावों से मानव की रक्षा करने तक ही सीमित नहीं है। वह लांक के द्वारा प्रतिपादित अभावात्मक दृष्टिकोण के स्थानों पर भावात्मक दृष्टिकोण का पोषक है और मानव-प्रकृति में निहित उदार गुण का वर्धन करते हुए नागरिकों को सद्गुणी और सच्चरित्र बनाने के लिए सभी बुरे

१—कोकर, 'रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिसासफी', पृ० १।

विचारों, कार्यों और व्यक्तियों के उन्मूलन का समर्थन करता है। मानव स्वभाव को स्वतः ही अच्छाइयों की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करने वाली परिस्थितियां उत्पन्न करना वह आवश्यक समझता हैं।[1]

मैकियावैली का व्यावहारिक चिन्तन—

दूसरी ओर मैकियावैली ने मानव स्वभाव के विषय में जो निर्द्वन्द और साहसिक घोषणाएं की हैं उनके विषय में यह स्पष्ट कर देना वांछनीय है कि मैकियावैली को असम्भव की सम्भावनाओं और कल्पनाओं में विचरण करना अभिप्रेत नहीं है। 'जैसा होना चाहिए' की अपेक्षा 'जैसा है, होता है और हो सकता है" तक ही वह अपने निर्णयों को सीमित रखता है[2]। परन्तु महाभारत के विषय में हम यह पहले ही कह चुके हैं कि उसमें आदर्श तत्व ज्ञान और कठोर व्यावहारिक राजधर्म इन दोनों का सामंजस्य और समन्वय प्रस्तुत हुआ है। इसलिए दोनों ही प्रकार के विचारों का होना उसमें स्वाभाविक है। क्योंकि महाभारत 'प्रिंस' की तरह राजनीति का प्राविधिक विवरण नहीं है। अपितु एक विशाल विश्वकोश है। प्रश्न यह है कि मानव प्राणी-स्वभाव से अच्छा है या बुरा? कौन से सद्गुण और दुर्गुण उसमें निसर्गजात हैं? इकाई के रूप में वह कैसे व्यवहार करता है? इसी व्यावहारिक दृष्टिकोण से नरेशों और प्रशासकों की 'गीता' के रूप में लिखे गये अपने संक्षिप्त और सारगर्भित प्रबन्ध 'प्रिंस' में मैकियावैली ने स्थान-स्थान पर मानव-प्रकृत्ति का विवेचन किया है। ये विवेचनात्मक वाक्य सूक्तियों की तरह स्मरणीय और रम्य तो हैं, ही साथ ही अपने आप में मैकियावैली के अपने युग के अद्भुत राजनीतिक कौशल को भी संजोये हुए हैं। सुकरात, प्लातोन और अरिस्तू के युगों से १६ वीं शताब्दी तक के पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव मैकियावैली पर न हुआ हो, यह असम्भव है। परन्तु ग्रंथ विस्तार के भय से उसकी विस्तृत व्याख्या न करते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि मैकियावैली के विचार, व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से नितान्त सत्य होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से चाहे अर्धसत्य-से तथा अति स्पष्ट और अतिकटु भले ही लगें, वे अनुभव सिद्ध हैं। और स्वतः प्रमाण होने की सीमा तक विश्वसनीय हैं। हम यह कह चुके हैं कि मैकियावैली शासन सत्ता की प्राप्ति, सुरक्षा और समृद्धि को बड़ी से बड़ी राष्ट्रीय इकाइयों के रूप में सुरक्षित और विकासशील समाज के लिए आवश्यक मानता है और इसलिए प्रत्येक प्रशासक और नरेश को वह दृष्टिकोण देना चाहता है जिनके द्वारा उसे शासन कार्य करना चाहिए। कोरे आदर्शों और सिद्धान्तों के आधार पर कल्पना की दुनियां में विचरण करने का विलास केवल दार्शनिकों के लिए ही क्षम्य हो सकता है। देश और काल की परिस्थितियों का डटकर मुकाबला करना ही जिस सत्ता के लिए अपना अस्तित्व बनाए रखने की पहली

१—बार्क, ग्रीफ पोलिटिकल थियरी, पृ० १४५।
२—प्रिंस, अ० १८।

शर्त है उस शासक को शासित की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नितान्त अनिवार्य है। मैकियावैली मानव प्रकृति की परिसीमाओं की ओर दुर्लक्ष्य न करते हुए मानव प्राणी को स्वभाव से ही घोर स्वार्थी मानता है, वह मानता है कि मनुष्यों की सब सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाओं तथा क्रियाओं का मूल घोर स्वार्थ की भावना में है, वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं[१]। "जब तक आपको सफलता मिलती है वे पूर्ण रूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों तक का बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे, जब तक इनकी आवश्यकता निकट आती है तो वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं। मैंकिमावैली का यह विचार है कि मनुष्य का प्रेम स्थिर और विश्वसनीय नहीं होता क्योंकि वे तभी तक प्रेम करते है जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है। जब उनका स्वार्थ सिद्ध नही होता तो वे विद्रोह कर देते हैं। वह स्वार्थी होने के कारण ही उन्हीं के उद्धार के लिए चलाई जाने वाली होने पर भी नई योजनाओं का समर्थन नहीं करते। क्योंकि वे स्वार्थी होने के साथ ही स्वभाव से ही अविश्वासी भी होते हैं और वे नयी व्यवस्थाओं को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वे लम्बे समय तक उनके अनुभव में नहीं आती। अतः पुरानी व्यवस्था से लाभ उठाने वाले लोग नई व्यवस्था के कट्टर विरोधी बन जाते हैं[२]। उदारता और दान के गुणों को लोग बहुत जल्दी भूल जाते हैं, वे चाहे उदार और दानी होने के कारण ही क्यों न हों। उदारता और दानशीलता के सामर्थ्य से रहित हो जाने वाले व्यक्ति को वे अवमानना और घृणा की दृष्टि से देखते हैं[३]। वे उसी शासक से प्रसन्न रहते हैं जो उनसे कुछ लेता नहीं है। हाब्स की तरह मैंकियावैली भी यह मानता है कि मनुष्य में असीम और अनन्त इच्छाएं हैं। इनकी पूर्ति के लिए ही वह सब कार्य करता है। वह अतीत की अपेक्षा वर्तमान से ही अधिक आकर्षित होता है[४]। यदि वर्तमान पर्याप्त अच्छा होता है तो वह उसी के उपभोग में लग जाता है। उसकी यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह शान्ति काल में भविष्य के उस आपत्तिकाल के लिए तैयारी नहीं करता, जब तूफान आ सकता है[५]। इसीलिए अपनी मानवीय कल्पनाओं से परे के कार्य-व्यापारों, और होते हुए तथा होने वाले परिवर्तनों के कारण वह भवितव्यता में विश्वास करने लगता है और भाग्य तथा भगवान् के सहारे जीना चाहता है, जो सम्भव नहीं है[६]। वह अपनी प्रवृत्तियों और आदतों का इतना दास बन जाता है कि समय के परिवर्तनों के कारण जब उसकी प्राचीन धारणाएँ और नीतियां

१—प्रिंस अ० १७।

१—प्रिंस ६–द्रष्टव्य अ० ६।

२—वही, १६।

३—वही, २४, १६१।

४—वही, २४, १६२।

५—वही, २५, १६७।

त्याज्य हो जाती हैं, वह तब भी उन्हीं का दास बना रहता है। वह समय के साथ-साथ होने वाले उन परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तित नहीं हो पाता और नष्ट हो जाता है[1]। मैकियावैली का यह मत है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपने विषय में बड़ा ऊंचा और प्रशंसापरक दृष्टिकोण रखते हैं और स्वभाव से स्वयं संतुष्ट होते हैं। वे अपनी बड़ाई सुनना पसन्द करते हैं और इसी स्वभाव के कारण प्रायः ठगे जाते हैं और स्वयं ठगे जाना पसन्द करते हैं[2]। परन्तु इस प्रकार दुर्बल और अज्ञानी होते हुए भी लोग इतने निर्लज्ज कभी नहीं होते कि कृतघ्न कहलायें। उपकारों और लाभों के द्वारा वे मानसिक स्नेह के बंधनों में जिनके साथ बंध जाते हैं उन्हें सहसा नहीं छोड़ते और यदि शासन ने उन्हें बार-बार निराश और असफल न बना दिया हो तो उसकी अधिक से अधिक सुरक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं[3]। राज्य की रक्षा की दृष्टि से जनता के समर्थन और सद्भाव का महत्त्व मैकियावैली की दृष्टि में बड़ा अमूल्य है। वह कहता है कि जनता का समर्थन बड़ा सशक्त, प्रभावशाली और सुरक्षापूर्ण होता है[4]। वह अपने काल में स्पार्टा में प्रचलित उस कहावत का खण्डन करता है, जिसमें कहा गया है कि जनता की सहायता का आधार बालू की दीवार है। वह कहता है कि बालू की दीवार उन्हीं परिस्थितियों में है जब कोई दमन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सामान्य जनता का सहारा लेना चाहता है क्योंकि जनता उस समय साथ नहीं दे सकती। वह केवल दमन से बचना चाहती हैं और ईमानदारी से शान्तिपूर्वक रहना चाहती है[5]। यह महत्त्व की बात है कि मैकियावैली उक्त तथ्य के आधार पर ही शासक को जनता के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करने का परामर्श देता है और उसे विजय या आधिपत्य प्राप्त कर लेने से ही मदान्ध हो जाने की विभीषिका से सावधान करता है। वह कहता है कि कि विजय कभी इतनी पूर्ण नहीं होती कि न्याय तक की परवा न की जाय। अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामान्य लोग स्वतंत्रता, सम्पत्ति और स्वशासन की आकांक्षा करते हैं। वह इस तथ्य को सदैव प्राथमिकता देने की सिफारिश करता है और यह स्वीकार करता है कि सामान्य जनता में जन्मजात प्रतिभा के कारण समाज के हित और अहित को समझने की विस्मयजनक सूझ-बूझ होती है और वही समाज और राज्य अधिक सुरक्षित और प्रगतिशील होते हैं जिनमें जन सामान्य के इस बुद्धि विवेक का आदर किया जाता है[6]। वह मानता है कि व्यक्ति, समाज और राज्य के निरन्तर प्रगतिशील, समृद्ध, विकासशील और विस्तारपरक होने का मूल मानव

१—वही, २५, १९९।
२—प्रिंस २४, १८५।
३—वही, २१, १७६।
४—वही, ६१, ७६।
५—वही, ६१, ७४—६।
६—प्रिंस, २१, १७६।

स्वभाव की ये विशेषताएं ही हैं। यह विकास और विस्तार ही इन संस्थाओं के जीवन का चिन्ह है। निरन्तर वृद्धिशील न होना मृत्यु और पतन का भयावह पूर्व संकेत है। इस विभीषिका से बचने के लिए यह आवश्यक है कि जन-सामान्य एवं समाज को शासन सत्ता और शासन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव होती रहे जिसके परिणाम-स्वरूप वे संगठित रूप से उनके प्रति वफादार बने रहें[1]।

यहाँ इसी प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने मैकियावैली के राजनीतिक दर्शन की जो कटु आलोचना की है वह उस पृष्ठभूमि के अपूर्ण अनुशीलन की द्योतक है जिसे हमने अभी-अभी प्रस्तुत किया है। मैकियावैली ने शासन सत्ता की प्राप्ति, सुरक्षा और वृद्धि को ही दृष्टि में रखकर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसकी दृष्टि नरेश या शासक पर अधिक केन्द्रित है राजनीतिक दर्शन पर उतनी नहीं। अतः मैकियावैली मध्य युग का पहला ऐसा विचारक है जिसने राजनीति में स्पष्ट रूप से नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, धर्म को धता बताते हुए अर्घ चक्र देकर उसे इस क्षेत्र में प्रभुता से वंचित कर दिया और शक्ति एवं सत्ता प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनैतिकता को न्याय्य ठहराया। हमारा यह निवेदन है कि मैकियावैली हृदय से जनता, जनशक्ति, जन-धर्म और जन प्रतिभा का पुजारी होते हुए भी तथा मानवीव धर्म और नैतिकता को अक्षुण्ण और विकासशील बनाये रखने का समर्थन करते हुए भी, सार्वजनिक हित की दृष्टि से वह मार्ग सुझाने का प्रयास करता है जिसके द्वारा उसकी आकांक्षाओं और कल्पनाओं का इटली का मुक्ति दूत कोई नरेश वहाँ की जनता की उस समय आये दिन अनुभव होने वाली अपमानजनक दुर्दशा को दूर करे और अपने देश का उद्धार करे। इसके लिए वह उसको राज-धर्म का उपदेश देता है जिसके अलावा वह उस काल में अन्य कोई विकल्प नहीं देखता।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महाभारत और मैकयावैली के विचारों में जहाँ एक ओर सैद्धान्तिक क्षेत्रों में पर्याप्त असमानता है वहाँ व्यावहारिक शासनतन्त्र और समाज व्यवस्था के क्षेत्र में दोनों में अद्‌भुत समानता है। मानव प्रकृति की इन मूल विशेषताओं, गुणों और न्यूनताओं के कारण व्यक्ति के परम हित के लिए समाज और राज्य की उपादेयता और आवश्यकता दोनों विचारधाराओं में प्रतिपादित की गई है। देखना यह है कि किस प्रकार इन विचारधाराओं ने समाज के घटक अथवा राज्य के नागरिक होने के नाते व्यक्ति के जीवन को वस्तुतः प्रभावित किया है। महाभारत में मानव के अभ्युदय और निःश्रयस् की प्राप्ति के लिए जिन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है क्या वे वस्तुतः व्यावहारिक और उपादेय सिद्ध हुई हैं? और उस काल के मानव समाज की जो रूपरेखा महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष के अनुशीलन से सामने आती है क्या वह उक्त सैद्धान्तिक व्याख्याओं के अनुरूप है।

१—वही, ६, ७८।

हम आगे चलकर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि जिस प्रकार मैकियावैली के मानव प्रकृति और राजनीति सम्बन्धी विचारों का आधार देश और काल की विशेष परिस्थितियां और मानव जोवन के कठोर तथ्य हैं उसी प्रकार महाभारत में भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की विभिन्न मानवीय समस्याओं का निदान नितान्त तर्कसम्मत और व्यावहारिक दृष्टि से किया गया है। इन व्यवस्थाओं में धार्मिक भावुकता और कोरे अध्यात्म अथवा सिद्धान्तवाद की ही गन्ध जिन्हें दिखाई दी है उन पाश्चात्य और पूर्वीय, विद्वानों के मतों का निराकरण हम यहाँ अनावश्यक समझते हैं क्योंकि यह बात धीरे-धीरे इस प्रबन्ध में स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि महाभारतकार आधुनिक 'विकास वाद के सिद्धान्त' के कायल नहीं हैं और न ही हमारे उसी काल के बौद्ध-चिन्तकों ने मानव स्वभाव की व्याख्या 'विकासवाद के सिद्धान्त' के अनुकूल की है। अपितु ये व्याख्याएं इस सिद्धान्त के प्रतिकूल ही बैंठती हैं। क्योंकि बौद्ध विचार सारणी के अनुसार भी प्रारम्भ में मानव प्राणी का अतीव स्पृहणीय चित्र प्रस्तुत किया गया है कि पहले मानव सब प्रकार से पूर्ण था—वह सन्तोपी, प्रकाशमान-दीर्घजीवी था। (मनोमयाः पितिभक्खाः समवपत्रा अन्तलिक्खचराः शुभत्थायिनो) परन्तु बाद में मानव अपनी मूल पवित्र स्थिति से अलग हो गया[१]। पाश्चात्य दार्शनिकों में भी सभी विचारक मात्स्यन्याय या वन-न्याय (रूल आव् जंगल) वाली दुर्भाग्य पूर्ण अनवस्था में विश्वास नहीं करते। कुछेक के मत में प्राकृतिक व्यवस्था (रूल आव् ला) की स्पृहणीय और वरेण्य स्थिति मानव के विकास के इतिहास की सबसे पहली दशा है[२]। इन सिद्धान्तों के स्वरूप, प्रयोजन और औचित्य की सोपपत्तिक व्याख्या हम आगे राज्य की उत्पत्ति और विकास के प्रसंग में करेंगे। अब यह देखना है कि महाभारत में वर्णित समाज व्यवस्था का स्वरूप क्या है और उसकी विशिष्टताओं का भारतीय राज्य विपयक चिन्तन पर क्या प्रभाव पड़ा है?

भारतीय समाज व्यवस्था का राजनीतिक चिन्तन व संगठन पर प्रभाव—

महाभारत काल में भारतीय समाज चार प्रमुख वर्गों में विभाजित था। हजारों कबीले कुल, गौत्र, गण तथा अन्य अवान्तर भेदों के रूप में अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखने वाली सामाजिक इकाइयाँ केवल चार वर्गों में ही समवेत कर दी गई थीं। जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता था। इन्हें चार वर्ण, (चातुर्वर्ण्यम्[३]) की संज्ञा दी गई थी। यद्यपि 'वर्ण' पद का शाब्दिक अर्थ "रंग" है तो भी यह नहीं कहा

१—पं० मोहनलाल महतो वियोगी द्वारा 'जातककालीन भारतीय संस्कृति' में उद्धृत बवेल जातक (देखिए घोपाल पृ० ६२ पर उद्धृत दीघनिकाय ३, ८४–९५ तथा अग्गञ्जसुत्तान्त "सृष्टि" अध्याय)

२—देखिए-'लॉक' कामत, राजनीति-दर्शन का इतिहास, जार्ज एच० सैबाइन, भाग २, अ० २६

३—भीष्म पर्व अ० २८, १३।

जा सकता कि उक्त चारों वर्णों में उनकी त्वचा के रंग की दृष्टि से कोई भी किसी प्रकार का अन्तर था। सबसे पहले ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष सूक्त (१०. १०. ११-१२) में विराट् के मुख, भुजाओं, धड़ और पैरों से क्रमशः, ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के ही कुछेक स्थलों (अर्थात् २, १२, ४; १, १७६, ६; १, १०४, २; ३, ३४, ६ आदि) में आये हुए 'दास वर्ण' तथा 'आर्य वर्ण' इन दो शब्दों के आधार पर कुछेक पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि ऋग्वेद में अलग-अलग जाति विशेष के अर्थ में वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। परन्तु ऋग्वेद के उक्त उद्धरणों की इससे भिन्न व्याख्या भी सम्भव है और इसलिये यह विषय गम्भीर रूप से विवाद-ग्रस्त है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तथा निरुक्त में वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मणादि वर्णों के लिये ही किया गया है[2]। धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को ही "आर्य[3]" कहा गया है और इन्हें उपनयन का अधिकारी होने के कारण "द्विज" तथा शूद्र को अधिकारी न होने के कारण "एक जाति" कहा गया है[4]। महाभारत में वर्ण शब्द का प्रयोग चारों वर्णों के लिए सामान्य रूप से किया गया है और इन्हें सामान्य रूप से ईश्वर कृत माना है[5]। इस तथ्य के विपरीत कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि ये चारों वर्ण एक ही आर्य प्रजाति से सम्बन्धित थे और इनमें कोई रंग-भेद नहीं था। वस्तुतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सांस्कृतिक और प्रजातीय दृष्टि से एक ही समाज के अंग थे और इसके विपरीत अन्य अनेक प्रजातियाँ अर्ध-आर्य और अनार्य-जातियाँ भारतीय समाज के अंग के रूप में स्वीकार किए जाने पर भी "द्विज" न होने के कारण शूद्र वर्ण में ही गिनी जाती थीं[6]। कहीं-कहीं इन शूद्र जातियों के उद्भव के विषय में यह कहा गया है कि ये अन्तर्वर्णीय विवाह से उत्पन्न हुईं। उदाहरण के लिये क्षत्रिय पिता और शूद्रा मां की सन्तान "यवन" कहलाई और ब्राह्मण से क्रमशः वैश्या मां से उत्पन्न सन्तान "अम्बष्ठ" और शूद्रा में उत्पन्न 'निषाद' कहलायी[7]। वस्तुतः ये कल्पनाएँ निराधर और व्यर्थ हैं। निषाद आदि बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण जन या कबीले जिनके अपने-अपने बड़े-बड़े जनपद थे और जो अपने रीति-रिवाजों और कुल-धर्मों का पालन करते थे, उनके विषय में ऐसी बातों का कौन विश्वास करेगा[8]। महाभारत में निषादों के एक राज्य

१—'वैदिक इण्डैक्स', पुस्तक २ पृ० २४७ आदि। द्रष्टव्य-काणे, २१, पृ० २५ आदि।
२—शतपथ ५, ५, ४, ६ निरुक्त ३, ८ तुलनीय शान्ति १६५, २६।
३—गौतम धर्मसूत्र ६, ११।
४—आपस्तम्ब ध० सू० १. १. १. १६-१८; वसिष्ठ ध० सू० २. २. ४; मनु २. १६६—७२।
५—भीष्म २८, १३ 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'।
६—गौ० ध० १०, ४६—५०; मनु० १०, ४३—४५।
७—बौ० ध० २, ६, १७, २०।
८—डा० रामगोपाल, पृ० ११५।

का वर्णन है। यह राज्य सरस्वती नदी के मुहाने की ओर विन्ध्याचल के पश्चिम में था। रामायण (२, ५०, ३३ आदि) में निषादों की राजधानी शृंगवेरपुर में थी। निषादों का वर्णन वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध है[१]। साख्यायन श्रौतसूत्र (८, २, ८) में निषादों के एक ग्राम का वर्णन है। कात्यायन श्रौ सू० (१, १, १२) में एक निषाद स्थपति का उल्लेख किया गया है। मानव श्रौ सू० (५, १, ६, २९) में निषादपति के लिये एक श्रौत संस्कार का विधान भी है। निरुक्त (३, ८) में और ऋग्वेद (१०, ५३ ४) में पंचजनों की व्याख्या करते हुए चार वर्णों के साथ पाँचवे निषादों की गणना की गयी है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि महाभारत के निषाद, और अन्य तथा कथित शूद्र जातियों में मूलतः अनार्य जन थे जो कालान्तर में आर्य संस्कृति के प्रभाव में आने पर शूद्र कहलाये[२]। महाशय जिम्मर का यह मत है कि शायद कोई महत्वपूर्ण अनार्य जाति शूद्र नाम से प्रसिद्ध थी जिसके पीछे अर्थ विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार सभी अनार्य जातियों के लिये शूद्र पद का ही प्रयोग होने लगा[३]।

वर्ण व्यवस्था के आधार और उसका स्वरूप—

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विज और द्विजेतर विभिन्न वर्णों के प्रस्तुत विभाजन के कारणों में एक कारण नृ-वंश-तत्व सम्बन्ध भी है। परन्तु दूसरा और सम्भवतः अधिक प्रभावी कारण वंशानुसंक्रमित व्यवसायों के आधार पर बने सामाजिक वर्गों का विकास है। यह एक मानी हुई बात है कि समाज में एक ही व्यवसाय के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले लोग आपस में स्वाभाविक रूप से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ हो जाते हैं, उनके वंशज होते हुए भी अन्य व्यवसायों में लगे हुए अन्य लोगों से उनकी उतनी घनिष्ठता नहीं होती। प्रत्येक युग, प्रत्येक देश और प्रत्येक समाज में इस प्रकार के व्यावसायिक वर्ग असंदिग्ध रूप से रहते हैं। परन्तु जब कुछेक परिस्थितियों के कारण समाज में ये व्यवसाय वंशानुक्रमित रूप धारण कर लेते हैं और पीढ़ियों तक उनका वही रूप बना रहता है, तब इस प्रकार के व्यवसायों पर आधारित वृत्तिमूलक वर्ग समाज में पृथक्-पृथक् जातियों का रूप धारण कर लेते हैं। प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का विकास इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में उग्र रूप में विद्यमान सहकार की प्रबल भावना के परिणाम स्वरूप हुआ[४]। ऋग्वेद काल में जबकि समाज में सभी व्यवसाय सम्भवतः वंशानुसंक्रमित रूप धारण नहीं कर पाए थे। भारतीय समाज अर्थात् आर्य और आर्येतर सामाजिक इकाइयों में केवल व्यवसायिक वर्ग ही विद्यमान थे। एक

१—वन ५२, ७८ तथा भीष्म ९।

२—कात्यायन श्रौतसूत्र १२, १, ६; कौशीतकी ब्रा० १५, १५; ऐतरेय ब्रा० ३७, ७; पंचविंश ब्रा० १६, ६, ८, तै० सं० ४, ५, ४, २, कठ० सं० १७, १३।

३—काणे, पृ० १३; मनु ८, ४१३। जिम्मर, पृ० २१६; वेबर १८, ८५ २५५; लुड्-विग, देर ऋग्वेद, ३, २१२; वैदिक इन्डैक्स २, ३६१ आदि।

४—देखिए—आर० सी मजूमदार, कॉर्पोरेट लाइफ इन एंश्यैण्ट इण्डिया, अ० १।

वर्ग में कवि, पुरोहित और ऋषि-मुनि अर्थात् सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मानव समुदाय की गणना की जा सकती है और दूसरे वर्ग में योद्धा और शासकों अर्थात् सैनिक और राजनीतिक व्यवसायों में लगे हुए लोगों की। तीसरे वर्ग में कृषि और पशु-पालन करने वाले तथा व्यापारियों को गिना जा सकता है और चौथे में शिल्पी, कामगार और सेवा शुश्रूषा करने वाले तथा अन्य लोकोपयोगी व्यवसायों में लगे हुए लोगों को। यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं के विकास-काल तक ये व्यावसायिक और वंशानुसंक्रमित भेद वर्णों के रूप में संगठित हो चुके थे और इनमें धीरे-धीरे ब्राह्मण काल और सूत्रकाल में जातीय अभिमान और गुण तथा कर्म के स्थान पर जन्ममूलक जातीयता का प्रभाव आने लगा था। द्विजवंशी होते हुए भी केवल जन्म के आधार पर रथकार का उपनयन आदि के अधिकार से कालान्तर में वंचित किया जाना इस जन्ममूलक जातिवाद का सूचक है[1]। महाभारत काल में वर्णाश्रम व्यवस्था का रूप किसी प्रकार भी कट्टर और कठोर रूढ़ि की दीवारों में नियंत्रित दिखाई नहीं देता। इसके अनेक कारण हैं—महाभारत में वर्णित भौगोलिक सीमाएँ वैदिक कालीन, वैदिकोत्तरकालीन तथा अन्य प्राचीन साहित्य में उपलब्ध भारतवर्ष की सीमाओं की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हैं। पूर्व में कामरूप से पश्चिम में द्वारका और पश्चिमोत्तर दिशा में गान्धार, काम्बोज और वाह्लीक तक, तथा उत्तर में त्रिविष्ट्य से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक विस्तृत देश में बसने वाली विभिन्न प्रजातियाँ इस काल तक एक सी संस्कृति, सभ्यता और वर्ण व्यवस्था के द्वारा संगठित होकर एक नये सांस्कृतिक और सामाजिक सामंजस्य की ओर अग्रसर हो रही थीं। वैदिक काल से परम्परा के रूप में विरासत में प्राप्त हुई धर्म-चक्र प्रवर्तन एक राज्य, सार्वभौम, चक्रवर्तित्व और साम्राज्य के राजनीतिक आदर्शों के परिणामस्वरूप समाज में उग्र राजनीतिक चेतना की लहरें ठाठे मार रही थीं[2]। शताब्दियों से अनेक आक्रान्ता, प्रवासी तथा विजित के रूप में सम्पर्क में आने वाली अनेक आर्येतर जातियों के साथ सम्पर्क और सम्मिश्रण के कारण आर्य प्रजाति की ऐकान्तिकता समाप्त हो चुकी थी और इस काल तक स्वयं आर्यधर्म और आर्य संस्कृति भी आन्तरिक अनिवार्य प्रभावों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप अपनी उस कट्टर ऐकान्तिकता को तिलांजलि दे चुकी थी जिसके दर्शन ब्राह्मण-ग्रन्थों और कर्मकाण्ड-प्रधान साहित्य में होते हैं। ऐसे भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कसिक और राजनीतिक परिप्रेक्षित में किसी भी रूढ़िवादी और प्रतिगामी व्यवस्था का ठहरना सम्भव नहीं हो सकता। वर्ण-व्यवस्था मूलतः प्रगतिशील और सामाजिक एकता तथा परिणाम-स्वरूप राजनीतिक विकास की जननी है। भारतीय ऋषियों ने गुण कर्म और स्वभाव के कारण भानव समाज में पाई जाने वाली पृथक्ताओं को एक ढांचे में ढालने का अनैसर्गिक और व्यर्थ प्रयास नहीं किया, वर्ण-व्यवस्था के रूप में इन पृथकताओं को

१—देखिए—डा० रामगोपाल, वही पृ० ११७।

२—ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय ८।

स्वीकार कर लिया[1]। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों का प्रतिपादन कर दिया गया था[2] और धर्मशास्त्रों तथा महाभारत में उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या भी की गई थी। तो भी यह कहना ठीक नहीं होगा कि गुण और कर्म पर आधारित ये वर्ण जन्म पर आधारित जाति के रूप में भ्रष्ट नहीं हुए थे। वर्ण-विशेष में जन्म लेकर भी भिन्न कर्म को अपनाने वाले अनेक पात्रों के विवरण महाभारत की कथा में विद्यमान हैं। परन्तु जाति-पाँति के भेद की, खान-पान तथा विवाह-शादी सम्बन्धी विशेषताएँ या दुर्गुण महाभारतकालीन समाज में पूर्णतया कठोर और कट्टर रूप में व्याप्त नहीं थे। अनेक ब्राह्मणों तथा अन्य जातियों के द्वारा अनुलोम और प्रतिलोम विवाह किए जाने का उल्लेख है और उस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तानों के बड़े-बड़े गौरव और सम्मान के पदों पर आसीन होने के उदाहरण मिलते हैं। विदुर, युयुत्सु, व्यास तथा पराशर तथा वसिष्ठ आदि की माताएँ निम्न वर्ग की थीं। आचार्य द्रोण जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी एक बड़े अस्त्र-विद्या-विशारद और महारथी थे। महादानी कर्ण तथाकथित अराजन्य होते हुए भी कलिंगराज होकर राजन्य बन गये थे। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खान-पान और विवाह-संस्कार आदि का सम्बन्ध व्यक्ति के घरेलू अर्थात् नितान्त वैयक्तिक जीवन से होने के कारण इससे सार्वजनिक जीवन में कोई व्यावहारिक अव्यवस्था पैदा नहीं होती थी। मनुष्य की उच्चता की कसौटी वस्तुतः निर्मल चरित्र या शील मानी जाती थी, न कि उसका वर्ण या उसकी विद्वत्ता[3]। महाभारत में विद्याहीन ब्राह्मण और रक्षा करने में असमर्थ क्षत्रिय को लकड़ी का हाथी कहा गया है और यह आदेश दिया गया है कि 'जो धर्म या अच्छाई की रक्षा और अधर्म तथा अनिष्ट का विनाश कर सके उसे ही राजा बनाया जाना चाहिये, चाहे फिर वह शूद्र ही क्यों न हो; क्योंकि वह शूद्र डूबते हुए समाज के लिए किनारा और संकट के समुद्र में आश्रयहीन समाज के लिये जहाज ही है। वह उसी सम्मान का अधिकारी है, जो अपने रक्त के लिए उचित ही है[4]। क्योंकि एक वर्ण के सभी व्यक्तियों में एक-सी प्रतिभा और प्रवृत्तियों का होना असम्भव है, उनसे

१—डा० राधाकृष्णन्—'हिन्दू व्यूज आफ लाइफ'।

२—शतपथ ३, ४२, ८। तांड्य ब्रा० १८। २। १९।

३—महाभारत वन २०७, २४; शान्ति ३६, १९; मनु ९, ३२७, १०, ८३; गौतम १०, ३; वनपर्व २०८, २३—

गणिका गर्भसम्भूतौ वसिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्॥
जातो व्यासस्तु कैवर्त्यः श्वयाक्यस्तु पराशरः।
बहवोऽन्येपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः॥

४—वन, अ० १८२; मनु ४, २३४-५।

५—शान्ति ७८, ३५ आदि।

एक जैसे वर्णधर्मों का पालन करते रहने की आशा करना व्यर्थ है। यद्यपि लोग सामाजिक व्यवस्था और परिस्थितियों से प्रेरित और बाध्य होकर अपने-अपने वर्ण धर्म का पालन करते होंगे, परन्तु कभी-कभी जब उसका पालन सर्वथा असम्भव लगता होगा तो वे अपनी रुचि और देश तथा काल की आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखकर स्वेच्छा से या विवश होकर उन कार्यों को भी करते होंगे, जिनका शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार दूसरे वर्णों के लिये विधान किया गया है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के द्वारा प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार अपनी प्रतिभा और परिस्थितियों के अनुसार सफलतापूर्वक जीवन बिताने के उल्लेखों की महाभारत में कमी नहीं है।

आश्रम-व्यवस्था—

समाज के उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में वर्ण व्यवस्था चार पूर्ण सामाजिक वर्गों में विभाजित होने वाली संस्था होते हुए भी पर्याप्त लचीली और उदार थी। इसीलिए चारों वर्णों को एक ही दिशा में आकर्षित करके समाज में ऐक्य और संगठन की भावना को सुदृढ़तर करने वाली एक और संस्था को आर्य-प्रतिभा ने जन्म दिया और यह संस्था थी आश्रम-व्यवस्था। मनुष्य की पूर्ण आयु को १०० वर्ष की मानते हुए उसे चार समान भागों में बांटकर पच्चीस-पच्चीस वर्षों की अवधियां निश्चित करके मानव-जीवन में चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। ये चारों आश्रम थे—१. ब्रह्मचर्याश्रम (शिक्षा काल), २. गृहस्थाश्रम (स्नातक होने पर घरेलू उत्तरदायित्वों का काल), ३. वान-प्रस्थाश्रम (प्रौढ़ होने पर आरण्यक जीवन) तथा, ४. संन्यासाश्रम (निवृत्ति और त्याग का जीवन)। सभी वर्णों के नागरिकों को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के योग्य बनाने के लिये तथा सामाजिक एकरूपता और सामुदायिक जीवन की विपुल सम्भावनाओं के लिए तथा सृजनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त रूप से वृद्धिगत करने के लिए यह व्यवस्था वस्तुतः आदर्श थी।

इस व्यवस्था के मूल प्रेरक तत्त्वों का विचार करते समय यह मानना पड़ेगा कि मानव की सामाजिक प्रवृत्ति और विचारशीलता में ही उक्त व्यवस्था के बीज निहित हैं। हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि सन्तुलन और सामंजस्य निर्माण करने की प्रवृत्ति भारतीयों की सांस्कृतिक विशेषता है। इतिहास के आरम्भकाल में 'जनों' और विभिन्न जातीय और व्यावसायिक वर्गों में विभक्त समाज के नैसर्गिक आन्तरिक भेदों और अन्तर्विरोधों के अनिष्ट प्रभावों को रोकने के लिए हिन्दू-वर्णाश्रम-व्यवस्था की अपेक्षा और अधिक सफल व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्णों के परस्पर संघर्ष और विरोध को दूर करने के लिए संगठित और सामुदायिक रूप में ही मानव की शक्तियों का चरम विकास सम्भव होता है। इस प्रकार विकसित हुए धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों तथा मूल्य दृष्टियों ने सभी वर्गों को पृथक्-पृथक् अपने-अपने धर्म का ही पालन प्रत्येक दशा में करने के लिए प्रेरित किया[1] और इस प्रकार

१—श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ —भीष्म २७, ३५।

समाज को वह व्यवस्था और स्थायित्व प्रदान किया जो उसकी विशेष राजनीतिक चेतना और आर्थिक प्रगति के लिए वरदान सिद्ध हुआ। तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों की प्रगति के लिए व्यक्ति और समष्टिगत व्यवहार में आवश्यक मानव स्वतन्त्रता की हानि इस व्यवस्था के द्वारा कदापि नहीं हुई। अपितु यही दृष्टिगोचर होता है कि विभिन्नता में एकता के सिद्धान्त के अनुरूप हमारे समाजशास्त्रियों ने समाज के विभिन्न और परस्पर विरोधी वर्गों को इस वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता और आर्थिक वन्धुत्व का एक आधार देकर एक "व्यवस्था" के सूत्र में विभिन्न मनकों की तरह पिरो दिया यह व्यवस्था "अविरोधी धर्म[1]" अथवा वर्णाश्रित धर्म वह प्रभावशाली संस्था है जिसने सैकड़ों-हजारों आचार-विचार-संस्कार वाली जातीय और प्रजा जातीय इकाइयों को मोटे तौर पर केवल चार भागों में संगठित करके रख दिया है। डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार हिन्दू समाज के इस संगठन को अस्पष्ट, विस्तृत और जटिल स्वरूप वाले हिन्दू धर्म की सर्वोत्तम परिभाषा कहा है[2]। एक धर्म, एक संस्कृति और एक मातृ-भूमि, भारतवर्ष के प्रति अगाध श्रद्धा, आदर तथा पूजा का भाव महाभारत की समाज व्यवस्था का वह संयोजक सूत्र है, जिसके कारण यहाँ की समाज व्यवस्था के ढांचे में उस सामर्थ्य की सृष्टि हुई दृष्टिगोचर होती है, जिसके कारण विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों को अपनी-अपनी धारणाओं, परम्पराओं और ध्येयों के अनुरूप विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देने तथा समाज और राज्य के द्वारा इस स्वतन्त्रता का अपहरण करने की अपेक्षा इसको संरक्षण और मान्यता दिए जाने पर हिन्दू समाज की आन्तरिक एकता को कभी हानि नहीं पहुंची। सर हर्बर्ट रिजले ने भारतवर्ष की इस आन्तरिक एकता को स्वीकार किया है[3] तथा महाशय वैलेण्टीन चिरोल ने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"हिन्दू धर्म के नरम और सूक्ष्म तत्वों ने प्रागैतिहासिक युग में ही असंख्य विभिन्न जातियों के सर्वथा विपरीत विश्वासों और रीति-रिवाजों को मिला-कर एक रूप दिया है। यह रूप इतना लचीला है कि इसमें भारत के अधिकांश मूल निवासियों को भी स्थान प्राप्त है और यह इतना कठोर भी है कि हिन्दू आर्यों का प्रभुत्व वना हुआ है[4]।

हिन्दू समाज का राजनीतिक राष्ट्र के नाते उदय—

भारतीय सामाजिक संगठन के प्रस्तुत प्रसंग में वर्णित ये सभी संस्थायें कोई आदर्श कल्पना—विलासी नहीं है और न ही पुरोहितों और कवियों की व्यावसायिक और काल्पनिक वृत्ति कही जा सकती हैं। ये सव प्रकार से नितान्त भौतिक, ऐतिहासिक

१—महाभारत शान्ति अ० ६०-६३।
२—रा० कु० मुकर्जी, 'हिन्दू सभ्यता', पृ० ६१।
३—हर्बर्ट रिजले, 'दी पीपुल्स आफ इण्डिया'।
४—इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू—१९२१ पृ० ४२-४३—वैलेण्टीन चिरोल।

तथा यथार्थ हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् ने यह स्वीकार किया है कि भारतवर्ष और हिन्दू धर्म का शरीर और आत्मा की तरह घनिष्ठ सम्बन्ध है[1]। हिन्दू धर्म ने समस्त भारतवर्ष को दृढ़ और स्थायी सांस्कृतिक एकता प्रदान की है। भारत की यह आत्म-संस्कृति, हिन्दू धर्म या वर्णाश्रम धर्म, यहाँ का सबसे विशिष्ट और एकता लाने वाला गुण है[2]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि महाभारत कालीन भारतवर्ष को राजनीतिक दृष्टि से एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में संगठित होने का गौरव न भी प्रदान किया जाय (यद्यपि महान् अशोक के साम्राज्य-काल में भारतवर्ष को यह ऐतिहासिक गौरव प्राप्त हो चुका है) तो भी सांस्कृतिक दृष्टि से, सम्पूर्ण भारतीय समाज में एकसूत्रता और एक व्यवस्था तब तक कायम हो चुकी थी। इस ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करने के कारण ही अनेक पाश्चात्य विद्वान् भारतीय समाज, संस्कृति, सभ्यता और नैतिकता आदि के विषय में अनेक अर्धसत्यों और असत्यों की स्थापना करने की प्रवंचना के पात्र बने हैं। हाप्किन्स की ये धारणाएँ कि केवल ऊँचे वर्ण के लोगों को ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी, आर्य विजेताओं के द्वारा विजित जातियाँ राजनीतिक इकाई की अंग बन जाने पर भी सामाजिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित रहीं और सामाजिक जीवन में आत्म-सात् नहीं हो पाईं, महाभारत कालीन समाज के अभिजात वर्ग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण ही स्वार्थवश सम्पूर्ण सत्ता पर हावी हो चुके थे, बेचारे सामान्य नागरिक और दास (शूद्र) वर्ग उनके शोषण और अत्याचारों के कारण दुरवस्था में थे। ब्राह्मण जाति धार्मिक ज्ञान के कारण आदरणीय और पुरोहितों के रूप में प्रायः वैयक्तिक रूप में कुछ समर्थ होते हुए भी सामाजिक रूप में प्रायः प्रायश्चित्ती और भिखारी लोगों की नीची जाति थी। क्षत्रियों का सम्पूर्ण सैनिक और राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार था और वह ब्राह्मणों और उनके शास्त्रों की तनिक भी परवाह नहीं करते थे, और उनकी इस निरंकुश प्रवृत्ति की कोई सीमा नहीं थीं। वे लूटमार और शोषण पर ही निर्वाह करते थे, दास और पशु तुल्य माने जाने वाले शूद्रों को सम्पत्ति का कोई अधिकार नहीं था और उनकी स्त्रियाँ तक केवल नाम को ही उनकी होती थीं' इत्यादि इत्यादि महाभारत कालीन भारतीय समाज व्यवस्था और संस्कृति के इतिहास और वैज्ञानिक विवेचन के नाम पर जो घिनौना चित्र प्रस्तुत करती हैं उनकी समीक्षा के लिये एक पृथक् पुस्तक अपेक्षित है। इन आरोपों की व्यर्थता और इनके पीछे छिपी परछिद्रान्वेषण परायण धूर्त पाण्डित्य-वृद्धि भारतीय मात्र के लिये अपमानजनक होते हुए अक्षम्य तो है ही वह उस श्वेत जाति के उत्तरदायित्व वाली उपनिवेशवादी मनोवृत्ति की भी परिचायक है,

---

१—इंगलैंड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, जे० रेम्वे मैक्डौनल्ड, डा० रा० कु० मुकर्जी कृत 'दि फण्डामेण्टल यूनिटी आव् इण्डिया' की भूमिका।

२—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, द्वारा अनूदित, डा० मुकर्जी कृत—'हिन्दू सिविलाइजेशन' का हिन्दू सभ्यता नामक संस्करण (१९५८) पृ० ६१।

जिसकी छीछालेदर स्वयं हाप्किन्स के ही देश अमरीका में स्वामी विवेकानन्द के द्वारा हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज-व्यवस्था तथा राजनीतिक जीवन की विशेष प्रवृत्तियों पर दिये गये व्याख्यानों के द्वारा की गई। इसके अतिरिक्त गत डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के विषय में जो शतावधि पुस्तकें अनेक अधिकारी और अनधिकारी पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वानों के द्वारा लिखी गई हैं[1], उनमें से कुछ विद्वानों के मत यहाँ संक्षेप में उद्धृत कर देने से ही हाप्किन्स तथा अन्य शेरिंग, मेन तथा सेनार्ट आदि पाश्चात्यों की भ्रामक सम्मतियों की वास्तविकता सामने आ जायगी। भारतवर्ष में १५ वर्ष तक पादरी के रूप में सेवा करते हुए सभी वर्ण और जातियों के हिन्दुओं के साथ सम्पर्क में आने के पश्चात् विख्यात विद्वान् एब्बेदुवोस ने १५० वर्ष पहले भारतीय लोगों के चरित्र, आचार और रीति-रिवाजों का वर्णन किया था। जिसका अंग्रेजी अनुवाद सन् १९१७ में लन्दन से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में वे कहते हैं—"मेरे विचार में हिन्दू राष्ट्रों की वर्ण (जाति)-व्यवस्था हिन्दू विधान की सबसे अधिक श्रेयस्कर उपलब्धि है। मेरी यह दृढ़ आस्था है कि यदि भारतीय लोग कभी भी बर्बरता की अवस्था में निमग्न नहीं हुए और यदि उस काल में भी भारतवर्ष ने अपना मस्तक उन्नत रखा जबकि प्राय: संपूर्ण यूरोप बर्बरता की उस भयानक खाई में डूब गया था और इसके विपरीत उस (भारत) ने अपने विज्ञानों, विद्याओं, कलाओं और सभ्यता का संरक्षण और सम्वर्द्धन किया तो इस महान् उत्कर्ष का सम्पूर्ण श्रेय उसकी वर्ण-व्यवस्था को है।" उन्होंने अनेक पृष्ठों में अपने उक्त वक्तव्य की समीचीनता का विवेचन किया है। इसी प्रकार की हिन्दू समाज-व्यवस्था की प्रशंसा महाशय "सिडनी लो" ने अपने ग्रंथ, "विजन आफ इण्डिया" में की है (द्वितीय संस्करण (१९०७), पृ० २६२–६३) और इसके कल्याणमय पक्ष को विशेषता देते हुये वह घोषणा करते हैं कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय समाज को राजनीतिक धक्कों और प्राकृतिक विप्लवों के लिए सजीव, सबल तथा सुसंगठित बनाने वाली मूल-भूत स्थिरता और धैर्य का प्रमुख कारण यहाँ की वर्ण-व्यवस्था ही है। यह व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य को समाज में उसका स्थान, आजीविका, जीवन-प्रणाली और उसकी अपनी मित्र-मण्डली देती है। यह उसे प्रारम्भ से ही एक सुघटित संगठन की सदस्यता प्रदान करती है। यह उसे आजीवन सामाजिक ईर्ष्या और अपूर्ण आँकाक्षाओं के सड़ते हुए नासूर से निरन्तर बचाती रहती है। यह उसे दूसरों के प्रति भाईचारे की और जातीयता की भावना का ध्रुव वरदान देती है। हिन्दू नागरिकों के लिए जाति या वर्ण की संस्था उसका अपना "क्लब" है, उसकी "ट्रेड यूनियन" है, उसकी हितकारी एवं लोकोपकारक परोपकारी संस्था है। भारतवर्ष में दरिद्रालय नहीं है और न अभी उनकी कोई आवश्यकता ही है।" इसके अतिरिक्त महाशय फिक का मत है

१—इस विषय पर प्रमुख पुस्तकों की सूची के लिये देखिये—हिस्ट्री आव धर्म-शास्त्र, भाग २, पृ० १९–२०, पाद-टिप्पणी।

कि अनेक विद्वान् वर्णव्यवस्था के हजारों वर्षों से चले आये अनुभव सिद्ध वरदानों की ओर इसलिए दुर्लक्ष्य कर बैठे हैं, क्योंकि उनके सामने १९वीं और २० वीं शताब्दियों के "यन्त्र युग" "में प्रकट हुए इस व्यवस्था के दोष ही अधिक सामने दिखायी देते हैं।"[1]

सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन विभिन्न मतों की समीक्षा

यूनानियों के आक्रमणों के समय में विद्यमान भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा का वर्णन करने वाले मैगस्थनीज, दियोदोरस, एरियन और स्ट्रैबो आदि मनीषियों के उद्धरणों को संकलित करने वाले अंग्रेज विद्वान् मैक्क्रिंडल ने जो कुछ लिखा है वह संक्षेप में यह है कि यूनानियों के आक्रमणकाल (४००–५०० ई० पूर्व) में भारतवर्ष में निम्न सामाजिक इकाइयाँ अथवा वर्ग वर्तमान थे[2]। १–ब्राह्मण और २–कृषक (किसान) जिनकी संख्या अन्य सभी वर्गों से अधिक थी और इस वर्ग के लोग युद्धों में भाग नहीं लेते थे और अन्य सार्वजनिक सेवाओं में भी सम्मिलित नहीं होते थे। वे कृषि में ही अपना समय लगाते थे। इनकी फसलों को शत्रु भी हानि नहीं पहुँचाते थे, क्योंकि प्रत्येक की दृष्टि में कृषक वर्ग को सार्वजनिक हित के साधक और अक्षुण्ण भूमि की समृद्धि के जनक माना जाता था[3]। ३–गोपाल और गडरिये, ये बड़े भारी शिकारी होते थे और ग्रामों में नहीं रहते थे। ४–मिश्रित जातियाँ, ये लोग शिल्पी और औजार बनाने वाले लोग थे। इन्हें राजा को कर नहीं देना पड़ता था और राजकोष से इन्हें अनाज दिया जाता था[4]। ५–योद्धा अर्थात् क्षत्रिय। ६–अध्यक्षगण अर्थात् सम्भवतया राज्य के शासन में सहायता देने वाले (सहायाः) राजपुरुष और अधिकारी। ७–अमात्यगण और न्यायाधीश।

यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत-सम्बन्धी विपुल ऐतिहासिक सामग्री तो मैगस्थनीज आदि विद्वानों की कृतियों के लुप्त हो जाने के कारण आज उपलब्ध ही नहीं है। उद्धरणों के रूप में अन्य दिओदोरस आदि विद्वानों द्वारा संगृहीत जो भी साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनकी प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता सर्वथा संशयातीत है। अतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि यूनानी लेखकों द्वारा परिगणित भारतीय सामाजिक वर्ग और उनका क्रम ही यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि हाप्किन्स के द्वारा प्रस्तुत महाभारतकालीन भारतीय समाज-व्यवस्था की व्याख्याएँ अनर्गल प्रलाप और परस्पर विरोधी हैं। साथ ही यूनानी विद्वानों के ये उल्लेख बहुत अंशों में महाभारत के ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक पक्षों के अनुकूल हैं और हमारे तद्विषयक मन्तव्यों के

१—काणे, २, पृ० २० पर उद्धृत।
२—हाप्किन्स पृ० ८०—मैक्क्रिंडल पृ० ४०–४४।
३—दियोदोरस द्वारा उद्धृत 'मैगस्थनीज के विवरण'।
४—'ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्' उद्योग—३३,८०।

के पोषक हैं[१]।

हम पहले ही कह चुके हैं कि वेदोत्तर कालीन युग में पूर्णतया प्रतिष्ठित और रूढ़ होने के पश्चात् अनेक भौगोलिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों से वर्णाश्रम व्यवस्था की कट्टरता महाभारतकाल में दूर होती जा रही थी। इसके विपरीत कुछेक विद्वानों का मत है कि महाभारतकाल में यह व्यवस्था अभी पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हुई थी और व्यापक प्रचार की अपेक्षा रखती थी[२]। यह तब तक क्रमिक विकास की दशाओं में संक्रमण कर रही थी और अपने उस अवान्तरकालीन रूढ़ और विशिष्ट एकान्तस्वरूप को प्राप्त नहीं हो पाई थी। ऑफ्रेक्ट, वेन्फ, मैक्समूलर, मूर, राथ, वेबर और और जिम्मर का भी यही मत है कि वैदिककाल में आर्य और आर्येतर जन-जातियाँ इस प्रकार के वर्णानुसार वर्गीकरण से परिचित नहीं थीं। महाशय सेनार्ट, मैक्डानल और कायगी ने भी इसी मत की पुष्टि की है। किन्तु महाशय हाग, कर्म और लुड्विग का कहना है कि वैदिककाल में वर्णाश्रम व्यवस्था अस्तित्व को प्राप्त हो गई थी। श्री औल्डनवर्ग और गैल्डनर भी इसी मत के समर्थक हैं। महाशय लुडविग का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था भारत-ईरानी युग की संस्था है। ईरानी समाज भी चार वर्गों (पिश्त्र) में विभाजित था। ये थे:—

१—अथ्रव (पुरोहित सं० अथर्व)
२—रथेस्थ (योद्धा सं० रथेष्ठा:)
३—वास्त्रिय फ्शौयन्त (कुलमुख्य)
४—हिन्ती (श्रमिक)[४]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेग काल में ही वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज के संगठन का श्रीगणेश हो चुका था। महाशय घोषाल का मत है कि 'चाहे चारों वर्णों की सत्ता अति प्राचीन संहिताकाल में भी रही हो किन्तु ऋग्वेद-संहिता के संग्रथन के अन्तिम चरण में वर्ण व्यवस्था अपने व्यवस्थित और कट्टर रूप में परिणत हो गयी थी। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल (१०. ९०. १२–१३) में वर्णों की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन और अथर्व वेद संहिता (१९, ६, ६) में उसी का पुनः समर्थन इस बात का प्रमाण है। वर्णों की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार

१—समाज के उक्त सात वर्गों में पहले और पाँचवें वर्ग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अनुरूप हैं। दूसरे और तीसरे वर्गों से वैश्य और चौथे से शूद्र वर्ण की प्रतीति होती है। छठे और सातवें में वर्णित अध्यक्ष और अमात्यों को शायद मैगस्थनीज ने इसलिए पृथक् जाति समझ लिया होगा क्योंकि उसे इनके वंशानुसंक्रमित होने का पता लगा होगा।

२—नगेन्द्र नाथ घोष, पृ० ४।

३—श्री आशुतोष मुकर्जी सिलवर जुबिली वाल्यूम्स, पुस्तक ३, पृ० ३६१–४०४।

४—लुड्विग, 'देर ऋग्वेद' ३, २४३–४; सेनार्ट, कास्ट पृ० १४० से आगे।

वर्णों की पृथक् ऊँच-नीच और वर्ण धर्मों (कार्यों) की शास्त्रीय व्यवस्था तो केवल यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में ही प्राप्त होती है।[1]

महाशय घोषाल का मत है कि वैदिक संहिताओं में, ऋग्वेद से अथर्ववेद तक एक सर्वशक्तिशाली दिव्य व्यवस्था (ऋत, व्रत, धामन्) और एक सर्वभौम धर्म, इन परस्पर सम्बद्ध दो तत्वों के सामान्य सार्वजनीक रूप में सर्वव्यापक होने की मान्यता प्राप्त होती है। यही मान्यता आगे चलकर भारतीय समाज-व्यवस्था पर भी लागू हो गई है और इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था की तीन विशेषताएँ दिखाई देती है। इस वर्ण व्यवस्था के वर्णन का पहला तात्पर्य यह है कि मानव समाज का विकास मानव जाति के विस्तार के साथ साथ सम्पन्न होता है। भौगोलिक और राजनीतिक सीमाएं मानव समाज को अपने परिवेश में नहीं वांध सकतीं। दूसरे, समाज एक दिव्य संस्था है, इसकी उत्पत्ति का मूल, दिव्य स्रोत में निहित है न कि किसी मानव सत्ता में। तीसरे, इस उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार चारों वर्णों की पृथक्ता और उनकी उत्पत्ति के क्रम से ब्राह्मणादि वर्णों की अनुपूर्विक श्रेष्ठता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। ब्राह्मण क्षत्रिय से क्षत्रिय वैश्य से और वैश्य शूद्र से श्रेष्ठ है[2]।

वर्ण-व्यवस्था की वस्तु स्थिति—

हमारा यह निवेदन है कि ब्राह्मणादि वर्णों के वर्णगत धर्मों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों को उनकी दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त के अनुसार कभी महत्ता प्राप्त नहीं होती। 'दिव्य उत्पत्ति' आदि आधुनिक शब्दों का प्राचीन युग की मान्यताओं के विषय में प्रयोग करते समय हमें विशेष सावधानी वरतनी चाहिए और अपने मस्तिष्क को पूर्वाग्रहों से युक्त रखकर निर्णय देना चाहिए। हमें यह कहने की आदत पड़ गयी है कि केवल ब्राह्मण ही पुरोहित हो सकते थे, उन्हें ही वेद पढ़ने का अधिकार था जवकि हमें कहना यह चाहिए और यही कहना तर्क सम्मत भी है कि जो वेदों के ज्ञाता और अध्यापक थे तथा जो पुरोहित का कार्य करने की योग्यता रखते थे, वही ब्राह्मण कहलाते थे। कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होने से ही वैदिक विद्वान् और पुरोहित हो जाते हों यह बात वस्तुतः ठीक नहीं है। ब्राह्मण पिता के द्वारा सवर्ण अर्थात् ब्राह्मणी या असवर्ण माता की सन्तान होना पर्याप्त गणनीय होते हुए भी नितान्त गौण माना गया है[3]। यहाँ तक कि यज्ञ में दीक्षित क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण का सा वेष धारण करते हैं और

१—ए हिस्ट्री आव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० १६।

२—वही, पृ० २०।

३—द्रष्टव्य किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन् वेधं स पिता स पितामहः॥
—कठ० ३०, १, मैत्रायणी ४८, १, १०७, ६।

ब्राह्मण ही हो जाते हैं और माने जाते हैं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दू धारणा के अनुसार वर्णों में कोई तात्त्विक अन्तर या भेद नहीं है।

परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि महाभारत-काल तक सिद्धान्त रूप से गुण और कर्म के आधार पर प्रवृत्त हुई वर्ण-व्यवस्था जन्म और पेशे के आधार पर मानी जाने लगी थी। यद्यपि उस काल में चार ही वर्ण माने गये हैं तथा अन्य अनेक जातियों को वर्ण-संकरता के कारण उत्पन्न बतलाया गया है किन्तु यह स्पष्ट है कि अनेक आर्य और आर्येतर प्रजातियों के सामाजिक व्यवस्था में आत्मसात् होने से भी अनेक जातियों का जन्म हुआ[2]।

(१) जन्म से जाति का माना जाना (२) अपनी ही जाति में शादी विवाह (३) अपनी जाति के ही आजीविका के साधनों का नियमित रूप से अपनाना, तथा (४) खान-पान की रुकावटें और जाति के कारण ऊँच-नीच का निर्णय ये सभी बातें जो वर्ण-व्यवस्था के वर्तमान विकृतस्वरूप 'जाति-व्यवस्था' में आजकल देखी जाती हैं वे किसी न किसी रूप में महाभारत में भी थोड़े-बहुत रूप में पाई जाती हैं यद्यपि उनका रूप इतना रूढ़, कठोर और क्रूर नहीं है। अनेक तथाकथित हीन जातियों से सम्बन्ध रखने वाले कर्ण (सूत) और विदुर (शूद्र) जैसे व्यक्तियों के स्पृहणीय गौरव और प्रतिष्ठा पा सकने के ऐतिहासिक साक्ष्यों से इस कथन की पुष्टि होती है और यह सिद्ध होता है कि शील और सदाचार के विशेष गुणों से ही प्रधानतया लोगों की जाति का निर्णय किया जाता था और मानवमात्र की मूलभूत समानता में पक्का विश्वास महाभारत के तत्त्व दर्शन की आधारभूमि थी।

श्रम-विभाजन-मूलक बौद्धमत

महाभारत के समकालीन अन्य साहित्यिक साक्ष्यों की ओर हम यथास्थान संकेत कर चुके हैं। अब वर्ण-व्यवस्था के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध वर्णन पर विचार करना नितान्त उपादेय और बोधक रहेगा। हमारा विश्वास है कि इसके द्वारा हमें वस्तुस्थिति के अधिक निकट पहुँचने में सहायता मिलेगी।

मानव तथा मानव की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त बड़े मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् बुद्ध ने अपने दो ब्राह्मण शिष्यों का समाधान करने के लिए मानव की उत्पत्ति और मान-

१—शतपथ ३, २, १, ३६ प्रभृति; ऐतरेय ७, १६, ७, २३, कात्यायन श्रौ० सू० ६, ४, १२।

२—द्रष्टव्य शान्ति पर्व २६७, ७-६।

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपोघृणा। दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे तु दृश्यते लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते। सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः॥
वाङ्मैथुनमथो जन्ममरणं च समं नृणाम्। तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

वीय समाज-व्यवस्था के उद्‌गम और विकास की चर्चा बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से की है[1]। वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित वर्णों की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त को चुनौती देते हुए यहां यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्यों ने अपने दिव्य स्वभाव से भ्रष्ट होकर चोरी, निन्दा, असत्य और हिंसा जैसे दोषों से सामाजिक जीवन के भ्रष्ट कर दिए जाने पर समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए, दोषों का दमन करने का उत्तर-दायित्व सौंपकर और इसके बदले में कर देते रहने का आश्वासन देकर, अपने बीच से ही एक सुन्दरतम तथा सुयोग्य महासामन्त व्यक्ति को राजा और खत्तिय (खेतों का स्वामी) चुन लिया। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ग की उत्पत्ति हुई। यहीं से समाज के वर्गों में विभाजित होने का सूत्रपात हुआ। कुछेक लोग मनुष्यों के पापों से निर्विण्ण होकर ध्यान लगाने के लिए वन में चले गये और कुछ नगरों और ग्रामों के बाहर ग्रन्थों का निर्माण करने और अध्यापन में लग गये। इन्हें ही ब्राह्मण, झायक (ध्यायक) और 'अज्झापक' (अध्यापक) कहा जाने लगा। दूसरे लोग जिन्होंने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया और वाणिज्य में कुशल होगये वे 'वेस्स' (वैश्य) कहलाये तथा इसके अतिरिक्त मृगया, शिल्प तथा अन्य पेशों से आजीविका चलाने वाले लोग शूद्र कहलाने लगे। भगवान् बुद्ध का मत है कि इन वर्णों की उत्पत्ति एक जैसे उन्हीं (दिव्य और देदीप्य-मान) मनुष्यों से ही हुई, अन्यों से नहीं, वे मनुष्य सर्वथा समान ही थे, असमान नहीं और यह सब धर्म्म (धर्म) के अनुकूल हुआ, प्रतिकूल नहीं। इहलोक और परलोक में मनुष्यों के द्वारा धर्म के ही सर्वोच्च माने जाने के कारण, इस धर्म के गुण के द्वारा आचार दोषों को दूर करने वाला तथा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाला भिक्षु ही सब वर्णों में सर्वश्रेष्ठ है, चाहे उसने किसी भी वर्ण में जन्म लिया हो। इस प्रकार बौद्धों के मत में एक मूल अभिन्न समाज में से ही श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के अनुसार कर्मों के आधार पर अनेक वर्णों की उत्पत्ति हुई। इस सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता का प्रतिपादन करने के लिए ही विकासवाद के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत यह माना गया कि मनुष्य की आदिकालीन प्राकृतिक दशायें देवताओं की तरह पूर्णता की दशा में थीं और धीरे धीरे उनका नैतिक और शारीरिक ह्रास होता गया। इसका कारण मनुष्य का लोभ और अहंकार के वश हो जाना था। इस क्रमिक नैतिक ह्रास के परिणामस्वरूप दिव्य व्यक्तियाँ सामान्य मानवीय शारीरिक विशेषताओं और मानवीय मानसिक दुर्बलताओं से ग्रस्त हो गईं और इसी के परिणामस्वरूप सम्पत्ति, राज्य और समाज ये तीनों संस्थाएं क्रम से अस्तित्व को प्राप्त हुईं। स्पष्ट है कि वैदिक विचारधारा तथा बाद की धर्मशास्त्रीय मान्यताओं की तरह बौद्धमत में समान व्यवस्था की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त की मान्यता नहीं दी गई है और यह मत अनेक दृष्टियों से आलोचनीय होते हुए भी इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह सामान्य प्रवृत्ति है

१—दीर्घ निकाय, पुस्तक ३, ८४-९५ 'अग्गञ्ञसुतान्त' शीर्षक से।

कि मनुष्य अपनी संस्थाओं का आरोप देवताओं में भी कर देते हैं[1] और देवताओं को ही अपनी निजी मानवीय संस्थाओं के विधाता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। सौभाग्य की बात है कि कम से कम बौद्ध इस दृष्टि से कहीं अधिक यथार्थवादी सिद्ध हुए हैं बौद्ध जातकों (बुद्ध भगवान् के द्वारा उपदेश देने के लिए सुनाई गई गाथाओं) में अनेक जातियों से सम्बद्ध पात्रों के चाल-चलन, उस काल के समाज और देश-विशेषों के रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार तथा समाज-व्यवस्था के विषम में प्रकट किये विचारों के अध्ययन से भी हम उस काल की समाज-व्यवस्था से विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं यद्यपि ये जातक साम्प्रदायिक पक्षपात और ब्राह्मण-विरोध की भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण उपदेश देने के उद्देश्य से लिखी गई मनगढ़न्त कहानियों जैसे प्रतीत होते हैं। तो भी इनसे महाभारत के आदर्श और सैद्धान्तिक पक्ष के विपरीत बिल्कुल उल्टा जो जो पहलू सामने जाता है वह यही सिद्ध करता है कि मनुष्य देवता न कभी था, न है, और न होगा ही। उसकी संस्थाएं भी दिव्य न होकर मानवीय होनी अनिवार्य हैं। ऊंचे आदर्श और सिद्धान्त श्रेष्ठ और उन्नत मानवीय जीवन की उपलब्धि के लिए आवश्यक हैं[2]। किन्तु विवेचक विद्वानों की दृष्टि वहीं तक कुंठित नहीं हो जानी चाहिए। महाभारतकालीन समाज का जैसा चित्र नैतिक मूल्यों और सामाजिक संगठन की दृष्टि से सामने आता है उसी के अनुरूप और उसी के लिए उपादेय राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक दर्शन का विकास एक स्वाभाविक तथ्य है।

महामनीषी पाण्डुरंग वामन काणे का[3] मत है कि भारतीय वर्णव्यवस्था जैसी ही जन्म और आजीविका पर आधारित जाति-व्यवस्था प्राचीन काल में फारस, रोम और जापान में भी प्रचलित थी। यूरोप में इस प्रकार की जाति व्यवस्था और उसके आधार पर सामाजिक इकाइयों के ऊंचे और नीचे सामाजिक स्थान का आभास प्लातीन और अरिस्तू की रचनाओं के अध्ययन से भी प्राप्त होता है। प्लोतीन ने मानव की मूलभूत एकता में विश्वास करते हुए भी मानव प्राणी की अनिवार्य भिन्नता को ध्यान में रखते हुए मानव के गुणों के आधार पर उसका तीन वर्गों में विभाजन किया था। प्लातीन ने धातुओं के नामों के प्रयोग के द्वारा मनुष्यों का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने सोना, चांदी और तांबा इन तीन वर्गों में विभाजित किया। अरिस्तू भी मानव प्रकृति की विभिन्नता और उसके आधार पर विभिन्न समाज व्यवस्था और उसके उपयुक्त और उपादेय राजनीतिक व्यवस्था का समर्थक है[4]। वह यह भी मानता है कि यदि विशेष मानव स्वभाव और विशेप समाज व्यवस्था वाले किसी देश विशेष में

१—देखिए—देवताओं का वर्णानुसार वर्गीकरण।

२—मैकियावैली, प्रिंस अ० १८, १३७।

३—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र पु० २ भाग १ पृ० २३।

४—अरिस्तू की राजनीति पृ० ३, १७।

तानाशाही जैसे विकृत व्यवस्था पर आश्रित शासन का अधिकार हो जाये तो वह समाज अस्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि किसी देश की समाज व्यवस्था और मानव स्वभाव भी राजनीतिक और आर्थिक कारणों से प्रभावित होकर विशेष दिशाओं में विकसित होते हैं। अतः इस विषय के अधिक विस्तार में न जाते हुए हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि स्वाभाविक रूप से प्राचीन यूरोप और प्राचीन भारत की समाज व्यवस्थाओं में परिवर्तन और विकास की दिशाएं भिन्न भिन्न रहीं। भारत में विभिन्न वर्ग, वर्णों में और फिर अनेक जातियों में परिवर्तित हो गये जबकि इटली, रोम और ग्रीस आदि देशों में ये छोटे छोटे वर्ग और समुदाय धीरे धीरे कट्टर और कठोर परिसीमाओं को तोड़ कर बड़े वर्गों में विलीन हो गये। परन्तु अरिस्तू से प्रारम्भ होकर मैकियावैली के समय तक के पश्चिमी समाज में तीन विशेष वर्गों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं।

इन तीन वर्गों में पहला वर्ग पुरोहित, विद्वान् एवं धार्मिक व्यक्तियों का है, जिन्हें सभी पाश्चात्य विद्याओं और विज्ञानों के आविष्कार और विकास करने का श्रेय प्राप्त हुआ है[१]। इसी वर्ग के प्रतिनिधि पोप की सत्ता और प्रभाव के विषय में मैकियावैली ने पर्याप्त प्रकाश डाला है और जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह वर्ग अपने उन उन्नत और श्रेष्ट आदर्शों तथा नैतिकता और धार्मिकता के उच्च जीवन मूल्यों से पतित हो गया था और इसी लिए मैकियावली ने उनके प्रभाव को राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि के लिए घातक बतलाया[२]। वह यह मानता है कि धर्म को राजनीति से पृथक् रखा जाना चाहिए और इसीलिए इह वर्ग के प्रभाव को वह राजनीति के क्षेत्र में घातक मानता है। परन्तु इस वर्ग के पर्याप्त प्रभावशाली होने और अनुपेक्षणीय होने का इसी से पता चलता है कि मैकियावैली स्फीर्जा और फर्डीनेन्ड (स्पेन) जैसे नरेशों के उत्कर्ष का प्रमुख कारण इसी वर्ग के आशीर्वाद को मानता है और नरेशों को धर्म की उपेक्षा कम से कम ऊपर से कदापि न करने का आग्रह करता है। परन्तु यह वर्ग और एक दूसरा वर्ग जिसे अभिजात वर्ग कहा जा सकता है, समाज के सर्वाधिकार सम्पन्न श्रीमन्त वर्ग (ररिस्टोक्रेसी) के रूप में मैकियावैली के काल में उसी प्रकार दिखाई देते हैं जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग महाभारत काल के श्रीमन्तवर्ग के अंग हैं[३]।

अरिस्तू की मान्यता के अनुसार इसी वर्ग की विशेषताओं के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि कोई विशेष समाज राजतंत्र के उपयुक्त है, श्रेष्ठजनतन्त्र के योग्य है या वैधानिक शासन के :—१—राजनीतिक नेतृत्व की क्षमता में प्रमुख राजवंश, २—स्वतन्त्रजनों के रूप में शासित होने की योग्यता रखने वाला जन वर्ग और ३—समाज में सम्पन्न जनों में पात्रता के अनुसार शासन पदों को वितरित करने

२—वही, भूमिका ३०।

१—प्रिंस–अध्याय १८ पृ० १४१ अध्याय ११, १८ ओर २६।

२—हापकिन्स पृ० ७५।

वाले नियम (विधान) के अनुसार पर्यायक्रम से शासित होने और शासन करने की योग्यता रखने वाला योद्धावर्ग—इन तीनों की उपस्थिति क्रमशः उपर्युक्त तीन प्रकार के शासनों के लिए आवश्यक शर्त मानी गई है। हम इन शासनों और अपेक्षित योग्यताओं की चर्चा तो यथास्थान करेंगे ही यहाँ हमारा मन्तव्य केवल यह कहने का है कि उक्त तीनों ही वर्गों से जिस राजन्य वर्ग का निर्माण होता है वह प्रचीन भारत और प्राचीन ग्रीस और इटली में समान रूप से विद्यमान था[1]। मैकियावैली ने समाज के दो प्रभावी तत्त्वों अर्थात् श्रीमन्त् वर्ग (अं० नोवल्स) और जनता (अं० पीपुल्स) में से प्रथम वर्ग को राजन्य वर्ग के रूप में माना है। मैकियावैली ने यह उल्लेख किया है कि प्राचीन काल में इस श्रीमन्त वर्ग या अभिजात वर्ग से सम्बन्ध रखना स्पष्ट प्रतिष्ठा और गौरव का कारण माना जाता था। मैकियावैली उच्च कुल से सम्बन्धित होना शासक के लिए एक पर्याप्त आवश्यक और शासितों में उसके प्रतिष्ठा की भावना उत्पन्न करने के लिए उपादेय मानता है। १९ वें अध्ययन में मैक्सीमीनस के घृणित और तिरस्कृत होने और अन्त में मारे जाने के कारणों में वह इस बात का भी उल्लेख करता है कि उसने पहले थ्रेस में भेड़ें चराई थीं और यह बात सबको ज्ञात हो गई थी। जन्म और पेशे के आधार पर ऊँच-नीच की भावना जाति-व्यवस्था की एक विशेषता है यह हम पहले ही कह चुके हैं और यह विशेषता मैकियावैलीकालीन समाज में विद्यमान थी। १९वीं और २०वीं शताब्दियों में यन्त्रयुग के द्वारा आरोपित सामाजिक परिवर्तनों के अस्तित्व में आने से पहले इस प्रकार की सामाजिक संगठन की समानता विश्व के उस काल के सभी सभ्य समाजों में न्यूनाधिक रूप में समान रूप से अवश्य मिलेगी यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है।

तीसरा वर्ग सामान्य जनता का है। सामान्य जनता के प्रति मैकियावैली के दृष्टि-कोण के अध्ययन से सामान्य जनता की स्थिति का बोध होता है। मैकियावैली निर्वा-चित राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ और स्थायी राजतन्त्र मानता है और सामान्य जनता की की शक्ति, सद्‌भावना सद्‌बुद्धि और शक्ति में अटूट विश्वास प्रकट करता है। वह यह स्वीकार करता है कि सामान्य जनता की संख्या, शक्ति, साधन और सामर्थ्य इतने विपुल और प्रचुर होते हैं कि कोई भी एक तंत्र या श्रेष्ठजनतन्त्र उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता[2]। जनता के लक्ष्य बड़े ईमानदार और नैसर्गिक होते हैं वे दमन से बचना चाहते हैं और इसी से सन्तुष्ट रहते हैं। वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, शिल्प और अन्य नौकरीवाले पेशों के उल्लेख और संकेत यह सिद्ध करते हैं कि यह वर्ग भारत के उस वर्ग के ही सदृश है जिसे 'विशः' कहा गया है। वैश्य और शूद्र ये दोनों वर्ण इसी के

१—देखिये—पाणिनिकालीन भारत–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ३, १, ९३ अभिषिक्त वंश क्षत्रिय। शान्ति पर्व २९७, १७–१८ यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा कुल की महत्ता का प्रतिपादन।

२—प्रिंस, अ० ९।

अंग हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय और विश् (जन) इन तीन वर्गों का ही उल्लेख है[1]। प्रस्तुत प्रसंग में महाभारतकार और मैकियावैली के अनुसार मानव स्वभाव और सामाजिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् अब हम यह आवश्यक समझते हैं कि इन दोनों तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को परखा जाय कि भारत और पश्चिम जगत् में 'राज्य' या राजतन्त्र का उदय किस प्रकार हुआ और महाभारतकार की मान्यताएं इस विषय में क्या हैं? क्योंकि राजत्व या राजतन्त्र (अं० किंगशिप, मराठी-पातशाही, उर्दू-बादशाहत) के विषय में वाच्य और व्यंग्य रूपों में प्रस्तुत हुए राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए यह नितान्त आवश्यक है।

राज्य तथा राजतंत्र के उद्गम और विकास के विषय में विभिन्न मत और सिद्धान्त.—

मानव जीवन की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का मूल मानव की मूल सामाजिक प्रवृत्ति में निहित है। अतः सबसे पहली बार शासन-सत्ता का उदय किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए कोई तत्कालीन साक्ष्य न तो उपलब्ध है और न ही कभी ऐसे साक्ष्य के उपलब्ध होने की सम्भावना है। केवल ऐतिहासिक गाथाओं और पौराणिक कथाओं के अनिश्चित धुँधले प्रकाश में ही हम राजनीतिक संगठन के उद्गम और विकास को खोजने का प्रयास कर सकते हैं, किन्तु ऐसे प्रयासों के परिणामस्वरूप प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तों का कम या अधिक मात्रा में लगभग काल्पनिक-सा प्रतीत होना स्वाभाविक है। पिछली दो शताब्दियों में अनेक विद्वान् विचारकों ने राज्य के उद्गम और विकास का अध्नयन करने के लिए विकासवाद के सिद्धान्त और अन्य वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करते हुए कुछेक आदिमयुगीन और असभ्य-सी दशाओं में ही आजकल भी जीवनयापन करने वाली जन-जातियों की जीवन-सारणी के आधार पर कुछेक निष्कर्ष निकाले हैं, परन्तु इन निष्कर्षों और सिद्धान्तों में भी विविधता, परस्पर विरोध और कल्पना-प्रवणता आदि न्यूनताओं को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि ये तथाकथित वैज्ञानिक मत भी पूर्ण और प्रमाण होने की अपेक्षा काल्पनिक ही अधिक हैं। फिर यदि प्राचीनकाल में शासन-सत्ता के उद्गम और विकास के विषय में, पूर्व में और पश्चिम में भी, कल्पना विलासी चमत्कार-प्रधान सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है तो अधिक आश्चर्य की बात नहीं है। मानवीय संस्थाओं को देवताओं से सम्बन्धित करने की सहज प्राचीन प्रवृत्ति की चर्चा हम कर ही चुके हैं। राज्य-संस्था-विषयक विवेचना भी इस नियम का अपवाद नहीं है।

१—ऋग्वेद—८, ३५, १६–१८।

राज्य की उत्पत्ति के विषय में महाभारतकार के मत—

राज्य की उत्पत्ति के विषय में शान्ति पर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व[1] में प्रकट किये गये विचार बड़े महत्त्वपूर्ण और विस्तार से विवेचन करने योग्य हैं। महाभारत युद्ध की समाप्ति होने पर शरशय्या पर पड़े हुए कुरुवंश के मरणासन्न यूलिसीज (Ulysses) पितामह राजर्षि भीष्म की सेवा में सम्राट् धर्म युधिष्ठिर अनेक ऋषियों, ब्राह्मणों, विद्वानों और वीर राजाओं के साथ उपस्थित होते हैं। युधिष्ठिर पूछते हैं कि 'लोक में जो यह राजा शब्द प्रचलित है उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और शारीरिक तथा मानसिक गुण धर्मों से अन्य मनुष्यों के समान होते हुए भी विशिष्ट बुद्धिमान् और शूर व्यक्तियों पर राजा क्यों कर शासन करता हे? शूरवीर और सत्पुरुषों से भरी हुई सारी पृथ्वी का पालन वह अकेला कैसे करता है और किस प्रकार संपूर्ण लोक की प्रसन्नता की कामना करता है? इस एक की प्रसन्नता में सभी की प्रसन्नता और इसकी व्याकुलता में सभी की व्याकुलता निहित होने का क्या कारण है? यह कोई छोटा कारण नहीं होगा क्योंकि इस एक व्यक्ति के सम्मुख सारा समाज (जगत्) ऐसे नत हो जाता है जैसे देवता के सामने।' राजर्षि भीष्म ने इस प्रश्न के उत्तर में बतलाया कि किस प्रकार सत्ययुग मेंराज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। उन्होने कहा फि (राजनीतिक दृष्टि से संगठित होनेसे पहले) समाज में न तो राज्य ही था और न राजा ही, न दण्ड ही था और न ही कोई दण्ड देने वाला, समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करती थी[2]। इस अवस्था के पश्चात् किस प्रकार मनुष्य का पतन हुआ और उसके परिणामस्वरूप किस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का उदय हुआ, इसका वर्णन आगे की पंक्तियों में किया गया है। दीर्घ निकाय[3] में भी राजनीतिक संस्थाओं के उदय से पहले एक ऐसी ही स्वर्णयुगीन प्राकृतिक देशों की कल्पना की गई है। आश्चर्य की ही वात है कि पूर्व की इस स्वर्णिम कल्पना के समान ही आदर्श कल्पनाका चमत्कार हमें प्लेटो की गण-व्यवस्था में भी प्राप्त होता है, क्योंकि प्लेटो ने जैसार मणीय चित्र प्रस्तुत किया है, वास्तविक जगत् में केवल उसकी धूमिल-सी प्रतिकृति ही संभव हो सकती है। अभी १८ वीं शती में रूसो ने भी ऐसे ही स्वर्णयुग की सत्ता में विश्वास प्रकट किया था और यह कहा था कि इस प्रकार की दशा सदियों पहले ही समाप्त हो गई और जब मानव आज के अपूर्ण समाज में केवल उस दशा को, कुछ अंशों में, पर्यावर्तित करने का प्रयास कर सकता है।[4]

इस स्वर्णिम सत्ययुगीन दशा का वर्णन करने के बाद महाभारत में कहा गया है कि इसी प्रकार राजा और न्यायालय के बिना ही "धर्म"[1] के द्वारा एक दूसरे का

१—शान्ति अध्याय ५९।
२—वही ५९, १४।
३—दीर्घ निकाय पु० ३ पृ० ८४–९६
४—आल्टेकर, पृ० १२ पर उद्घृत।

पालन और पोषण करते हुए सब लोग पारस्परिक संरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे। वे मोह के शिकार हो गये, उनका कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान (प्रतिपत्ति), दूर हो गया और उनके धर्म का नाश हो गया। प्रतिपत्ति नष्ट होने के कारण मोह के वश में होकर सब लोग लोभ के चंगुल में फंस गये। जो वस्तुएँ उन्हें प्राप्त नहीं थीं, उन्हें प्राप्त करने की चेष्टाओं में लग पड़े। इस प्रकार वे क्रमशः काम और राग के वशीभूत होकर गम्य-अगम्य, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य और दोष-अदोष अर्थात् कार्य और अकार्य के विषय में वोध से शून्य हो गये (१५-२१) इस प्रकार विप्लव (अव्यवस्था) होने पर परिणामस्वरूप वेदों का ज्ञान (ब्रह्म) नष्ट होने लगा और उसके कारण धर्म लुप्त हो गया। ऐसा होने पर देवता भयभीत होकर ब्रह्मा जी की शरण में गये तथा उनसे रक्षा के लिये प्रार्थना की। ब्रह्म देव ने उक्त परिस्थिति पर विचार करते हुए इसका यह निदान सोचा कि यदि एक "नीतिशास्त्र" (अं० कोड आव् ला) की रचना की जाय और राजा के द्वारा उसके प्रजाओं द्वारा पालन किए जाने का प्रबन्ध किया जाय तो उक्त दुर्भाग्यपूर्ण दशा से मानव समाज को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अतः ब्रह्मा जी ने एक लाख अध्यायों वाला त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) की व्याख्या करने वाला धर्मशास्त्र बनाया। मानव समाज के कल्याण के लिए ब्रह्मा जी के द्वारा रचित इस दण्डनीति शास्त्र को अनेक देवताओं और ऋषियों ने मनुष्य की आयु और सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त किया। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने के अधिकारी व्यक्ति के रूप में अपने तेज से एक मानस-पुत्र की सृष्टि की जिसका नाम "विरजाः" प्रसिद्ध हुआ। परन्तु अभी राज संस्था की सृष्टि पूर्ण नहीं हुई थी, क्योंकि ब्रह्म देव ने राजा के मार्ग दर्शन के लिए "दण्डनीतिशास्त्र" की रचना तो कर दी थी, किन्तु "विरजाः" और उसके वंशजों पर उसका अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ पाया था। महाभाग विरजा ने राजा होने के वाद भी संन्यास लेने का निश्चय किया। उनके पुत्र कीर्तिमान् मोक्ष मार्ग का अवलम्बन करने लगे और कीर्तिमान् के आत्मज कर्दम ने तपस्या प्रारम्भ की। प्रजापति कर्दम के पुत्र अनंग प्रजाओं के रक्षक, साधु और दण्डनीति के विशारद हुए। किन्तु उनके पुत्र अतिवल विशाल राज्य के स्वामी होने पर भी इन्द्रियों के गुलाम बन गये। इनके पुत्र वेन राग-द्वेष के वश होकर प्रजाओं पर धर्म के विरुद्ध अत्याचार करने लगे और इन्हें (उनकी इस निरंकुशता का दण्ड देने के लिए) ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाओं से मार डाला। इनके पुत्र "पृथु" वेदों और वेदांगों के ज्ञाता, धनुर्वेद में पारंगत शास्त्रविद्या और नीतिशास्त्र के ज्ञाता हुए। वे बड़े साधु और नम्र थे। महर्षियों ने उसकी (पृथु की) प्रार्थना पर उसे नियमपूर्वक धर्म के अनुरूप काम करने, प्रिय और अप्रिय का विचार छोड़कर, काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर हटाकर सब के साथ समान व्यवहार करने तथा निरन्तर धर्म पर ही दृष्टि रखते हुए, जो भी कोई व्यक्ति धर्म के विरुद्ध आचरण करे उसे अपने वाहुवल से परास्त करके दण्ड देने का आदेश दिया (१०३-५)। पृथु ने सार्वभौम ब्रह्म (वेद) का पालन करने, निःशंक होकर

दण्डनीति से सम्बन्धित धर्म के अनुरूप आचरण करने, कभी स्वच्छन्द न होने, ब्राह्मणों को दण्ड न देने और वर्ण-संकरता तथा कर्म संकरता से समाज की रक्षा करने की प्रतिज्ञा ली (१०६–७)। इसके पश्चात् वैदिक ज्ञान के भण्डार शुक्राचार्य उसके पुरोहित बने। वालखिल्य और सारस्वत्य ऋषिगण ने उसके मंत्रि-पदों का कार्य संभाला और भगवान् गर्ग उसके दरवार के ज्योतिषी नियुक्त हुए। देवताओं, ऋषियों और प्रजापालों तथा ब्राह्मणों ने उसका राज्याभिषेक किया। उसके राजा होते ही सारी वसुन्धरा धन-धान्य की समृद्धि से भर गई। सभी को अपनी-अपनी अभिष्ट वस्तुएं प्राप्त हुईं और इस प्रकार उसने धर्म की प्रधानता की स्थापना की और साथ ही प्रजाओं का रञ्जन भी किया। इसीलिए वह "राजा" कहलाया।

राजा और राज्य की उत्पत्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त के पूरक के रूप में शान्ति पर्व में ही प्राप्त दूसरे सिद्धान्त की[1] चर्चा कर देना महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय में अभिव्यक्त मन्तव्यों को समग्र रूप में समझने के लिए आवश्यक है। इस दूसरे वर्णन में महाभारतकार का अभिप्राय उन जनपदों के निवासियों को उपदेश देना प्रतीत होता है जो "अराजक" थे अर्थात् श्रेणितंत्र, गणतन्त्र या श्रेष्ठजन तत्त्व आदि प्राचीन काल की पद्धतियों के अनुसार जिनमें शासन-व्यवस्था चलती थी और उनके यहाँ कोई अभिषिक्त "राजा" नहीं था। ऐसे दुर्बल राज्यों में अपने ही किसी नागरिक या किसी आक्रान्त राजा तक का भी स्वागत करते हुए उसके सामने नत मस्तक होकर उसे अपने यहाँ राजा बना लेने का उपदेश देते हुए तथा यदि राजा आक्रान्ता भी हो तो उसका प्रतिरोध करके विनाश का खतरा मोल न लेने का अनुरोध करते हुए कहा गया है कि "अराजक राष्ट्रों में धर्म की स्थिति नहीं रहती। अतः वहाँ के लोग एक दूसरे को हड़पने लगते हैं, जहाँ अराजकता हो ऐसे राष्ट्रों को सर्वथा धिक्कार है तथा ऐसे राज्य में निवास ही नहीं करना चाहिए। आगे कहा गया है कि यदि धन और स्त्रियों के वलात् अपहरण, दासता, दस्युता, डाकेजनी से वचना हो और ऐसी अवस्था करनी हो कि जिसमें अधिक बलवान् लोग अपेक्षाकृत दुर्बलों को न खा जायें तो दण्डधारक राजा की सत्ता नितान्त आवश्यक है (१२–१६)। इससे आगे पितामह के आदेश के द्वारा महाराज मनु के विश्व के सबसे पहले राजा बनाये जाने का वर्णन करने से पहले पहले कहा गया है कि "ऐसा सुना है कि पूर्व काल में राजा न होने पर सब लोग आपस में, जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं उसी प्रकार, दुर्वलों को लूटते-खाते हुए नष्ट हो रहे थे। सुना गया है कि ऐसी स्थिति में सब लोग एकत्रित हुए और उन्होंने मिलकर फैसला किया (समयान् चक्रुः) कि हम लोगों में जो निष्ठुर बोलने वाला, भयानक दण्ड देने वाला (दण्डपरुषः), पर स्त्रीगामी तथा पराये धन का अपहरण करने वाला हो, ऐसे सब लोगों को हमें समाज से वहिष्कृत कर देना चाहिए। सभी वर्णों के लोगों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए सभी के लिए सामान्य (अविशेषतः) यह नियम बताकर वे सब लोग इस नियम के

१—शान्तिपर्व ६७, २–३९।

अनुसार सुख से रहने लगे (१७–१९)। कुछ समय तक इस प्रकार काम चलता रहा किन्तु आगे चलकर फिर अव्यवस्था फैल गई। तब दुःख से आर्त्त (पीड़ित और व्याकुल) होकर सब लोग मिलकर (सहिताः) पितामह के (ब्रह्मा जी) के पास गये और प्रार्थना की कि भगवन् ! हम लोग तो राजा के बिना नष्ट हुए जा रहे हैं। आप हमें कोई राजा दीजिए, जो शासन करने में समर्थ हो, हमारा निरन्तर पालन करता रहे और हम मिलकर जिसका सम्मान करें। पितामह ने मनु को आज्ञा दी किन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुए। मनु ने कहा—मैं पाप कर्म से डरता हूँ। राज्य करना बड़ा ही दूभर कार्य है। विशेषकर इसलिए कि मनुष्य सदा मिथ्याचरण करने वाले होते हैं (२०–२२) मनु का राज्याधिकार संभालने के लिए जनता ने उसके साथ एक अनुबन्ध किया और उन्हें आश्वासन दिलाया कि वे डरें नहीं। उसी समय सन्तों न प्रतिज्ञा की "हम आपके कोश की वृद्धि के लिए पशुओं और सुवर्ण (बहुमूल्य उपज) का पचासवां भाग और धान्य (सामान्य फसल) का दसवाँ भाग कर के रूप में देंगे। हमारे प्रधान-प्रधान मनुष्य अपने प्रमुख शस्त्रों और वाहनों से आपका साथ देंगे। इस प्रकार प्रबल (जातबलः) दुर्जय्य (दुष्प्रधर्षः) और प्रतापी होकर आप हमें सुरक्षित और सुख से रखेंगे। इससे आगे कहा गया है कि" अंशुमाली सूर्य के समान विजय-यात्रा के लिए निकले हुए मनु के प्रताप से आतंकित होकर सब लोग अपने-अपने धर्म में मन लगाने लगे (२९–३१) पृथ्वी पर व्याप्त होकर वर्षा करने वाले मेघ के समान मनु ने अपनी विजय यात्रा में पापाचारियों को शान्त कर दिया और उन्हें अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों में लगा दिया।

राज्य की उत्पत्ति के उक्त महाभारतीय वर्णन के सामान्य सर्वेक्षण से जिन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, उन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार से अंकित किया जा सकता है:—

१—महाभारत जिस राजनीतिक दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है उसके अनुसार राज्य एक दिव्य संस्था मानी जाती थी।

२—राज्य की उत्पत्ति का यह निगमात्मक सिद्धान्त ही वैदिक साहित्य और धर्मशास्त्रों के समान महाभारत में भी राजा की प्रभु-शक्ति का आधार है।

३—राज्य की उत्पत्ति के परम्परा-प्राप्त इतिहास में यह प्रतिपादन किया गया है कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से संगठित होने के पहले अनेक सामाजिक इकाइयाँ मानवीय प्रकृति की धर्मशीलता के कारण आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हुए सुख से रहती थीं, परन्तु सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ अनेक नई 'सम्पत्ति, 'गृहस्थ' 'विवाह' आदि संस्थाओं से उत्पन्न जटिल परिस्थितियों में किसी नियामक दण्ड-शक्ति के बिना जीवन दूभर हो गया था, अतः राजशाही की उत्पत्ति एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

४—अराजकता को दूर करने के लिए स्वयं प्रजाओं ने राज्यसत्ता की स्थापना और उसके अनुशासन का पालन करने तथा उसे नियमित कर और सैनिक देने की

प्रतिज्ञा और अनुवन्ध किया था। अतः वह राजाज्ञाओं का सम्मान करने के लिए बाध्य है।

५—उक्त अनुवन्ध एकांगी नहीं है, क्योंकि प्रजाओं के द्वारा राजपद और धन-धान्य तथा सैन्य बल राजा को दिव्य विधान अर्थात् कानून या धर्म के अनुसार समाज में व्यवस्था की स्थापना के लिए दिया गया है। दिव्य आदेश के अनुसार राजा की नियुक्ति, प्रतिज्ञा-('प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व') पूर्वक रक्षा का उत्तरदायित्व सम्हालने के लिए की गई है। अतः राजा अराजकता और मात्स्यन्याय की स्थिति को दूर करके प्रजा के धन-धान्य, नारियों के समान और वर्णाश्रम धर्म के[1] अनुसार जीवन की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए बाध्य है।

६—पितामह ब्रह्मा ने समाज की सर्वांगीण रक्षा और लोगों के द्वारा धर्म, अर्थ और काम की सरलतापूर्वक साधना की व्यवस्था करने के लिए दण्डनीति की रचना की है और इस दिव्य विधान को कार्यान्वित करने के लिए ही निमित्त कारण के रूप में राज-पद-की उद्भावना की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा उस धर्म का स्वयं पालन करने और प्रजा से उसका पालन कराने वाली व्यवस्थापक सत्ता है। वह स्वच्छन्द और निरंकुश न होकर (स्ववशो न कदाचन ५९, १०७) दण्डनीति से सम्वन्धित शाश्वत धर्म का निःशंक पालन करने और कराने के लिए वचनवद्ध है।

७—राजा का कर्त्तव्य है कि वह धर्म के साधक कार्यों को निर्भय होकर करे, धर्म का पालन न करने वाले अपराधियों को दण्ड दे तथा सभी प्राणियों से न्यायपूर्ण समान व्यवहार करे और यह देखे कि लोक में कोई धर्म से विचलित न हो। अतः सिद्धान्ततः राजा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कदापि नहीं है[2]। संयमशीलता और न्यायपरायणता उसके कर्मठ जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं।

८—प्रजाओं की व्यक्तिगत सुरक्षा और उनकी समाज-व्यवस्था के स्थायित्व के लिए 'दण्ड' (निग्रहात्मक शक्ति अं० प्यूनिटिक पावर) का प्रयोग करने वाला राजा जिस अनुपात में दण्ड धर्म का पालन करता है उसी के अनुसार कृत युग, त्रेता. द्वापर और कलियुग आदि 'काल' की सृष्टि होती है अतः वह अपनी उत्पत्ति के क्रम के अनुसार ही सर्वहितकारी राज्य की सृष्टि के लिए जनता का सेवक तथा धर्मशील होने के लिए बाध्य है[3]।

हिन्दू राजतंत्र का वास्तविक स्वरूप

यहाँ यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि राज्य की दिव्य उत्पत्ति का सिद्धान्त ईसाई धर्मशास्त्रों के प्रभाव के कारण संपूर्ण यूरोप में भी विशेषतः मध्ययुग

१—दे० अर्थशास्त्र अध्याय ३; मनु० अ० ७; याज्ञवल्क्य अ० १।
२—शान्ति, ५९, १०४।
३—वही, ५९, ५४।

में बड़े व्यापक रूप से प्रचलित था और जिसके अनुसार राजा को भगवान् का अभिषिक्त प्रतिनिधि माना जाता था और वह अपने इसी दिव्य अधिकार के अनुसार शासन करता था। इस्लाम धर्म में भी राज्य की दिव्य उत्पत्ति का सिद्धान्त ही मान्य है और इसके अनुसार राजा को ईश्वर की छाया माना जाता है[1]।

दैवी उत्पत्ति का तात्पर्य

महाभारत में भी राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन है किन्तु इसके विश्लेषण से हम नितान्त भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। राज्य की उत्पत्ति से पहले जिस सुवर्ण युग तथा सुरक्षा और सुख से पूर्ण धर्म-शासन की सत्ता में विश्वास प्रकट किया गया है उसका यही तर्क-सम्मत तात्पर्य हो सकता है कि महाभारत के अनुसार समाज के संगठन का अस्तित्व राज्य की उत्पत्ति से पूर्वकालीन है। यह मन्तव्य उसी प्रकार नितान्त समीचीन है जिस प्रकार भाषा की उत्पत्ति पहले हो जाने पर ही बाद में उसके आधार पर तथा उसी के हित के लिए व्याकरण-शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। दूसरी बात यह है कि सुदूर अति प्राचीन काल में चाहे अतिरमणीय आदर्श सुवर्ण युग की शान्तिपूर्ण परिस्थितियाँ रही हो या अतीव अनवस्थायुक्त, अराजकतापूर्ण मात्स्य न्याय (अं० रूल आव् जंगल) की-सी परिस्थितियाँ, वर्तमान काल के हाब्स और लाक[2] जैसे विद्वानों की तरह इस विषय के सोद्देश्य किन्तु निराधार ऊहापोह के पचड़े में न पड़ते हुए, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हिन्दू राजनीतिक चिन्तन के अनुसार यह एक शाश्वत मान्यता है कि मानव समाज के सुव्यवस्थित अस्तित्व और सर्वांगीण विकास के लिए राज्य एक अनिवार्यतया आवश्यक संस्था है। अराजक समाजों का समाज के नाते अस्तित्व सदैव संशयारूढ़ रहा है[3]। अतः मानव के सामाजिक और राजनीतिक संगठन दोनों ही इतने ही पुराने, नित्य और सनातन हैं जितनी स्वयं मानव-सृष्टि। मानव की नैसर्गिक मूल प्रवृत्तियों में ही सामाजिक और राजनीतिक तत्त्व सहचर के रूप में उद्भूत हुए हैं। हम ऐसे किसी काल की कल्पना ही नहीं कर सकते जब मानव किसी न किसी सत्ता के द्वारा शासित हुए बिना किसी भी प्रकार रहा हो। अतः दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त को इसी परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। कुछेक विद्वान् लेखकों ने उक्त सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कहने का मन्तव्य राजा को अपने उद्भव, स्वरूप और सामर्थ्य के लिए देवताओं के ही प्रति ऋणी और उत्तरदायी होने तथा प्रजाओं द्वारा राजा की आज्ञाओं का, चाहे फिर वह राजा कैसे ही क्यों न हो, केवल नत मस्तक होकर पालन करने के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये हैं[4]। किन्तु इस प्रकार के अनुमान कोरी कष्ट कल्पनायें ही है।

१—आल्टेकर, पृ० १३।
२—शान्ति ५९, १४।
३—शान्ति ६७, १२-१६।
४—देखिए घोषाल, पृ० १९३-२०१।

राज्य की उत्पत्ति के विषय में दिए गये दोनों ही विवरणों में (शान्ति ५९वें ६७वें अध्यायों में) एक तथ्य समानरूप से सुनिर्दिष्ट किया गया है कि हिन्दू मान्यता के अनुसार एक तो राजा की प्रभुता 'धर्म' की सर्वभौम सत्ता के द्वारा सीमित है और दूसरे सीमित होने का कारण वह अनुवन्ध और प्रतिज्ञाएँ हैं, जिनके अनुसार राजा समाज-व्यवस्था की रक्षा और जन सामान्य के सुख और समृद्धि के लिए न्यायशील शासन करने के निए बाध्य है और प्रजा उसे कर देने तथा उसके लिए सैनिक जुटाने के लिए। कौटलीय अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रों में भी महाभारत की ही तरह प्रजाओं द्वारा दिए हुए कर को राजा की भृति या वेतन कहा गया है जो उसे केवल इसलिए दी जाती है कि वह समाज की रक्षा का प्रबन्ध करे[1]।

सीमित राजतंत्र

राज्य की उत्पत्ति का यही सिद्धान्त प्रायः इसी रूप में बौद्ध ग्रन्थों में भी वर्णित है[2]। बौद्ध अनीश्वरवादी हैं, इस लिए दीर्घनिकाय में ब्रह्मदेव और पितामह दण्डनीति या त्रैवर्ग का कोई उल्लेख नहीं है। इसमें कहा गया है कि धर्म, शान्ति और सुख से पूर्ण रमणीय दशाओं में रहने वाले दिव्य, प्रकाशमय आदि मानवों की वैयक्तिक और सामाजिक दशाओं में ह्रास होते-होते, लोभ, मोह और काम-क्रोध आदि दुर्गुणों के कारण अराजकता और विप्लव की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। तव परेशान होकर लोगों ने एक गुणवान्, बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्ति (महाजन सम्य) को अपने राजा के रूप में अराजकता को दूर करने के लिए चुना और उसके कार्य के बदले में उसे अपने धान्य का एक अंश देने का अनुवन्ध किया। इस प्रकार इस प्रसंग में बौद्ध और महाभारतीय मान्यताओं की तुलनात्मक समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि 'दिव्य उत्पत्ति', (डिवाइन ओरिजिन) 'दिव्य अधिकार' (डिवाइन राइट) तथा 'सामाजिक अनुवन्ध' (सोशल काण्ट्रैक्ट) आदि पारिभाषिक शब्दों को प्राचीन भारत की राजनीतिक मान्यताओं के सन्दर्भ में उन्हीं अर्थों में पढ़ने का प्रयास प्राचीन मूल पाठों में नवीन अर्थ खोजने के समान ही है। हमें यदि नवीन पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करने की ही अनुमति दी जाय तो हम यही कहेंगे कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों के द्वारा भारतीय राज संस्था का जो रूप सामने आता है, वह है, जिसको आश्चर्य काशी प्रसाद जयसवाल ने 'सीमित राजतंत्र' (अं० लिमिटेड मोनार्की) और डा० वि० प्र० वर्मा ने 'वृत राजतंत्र' (अं० इलैक्टिव किंगशिप) की संज्ञा दी है।

राज्य की उत्पत्ति के विषय में जिस अनुवन्ध की चर्चा महाभारत में आई है वह ऐसा नहीं है, जिसके अनुसार सभी उत्तरदायित्व केवल जनता पर ही आरोपित रहें और राजा उनसे मुक्त रहे, जैसा कि हाव्स में पाते हैं। क्योंकि हाव्स के मत में मात्स्य-

---

१—'षड्भागभृती राजा रक्षेद् प्रजाम्' बौ० च० सू० १, १०, १६

२—दीर्घ निकाय पुस्तक ३, ८४-९६ (आर्यदेव और आर्यशूर)।

न्याय की दशा से तंग आकर लोगों ने अपने सभी अधिकार शासक को स्वयं सौंप दिए और क्योंकि उन्होंने स्वयं ही यह अनुवन्ध किया था राज्य दूसरे पक्ष के रूप में उनके प्रति उत्तरदायी नहीं बना। महाभारत में वर्णित अनुवन्ध इस प्रकार एकांगी नहीं है। वह प्रारम्भिक राजा को असीमित प्रभुता नहीं प्रदान करता और यदि अनुवन्ध से नहीं तो पैतामह त्रैवर्ग धर्मग्रन्थ के द्वारा राजा की प्रभुता सर्वथा सीमित कर दी गई है।

लाक ने मूल अनुवन्ध के नियमों को राजा के लिए नियामक सिद्ध किया है, उसी प्रकार हिन्दू राजा की प्रभुता भी मूल दिव्य धर्म के नियमों के द्वारा सीमित कर दी गई है। इस प्रकार आधुनिकता राजनीतिशास्त्रियों के मतों से महाभारत के उक्त दो विवरणों की संक्षिप्त तुलना करने से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि लगभग २५०० वर्ष पूर्व अति प्राचीनकाल में प्रतिपादित किये जाने पर भी ये मत पर्याप्त विवेचनीय और सत्य के अत्यधिक निकट है। पश्चिम में तो राज्य की उत्पत्ति के विषय में सोपेयतिक चिन्तन ही सुधार-आन्दोलन के परवर्ती युग में प्रारम्भ हुआ। जिनमें हाब्स, लाक और रूसों के मत ही अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें हाब्स और लाक ने अनुबन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए क्रमशः जनता पर ही और राजा पर ही अनुवन्ध के लिए उत्तरदायी होने का प्रतिपादन किया है[1]। रूसो महाशय का कथन है कि अराजकता की दशा से मुक्ति पाने के लिए नहीं, अपितु प्रकृति-युग में उपलब्ध और उपभोग्य अधिकारी की रक्षा के लिए ही राज्य-संस्था का संगठन हुआ[2]। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रीस और रोम में राज्य की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त या अनुवन्ध के द्वारा राज-संस्था के उदय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

ईसाइयों की विख्यात धर्म-पुस्तक न्यूटैस्टामैण्ट में ऐपौसिल पाल ने शासन सत्ता को एक दिव्य संस्था प्रतिपादित किया है और ईश्वर की आज्ञा के पालन के समान राजा की आज्ञा क़ा पालन करने का उपदेश दिया हैं, क्योंकि राज्य का उद्देश्य न्याय की व्यवस्था करना है। ईसाई गिरजे के अनेक फादर-वर्ग जैसे सन्त ऐम्ब्रोज तथा सन्त इसीदोर आदि विचारकों ने उक्त सन्त मत का ही समर्थन किया और इसके पश्चात् ग्रिगोरी महान् ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में दिव्य अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया[3]। यह दिव्य अधिकार का सिद्धान्त लगभग १७ वीं शताब्दी में राजा के

१—कौकर, रीडिंग्स इन पोलिटिकल फिलासफी, पृ० ४७८।

२—रूसो, 'डिस्कोर्सेज आन इनइक्वलिटी'—।

३—द्रष्टव्य–कालयिल, ए० जे० तथा आर० डवल्यू०, 'ए हिस्ट्री आफ् मैडीवल पोलिटिकल थियरी इन दी वेस्ट' पु० १, पृ० ९० (एपोसिल पोल) पु० १ पृ० १५२–३ तथा १६१ आगे (क्रिश्चियन फादर्स), पु० ३ पृ० ११६ (नवीं शताब्दी के लेखक) वही, ११५ और आगे (१४ वीं तथा,१५ वीं शती के लेखक)। जे० एन० फ़िगिस, 'दी डिवाइन राइट औफ किंग्स' (द्वितीय संस्करण) ह० ५–६।

असीमित निरंकुश अधिकारों का समर्थन करने वाला सिद्धान्त बन गया था[1]। मैकियावैली १५ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और १६ वीं शताब्दी के पहले चरण में अपने राजतन्त्र विषयक विचारों की दृष्टि से अपने युग की विचार धारा से पर्याप्त प्रभावित हुआ होगा।

मैकियावैली की राज्य-विषयक धारणाओं से तुलना—

मैकियावैली उक्त सैद्धान्तिक विवेचनों और उनके आधार पर राज्य की उत्पत्ति और विकास तथा उसके अधिकार और कर्त्तव्यों का वर्णन करने और अपने आपको राजनीतिक दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करता। वह एक राजनीतिक विचारक और कुशल प्रशासक की तरह जो कुछ वस्तुतः दुनियाँ में होता आया है, हो रहा है और हो सकता हैं उसी के आधार पर अपने राज्य-विषयक विचारों का प्रतिपादन करता है। राज्यों के उदय, विस्तार और विकास तथा ह्रास आदि के विषय में उसकी मान्यताएँ यथार्थवादी हैं[2]। वह राज्य-सत्ता को मानव के सर्वोपरि हित के लिए आवश्यक मानता है फिर चाहे वह राज-तंत्रीय हो या गणतंत्रीय। दिव्य उत्पत्ति और दिव्य अधिकार की पारम्परिक धर्माचार्यों वाली मान्यतायें मैकियावैली को स्वीकार्य नही हैं। वह वंशानुसंक्रमित या किसी अभिजात या सामान्य व्यक्ति के द्वारा स्थापित राज्य को एक-सी ही मान्यता प्रदान करता है और सभी राज्यों के विकास और समृद्धि के लिये सामान्य उपायों का निर्देशन करता है। वह राज्य के उदय, सुरक्षा और विस्तार के लिए मानवीय प्रयत्नों पर ही निर्भर रहना उचित समझता है और राज्य को एक मानवीय और लौकिक संस्था मानता है (अ० २४)। धर्म-राज्यों के विषय में अभिव्यक्त किये उसके विचारों से यह स्पष्ट हैं कि वह उनका प्रशंसक नहीं है और लौकिक तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य-व्यवस्था का पोषक है (अ० ११) उसने इस प्रकार के राज्यों का वर्णन किया है जिनमें राजा द्वारा संचालित नये नियमों की अपेक्षा प्राचीनकाल से चली आई पारस्परिक नीतियों और रीतिरिवाजों तथा रूढ़ियों के अनुसार व्यवस्था चलती आई हो (अ० ४)। मैकियावैली के राजनीतिक चिन्तन के सागोपांग अध्ययन का सारांश यही है कि वह राज्य-उत्पत्ति को सामाजिक व्यवस्था की ही तरह चिरन्तन और अवश्यंभावी मानता है। मानव की स्वाभाविक बुराई में विश्वास करने के कारण वह किसी ऐसी प्राकृतिक सुवर्णयुगीन व्यवस्था का पोषक नहीं हो सकता जिसका आधार मानव प्राणी की सहज धर्मपरायणता, परोपकार भावना और न्यायशीलता को माना जाय। वह तो यह मानता है कि राज्य की दण्ड-व्यवस्था के भय से ही मनुष्य शिष्टाचार और सदाचार का पालन करते हैं। वे स्वभाव से तो बड़े लोभी, धोखेबाज, कायर और कुटिल होते हैं। अतः लोगों से राज्य की आज्ञाओं का पालन

१—२–एफ० कर्न, 'किंगशिप एण्ड लौ इन दी मिडिल एजज,' आक्सफोर्ड, (१९४८), पृ० ५।

२—प्रिंस अध्याय १—३।

कराने के लिए वह शासन के गुणों, सेना, कोशबल तथा प्रशासन-चातुर्य को आवश्यक मानता है (१८) और राजा की निरंकुशता का परिहार करने के लिए उसकी तुलना में प्रजा की असीम संख्या, शक्ति और सामर्थ्य को सबसे बड़ा नियामक तत्त्व मानता है (अ० ११)। महाभारत की तरह मैकियावैली भी अराजकता की निन्दा करता है और विशेष मानव-समाजके विशिष्ट गुणों, साधनों और सामर्थ्य के आधार पर उनके लिए राजतंत्र या गणतंत्र-पद्धतियों के द्वारा शासन चलाये जाने की सिफारिश करता है। (अ० ६)। इससे यह स्पष्ट हैं कि मैकियावैली के ये विचार मानव और मानवीय योग्यता के अनुसार राज्य-व्यवस्था का समर्थन करने वाले अरिस्तू के विचारों से प्रभावित हैं[1]।

१—दे० अरिस्तू की राजनीति, पृ० २८३ और आगे।

तृतीय अध्याय

महाभारतीय राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

- धर्म की संप्रभुता का सिद्धान्त ।
- धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन का सिद्धान्त-मूलस्रोत महाभारत ।
- राजतंत्र का वैधानिक आधार ।
- शासक-सत्ता की नैतिकता का ऐतिहासिक पक्ष ।
- 'गीता' वैधानिक-नैतिक जीवन का आधार ।
- राजा की न्यायशीलता और विशालहृदयता का सिद्धान्त ।
- भारतीय राजतंत्र मानवीय और लौकिक संस्था या 'संवैधानिक राजतंत्र' ।
- तुलनात्मक अध्ययन के लिये मैकियावेली के वैधानिक निरंकुश राजतंत्र की समीक्षा ।
- महाभारतकार और मैकियावेली के तत्त्वदर्शन में अन्तर ।

तृतीय अध्याय

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

महाभारत के राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उस जीवनदर्शन, नीति-बोध या बुद्धि-विवेक का संक्षेप में विचार कर लिया जावे जिसके द्वारा भारतीयों के अपनी शासन-सत्ता के प्रति विशेष दृष्टिकोण का नियमन हुआ है। महाभारत के सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक दोनों ही पक्षों के अनुशीलन से प्राप्त हुई ज्ञानराशि के द्वारा हिन्दू राज्य में शासन-सत्ता और शासित जनता के आपसी सम्बन्धों, अधिकारों, और कार्यों और उत्तरदायित्वों के स्वरूप का निर्धारण करने वाली मूल दार्शनिक मान्यताओं पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। महाभारत के "सम्पूर्ण राजधर्म" की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राजनीतिक दर्शन मानव समाज से राजसंस्था के प्रति किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता है और उसका हेतु और प्रयोजन क्या है ? तथा वह कौन से तत्त्व हैं जो व्यावहारिक रूप में राज-सत्ता पर नियन्त्रण रखते हुये उसे उचित आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं ?

धर्म को संप्रभुता का सिद्धान्त

महाभारत में राज्य की उत्पत्ति, विकास और लक्ष्य आदि का प्रतिपादन करने वाले अनेक सिद्धान्त वाक्यों के आलोक में व्यापक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सभी नैतिक गुणों का प्रकाशन सामाजिक जीवन की परिधि में होता है। व्यक्तिगत सुरक्षा और व्यक्ति के गुणों एवं योग्यता का उच्चतम विकास एक ऐसी समाज व्यवस्था में ही सम्भव है, जो स्थायी, आन्तरिक और बाह्य विप्लवों तथा उनकी सम्भावनाओं से मुक्त तथा सर्वहितकारी हो[1]। आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा की इसी आवश्यकता ने मानव की सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक (अर्थात् अर्थ और काम के) क्षेत्रों में नियोजनपूर्वक एक व्यवस्था की स्थापना करने के लिये प्रेरित किया है। मानव जीवन को समग्र रूप से व्याप्त कर लेने वाले इन तीनों क्षेत्रों में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों एवं शक्तियों का परस्पर संघर्ष अनादि काल से चला आ रहा है। भारतीय तत्त्व दर्शन में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों (सम्पदाओं) का यह संघर्ष 'अस्तित्व' के

१—शान्तिपर्व, अ० ५९ तथा ६७।

लिये संघर्ष (अं० स्ट्रगल फार एग्जिस्टैंस) वाला संघर्ष नहीं है। यह तो वह संघर्ष है जो व्यष्टि और समष्टिगत सभी धरातलों पर नये-नये परिधानों में विभिन्न कालों और देशों में निरन्तर चलता रहा है, चल रहा है और चलता रहेगा। महाभारत के सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक पक्षों में महाभारतकार ने इसी शाश्वत सत्य से परिचित कराने का सफल प्रयास किया है कि धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय एवं अच्छाई और बुराई में एक सार्वभौम संघर्ष मानव-जीवन की अनुल्लंघनीय वास्तविकता है। असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से जीवन की ओर बढ़ने की दैवी प्रेरणा मानव को क्रमशः सामाजिक और राजनीतिक घटकों के रूप में संगठित होकर एक व्यवस्था को जन्म देने के लिये प्रेरित करती है। क्योंकि सत्य, न्याय, नैतिकता और सदाचार अथवा इन सभी को एक ही नाम में संजो लेने वाले 'धर्म' (वैदिक 'ऋत') की रक्षा के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है[१]।

'धर्म' का व्यष्टिगत और समष्टिगत तात्पर्य

महाभारतकार का मत है कि मानव स्वभाव में ही काम, क्रोध, लोभ एवं मान तथा मोह आदि के रूप में सदैव विद्यमान आसुरी प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त 'धर्म को युद्ध करने के लिए चुनौती देती रहती हैं। इस शाश्वत 'महाभारत' में धर्म की विजय निश्चित है। अन्तिम विजय धर्म की ही होती है। धर्म के पालन करने वालों की रक्षा स्वयं धर्म ही करता है क्योंकि हम मानव जीवन में जो कुछ न्याय रूप से चाह सकते हैं उसकी पूर्ति निश्चित रूप से धर्म से होती है। नैतिक एवं सांस्कृतिक कल्याण (धर्म), आर्थिक समृद्धि (अर्थ), यही नहीं, यौन भावात्मक और कलात्मक मूल प्रवृत्तियों एवं कामनाओं (काम) तक की सन्तुष्टि धर्म के ही अनुसार सम्भव है[२]। समाज के एक सदस्य के नाते और व्यक्तिगत रूप में मनुष्य के व्यवहार और चेष्टाओं का नियमन करने वाला आचारशास्त्र एवं जीवन पद्धति ही धर्म है[३]। इसी के द्वारा मनुष्य का क्रमिक विकास सम्भव है और इसी के द्वारा

१—'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'-कर्ण पर्व ६९, ५८। द्रष्टव्य—'सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति।' अथर्व० १२, १, १; तुलनीय—'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति'—आदि, ऋग्० ४, २३, ८–१० तथा १०, १३३, ६; द्रष्टव्य–डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, 'नेचर आव् दि कन्सेप्ट आव् धर्म एण्ड इट्स इन्फ्लुएंस आन हिन्दू पालिटिकल फिलासफी', जे० बी० आर० एस०, जून १९५२, पृ० २९४–७; ए० बी० सुखथानकर, 'आन दि मीनिंग आफ् दि महाभारत, पृ० ९३।

२—"ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किंन सेव्यते॥" महाभारत का अन्तिम वाक्य।

३—'आचारप्रभवो धर्मः', अनुशासन १०४, १५७; द्रष्टव्य-मनु० २, १२, 'आचारः परमो धर्मः'।

मनुष्य मानवीय सत्ता के आदर्श एवं उच्चतम ध्येय को प्राप्त करने के योग्य बन सकता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में 'धर्म की संप्रभुता' का सिद्धान्त इसी पृष्ठभूमि में माननीय हैं। यह स्वाभाविक है कि धर्म के अनुसार व्यवस्था करने तथा सुरक्षा का प्रबन्ध करने वाली सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति से सदैव यह अपेक्षा रखें कि वह इनके प्रति श्रद्धा और आज्ञापालन का भाव बनाये रखे और उसी के अनुसार आचरण करे। व्यवस्था और अनुशासन की यह शर्त अनुल्लंघनीय है क्योंकि व्यक्ति कभी भी संस्था से बड़ा नहीं माना जा सकता। मानव शक्ति का सबसे प्रभावशाली रूप उसकी संगठित सामुदायिक चेतना में से ही उद्भूत होता है। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा ही व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के स्वीकृत उदात्त मार्गों के अनुसार जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों में अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिये प्रयत्न करता है और इस प्रकार उस सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण जीवन की सृष्टि करता है, जिसके बिना स्वयं उसका अपना अस्तित्व भी नहीं रह सकता। इसलिये मानव जीवन के लिये अपेक्षित उपादेय लौकिक परिस्थितियाँ निर्माण करने के लिये संपूर्ण शक्तियों के संगठन की दृष्टि से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, रसोई घर से राजसभा तक, दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक पहलू को नियमित और व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति की तरह संस्था के लिए भी इस व्यवस्था अथवा धर्म के प्रति वफादार रहना और आवश्यकीय उपादेय लौकिक परिस्थितियों की साधिका सिद्ध होना अनिवार्य है। ऐसा न होने की परिस्थिति में धर्म की मर्यादाओं और उत्तरदायित्वों का उल्लंघन करने वाली व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने का व्यक्ति को भी पूर्ण अधिकार है। यह महनीय तत्त्वदर्शन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का मूल मन्त्र है। राजसंस्था, स्वाभाविक रूप से, कभी इसका अपवाद नहीं हो सकती। सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, वर्ण, आश्रम, जाति-प्रजाति आदि की सभी धारणाएं महाभारत के इस लौकिक राजनीतिक चिन्तन में सर्वथा गौण है। तभी तो शांति पर्व में संकट काल में राष्ट्र की रक्षा करने वाला आर्य या आर्येतर, क्षत्रिय अथवा क्षत्रियेतर किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति राजत्व पद का भूषण होने पर महाभारतकार के समर्थन और प्रशंसा का पात्र है[२]। यदि राजा राजत्व की योग्यता से वंचित हो या हो जाये तो महाभारत के इतिहास-पक्ष से यह सिद्ध होता है कि उसे चुनौती और संघर्ष का सामना करना पड़ा। ऐसे संघर्षों में जनता का धर्म का पक्ष ही विजयी रहा है। दुर्योधन की पराजय इस तथ्य का ज्वलन्त निदर्शन है। महाभारत में ऐसे अनेक आधिकारिक कथानक हैं जो धर्म की अवहेलना करने वाले राजाओं के दु:खान्त परिणामों की घोषणा करते हैं। देवापि,

---

१—शान्ति, अ० ७८।

२—घोषाल, पृ० ५३७; ए० वी० सुखधानकर, वही, भा० १; डा० वर्मा, 'हिन्दू राजनीतिक चिन्तन की दार्शनि पृष्ठभूमि', हापकिंस, वही, पृ० १५१।

यदु तथा असमंजस के राज्याभिषेक के लिये जनता के द्वारा स्वीकृत न किए जाने के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राजनीतिक दर्शन ने शासक और शासित के राजनीतिक उत्तरदायित्वों के क्षेत्र में पर्याप्त गम्भीर प्रभाव स्थापित किया है, यद्यपि कुछेक हाप्किंस, विश्वनाथ प्रसाद वर्मा तथा घोषाल आदि विद्वानों ने इस विषय में सहज अनास्था प्रकट की है[1]। पश्चिमी विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत और पुरस्कृत अनुवन्ध सिद्धान्त' के साथ भारतीय राजनीतिक चिन्तन के 'धर्म की संप्रभुता' के सिद्धान्त की तुलना करना आवश्यक होगा, क्योंकि यह पाश्चात्य सिद्धान्त स्वयं अनेक प्रकार से असंगति-दोष से दूषित है[2]।

धर्म का व्यावहारिक-पक्ष

भारतीय धर्म के शास्त्रों (अं० कैनन) के साथ ही साथ प्रथाओं और परम्पराओं पर आधारित होने के कारण तथा इसमें प्रथाओं और परम्पराओं को भी कानूनी मान्यता दे दिये जाने के तथ्य के परिणामस्वरूप भारतीय राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। कुल-धर्मों, जाति-धर्मों तथा श्रेणि-धर्मों को मान्यता दिए जाने के विषय में मनु और महाभारतकार का समर्थन कौटिल्य ने भी किया है। इसका कारण यह है कि कोई भी दर्शन विशेषतः राजनीतिक दर्शन जीवन की परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। विश्व की बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी जन-जीवन में जैसा चाहें वैसा, उसी अनुपात में, परिवर्तन नहीं कर सकती। फिर जिन लोगों की परम्पराओं का आप विरोध और उन्मूलन करते हैं वे इस कार्य को शत्रुता भरा अवश्य समझते हैं। प्रथाओं और परम्पराओं के उन्मूलन का प्रयास अव्यावहारिक और अवांछनीय ही नहीं कई वार बड़ा घातक भी हो सकता है। महाभारत की सन्तुलित, समन्वय और सामंजस्य स्थापित कर विविधता में एकता स्थापित करने की व्यावहारिक प्रतिभा इसलिये अतीत के साथ पूर्ण विद्रोह की अनुमति नहीं। शायद यही इसकी सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिकता का मूल रहस्य भी हैं और इसकी शाश्वत धर्म के रूप में प्रतिष्ठा का मूलमन्त्र भी[3]।

१—दे० महाशय कार्लायल, मेनगोल्ड आफ् लौटेन वैच, जान आफ् सेलिसबरी, आल्थ्यूसियस, रिचार्ड हूकर आदि के द्वारा प्रस्तुत अनुवन्ध-सिद्धान्त पर महाशय आल्टेकर का मत, वही, पृ० १५, 'यह सिद्धान्त असंगत इतिहास और कहीं अधिक असंगत तर्क का उदाहरण।'

२—तुलनीय—मैकियावेली का विजित राज्य के विषय में यह कथन कि विजित लोगों के कानूनों और कर-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए (प्रिंस अं० ३); द्रष्टव्य-बोगार्डस, सोशियोलौजी, पृ० ४७५, 'प्रथायें और परम्परायें जन समूह के द्वारा नियंत्रण की वे पद्धतियाँ हैं, जिन्हें विना सोचे-विचारे मान्यता दे दी जाती है और जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है।'

३—शान्ति ८५, ९–११।

सन्तुलन और सामञ्जस्य

महाभारतकालीन जन-जीवन की उग्र, संघर्षपूर्ण और विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को देखते हुए और महाभारतीय राजनीतिक दर्शन के उक्त वास्तविक और व्यावहारिक परिस्थितियों की देन होने के कारण तथा प्रभुसत्ता के पारस्परिक विकेन्द्रीकरण के प्रभाव से शासक को समाज-व्यवस्था के लिए कानून बनाने और उसमें जैसा चाहे परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया गया है। अर्थात् राजा की प्रभुसत्ता के क्षेत्र में "व्यवस्थापिका शक्ति" का समावेश नहीं किया गया है। सामाजिक व्यवस्था और जनता की शक्ति और संकल्प के इस प्रकार के दूर-गामी प्रभाव भारतीय राजनीतिक दर्शन में पर्याप्त उपलब्ध होते हैं जिनकी चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी (अ० ४)। शान्ति पर्व में राजा की मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की इतनी वड़ी अर्थात् ३७ संख्या और उनमें विभिन्न वर्णों के अनुपात से उनमें जन-तंत्रात्मक तत्त्वों की सत्ता सिद्ध होती है। यहाँ कहा गया है कि इन सैंतीस सदस्यों में वेद के विद्वान्, निर्भीक, वाहर-भीतर से शुद्ध, स्नातक ब्राह्मणों की संख्या ४, बलिष्ठ और शस्त्रधारी क्षत्रियों की ८, धन-धान्य-सम्पन्न वैश्यों की २१, पवित्र आचरण वाले विनयशील शूद्रों की संख्या ३ होनी चाहिए और इनके अतिरिक्त एक लगभग पचास वर्ष की आयु के निर्भीक, दोष-दृष्टि से रहित, श्रुतियों और स्मृतियों के ज्ञाता, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादी के अभियोगों का निपटारा करने में समर्थ, सम्पत्ति और आर्थिक समृद्धि का लोभ न करने वाले तथा व्यसनों से सर्वथा रहित 'सूत' सदस्य की भी नियुक्ति होनी चाहिए[1]। महाभारत-काल के सप्राण राजनीतिक जीवन का प्रतिविम्बन करने वाले अनेक उल्लेख यूनानी यात्रियों के प्राचीन भारत-सम्बन्धी वर्णनों में भी उपलब्ध होते हैं जिनमें अनेक सशक्त गणराज्यों, विशाल राजतन्त्रों और उनकी सबल एवं स्वस्थ परम्पराओं का चित्रण किया गया है[2]। इन साक्ष्यों के आलोक में यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक दर्शन पर लगाये गये पूर्वीय निरंकुशता" (अं० ओरियण्टल डैस्पौटिज्म) आदि के आरोप प्रायः अनैतिहासिक निराधार कल्पनाओं पर ही आधारित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः इन आरोपों और भ्रान्तिपूर्ण कल्पनाओं की सृष्टि उस सन्तुलित दार्शनिक दृश्यभूमिका की ओर दुर्लक्ष्य किए जाने के परिणामस्वरूप हुई है जो प्राचीन भारतीय हिन्दू जीवन का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन का सिद्धान्त—मूलस्रोत महाभारत

वस्तुस्थिति यह है कि संतुलित दार्शनिक दृश्यभूमि ही वस्तुतः सम्पूर्ण

२—द्रष्टव्य, मैक्क्रिडल, 'एंश्येंट इंडिया एज डैस्क्राइब्ड इन क्लासीकल लिटरेचर,' पृ० ४५; स्टैबो, १५, ३७ (५००० समासदों के गणराज्य का वर्णन); मैक्क्रिडल, 'इन्वेजन आव् इंडिया बाइ अलैक्जैंडर दि ग्रेट', पृ० २२४–२३४।

फलमूलक एवं उपादेय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार का सशक्त माध्यम होती है। जीवन की समस्याओं के विषय में धर्ममूलक दार्शनिक दृष्टिकोण से शिक्षित और अनुशासित समाज में ही विभिन्न पेशों का प्रगतिशील संतुलन एवं संतुलित पृष्ठभूमि का निर्माण सम्भव है। तथा सामाजिक शांति और जन-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि समाज की सभी शक्तियों अर्थात् अर्थ के प्रवन्धक और उत्पादक उपकरणों का एक ज्ञान-विज्ञान-सम्मत व्यवस्था (धर्म) के अनुसार संगठन एवं सामंजस्य स्थापित किया जाय। एक पहिये पर गाड़ी नहीं चलती। धर्म और अर्थ ही मानव जीवन के मनोरथ के दो चक्र हैं, इनमें भी धर्म के द्वारा ही आर्थिक उपलब्धियों के सम्भव होने के कारण धर्म ही प्रधान है और इसी लिए जिस प्रकार की सुसम्वद्ध समाज-व्यवस्था की ओर हमने अभी संकेत किया है, इसे महाभारत में 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' का नाम दिया गया है। यह धर्म-चक्र अशोक के राज-चिह्नों में भी है और महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं में धर्म-चक्र की स्थापना ही प्रतिपाद्य विषय है। पितामह भीष्म के 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' की परम्परा का ही शायद बुद्ध भगवान् ने निर्वाह किया है।[1]

शान्ति पर्व (५९ वें अध्याय) में महाराज पृथु के पिता वेन के ब्राह्मणों द्वारा मारे जाने का उल्लेख इस बात का साक्षी है कि महाभारत के राजतन्त्र के दार्शनिक आधार के अनुसार सर्वोच्च प्रभु-सत्ता न तो राजा में निहित है और न किसी वर्ग-विशेप में, वह "धर्म" में निहित है और इस शाश्वत धर्म का उल्लंघन करने वाला चाहे शासक हो या शासित उसका दण्डभागी होना न्याय्य है। प्रजा की सद्भावना और श्रद्धा को राज्य का सर्वश्रेष्ठ संरक्षक मानते हुए शान्ति पर्व में नर-दुर्ग को सबसे अधिक अजय्य कहा गया है। समाज की घृणा और अपमान को शासक के ध्रुव विनाश का मूल कारण मानते हुए मैकियावैली ने भी उन नरेशों को मूर्ख कहा है जो राज्य की सुरक्षा के लिए वड़ी-बड़ी सेनाएँ और दुर्गों का निर्माण करते हैं किन्तु शासित जनता की घृणा और तिरस्कार से बचने का प्रयास नहीं करते[2]। राजा के निरंकुश अधिकार की वात कहने वाले महानुभाव विचारक यह क्यों भूल जाते हैं कि निरंकुश सत्ता और दुर्दम्य शक्ति शासनसत्ता को वैधानिक आधार नहीं दे सकती। वड़े से बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति भी इतना शक्तिमान् नहीं होता कि वह वैधानिक आधार के विना भी सदैव मालिक बना रहे[3]।

१—स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्द्धितः।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्म-चक्रमवर्तत ॥

—आदि पर्व के अन्तर्गत सम्भव पर्व १०८, १४।

२—प्रिंस, अ० १६

३—मैकाइवर द्वारा "द वेज आव् गवर्नमेण्ट" (—१९४७), पृ० १७।

राजतंत्र का वैधानिक आधार

प्राचीन युग की राजतन्त्र-व्यवस्था में जब तक राजा का वरण जनता न करे और समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक नेतृत्व शक्ति से समर्थित, धार्मिक ब्राह्मण-वर्ग के द्वारा उसका अभिषेक न किया जाय और राजा प्रतिज्ञापूर्वक राजा के बनाने वालों को यथाविधि वचन न दे; तब तक राज-पद के वैज्ञानिक आधार की उपलब्धि सम्भव नहीं थी। इस विषय में नियमों और अपवादों का और अधिक विवेचन हम यथास्थान राज्य की वस्तुस्थिति का अंकन करते समय करेंगे। यहाँ हम केवल इतना कह देना चाहते हैं कि महाभारत के अनुसार राजतन्त्र एक विशेष जीवन-पद्धति है। वह "सीवर्ग" के द्वारा वर्णित जर्मन राज्य की तरह नहीं है। क्योंकि जर्मन राज्य को तो अपना "भाग्य" समझ कर उसके लिए जर्मन नागरिक अपनी बुद्धि, अपनी स्वतन्त्रता और आवश्यकता पड़े तो अपना जीवन भी बलिदान करने के लिए तैयार रहता है। सीवर्ग के अपने शब्दों में "अन्य राष्ट्रों से हमारी अलग पहचान करानेवाली विशेषता है, हमारी आत्म-संरक्षण की मूल प्रवृत्ति पर आरोपित सीमाएँ। हम चंचल बालू हैं, परन्तु इस बालू के प्रत्येक कण में शेष के साथ संगठित होकर सुदृढ़ पाषाण बन जाने की आकांक्षा अन्तर्निहित है[1]।" महाभारतकार की दृष्टि में राज्य केवल साधक है साध्य नहीं। परन्तु सीवर्ग के इस सिद्धान्त में एक मात्र मूलतत्त्व, जिसके कारण वैयक्तिक जीवन पर मर्यादाओं के आरोप का समर्थन किया गया है, वह है आत्म-रक्षा।

सत्ता का उत्तरदायित्व—रक्षा

समाज में व्यवस्था बनाये रखने तथा नागरिकों की व्यक्तिगत सुरक्षा और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए, मात्स्य-न्याय की परिस्थितियों को दूर करने तथा धर्म के अनुसार शासन चलाने के लिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह दण्डनीय अपराधियों को दण्ड दे अर्थात् अधर्म का उन्मूलन करे। महाभारत के राजनीतिक दर्शन के अनुसार धर्म और अधर्म, दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा तथा सत्य और असत्य में वह अन्तर नहीं है जो हम साधारणतया "अच्छे और बुरे" इन शब्दों के सामान्य अर्थ से समझते हैं। भारतीय धारणा में वस्तुतः ऐसा अंतिम सुनिश्चित द्वैत नहीं है। भगवान् और शैतान दोनों की ऐसी सत्ता जिसमें कदापि सामंजस्य की सम्भावना नहीं हो सकती, जिस प्रकार दूसरे धर्मों को दूषित करती रही है, उसका भारतीय दर्शन में निशान भी नहीं है। भारतीय मान्यता के अनुसार दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाएँ या सृष्टियाँ उसी एक समान स्रोत-परम तत्त्व-से उद्भूत होती हैं और अन्त में ये दोनों उसी में विलीन भी हो जाती हैं। इस प्रकार धर्म और अधर्म

१—टी० एन० रामास्वामी—'इसैंशल्स आव् इण्डियन स्टेट क्राफ्ट,' भूमिका, पृष्ठ ३१ पर उद्धृत।

(अच्छाई या बुराई) परस्पर में दो पूरक प्रक्रियायें हैं, न कि दो कट्टर परस्पर विरोधी तत्व। इनकी सरल व्याख्या करने के लिए हम यह कह सकते हैं कि इनमें दैवी सम्पदा या अच्छाई वह रचनात्मक पक्ष है जो ऊपर की ओर जाने वाली और अन्दर से उत्पन्न होती है, इसे प्रवृत्ति कहा गया है। दूसरी आसुरी सम्पदा वह विध्वंसात्मक पक्ष है जो नीचे की ओर जाती है और बाहर की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है जिसे "निवृत्ति" कहते हैं। दोनों का उद्भव उसी एक परमतत्त्व से होता है और उसी में ये अन्त में विलीन भी होती हैं। यह परमतत्त्व वही शक्ति है जिससे प्रत्येक वस्तु अनुप्राणित होती है। इन दो विरोधी धर्मों के मिलने से एक समन्वित पूर्ण परम तत्त्व की निष्पत्ति होती है। यह बात अधर्म और धर्म, असुर और देवता, असत्य और सत्य तथा बुराई और अच्छाई के ही विषय में ठीक हो ऐसी बात नहीं है, अपितु प्रकृति के अन्य अनेक व्यापारों और मानवीय व्यवहारों के विषय में भी ठीक है। सारा विश्व वस्तुतः एक है, क्योंकि सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक ही मूल स्रोत से होती है और इसलिए प्रत्येक वस्तु प्रत्येक से सम्बन्धित है। विश्व को ध्रुवाभिमुखता ही अनुप्राणित करती है। दो विपरीत ध्रुवों की अन्तःक्रिया पर ही ब्रह्माण्ड का विकास यहाँ तक कि अस्तित्व तक निर्भर है और दोनों ध्रुवों की यह एक-दूसरे पर प्रभाव डालने वाली प्रक्रिया पूरी तरह नैसर्गिक और अनिवार्य है और मानों दो विरोधी तत्त्वों की अविराम रस्साकशी है[1]। प्रसिद्ध क्रान्तिद्रष्टा दार्शनिक हैगल ने इस तथ्य का वर्णन इन शब्दों में किया है "वास्तविकता विश्वजनीन है, जो स्वयं में से ही उद्भूत होती है, स्वयं व्यवच्छिन्न होती है और स्वयं ही अपना विरोध करती है[2]।"

आत्म-विजय और आत्मसंयम

महाभारतकार का मत है कि व्यष्टिगत धरातल पर मानव के हृदय के विराजमान अन्तर्यामी के साथ अन्य विकारों जैसे तृष्णा और वासना, घृणा और लोभ, ईर्ष्या और द्रोह आदि के संघटित मोर्चे के संकुल संघर्ष में अन्तरात्मा के धर्म पक्ष की विजय होनी चाहिए। यदि प्रतीकात्मक शैली का अवलम्बन करें तो अन्तश्चेतना के विरुद्ध यह भीषण मानसिक विकारों की बड़ी सेना कौरवों की विशाल वाहिनी से कम भयंकर नहीं है। यह आत्मविजय मानव-जीवन के सुख, समृद्धि और विकास के लिये, यही नहीं समाज और राज्य के कल्याण के लिये, नितान्त आवश्यक है। महात्मा विदुर ने आत्म-विजय या आत्म-संयम के श्रेयस्कर गुणों पर प्रकाश डालते हुए महाराज धृतराराष्ट्र से कहा है कि जो व्यक्ति आत्मा को गिराने वाले सहज काम, क्रोध, मोह और मद (अहंकार) के पंच वर्ग के द्वारा पराजित हो जाता है उसकी विपत्तियाँ इस प्रकार बढ़ती ही जाती है जैसे शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा और जो व्यक्ति देश-के रूप में सबसे पहले अपने आप (आत्मा) को ही जीत लेता है तो वह

१—ए० बी० सुखथानकर, पृ० ९३।
२—सुखथानकर द्वारा उद्धृत—हेगल ९३।

अपने अमात्यों और शत्रुओं पर भी विजय की कामना कर सकता है उसकी यह कामना व्यर्थ नहीं होती[1]।

उपर्युक्त उद्धरणों में जहाँ व्यक्तिगत जीवन में आत्म-विजय या आत्म संयम को सुख और सफलता का मूल वताया है वहाँ इस प्रकार आत्मविजय और आत्मसंयम में सफलता प्राप्त कर लेने को सामाजिक और राजनीतिक धरातलों पर भी आन्तरिक समृद्धि (अमात्य-विजय) और वाहरी सुरक्षा (अमित्र-जय) के लिये आवश्यक वतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस सुदूर प्राचीन-काल में ही भारतीयों ने आत्मविजय अथवा आत्मसंयम को केवल नैतिक और सांस्कृतिक गरिमा के आवश्यक तत्त्व के रूप में ही स्वीकार नहीं किया था, अपितु सामाजिक और राजनीतिक नैतिकता के सवसे ऊँचे आदर्श के रूप में भी अनासक्त, शील और सदाचार से परिपूर्ण, नैतिक एवं धार्मिक, आत्मसंयम से पुनीत जीवन को समुचित मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। वास्तविकता यह है कि इसे एक सर्वोच्च राष्ट्रीय आदर्श के रूप में भारतीय जीवन में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी[2]।

शासक-सत्ता की नैतिकता का ऐतिहासिक पक्ष

महाभारत की मूलकथा और अन्य प्रासंगिक कथाओं में आये अनेक प्रसंगों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों की अन्तिम यात्रा के समय चलते-चलते मेरु पर्वत के समीप महाराज युधिष्ठिर महारानी द्रौपदी और अन्य चारों भाइयों के मार्ग में ही रह जाने के कारण अकेले रह जाते हैं। परन्तु वह उस समय भी अकेले नहीं थे, क्योंकि स्वामिभक्त कुत्ता उनके साथ चल रहा था। उस समय घटी एक अमर घटना से उस नैतिक भावना का परिचय मिलता है जिसकी चर्चा यहाँ की जा रही है। स्वर्ग से उन्हें लेने के लिए आये इन्द्र के विमान में युधिष्ठिर इसीलिए आसन ग्रहण करना अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि

१—योजितः पंचवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदः तस्य वर्द्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट्॥
आत्मानमेव प्रथमं देशरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्राश्च न मोघं विजिगीषते॥ उद्योग पर्व।

२—द्रष्टव्य—कठोपनिषद् २,१,१२–१३; मुण्डकोपनिषद् ३, १–२; स यदा वली भवति——विज्ञाता भवति तस्य वलेन वै पृथिवी तिष्ठति। ; छान्दोग्य, ७, ८, १ तथा
'यस्मान् नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ भीष्म ३६, १५–१६ आदि।

उनके कुत्ते को उसमें बैठने की अनुमति नहीं मिलती । एक ओर है प्राणिमात्र की आकांक्षाओं का चरम लक्ष्य स्वर्ग-सुख और दूसरी ओर है मानवीय कर्त्तव्य । युधिष्ठिर अपने स्वामिभक्त सहचर के लिए स्वर्ग-सुख के प्रलोभन का त्याग करते हुए पल भर की भी देर नहीं लगाते । राजधानी से चलकर मेरु पर्वत तक साथ-साथ चल कर आये इस साथी को वे अन्त समय में कैसे छोड़ सकते थे ? महाभारत की प्रतीकात्मक शैली में यह कुत्ता न था, स्वयं धर्मदेव ही युधिष्ठर के सहचर रूप में अन्त तक उसके साथ गये थे । धर्मराज के द्वारा युधिष्ठिर की ऐसी ही परीक्षा पहले भी यक्ष के प्रश्नों के द्वारा ली गई है[1] । युधिष्ठिर की धर्म-बुद्धि, करुण अन्तःकरण और मानवीय दृष्टि-कोण की चरम पराकाष्ठा वहाँ हो जाती है जब वे स्वर्गीय सुख छोड़कर अपने आज्ञा-पालक भाइयों और पतिव्रता द्रौपदी के साथ वहीं रहना चाहते हैं, जहाँ वे गये हैं ।

युधिष्ठिर के शब्दों से 'हे कृष्णे ! मेरा अन्तःकरण स्वभाव से ही धर्म में ही लगा है ? यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्रलोभनों, विपत्तियों तथा विडम्बनाओं में भी अपने वचनों पर दृढ़ रहनेवाला तथा धर्म का पालन करने के लिए ही जीने वाला यह धर्म-युधिष्ठिर महाभारत का सर्वश्रेष्ठ मानवीय राज-चरित्र है । वन पर्व में द्रौपदी और भीमसेन की अनेक उत्तेजनात्मक और निन्दात्मक उक्तियों[2] के बावजूद भी युधिष्ठिर जुआ खेलने और वचन देने की अपनी गलती को तो मानते हैं, परन्तु अपने वचन को झूठा नहीं करना चाहते । वे ऐश्वर्य, वैभव, सुख और विजय के लिए सदाचार के उदार गुणों का परित्याग करना घातक मानते हैं । वे कहते हैं कि वे फल से प्रेरित होकर कर्म नहीं करते । वे दान, यज्ञ, सदाचार आदि का जो भी व्यवहार करते हैं, अपना कर्त्तव्य समझकर । वे धर्म के पक्षपाती हैं । धर्माचरण के द्वारा फल की कामना करने को ये सौदगारी (धर्म-वाणिज्य) का नाम देते हैं[3] । धर्म युधिष्ठिर के अतिरिक्त पितामह भीष्म का चरित्र प्रतिज्ञा-पालन और सदाचार के उदाहरण के रूप में तथा सत्य-धर्म के अनुयायी के रूप में विश्व-साहित्य में अद्वितीय निदर्शन है । अपनी सौतेली माँ और पिता शान्तनु की खुशी के लिए राजा न होने और विवाह न करने वाले ये देवव्रत इसीलिये राजर्षि भीष्म कहलाए । द्रौपदी को समझाते हुए और उसे फिर से राज्य प्राप्त कर लेने, रानी

१—'अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥
पुरा द्वैतवने मया पुत्र परीक्षितः ।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥
भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन्वै नकुलं जीवमिच्छसि ।। —महाप्रस्थानिक ३, ५८—२०

२—वनपर्व, २७; ३६ ।

३—वनपर्व ३२;१—४ तथा १११ ।

बनकर सुख भोगने का आश्वासन देते हुए भगवान् कृष्ण जो प्रतिज्ञा करते हैं उनके द्वारा महाभारतकालीन मानवीय महाप्राणता और सत्यसंधता का परिचय मिलता है[1]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के प्रणेताओं का नैतिक सदाचारों के विषय में आग्रह, अनुरोध और दृष्टिकोण कितना स्वाभाविक, व्यावहारिक और कट्टर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में आदि से अन्त तक एक पूर्ण पुरुष के आदर्श का प्रतिपादन है। इस आदर्श का राजा और प्रजा के सम्बन्ध और व्यावहारिक राजनीति पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। धर्म के अनुसार आचरण करने वाले युधिष्ठिर के विषय में अन्य लोगों का विश्वास था कि वे फलती-फूलती, समृद्ध पृथ्वी को छोड़ सकते हैं, धर्म को नहीं[2]।

'गीता' वैधानिक-नैतिक जीवन का आधार

धार्मिक और नैतिक आदर्श जीवन की व्याख्या, जितनी पूर्ण और वैज्ञानिक एवं दार्शनिक कोटि की, महाभारत में उपलब्ध है, शायद ही किसी अन्य हिन्दू-ग्रन्थ में हो। कहने और समझने में अपेक्षाकृत सरल किन्तु व्यवहार में परिणत करने के लिये तलवार की धार की तरह दुर्गम, पूर्ण मानव (स्थितप्रज्ञ) की यह परिभाषा और संक्षिप्त सिद्धान्त-मीमांसा महाभारत के एक अंशमात्र गीता में वर्णित है। परन्तु सम्पूर्ण महाभारत इसी आदर्श से ओत-प्रोत है। क्या गीता भी प्रक्षिप्त अंश है? ऐसे प्रश्न निरे निरर्थक हैं और उनके विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं कि वस्तुतः गीता महाभारत का हृदय, मर्म है और सारा महाभारत मानों गीता का सोदाहरण भाष्य ही है। इसमें सिद्धान्त के व्यवहार पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है, क्योंकि तभी इस दर्शन की वास्तविक उपादेयता सिद्ध होती है। संक्षिप्त रूप में गीता का सार यह है—

"गीता मनुष्य (जीव) को परमेश्वर से सचेतन साक्षात्कार या तन्मयता प्राप्त कर योगी बनने का उपदेश करती है। मानव-जीवन के केवल तीन ही पहलू हैं—बौद्धिक, शारीरिक और भावात्मक। अतः मानव के परब्रह्म से मिलन के भी तीन रूप या तीन आयाम होने स्वाभाविक हैं। जिन्हें गीता में ज्ञान-योग-कर्म योग और भक्ति-योग कहा गया है।[3]

१—'पतेद् द्यौः हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत्।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे ! न मे मोघं वचो भवेत्'। वनपर्व १३, ११७ तथा
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ —वन पर्व १३, ५।

२—त्यजेत् सर्वां पृथिवीं समृद्धाम्।
युधिष्ठिरो धर्मभयान्न जाड्यात् ॥ —सभा पर्व ६७, ४८।

३—भीष्म पर्व २७।

ज्ञानयोग—

इनमें ज्ञान योग से अभिप्राय है कि ज्ञान के द्वारा परब्रह्म से योग। ज्ञानी व्यक्ति यह समझता है कि विश्व एक ही तत्त्व से व्याप्त है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु परस्पर सम्बन्धित है। प्रत्येक सत् वस्तु के साथ हमें जोड़ने वाला यह सम्बन्ध अटूट है। और न ही हम उस सातत्य से दूर रह सकते हैं जो हमें अतीत, वर्तमान और भविष्य के साथ जोड़ दिया करता है। इस ज्ञान में यह बोध भी निहित है कि सम्पूर्ण सृष्टि के वास्तविक हित बिल्कुल एक समान है। व्यापार-विशेषों के कारण विविधता ठीक है, किन्तु ज्ञानी विविधता में एकता के दर्शन करता है। यह निसर्गतः बड़ी कठिन मानसिक और बौद्धिक अवस्था है किन्तु यही सच्चे ज्ञान की कसौटी है और इसीलिये उसे बड़ा कठिन मार्ग कहा गया है।[1]

कर्मयोग या कर्म सिद्धान्त—

कर्मयोग में फल की कामना छोड़कर प्रत्येक कर्म कर्तव्य-बुद्धि से केवल परमात्मा के लिये ही किया जाता है। इसके द्वारा कर्म बन्धन का कारण नहीं रह जाता। यह तभी होता है जब योगी अपने जीवन को (सर्वभूतहिते रतः) प्राणिमात्र के कल्याण के लिये लगाकर स्वयं अपने आपको कर्त्ता न मानते हुए परमात्मा के हाथों में उपकरण बनकर कार्य करता है और इसके फल को ईश्वर के ही अर्पण करता है[2]।

भक्तियोग—

तीसरा और अन्तिम भक्ति-योग, भक्ति के द्वारा परमात्मा से जीवात्मा का योग कहा गया है। स्वार्थपरायण जीवन के कारण परब्रह्म से दूर-दूर रहने वाले मानव की उस (परब्रह्म) के साक्षात्कार या अधिगमन के द्वारा भावात्मक प्रसन्नता और उसके कार्य में सृष्टि के हित के लिये सहयोग इसकी विशेषताएँ हैं। मन और बुद्धि के द्वारा ही नहीं सम्पूर्ण अन्तः करण से विश्व को अपनाना एवं अनुद्विग्न, प्रसाद-पूर्ण भाव का धारण करना भक्त का लक्षण है। योगी मानता है कि सम्पूर्ण विश्व का मापन करने के लिये बुद्धि ही एक मात्र उचित उपकरण नहीं है अतः वह इसके स्थान में परमेश्वर के प्रति अचल भक्ति की धारणा करता है. उसी परमेश्वर को अपना सर्वस्व समर्पित करता है।

सृष्टि अनन्त है और परब्रह्म सर्वव्यापक। अतः योग युक्त होकर पालन किया गया तीनों में से कोई भी मार्ग उसी परमतत्त्व की उपलब्धि का साधन होगा। परन्तु पूर्ण मनुष्य ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों के द्वारा ही परब्रह्म के साथ सचेतन योग और परिणामस्वरूप जीवन-मुक्ति की कामना करता है। वह सभी प्राणियों के हितों में

१—भीष्म पर्व ३६, ३–५। तुलनीय—"विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादि, तैत्तिरीयोपनिषद् ३, ५; द्रष्टव्य-भीष्म-पर्व ३०, ५–७; ३३, १–२।
२—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—भीष्म ३५, ३३। द्रष्टव्य-वही, ३६

अपना हित समझता है और वह अपने ही अतीत प्रयत्नों तथा चेतन या अवचेतन आकांक्षाओं के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए अपने स्थान-समाज-व्यवस्था में अपने पद को विना किसी विप्रतिपत्ति के स्वीकार करता है और उस पद या स्थान के अनुरूप अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन निष्काम भाव से प्रमाद रहित होकर करता है[1]।

राजा की न्यायशीलता और विशालहृदयता

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत के चिन्तन में न्यायशीलता, समानता और ईमानदारी तथा साधुता का मानवीय व्यवहार तथा अपने पड़ौसी अर्थात् साथी प्राणिमात्र के समुदाय और भगवान् के प्रति कर्त्तव्य का धर्म-भावना से निर्वाह—ये तत्त्व बड़े ही महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने पर सभी पाण्डव यही चाहते थे कि उन्हें अपनी माता कुन्ती की सेवा करने का भरपूर सौभाग्य प्राप्त हो, परन्तु वीर माता कुन्ती ने सास-ससुर की सेवा और सती-धर्म का का पालन कर तपस्या के द्वारा प्राण होम करने की कामना से धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन जाने का निर्णय किया। कुन्ती ने वन के लिए विदा लेते हुए तथा पुत्रों को लौट जाने की आज्ञा देते हुए महाराज युधिष्ठिर को जो विशेष वाक्य कहा है, उसे महाभारत में राज-तन्त्र-विषयक चिन्तन का महावाक्य कहना अत्युक्ति नहीं है। उन्होंने कहा—तुम्हारा बुद्धि विवेक धर्म का अनुगामी हो और तुम्हारा अन्तःकरण महान् हो।[2] इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "धर्मपरायण बुद्धि और विशाल तथा उदार अन्तःकरण" में महाभारतीय राजनीतिक आदर्श चरित्र की आधार भूमि है।

सेवा-भाव

अतः दार्शनिक दृष्टिकोण से उक्त पहलू की परीक्षा करने पर हम यह कह सकते हैं कि महाभारत के प्रणेताओं की राजा से यह अपेक्षा है कि वह धार्मिक और नैतिक दृष्टि से अनासक्त, सदाचारी और शीलवान् हो। अपनी प्रजा के प्रति उसका व्यवहार पिता का-सा हो[3]। और वह अपने पद के गौरव के अनुकूल प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए भी प्रजा का सेवक होकर कार्य करे। यह प्रजा के सेवक होने के तथ्य का समर्थन महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष से भी होता है। अन्धक, वृष्णि; भोज, कुक्कुर और यादव इन पाँचों गणों के महागण के मुख्य श्रीकृष्ण ने अपनी समस्याओं, अपने गण में चलने वाले दलगत संघर्षों और अन्य दोषों के विषय में देवर्षि नारद से बातचीत करते समय स्वयं यह स्वीकार किया है कि वस्तुतः गणमुख्य होने के नाते वे अपने गण-बन्धुओं की दासता करते जा रहे हैं।[4] इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक

१—अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च"—भीष्म ३६, १३ आदि।

२—धर्मे ते धीयतां बुद्धिः मनस्तु महदस्तु ते।—आश्रमवासिक, १७, २१।

३—'पुत्र इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः' ॥ —शान्ति, ५७, ३३।

४—'दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्' —शा० [illegible], ५।

दर्शन के अनुसार राजतन्त्र एक मानवीय संस्था है, दिव्य नहीं। राजा केवल समाज व्यवस्था का नियमन करने वाले धर्म को लागू करने वाली शासन की मशीन (शासन-तंत्र) का प्रमुख है। अतः राजा शब्द में वह अर्थ निहित नहीं है जो अंग्रेजी के 'रायल्टी' अथवा उर्दू के "बादशाहत" में है। राजा का अर्थ व्यवहार में शासन कहने वाला और समाज व्यवस्था का मुखिया ही है। लैटिन भाषा के "रेक्स" और गौलिश के 'रिक्स' धातुओं के समान ही अर्थवाली "राज्" धातु इस शब्द का मूल है। राजा को चुनने वाले या कितने ही गणों में क्षत्रिय मात्र को ही राजा कहा गया है। अतः यह स्पष्ट है कि वह समाज-व्यवस्था की दण्डशक्ति द्वारा रक्षा करने वाला और सामान्य जनता को मात्स्य न्याय के अनुसार बलवान् वर्णों की विभीषिका से बचाने वाला (विशांपतिः) होने के कारण राज्य की प्रभुसत्ता का अधिकारी है। इस प्रभुसत्ता का मूल शासक की शिक्षा और विनयशीलता में है। आत्म-संयम और स्वयं आरोपित आत्मानुशासन राजा राजा की प्रभुता के मूल आधार हैं।

भारतीय राजतंत्र मानवीय और लौकिक संस्था या संवैधानिक राजतंत्र

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय जीवन-दर्शन की विशिष्ट प्रवृत्तियों के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय राजतन्त्र सैद्धान्तिक रूप में चाहे दिव्य कहा गया हो, परन्तु व्यवहार में वह नितान्त मानवीय और लौकिक संस्था थी। दिव्य उत्पत्ति और दिव्य अधिकार की शाब्दिक जादूगरी के आवरण इस तथ्य को छिपाने में असमर्थ रहे हैं कि भारतीय राजतंत्र व्यवहार रूप में केवल "सांविधानिक राजतन्त्र" (अं० कॉंस्टीट्यूशनल मौनार्की) के अतिरिक्त कुछ नहीं था। राजसत्ता का न्याय्य उत्तरदायित्व व्यक्ति और समाज के साँस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से यथासम्भव सर्वोत्तम हित के साधन के लिए धर्म के शासन की व्यवस्था (धर्म-चक्र प्रवर्तन) करना है। राजा धर्म (अं० लॉ, उर्दू 'कानून') के शासन की व्यवस्था का निमित्त कारण है, वह इसे प्रवृत्त करता है, गतिशील बनाता है। अपने पद के विशेष उत्तर-दायित्वों के कारण जिस प्रकार उसे केवल धर्म की व्यवस्था और रक्षा के लिए ही दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है। वह निरंकुश सत्ता का स्वामी नहीं है। इसी प्रकार उसके उत्तरदायित्व की ही यह भी माँग है कि वह अनासक्त, सुशील, सदाचारी, शूर और संयमी तथा सेवावृत्ति से युक्त धार्मिक और उदारहृदय हो।

समाज के सार्वजनिक हित का साधक होना ही राजसत्ता का वास्तविक आधार होने के कारण राजा में सेवावृत्ति या राज्य के ही हित की कामना भी एक अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है। धर्मशास्त्रीय परम्परा के सर्वहितकारी राज्य की स्थापना उसके बिना सम्भव ही नहीं हो सकती। इसीलिये महाभारत में राजा को उस प्रकार राज्य के हित की चिन्ता करने का आदेश दिया गया है जिस प्रकार गर्भिणी माता गर्भ में स्थित अपनी संतान के हित की कामना करती है। महाराज मनु ने चोरी आदि के

द्वारा हानिग्रस्त नागरिकों की क्षतिपूर्ति राजकोष से किये जाने का आदेश दिया है। विधवाओं, वृद्धों, अनाथों और अनाश्रितों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व भी राज्य पर है। युद्ध में मारे गये सैनिकों के परिवारो को पेंशन दियें जाने तथा सभी वर्णों में गृहस्थों के अतिरिक्त अन्य किसी आश्रम से सम्बद्ध व्यक्ति से तथा प्रथम वर्ण (ब्राह्मणों) से कर न लिये जाने आदि तथ्यों से हिन्दू राज्य का स्वरूप एक "सर्व हितकारी राज्य' का-सा ही प्रतिपादित होता है।

राजा वैदिक काल से ही महाभारत काल तक समाज के सुख और समृद्धि के लिए राज्य करते समय आत्म-संमय और न्याय का पालन करने के लिए वचन-वद्ध होकर उस पद पर अभिषिक्त किया जाता था[1]। शासक को 'आवश्यक अनिवार्य बुराई' के रूप में नहीं अपितु प्रजा के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक हितों का 'न्यायपाल' या ट्रस्टी वनाकर वह स्थान दिया गया गया है। उसकी प्रभुसत्ता का यह आधार उसके धर्म की व्यवस्था के कार्य एवं उत्तरदायित्वों के कारण बड़ा सीमित और सां-विधानिक है। इसलिए डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने राज्य-संस्था की उपर्युक्त स्थिति के कारण और कर या राज्य-भाग के भृति के रूप में दिए जाने तथा राज्याभिषेक के समय राजा के द्वारा की गई प्रतिज्ञाओं तथा अन्य लौकिक परिस्थितियों के सांगोपांग विवेचना के आधार पर हिन्दू राज्य को राजतन्त्र के अन्तर्गत एक 'ट्रस्ट' कहा है[2]।

यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि प्रजा की सम्पत्ति का राज्य के शासनतन्त्र पर अपरिमित प्रभाव पड़ता है। शासकों के अनुत्तरदायी और निरंकुश कार्यों को यह जन-मत रूपी शक्ति ही नियंत्रित करती है। शासनसत्ता का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह कम से कम नियंत्रण चाहती है और अधिनायकत्व की ओर प्रवृत्त होती है किन्तु निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन, में जिसे अनुत्तरदायी और क्रूर कहना ठीक होगा जनता के धर्मों, प्रथाओं और पद्धतियों के शासनसत्ता के द्वारा नष्ट कर दिये जाने का भय होता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रबुद्ध और संगठित जनमत ही प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं के द्वारा कार्यान्वित होकर समाज के सर्वोत्तम विकास की परिस्थितियों का निर्माण करता है। भारतीय प्रतिभा की यह मौलिकता है कि शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण रखने के लिए भारतवर्ष में स्थानीय स्वशासनयुक्त संस्थाओं का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल से चला आया है। ग्राम, नगर और जनपद के स्तरों पर सभा, समिति, जाति, श्रेणि, संघ आदि संस्थानों ने वड़े सशक्त राज्यों और साम्राज्यों के काल में भी अपने स्थानीय स्वशासन के अधिकारों को बनाये रखा है और शासनसत्ता को निरंकुश नहीं होने दिया है। इसलिए भारत की राजसत्ता सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक रूप में 'सांविधानिक एवं सीमित राजतन्त्र' रही है।

१—द्रष्टव्य–शुक्ल यजुर्वेद ९, २२ तथा शान्ति पर्व-५९, १०३–१०८।

२—हिन्दू पालिटि, पृ० २५४।

तुलनात्मक अध्ययन के लिये मैकियावेली के निरंकुश राजतंत्र की समीक्षा

महाभारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन का पाश्चात्य चिन्तन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए हमने पाश्चात्य पुनर्जागरण के अग्रदूत मैकियावेली को चुनकर पूर्वी और पश्चिमी राज्यतंत्रों की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन को चाहे हम अनेक पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वानों की तरह राजनीतिक दर्शन की संज्ञा न भी दें और चाहे उसे 'राजनीतिक साहित्य का एक अंग'[1] ही मानें तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मैकियावेली का दार्शनिक विवेक अत्युच्च कोटि का है। यहाँ स्मरण रहे कि दार्शनिक विवेक का अर्थ जीवन के विवध मूल्यों के आपेक्षिक महत्त्व का बोध है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि मैकियावेली ने मध्ययुग के ईसाई अध्यात्म के द्वारा प्रभावित राजनीतिक चिन्तन की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने काल के इटली की आन्तरिक और बाह्य समस्याओं के समाधान के लिए एक निर्भीक, क्रान्तिद्रष्टा राजनीतिक दार्शनिक की तरह राज्य के उदय, विकास और ह्रास के कारणों तथा राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के उपायों का शासक के दृष्टिकोण से विवेचन प्रस्तुत किया[2]। मैकियावेली के चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए सैबाइन ने उदात्ततम विशेषणों का प्रयोग करते हुए मत प्रकट किया है कि मैकियावेली की अन्तर्दृष्टि दुर्बलता और सामर्थ्य के वास्तविक तत्त्वों को परखने में विलक्षणतम है[3], विपक्षी की शक्तियों और स्वभाव के विषय में उसका आकलन नितान्त शान्त और स्पष्ट है, वह नीतियों के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन और उनकी न्यूनताओं को समझने में अद्वितीय है और उसकी अचूक सहज बुद्धि घटनाओं की कार्य-कारणपरम्परा का विश्लेषण करने और कार्यों के परिणामों की पूर्व-घोषणा करने में अनुपम है। उत्कृष्टतम कोटि के इन गुणों के कारण ही मैकियावेली के ग्रंथ आज तक राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के लिए 'गीता' बने हुए हैं। मैकियावेली के मनोनीत और अनुभव सिद्ध सिद्धान्तों को ही बाद में हाब्स और बोदां जैसे अनेक दार्शनिकों ने राजनीतिक दर्शन की परम्पराओं के अनुरूप सोपपत्तिक रूप देकर प्रस्तुत किया। शासकों की एक लम्बी परम्परा ने और अन्त में इटली में ही गैरीबाल्डी, केबूर तथा विक्टर मैनुअल आदि इटली के निर्माताओं ने मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन को शब्दशः व्यवहार में परिणत किया। इससे यह स्पष्ट है कि यदि मैकियावेली के शासकसत्ता के मार्गदर्शन के लिए अभिव्यक्त किए व्यावहारिक और यथार्थवादी विचारों को मिलाकर पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी की ऐतिहासिक घटनाओं और आन्दोलनों की

१—सैवाईन, ए हिस्ट्री आव् पोलिटिकल थियरी, पृ० २९१।

२—डनिंग—'पौलिटिकल थ्योरीज़' पृ० २८५ (यह प्रतिभासम्पन्न फ्लारंस निवासी पूर्णतम अर्थों में अपने 'युग का शिशु' था।)

३—सैबाइन—वही, पृ० २९१।

पृष्ठभूमि में परखा जाय तो हम उन मान्यताओं का सर्वेक्षण कर सकते हैं जिन्होंने उसके चिन्तन को प्रभावित किया है और इस प्रकार उस दार्शनिक दृश्यभूमि का साक्षात्कार कर सकते हैं जो मैकियावेली के चिन्तन की आधार है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत की पूर्ण राजधर्म की तरह दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से राजनीतिक दर्शन का एक पूर्ण चित्र चाहे मैकियावेली की रचनाओं में उपलब्ध न भी होता हो, तो भी उसके नितान्त व्यावहारिक चिन्तन का जो चित्र सामने जाता है उसके अनुशीलन से हम अपनी परम्पराओं की यथार्थता का आकलन कर सकते हैं।

तुलना की उपादेयता

एक ओर भारत और दूसरी ओर इटली की विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के द्वारा निर्मित ऐतिहासिक दृश्यभूमिकाओं पर उभरते हुए ये दोनों चित्र चाहे रंगों की संगति, परिवेश और परिप्रेक्षित के कारण विभिन्न दिखाई देते हों, इनकी रेखाओं का साम्य वस्तुतः हृदयग्राही है। भारोपीय प्रजापति की इन दो धाराओं में यह साम्य इसलिए भी विलक्षण है, क्योंकि पतन की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए इटली के वातावरण और महाभारत युद्ध को अनिवार्य बना देने वाली सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भी एक मौलिक साम्य है और क्षोभ, संघर्ष पराक्रम और विजय के द्वारा एकमात्र राष्ट्रीय राजनीतिक संप्रभुता की स्थापना दोनों विचारधाराओं का समान उद्घोष है।

मैकियावेली के तत्त्वचिन्तन की विशेषता

मैकियावेली के चिन्तन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिनके कारण उसे इतनी ख्याति मिली है, जैसे—(१) राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अनैतिक उपायों के प्रयोग के विषय में उदासीनवृत्ति और (२) यह विश्वास कि शासनसत्ता प्रायः बल और कूटनीति पर ही आधारित रहती है, ये उसके डिस्कोर्सेज' और 'प्रिंस' दोनों ग्रन्थों में समान रूप से प्रतिपादित की गई हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रिंस के ही आधार पर मैकियावेली का मूल्यांकन करने वाले पाठक को इस बात का ज्ञान न हो पायेगा कि वस्तुतः मैकियावेली रोमन गणराज्यों के आदर्श के अनुरूप लोकप्रिय शासन-सत्ता का हृदय से समर्थन करता था, परन्तु उसके मत के अनुसार केवल पवित्र, ओजस्वी और चारित्र्यपूर्ण समाज में ही गणराज्य की स्थिति की सम्भावना होने के कारण अपने समय के इटली के विकृत, भ्रष्ट तथा विघटित जीवन को देखते हुए उसने 'प्रिंस' में राजतन्त्र का समर्थन किया। डिस्कोर्सेज की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही उसने 'प्रिंस' के आरम्भ में राज्यों के दो भेद किए—(१) गणतन्त्र और (२) राजतन्त्र। इसलिये हमारा यह मत है कि स्वयं 'प्रिंस' के ही राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि को समझने के लिए एवं मैकियावेली के विचारों और मान्यताओं को समग्र रूप में आकलन करने के लिए उपर्युक्त दोनों ही ग्रन्थों से सहायता लेनी अपेक्षित है।

अब यह देखना है कि वे कौन सी मान्यताएँ हैं—जिन्हें स्थालीपुलाक-न्याय से परख कर हम मैकियावेली के तत्त्वदर्शन की झाँकी प्राप्त कर सकते है। क्योंकि दुर्भाग्यवश मैकियावेली के व्यक्तित्व की तरह उसका तत्त्वदर्शन भी अनेक परस्पर विरोधी मनमानी सत्य और अर्धसत्य समालोचनाओं का लक्ष्य बनता आया हैं और केवल 'प्रिंस' के ही आधार पर उसे समझने और आँकने का आंशिक प्रयत्न किया गया है। नैतिकता की प्राय: दुहाई ही देने वाले अनेक आलोचकों और पाठकों ने 'मैकियावेलीवाद' को मानों 'शैतानवाद' की तरह प्रस्तुत किया है। महाशय सी० सी० मैक्सी जैसे उदार विद्वान् कम ही हैं, जिन्होंने इस राष्ट्रीयता और देशभक्ति की उदारभावनाओं के मूर्तिमान् देवता की वास्तविकता को समझा है[1]। भारत में भी बौद्धों की अव्यावहारिक, अनैसर्गिक, दुःखकारी, दब्बू और परलोकपरायण नैतिकता के प्रभाव में चाणक्य का ऐसा ही अपमान किया गया। दण्डी और बाण ने तो उसकी स्पष्ट निन्दा की ही, उसका समूचा अर्थशास्त्र सदियों तक उपेक्षित और गर्हित होकर अज्ञातवास में तब तक सड़ता रहा जब तक श्री आर० शाम शास्त्री ने गत शताब्दी में दक्षिण के किसी कोने से उसका उद्धार किया[2], यद्यपि गत १५०० वर्षों में हिन्दू राजनीति को चाणक्य के ही नेतृत्व की सबसे अधिक आवश्यकता थी। मैकियावेली और उसके दर्शन की आवश्यकता भी यूरोप में अनुभव की गई और उसके शाश्वत राज-धर्म का उन लोगों ने हा अधिक पालन किया जो उसके बड़े निन्दक थे[3] और आज तो उसके त्रिकालबाधित राजनीतिक दर्शन की सत्यता काल भगवान् की कसौटी पर कसकर कुन्दन की तरह निर्दोष सिद्ध हो चुकी है।

मैकियावेली सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, निरपेक्ष तथा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक है। आश्चर्य है कि रोमन गणराज्यों के अनुरूप गणतंत्र पद्धति की हिमायत करने वाले और नागरिक राज्य के प्रशंसक[4] मैकियावेली ने इटली में निरंकुश राजतंत्र की स्थापना का समर्थन क्यों किया ? इटली की उस काल की सामाजिक परिस्थितियों के अनुशीलन से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है। इटली उस काल (१५ वीं शताब्दी) में छोटे २ पाँच राज्यों में बंटा हुआ था। दक्षिण समुद्र तट पर नैपिल्स, उत्तर पश्चिम में मिलान, उत्तर पूर्व में वेनिस (गणराज्य) और उसके समीप ही फ्लोरेंस[5] का गणराज्य था। इटली के बीचोंबीच पोप का राज्य था। इन राज्यों की परस्पर फूट

१—सी० सी० मैक्सी, 'पोलिटिकल फिलासफीज', पृ० १३९।

२—जे० एफ० फ्लीट—डा० आर० शामशास्त्री द्वारा अनूदित 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की भूमिका, पृ० ६।

३—जर्मनी के फ्रेडरिक महान् का उदाहरण।

४—प्रिंस, अ० ९।

५—'फ्लोरेंस गणराज्य में गणतंत्र का अन्त करके १५१२ में मैदिची वंश की शासन सत्ता स्थापित हुई। मैकियावेली इसी राज्य में उत्पन्न हुआ था।'

से इटली में गृहयुद्ध होते रहते थे। उस काल की प्रमुख राज-शक्तियों-इङ्गलैण्ड, फ्रांस और स्पेन को इटली में हस्तक्षेप करने के लिए निमंत्रित करके पोप-सत्ता अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का लाभ उठाकर अपनी दुर्बल स्थिति को बनाये रखती थी। और राष्ट्रीय शक्तियों को इस प्रकार अपमान-पराजय, पतन और नैतिक ह्रास का शिकार बनाकर इटली के प्रबुद्ध वर्ग की घृणा का पात्र बन गई थी। इस प्रकार राजनीतिक जीवन के भ्रष्ट हो जाने से इटली के पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था। कोई वैध सत्ता, कानून या व्यवस्था न रह गई थी[1]। चारों और निरंकुश शासकों और कुटिल पापों के निरंकुश आततायी शासन में इटली राष्ट्र कराह रहा था। महाशय हेनरी पियरेने ने उस काल के इटली का हृदयद्रावक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है—"इटली के निरंकुश शासक" न परम्पराओं का पालन करते थे, न कोई संप्रभुसत्ता, न प्रतिज्ञा-पत्र, न प्रथाएं और न कोई अधिकार या उत्तरदायित्व उनकी शक्ति का नियमन कर सकते थे। धर्म और न्याय के आदर्श उनके लिए कुछ न थे। इन निरंकुश शासकों में ऐसे-ऐसे क्रूर दानव भी थे जैसे जियो वेनी मेरिया विस्कोण्टी (१४१२) जो मनुष्य-मांस से अपने कुत्तों को भोजन देता था[2]। पेविया का जियान गैलेजी स्फोर्जा आदरणीय होते हुए भी एक बड़ा भीषण आततायी था[3]। सामान्य जनता की स्थिति राजनीतिक और सांस्कृतिक अनवस्था के कारण दयनीय थी और लुटेरे तथा निरंकुश सामन्त जनता के तो शत्रु थे ही प्रत्येक प्रकार के सांविधानिक राज्य के भी शत्रु थे[4]। मैकियावेली भ्रष्टाचार के दोष से रहित जनता की शक्ति, गुण और निर्णयात्मिकता प्रतिभा का प्रशंसक था। वह जनता को व्यक्तिगत जीवन, सम्पत्ति, भाषण और संगठन की स्वतन्त्रता दिये जाने, जनता को सबल बनाने, और उसमें सामाजिक भावना तथा नागरिक वफादारी उत्पन्न करने का पक्षपाती था। जनता की शक्ति और अपने अधिकारियों की योग्यता को परखने की उसकी सहज प्रतिभा पर उसका अटूट विश्वास था और इसलिए मैकियावेली जनता की सम्पत्ति और अधिकारों की रक्षा करने वाली वैधानिक निरंकुश राजसत्ता की स्थापना चाहता था। उसका विचार था कि ऐसे समाज में जहाँ जन-समूह इतना भ्रष्टाचार-ग्रस्त और निरंकुश है कि उसका नियंत्रण करने की शक्ति कानून में नहीं रह गई है, वहाँ केवल राजतन्त्र के द्वारा ही व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। समाज में सबल वर्गों की अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पूर्ण और निरंकुश संप्रभुता से युक्त वैधानिक शासन की स्थापना अत्यावश्यक है[5]।

१—देखिए-प्रिंस अ० २६।
२—हेनरी पियरेने, 'ए हिस्ट्री आफ् यूरोप', पृ० ५०५–८।
३—कौमिबस, पुस्तक ७. अ० ७।
४—सैवाइन, २९९।
५—डिस्कोर्सेज, १,५५।

इस परिप्रेक्ष्य के कारण आतुर मैकियावेली के देशभक्त हृदय की पीड़ा का पता उन वाक्यों से लगता है, जिनमें उसने देश के जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा के प्रश्न पर विचार करते समय न्याय-अन्याय, मानवता और क्रूरता तथा यश और अपयश तक का ध्यान न करते हुये निर्णय करने की प्रेरणा दी है[1]। राज्य और समाज की नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक संस्थाओं का यथेष्ट विकास करने के क्षेत्र में व्यवस्थापिका (अं० ला–गिवर) सत्ता की असीमित क्षमता में मैकियावेली का अटूट विश्वास था। शायद इस मान्यता के लिए वह 'सिसरो पोलिबियस' के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का सीधा अनुयायी था। राज्य की केन्द्रीय सबल वैधानिक और सैनिक शक्ति ही छोटे-छोटे नगरों और जनपदों को एक सूत्र में वांधकर इटली को एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में संगठित कर सकती थी।

प्रिंस के अन्तिम अध्याय[2] में इटली राष्ट्र के उद्धार और कल्याण के लिए राजतन्त्र के पक्ष का समर्थन करते हुए उसने जो वाक्य लिखे हैं वे मानों उसके सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के प्रेरक सूत्र हैं। वह लिखता है—"मोजेज की योग्यता की ख्याति के लिए इजरायल की जनता की दासता, साइरस की आत्मा की महानता के प्रकटीकरण के लिए मेंडीज के द्वारा फारसवासियों का दमन, थीसियस के सामर्थ्य के प्रकाशन के लिए एथेन्सवासियों का विघटित होना, जिस प्रकार आवश्यक था, उसी प्रकार शायद किसी इटलीवासी आत्मा के गुणों की उद्‌भावना के लिए इटली राष्ट्र का वर्तमान चरम पराकाष्ठा तक हीन होना भी आवश्यक था। क्योंकि इटली आज यहूदियों से भी कहीं अधिक पराधीनता के वंधनों में जकड़ा हुआ है, फारसवासियों से भी अधिक दासता की स्थिति में है, और एथेन्सवासियों से भी अधिक बुरी तरह विघटित है। इसका न कोई अध्यक्ष है, यहाँ न कोई व्यवस्था है, वह जीर्ण-शीर्ण और लुटा-पिटा है, खण्ड-खण्ड किया हुआ, शत्रुओं द्वारा पराजित हुआ और प्रत्येक प्रकार के विनाश का शिकार बनाया गया है।'

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मैकियावेली का राज्य और राजसत्ता के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण नितान्त लौकिक और यथार्थवादी है। मैकियावेली की राज्य के विषय में यह मूल मान्यता है कि 'यदि मानव प्राणी व्यक्तिगत रूप में स्वभाव से ही उग्र अहंमन्य एवं स्वार्थी है तो सामाजिक एकता की रक्षा और व्यवस्था के लिए राज्य और शक्ति समर्पित और कार्यान्वित किया गया ला' (कानून, धर्म) ही एक मात्र साधन है। नैतिक उत्तरदायित्वों का स्रोत अन्त में, कानून और राज्य ही होना चाहिए[3]। इससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली महाभारत की तरह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों

१—डिस्कोर्सेज, ३, ४१।

२—प्रिंस, अ० २६।

३—सैंवाइन, पृ० २९७; देखियें इसी सिद्धान्त के दार्शनिक विवेचन के लिए हाब्स कृत "दि सिटीजन"।

रूपों में राज्य को दिव्य संस्था नहीं मानता। वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना और वैधानिक शासन (अं० रूल आफ् लॉ) की स्थापना के लिये उसने कोई योजना भी प्रस्तुत नहीं की है और उसकी यह विचारधारा पवित्र आकांक्षामात्र कही जा सकती है तो भी स्पष्ट है कि मैकियावेली राष्ट्र की स्वतन्त्रता, आत्म-निर्भरता, एकता, अखण्डता और वैधानिक संप्रभुता के लिए गणतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र को न्यूनतर दोष (अं० लैसर इविल) के रूप में शरीर के विकारों की चिकित्सा करने वाली विषैली औषध की तरह स्वीकार करता है और यह मानता है कि सामाजिक भ्रष्टाचार की व्याधि दूर होने पर ही स्वतन्त्रता, पराक्रम, जीवन की शुद्धता, सादा और उदात्त शिष्टाचार, देशभक्ति की भावना तथा विश्वसनीयता आदि गुणों के विकास होने पर जनता गणतन्त्र व्यवस्था के अनुसार अपना शासन स्वयं चलाने में समर्थ होती है।

राजतंत्रीय और गणतंत्रीय परम्परा का व्यावहारिक मूल्यांकन—

हो सकता है कि भारतवर्ष में राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में सदियों रहने के वाद उसके स्थान पर अनेक जनपदों (राष्ट्रों) में गणतन्त्र व्यवस्था की स्थापना का एक रहस्य यह राजतन्त्र में स्वाभाविक रूप के उपलब्ध हुई वैधानिक स्वतन्त्रता और सामाजिक तथा आर्थिक सुव्यवस्था के कारण प्राप्त हुई दुर्धर्ष और दुर्जेय जन-शक्ति ही रही हो। इसी प्रकार अनेक गणराज्यों की आन्तरिक फूट और दुर्बलता के कारण उत्पन्न हुई अनवस्था के कारण तंग आकर ही मैकियावेली की तरह भारतीय राजनीति-वेत्ताओं ने भी राजतन्त्र का समर्थन किया है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत में गणतन्त्रव्यवस्था में जनता के शौर्य, दुर्जेयता, औद्योगिक विकास आदि गुणों का वार वार बखान[1] किए जाने पर भी उसकी भीषण आन्तरिक और वाह्य दुर्बलताओं के कारण ही राजतन्त्र की प्रशंसा की गई है और उसे (राजतन्त्र) सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति की तरह स्वीकार किया गया है न्यूनतर दोष के रूप में नहीं[2]। शायद इसका कारण स्थानीय स्वशासन की अनुमति देने वाला भारतीय संवैधानिक राजतन्त्र का वह रूप है जिसकी मैकियावेली के निरंकुश राजतन्त्र से कोई समानता नहीं है। मैकियावेली के समकालीन यूरोप में फ्रांस, स्पेन और इँग्लैंड में स्थापित हुई राष्ट्रीय वैधानिक निरंकुश राजसत्ताओं के द्वारा उन देशों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर मैकियावेली को विश्वास हो गया था कि इटली में भी केवल इसी तंत्र की सफलता सम्भव हो सकती थी।

मैकियावेली का विचार था कि प्राचीन रोम, इंग्लैंड, फ्रांस और स्पेन में सामाजिक और राजनीतिक जीवन में दिखाई देने वाली शुद्धता और वैधानिक शासन की सफलता का मूल कारण बहुत अंशों तक राजा की पूर्ण संप्रभुता थी और इटली के भ्रष्टाचारग्रस्त और दलित तथा दुर्बल जीवन का कारण राष्ट्रीय, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र,

१—शान्ति पर्व, १०७।

२—शान्ति० अ० ५९; ६७, २८–३६; ६५, २८–३१; ६८, ३–५९ इत्यादि।

सशक्त राजसत्ता का अभाव था जिसके कारण इटली को पद दलित होना पड़ा था।

यही कारण है कि मैकियावेली ने आततायी सीजर बोर्जिया की भी प्रशंसा की क्योंकि उसने रोमना-प्रदेश में लुटेरे-बैरनों का उन्मूलन करके एक कहीं अधिक उत्कृष्ट शासनतन्त्र की स्थापना की थी।

इस प्रकार निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक होते हुए भी मैकियावेली हृदय से गणतन्त्रीय पद्धति का समर्थक है। राजतन्त्र की संकटकालीन उपादेयता में विश्वास करते हुए भी वह यह अनुभव करता है कि कोई भी शासन पद्धति विशेषत: संकटकाल आने पर जनशक्ति के समर्थन के विना नहीं टिक सकती। यही कारण है कि मैकियावेली वंशानुसंक्रमित की अपेक्षा निर्वाचित राजतन्त्र को अधिक स्थायी मानता है क्योंकि स्वाभाविक रूप से वह शासन अधिक स्थायी होता है जिसमें अनेक लोग भागीदार और उत्तरदायी हों। स्थायी शासन की स्थापना के लिए वह शासक को जनता की कानूनी व्यवस्था और कर-व्यवस्था में कम से कम परिवर्तन करने या करना ही पड़े तो सतर्कतापूर्वक ही शक्ति का प्रयोग करने का आदेश देता है। वह राज्य के अधिकारियों के द्वारा सत्ता के दुरुपयोग या गलत प्रयोग के विरुद्ध जनता की सुरक्षा का प्रबन्ध करने को राज्य का आवश्यक कर्त्तव्य समझता है। वह कानूनी अव्यवस्था, जनता को परेशान करने वाली दमनात्मक नीतियों और जनता की सम्पत्ति और महिलाओं की ओर लोलुप दृष्टि को अतीव भयावह मानता है क्योंकि ऐसा होने पर ही जनता में प्रतिरोध की भावना भड़कती है[1]। उसके मत में राज्य की स्थापना और संरक्षण इसके कानून की उत्कृष्टता पर निर्भर हैं। नागरिकों के सब गुणों का मूल स्रोत कानून है। राजतन्त्र में भी स्थायी शासन की सबसे बड़ी शर्त यही है कि यह कानून द्वारा नियंत्रित होना चाहिए[2]।

मैकियावेली प्रजा, राज्याधिकारियों और शासक नरेशों के लिए स्पृहणीय उदार नैतिक गुणों का यथा-सम्भव पालन करने पर जोर देता है। वह शासक को महानता, साहस, गंभीरता और सहिष्णुता, विनय, न्यायप्रियता, दयालुता, मानवीयता और सौम्य भाव आदि नैतिक गुणों के अनुसार आचरण करने का आदेश देता है क्योंकि इनके द्वारा शासक को उसके पद के अनुरूप सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और उसे जनता से समर्थन, निष्ठा और श्रद्धा तथा सभी कालों में सहायता प्राप्त होने का विश्वास होता है। वह शासक को आवश्यकतानुसार सभी अच्छे कार्यों और उदार गुणों को भी कार्यान्वित न करने के लिए या आवश्यकता ही पड़े तो बुरे कार्यों और गुणों को भी उचित अनुपात और छद्म-प्रक्रिया से योजनापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए आग्रह करता है क्योंकि वह उन कार्यों और गुणों को अपनाना मूर्खता समझता है जिनके कारण (शासक को) जनता को घृणा या तिरस्कार का पात्र बनना पड़े फिर

१—प्रिंस १६।१४५।

२—सैवाइन, पृ० २६८।

चाहे वे अच्छे हों या बुरे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैकियावेली का दृष्टिकोण नितान्त व्यावहारिक और लौकिक है। राज्य और राजा की सुरक्षा, समृद्धि और विकास के लिए मैकियावेली जहाँ तक बन पड़े साधुता, उदारता और धार्मिकता का व्यवहार करने की ही आवश्यकता का प्रतिपादन इसलिए करता है क्योंकि इन गुणों के द्वारा अर्जित प्रतिष्ठा और जनता की भक्ति-भावना के अभाव में बड़े बड़े दुर्ग और सेनाएँ भी उसकी प्रकृति-कोप से रक्षा नहीं कर सकतीं[1]।

मैकियावेली ने अनेक ऐतिहासिक उदाहरणों के द्वारा जनता एवं सेना के द्वारा मारे गए या अपदस्थ किए गए अनेक नरेशों की अच्छाइयों और बुराइयों तथा उनके विनाश के मूल कारणों की समीक्षा करते हुए शासक को यह आदेश दिया है कि वह जनता, सामन्तवर्ग और सेना इन तीनों शक्तियों का सतर्कतापूर्वक नियमन करे। किन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक काल में शासक को जनता का ही अधिक ध्यान रखना चाहिए[2]।

मैकियावेली के नैतिकता के दुहरे मानदण्ड—

अतः हम यह देखते हैं कि उसने नैतिकता के दुहरे मानदण्डों की स्थापना की है। वह जनता के लिये भिन्न प्रकार की और शासक के लिये विभिन्न प्रकार की नैतिकता के पालन किए जाने का समर्थन करता है। वह चाहता है कि जनता के जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार समाप्त हो और चाहे इंगलैंड; फ्रांस और स्पेन की जनता में जिस प्रकार क्रमशः हेनरी अष्टम, लुई एकादश और फर्डीनेण्ड की राज्य-सत्ता के परिणामस्वरूप आंशिक रूप में सही नैतिक चरित्र विद्यमान है वैसा ही इटली में भी हो और इस प्रकार जनता की पारिवारिक और सामाजिक नैतिकता उनके स्वभाव का अंग बन कर इटली में समाज-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने में योग दे[3]। दूसरी ओर शासक को वह वहीं तक नैतिक आचरण करने की सलाह देता है जहाँ तक उसके द्वारा राज्य और शासक की शक्ति में वृद्धि हो। वह अपने शासक को प्रायः अनुदार और कृपण बनने की सलाह देता है क्योंकि उदारता और दानशीलता के द्वारा उसकी प्रभाव-शक्ति और कोष-शक्ति क्षीण होती है। कुछेक लोगों को लाभ पहुँचाने के चक्कर में कोष को बरबाद करना और फिर जनता पर कर लगाने के लिए बाध्य होकर जनता को बरबाद करना और फिर जनता पर कर लगाने के लिए बाध्य होकर जनता की बहुसंख्या का द्वेष मोल लेना अव्यावहारिक है[4]। क्रूरता और क्षमाशीलता धार्मिकता और अधार्मिक धोखेबाजी आदि के विषय में उसके मानदण्ड राज्य के संरक्षण और विस्तार को ही लक्ष्य रखकर प्रतिपादित किए गये हैं। इस प्रकार हम

१—प्रिंस—अ० १५-२०।
२—प्रिंस १९, १५७।
३—डिस्कोर्सेज १, ५५।
४—प्रिंस अ० १६।

यह देखते हैं कि मैकियावेली ने वैयक्तिक और राजनीतिक जीवन की नैतिकता और धार्मिकता के मानदण्डों की शासकसत्ता के दृष्टिकोण से परख करते हुए नीति और धर्म के सभी प्रचलित सिद्धान्तों की अवहेलना की है और यह प्रतिपादित किया है कि राज्य के हित की दृष्टि से झूठ बोलना, विश्वासघात करना, क्रूरता, चोरी और हत्या जैसे अनैतिक कृत्य भी सर्वथा न्यायोचित हैं क्योंकि अनिवार्य मानवीय परिस्थितियों में शासक के लिए नैतिकता के उस प्रकार के सामान्य आदर्शों का पालन करना संभव नहीं है।

प्रजा के लिए नैतिक आचरण न करना पाप है। अपने स्वार्थ के लिए अनैतिक आचरण करना शासक के लिए भी महापाप है किन्तु राज्य के सर्वोपरि हित के उत्तर-दायित्व को वहन करने वाले शासक की नैतिकता का मानदण्ड वही नहीं हो सकता जो सामान्य अनुत्तरदायी नागरिक का है[1]। इसलिए महाशय गैटिल के शब्दों में हम यही कह सकते हैं कि मैकियावेली का सिद्धान्त वस्तुतः सच्चे अर्थों में राज-धर्म न होकर राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त है। महाभारत के आदि पर्व में तथा शान्ति पर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में भी इसी प्रकार के दुहरे नैतिक मानदण्डों की चर्चा हम संक्षेप में पहले कर चुके हैं। यहाँ केवल इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि मैकियावेली की दृष्टि मानव स्वभाव के अच्छे और बुरे पहलू, धर्म और नैति-कता के लाभ और हानि, राज्य की शक्ति की वृद्धि और ह्रास आदि के विषय में बड़ी एकांगी और संकुचित है। मानव स्वभाव की दैवी सम्पदा, धर्म और नैतिकता की सनातन और शाश्वत विजयिनी प्रकृति और राज्य की वैधानिक प्रभुता में वैध आचरण की आवश्यकता आदि की ओर उसके दुर्लक्ष्य का मूल उसके देश इटली की विशेष सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ ही रही हैं। उस पर जर्मन दार्शनिक हीगल और अरिस्तू के उन विचारों का पर्याप्त प्रभाव है जिनमें राज्य को ही साधन और साध्य भी प्रतिपादित किया गया है[2]।

नैतिकता के विषय में लौकिक तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण—

मैकियावेली के लौकिक राजनीति (अं० सैक्युलर पॉलिटिक्स) के सिद्धान्तों तथा कुछ अंश में दुहरे नैतिक मानदण्डों के लिए उसके समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ और विशेषतः उसकी धर्म और पोप-सत्ता के प्रति घृणा की भावना के साथ-साथ अलैक्जैण्डर षष्ठ जैसे धूर्त और प्रवंचक पोपों के तथा उनके द्वारा समर्थित स्फोर्जा जैसे

१—डिस्कोर्सेज १–९, प्रिंस, १५ (मनुष्य जिस प्रकार रहते हैं वह ढंग उन्हें जिस प्रकार रहना चाहिए ऐसे आदर्श ढंग से इतना भिन्न है कि जो कर्त्तव्य-भावना के वश उस आदर्श ढंग का पालन करने के लिए सामान्य मार्ग को छोड़ देगा उसे पता चलेगा कि यह उसके विनाश का मार्ग है, न कि सुरक्षा का)।

२—यही पुस्तक ३, १।

क्रूर पाततायी शासकों के आचरण भी उत्तरदायी हैं[१]। उसने ऐतिहासिक प्रयोगात्मक पद्धति के आधार पर इतिहास के विवेचन के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले थे उनके आधार पर उसके उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने भी उसके तत्त्व-दर्शन को सरल और सुबोध, सामान्य जन-सुगम रूप दिया है[२]। उसका यह विश्वास था कि इटली की पोप-सत्ता के ठाठ-बाट वैभव-विलास और अनैतिक आचरणों ने ही इटली को धर्म-विमुख बना दिया[३]। मैकियावेली के समकालीन राजनीतिक विचारक मार्सलियो और जिकार्डिनी (१४८३-१५४०) के विचारों में भी हम मैकियावेली की ही तरह धर्म के प्रति विद्रोह-भावना और राजनीति में धर्म निपेक्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन पाते हैं[४]। मैकियावेली का अन्तःकरण इस दुर्दशा से नितान्त क्षुब्ध था कि इटली की पोप-सत्ता अपनी मौलिक दुर्बलताओं के कारण स्वयं सारे इटली प्रायद्वीप को संगठित करने में तो असमर्थ थीं ही वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण विदेशी आक्रान्ताओं को बुलाकर राष्ट्र की विस्तारशील शक्तियों का विध्वंस कराती रहती थीं[५]। दूसरे पोप-सत्ता के द्वारा प्रचारित धर्म (ईसाई अध्यात्म) इटली के कल्याण की अपेक्षा उसकी दुर्बलता का ही अधिक कारण बन गया था। मैकियावेली की यह धारणा थी कि ईसाई अध्यात्म लोगों को अत्यधिक विनयशीलता, निम्नता (सादगी) और सांसारिक वैभव के प्रति घृणा का पाठ पढ़ाता है जबकि दूसरे अध्यात्म मानव के सर्व श्रेष्ठ कल्याण की दृष्टि से आत्मा की गरिमा, शरीर की शक्ति और मनुष्य को दुर्जेय और दुर्धर्ष बनाने वाले अन्य ऐसे ही गुणों को सबसे अधिक महत्व देते हैं। उसका विचार था कि ईसाई धर्म के इन सिद्धान्तों के कारण ही लोग दब्बू बन गये थे और वे दुरात्मा और बर्बर आक्रान्ताओं के सरलता से शिकार बन जाते थे। क्योंकि ये आक्रान्ता यह देखते थे कि ये ईसाई धर्मावलम्बी स्वर्ग प्राप्त करने के लिए क्षति और हानि सहने के अपेक्षाकृत अधिक आदी हो गये थे, प्रतिशोध लेने के नहीं[६]।

उक्त विचारों से यह भी प्रकट हो जाता है कि यद्यपि मैकियावेली आचार-शास्त्र और अध्यात्म (अं० रिलीजन) के जनसमूह के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर पड़ने वाले अनिवार्य प्रभाव से अनभिज्ञ नहीं था, वह यह भी जानता था कि नैतिक भ्रष्टाचार से ग्रस्त समाज में अच्छे शासन की स्थापना की सम्भावना भी नहीं हो सकती

१—'एलैक्जेंण्डर षष्ठ ने सिवाय लोगों को धोखा देने के और कुछ नहीं किया' प्रिंस अ० १८।

२—पी० जैनेट-हिस्ट्री डे ला साइंस पालिटिक पु० १, पृ० ४९१-६०२।

३—डिस्कोर्सेज १, १२ (अनूदित-सी० ई० डेटमोल्ड ४ पुस्तकें, (बोस्टन एवं न्यूयार्क) १८९१।

४—देखिए मार्सिलियो का लौकिकवाद, सैबाइन पृ० २९२।

५—डिस्कोर्सिज—१, १२।

६—डिस्कोर्सिज—२, २।

उसने रोमन शासकों और जनता के तथा अपने काल के स्विट्जरलैंड निवासियों के पारिवारिक जीवन की पवित्रता तथा व्यक्तिगत जीवन की आत्मनिर्भरता और वलिष्ठता, आचरण की सादगी और संयतता और सार्वजनिक कर्त्तव्यों के पालन में निष्ठा और विश्वसनीयता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु फिर भी वह सामान्य राजनीतिक जीवन की जटिलताओं के प्रति अन्धा नहीं वनना चाहता था। इसीलिए उसने अपने प्रिय देश इटली के उत्थान के लिए अपने नितान्त वुद्धिजीवी, रचनात्मक कलाओं के अभ्यासी, यूरोप में सवसे अधिक स्वतन्त्र विचार वाले तथा शान्त तर्क और प्रयोग की वैज्ञानिक भावना से विश्व की समस्याओं का सामना करने के लिए कटिबद्ध और गिरजा तथा पवित्र साम्राज्य जैसे दान्ते के काल के मध्ययुगीन आदर्शों में आस्था न रखने वाले देश वन्धुओं की राजनीतिक भ्रष्टाचार और नैतिक पतन के कारण हुई दुर्दशा से द्रवित होकर अपने तत्त्व-दर्शन का प्रतिपादन किया है। अरिस्तू ने जो यह वाक्य कहा था कि कानून और न्याय को तिलांजलि देने पर मनुष्य सवसे अधिक निकृष्ट पशु वन जाता है।' तो इस न्याय के अनुसार इटली वासी इस उक्ति के विशिष्ट मूर्त स्वरूप से लगते थे। उस समय के इटली में सामाजिक और राजनीतिक जीवन से हत्या, क्रूरता, विश्वासघात, झूठ, शक्ति-प्रयोग, छल-कपट, धूर्तता, पतितता, नग्न स्वार्थ, अव्यवस्था और अनाचार तथा अन्याय आदि का नंगा नाच देखते हुए[1] ही मैकियावेली ने अपने शासक को 'आधे मानव, आधे पशु', के सिद्धान्त पर आचरण करने की शिक्षा दी[2]। पौराणिक अर्ध-मानव तथा एकिलीज आदि के गुरु सैण्टोर शिरों का उदाहरण देते हुए उसने यह प्रामाणित किया कि एक प्रकृति दूसरी के बिना स्थायी नहीं हो सकती। मैकियावेली ने इस प्रसंग में कहा है कि शासक को जानवूझकर पशु-प्रकृति का प्रयोग करने के लिए वाध्य होने पर लोमड़ी और सिंह का अनुकरण करना चाहिए।

मैकियावेली के तत्त्वदर्शन के व्यावहारिक एवं प्रशासकीय पक्ष पर तो हम आगे (अ० ७) विचार करेंगे यहाँ हम केवल इतना कहना आवश्यक समझते हैं कि मैकियावेली ने ऋषियों और स्मृतिकारों की सी अन्तर्दृष्टि और निरपेक्ष, निष्पक्ष तथा लोक-हित-परायण भावना से अलौकिक युग-धर्म का प्रतिपादन किया है। इन तथ्यों के प्रकाश में हमें सर फ्रेडरिक पोलक के निर्णय से सहमत होकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि मैकियावेली के तत्त्व-चिन्तन में एक प्रकार की वैज्ञानिक अनासक्ति के दर्शन होते हैं[3]। मैकियावेली के तत्वदर्शन की वैज्ञानिकता और उसकी प्रतिपादित-शैली की ऐतिहासिक प्रयोगवादिता आदि के विषय में प्रसंग-प्रतिकूल विवाद में न पड़ते हुए हम केवल यह निवेदन करना चाहेंगे कि मैकियावेली की ये राजतन्त्र-विषयक

१—इटली की दुर्दशा पर, सैबाइन, पृ० २९०।
२—प्रिंस–१८।
३—सर फ्रेडरिक पोलक, हिस्ट्री आफ दी साइंस आव् पालिटिक्स' (१९११) पृ० ४३।

धारणाएं, यद्यपि जर्मनी के महाप्राण सुधारक सन्त मार्टिन लूथर के सफल आन्दोलन के परिणामस्वरूप कुछेक वर्षों तक काल की कसौटी पर कसी न जा सकीं परन्तु मैकियावेली की क्रान्तिमयी भविष्यवाणियाँ लगभग दो सौ वर्ष बाद सत्य उतरीं और इस दो सौ वर्ष के धार्मिक प्रभाव के अन्तराल-काल के पश्चात् मैकियावेली के वैधानिक एवं राष्ट्रीय राजतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार ही और उसके द्वारा दिए गए तत्त्व-दर्शन के द्वारा ही इटली[1] और जर्मनी[2] का उद्धार हुआ।

अतः मैकियावेली के तत्व दर्शन को संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि (१) मैकियावेली ने संप्रभुता-सम्पन्न एवं सर्वाधिक शक्तिशाली राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य की कल्पना की है। दूसरे, उसकी राजतन्त्र-विषयक नीतियाँ वैधानिक शासन-सत्ता की एक संगठित शक्ति के रूप में अपने प्रदेश में सर्वश्रेष्ठ तथा अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में विस्तारवादी नीति का पालन करने के पक्ष में हैं। तीसरे, मैकियावेली के राजतन्त्र-विषयक चिन्तन की यह विशेषता है कि वह महाभारत की तरह व्यक्ति और समाज की जीवन-पद्धति की रक्षा करना ही अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता, उसके अनुसार वह अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं को राज्य के ही हित की दृष्टि से निर्धारित दिशाओं में नियमित और नियंत्रित करना अपना मौलिक अधिकार और उत्तरदायित्व मानता है। चौथी, मैकियावेली के तत्त्व-दर्शन के अनुसार शासक की कुशलता या अविवेकिता को ही राजनीति की सफलताओं और असफलताओं का कारण माना गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि चतुर राजनीतिज्ञ समाज की नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक धाराओं के रूप में विद्यमान शक्ति प्रवाहों को राज्य के हित की दिशाओं में मोड़ सकता है और यदि चाहे तो राज्य के हित के लिए वह उन्हें निर्माण भी कर सकता है।

महाभारतकार और मैकियावेली के तत्त्वदर्शन में अन्तर—

मैकियावेली की उपर्युक्त मान्यताओं की तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि मैकियावेली ने या तो अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होकर या पराकाष्ठावादी होने के कारण "राज्य" को अत्यधिक महत्व दे दिया है। महाभारत में व्यक्ति भी नहीं, समाज ही सर्वोपरि सत्ता है और उसकी तथा उसकी नियामिका व्यवस्था की रक्षा और पालन का प्रबन्ध करने में ही राज्य के

१—इटली के निर्माताओं में से प्रमुख महाशय काउण्ट केवूर ने कहा था—"हमने इटली के लिए जो कुछ किया, यदि वह हम अपने लिये करते तो हम बहुत बड़े दुष्ट होते।"

२—जर्मनी के फ्रेडरिक महान् ने मैकियावेली का ही अनुकरण किया, यद्यपि किसी समय उसने—'रिफ्यूटेशन आव् दी प्रिंस 'आव् मैकियावेली' (मैकियावेली के प्रिंस का खण्डन) यह पुस्तक लिखी थी।

उत्तरदायित्व की इतिश्री मानी गई है। राज्य साधन है, साध्य नहीं। परन्तु मैकियावेली की अतिशय एकांगी दृष्टि ने साधन को ही साध्य बना दिया है। महाभारत आपद्धर्म पर्व में धर्म की रक्षा के लिए संकट-काल में अनैतिक उपायों का आश्रय लेने की अनुमति देता है परन्तु अनैतिक आचरण सामान्य दैनन्दिन राजनीति में कदापि श्रेय नहीं माना जा सकता। धर्म युधिष्ठिर राज्य से भी अधिक महत्व उन उदार गुणों और न्याय को देते हैं जिन्हें केवल राज्य के लिए छोड़ देना न तो इह लोक में ही सुखकर है और न परलोक की दृष्टि से ही उचित है।

जहाँ तक राजसत्ता के अपने राज्य में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने का प्रश्न है वहाँ हमारे द्वारा मैकियावेली के इस विषय में प्रकट किए गये विचारों के विश्लेषण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई राजसत्ता चाहे वह कितनी ही बड़ी हो सदा निरंकुश नहीं रह सकती। महाभारत की विचारधारा निरंकुश राजसत्ता का समर्थन नहीं करती यह हम पहले ही कह चुके हैं। मैकियावेली की विस्तारशील विदेश नीति की भावना महाभारत में अवश्य मान्य है परन्तु वह इसी रूप में कि राजा को चाहिए कि वह "पृथिव्या आसमुद्र-पर्यान्ताया एक राट्" अर्थात् सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकच्छत्र सम्राट होने का आदर्श सम्मुख रखे और उसके लिए दिग्विजय करके अनेकों सामन्तों और राजाओं को अपने अधीन वनाकर सम्राट की उपाधि धारण करे। महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी वनाकर दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ करते हैं जो उनकी सफल दिग्विजय और राज्य विस्तार का द्योतक है। इसी प्रकार महाभारत में महाराज जरासंध द्वारा अनेकों राजाओं के पराजित किए जाने और उनके उनकी राजधानी राजगृह में बन्दी वना लिए जाने का भी उल्लेख है। इन राजाओं की विस्तारशील नीति का यही एक प्रमुख प्रमाण है कि जरासंध और शिशुपाल की सेनाओं की विभीषिका के कारण ही महाराज कृष्ण के नेतृत्व में अन्धक-वृष्णि-संघ को शूरसेन प्रदेश छोड़कर पश्चिम समुद्र के तट पर जाकर वसना पड़ा और उन्होंने द्वारकापुरी को अपनी राजधानी के रूप में वसाया। परन्तु आश्चर्य की वात है कि अनेक युगों में विश्व की महानतम् साम्राज्य शक्तियों की सत्ता होते हुए भी भारतीय सेनाओं ने कभी भी भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं के वाहर जाकर दिग्विजय या राज्य विस्तार करने का प्रयास नहीं किया। सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपनी विश्व विजयिनी सेना को हिन्दूकुश के उस पार के निर्वल राजाओं को जीत लेने का आदेश नहीं दिया[१]। इसका कारण प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् एरियन ने मैगस्थनीज का उद्धरण देते हुए वतलाया है कि न्याय के लिए आदर की भावना होने के कारण ही किसी भी भारतीय राजा ने भारत की सीमाओं के वाहर विजय-यात्रा नहीं की[२]। न्याय की यह प्रतिष्ठा भारत की सीमाओं में होने वाली विजय यात्राओं में भी ६ वीं

१—राइस डेविस—'उस समय के विश्व की सवसे वड़ी राजसत्ता'।
२—एरियन—इण्डीका–अ० ६।

शताब्दी तक विद्यमान थी। एक मुसलमान लेखक ने लिखा है कि "हिन्दू अपने पड़ौसी राज्यों पर अधिकार करने की दृष्टि से युद्ध नहीं करते। उन राज्यों पर आधिपत्य कर लेने के बाद विजेता विजित राजवंश के किसी व्यक्ति को ही राजा बना देता है"[1] इस भावना के दर्शन मैकियावेली में किन कारणोंवश नहीं होते यह हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ केवल यह स्मरणीय है कि हिन्दू राजतन्त्र की 'वैधानिकता' और 'नागरिक स्वशासन' ही वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण यह संस्था सब देशों की अपेक्षा भारत में सबसे अधिक दीर्घजीवी बनी रही और जनता और राज-सत्ता के बीच भीषण रक्त-पात-पूर्ण संघर्ष की कभी नौबत ही नहीं आई। जो समालोचक हिन्दू जनता की धार्मिक भावनाओं की प्रबलता को उनकी राजनीतिक प्रबुद्धता के लिए अभिशाप बतलाते हैं और हिन्दू जनता में अधिकार-भावना का अस्तित्व ही न होना सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें आधुनिक युग के सर्वप्रथम प्रमुख भारत-विषयक लेखक महाशय डन्कर के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये, 'वे (हिन्दू) इसी (दृढ़-ग्राहिता, अटलता, अं० टैना-सिटी) के कारण अपने आदिकाल से लेकर आज तक के इतिहास में, अपनी उच्चतम बौद्धिक उपलब्धियों की ओर अग्रसर होने की प्रवृति के रूप में सबसे मूल्यवान् धरोहर की रक्षा करते आए हैं। यह अमूल्य निधि अभी तक श्रेष्ठ भारतीयों के हृदयों में ओजस्वी रूप में सुरक्षित है और यह और अधिक निश्चित रूप में दिखाई देता है कि इसके कारण हिन्दुओं का भविष्य और अधिक उज्ज्वल होगा[2]।'

इस विषय में यहाँ तक विस्तारपूर्वक विवरण देने का हमारा अभिप्राय यह है कि यद्यपि मैकियावेली ने प्रिंस के अन्त में पैट्रार्क की एक कविता का उद्धरण दिया है जिसमें इटली निवासियों की प्राचीन वीरता की ओर संकेत किया गया है और कहा है कि वह अभी इटली वासियों के हृदय में जीवित है, मरी नहीं है। साथ ही इटली वासियों की देशभक्ति और स्वामिभक्ति की भी प्रशंसा की गई है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मैकियावेली ने जिस राजनीति का "प्रिंस" में प्रतिपादित किया वह स्वयं उसके देश की जनता के ही अनुरूप नहीं दिखाई देती।

मैकियावेली के तत्त्वदर्शन की विशेषताओं के बारे में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सामाजिक संस्थाओं अर्थात् राज्य की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक रूपों में विद्यमान शक्ति-प्रवाहों को राज्य के हित की दृष्टि से इच्छानुसार नियंत्रित करने के विषय में उसका विचार दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर पल्लवग्राही सा ही है और न ही शासक की कुशलता और अकुशलता को ही इतना बड़ा तत्त्व माना जा सकता है कि जिसके आधार पर राज्यों के भाग्यों का सूर्य उदय और अस्त होता हो। उपर्युक्त शक्ति-प्रवाहों के नियमन के विषय में उसके

१—एबे रेनोडोट द्वारा अनूदित (१७१८) आबू जैद द्वारा उल्लिखित व्यापारी सुलेमान के विवरण।

२—डन्कर, हिस्ट्री आव् एण्टिक्विटी (१८५२–५७) पृ० ४ अ० १०।

महत्व को स्वीकार कर लिया जाय तो भी वह शासक इन प्रवाहों का इच्छानुसार सर्जन कर सकता है; यह असम्भव है ।

प्रायः यह भी देखा गया है कि उक्त शक्ति-प्रवाह न केवल समाज का अपितु राज्य के भी भविष्य का निर्णय करते हैं। क्या मैकियावेली का तत्त्व-दर्शन भी उसके काल के इटली के इन्हीं प्रवाहों का प्रतिनिधि नहीं है । व्यष्टि को समष्टि से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता । अतः यही कहना पड़ता है कि कहीं कहीं मैकियावेली के चिन्तन में अतिवादिता की गंध आ गई है । शासक और शासित के सम्बन्धों के विषय में विचार करते समय हमें उसके इस अतिवादी पक्ष पर ही अधिक जोर देना उचित न होगा । अपनी परिस्थितियों के प्रभाव में उसके इस प्रकार के विचार नितान्त स्वाभाविक हैं । अतः हम राज्य की अपने नागरिकों के प्रति अपनाई गई नीतियों की विवेचना के आधार पर राज्य की वस्तु-स्थिति और समाज के विभिन्न घटकों के कर्त्तव्य, उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों के आधार पर नागरिकों की वस्तु-स्थिति की समीक्षा मैकियावेली के अतिशयोक्ति-पूर्ण कुछेक उद्धरणों के आधार पर नहीं करना चाहेंगे जैसाकि अनेक विद्वानों ने प्रयास किया है ।

चतुर्थ अध्याय
राज्य और नागरिक

- राज्य और नागरिकों के परस्पर सम्बन्ध-कर्तव्य और उत्तरदायित्व।
- सामाजिक घटकों की विशिष्ट राजनीतिक स्थिति।
- मूल आधार-वर्ण-धर्म।
- ब्राह्मण के कर्त्तव्य और विशेषाधिकार—इस विषय में प्रचलित पाश्चात्य मतों की समीक्षा।
- महाभारतकाल में वर्णों का अन्तर्मिश्रण।
- क्षत्रिय-वर्ण, क्षात्रधर्म, विशिष्ट कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व।
- ब्राह्म और क्षात्र-शक्तियों का सामंजस्य और सन्तुलन।
- भारत का क्रान्तिमय सामाजिक और राजनीतिक रंगमंच।
- वैश्य-वर्ण।
- शूद्र-वर्ण।
- विभिन्न सामाजिक वर्गों के मूलभूत अधिकार और वस्तुस्थिति।

चतुर्थ अध्याय

राज्य और नागरिक

राज्य और नागरिकों के परस्पर सम्बन्ध कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व

मनुष्य केवल वर्तमान में ही जीवित नहीं रहता। अतीत में अर्जित किए हुए ज्ञान, अनुभव, स्मृतियों, संस्कारों, जीवन मूल्यों एवं मूल्यदृष्टियों के साथ-साथ मानवीय महत्वाकांक्षाओं और सृजनात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा अर्जित दार्शनिक विवेक मानव-व्यक्तित्व को सभी क्षेत्रों में प्रभावित करता है। अतः यह देखना आवश्यक है कि विशिष्ट भारतीय और यूरोपीय दर्शनों ने राज्य और नागरिकों के आपसी सम्वन्धों को किस प्रकार प्रभावित किया है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के नागरिकों के प्रति तथा उसी प्रकार नागरिकों के अपने साथी नागरिकों एवं राज्य के प्रति जो कर्तव्य और उत्तरदायित्व बतलाये गये हैं उनमें क्या वस्तुतः कोई परस्पर विरोध दिखाई देता है ? यदि हाँ, तो फिर इस प्रकार के हित-विरोध का समाधान किस प्रकार किया गया है ?

प्राचीन भारत का सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय तथा अन्य साहित्य इस प्रकार के चिन्तन से ओतप्रोत है। महाभारत का लगभग तीन चौथाई भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जीवन की इसी जटिल समस्या का समाधान करने के लिए प्रेरणा देता है। पश्चिम में भी प्राचीन काल में अरिस्तू जैसे कुछेक विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया था। प्राचीन परम्परा के विपरीत आधुनिक काल के राजनीतिक विचारक इस विषय का विचार दूसरे दृष्टिकोण से करते हैं। वे राज्य और नागरिकों के आपसी 'अधिकारों' का विवेचन करना चाहते हैं। उनकी मूल मान्यता है कि राज्य नागरिकों के अधिकारों का हनन करने वाला और उनके हितों का विरोधी है और इसलिए वे नैतिक और अध्यात्म जीवन से पृथक् लौकिक दृष्टिकोण से जनता के मूल अधिकारों की व्याख्या करते हैं। भारतीय राजनीतिक शास्त्र में इस विषय का विवेचन बिल्कुल भिन्न प्रकार से किया गया है।

कर्त्तव्य और अधिकार के विषय में भारतीय दृष्टिकोण

समाज के सर्वांगीण जीवन का नियमन और नियंत्रण करने वाली राज्य संस्था अपनी विशेष स्थिति के कारण राज्य के सभी नागरिकों के प्रति कुछेक कर्तव्यों का

पालन करने के लिए किस प्रकार उत्तरदायी है, यह हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं। राज्य के इन कर्त्तव्यों के आधार पर ही नागरिकों के अधिकारों का निर्णय होता है। कर्तव्य एवं अधिकार का यह सम्बन्ध आधुनिक राजनीतिक विचारकों को जटिल और विचित्र अवश्य लगता है परन्तु है वह नितान्त मौलिक, व्यावहारिक और सुबोध। उदाहरण के लिए राज्य का कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों की सम्पत्ति की रक्षा करे। यदि राज्य इस रक्षा के उत्तरदायित्व में असफल रहा और किसी नागरिक की चोरी हो गई तो राज्य का कर्तव्य है कि नागरिक की क्षति की राज-कोष से पूर्ति करे और इस प्रकार की दुर्घटना की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए चोर या चोरों को कठोर दण्ड दे। जिसका स्पष्ट अभिप्राय जनता का धन और सम्पत्ति की सुरक्षा का अधिकार और राज्य के द्वारा उसकी मान्यता ही है। इसी को आधुनिक राजनीतिविज्ञान की भाषा में दूसरे शब्दों में कहने का ही यदि प्रयत्न किया गया है और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वह उसी रूप में उपलब्ध नहीं होता तो किसी विद्वान् को कदापि यह कहने का अधिकार नहीं है, "कि प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों ने इन समस्याओं के लिए कोई स्थान नहीं दिया है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं"[1] ? अधिकारों, कर्त्तव्यों और उत्तदायित्व की ये धारणाएँ इतनी मौलिक और आधारभूत हैं कि भारतीय जीवन की सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक उपलब्धियों का विचार करते हुए सुदूर प्राचीनकाल में भी इनकी उपस्थिति न मानना समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की मान्यताओं के तो प्रतिकूल है ही राजनीतिक विकास के क्रम के तत्त्वविज्ञान के भी विपरीत है। वास्तविकता यह है कि भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन के अनुसार व्यक्ति के राजनीतिक कर्त्तव्य भी उस शाश्वत सनातन धर्म के अंग हैं जिनके अनुसार शासक भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य है। सामान्यतया दोनों ही पक्षों के अपने अपने धर्म का पालन करते रहने पर परस्पर विरोध का कोई अवसर ही नहीं आना चाहिए। आखिर मात्स्यन्याय की परिस्थितियों को दूर कर धर्म (कानून और न्याय) के अनुसार व्यवस्था स्थापित करके समाज की प्रगति और कल्याण के लिए अपने सुनिश्चित कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए ही राज्य है, इसीलिए उसे जनता ने स्थापित किया है, उसके लिए कर-व्यवस्था की है और राज्य इसके ही लिए प्रतिज्ञाबद्ध भी है तथा सर्वोपरि संप्रभु-सत्ता 'धर्म' के द्वारा बाध्य भी।

प्रश्न यह है कि यदि राज्य अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का पालन उचित रूप से न करे अथवा नागरिक ईमानदारी से अपने अपने कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का पालन न करें तो इस स्थिति से उत्पन्न अव्यवस्था और अनवस्था का किस प्रकार निराकरण किया जाय[2] ? जहाँ तक नागरिकों के उचित प्रकार से अपने अपने कर्त्तव्यों

१—आल्टेकर पृ० ३९।

२—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य०'

—भीष्म पर्व २८, ७।

के पालन का प्रश्न है इस विषय से पूरा उत्तरदायित्व राज्य का है। नागरिकों को अपने अपने नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का पालन करने और दूसरों को भी उसी प्रकार करने देने के लिए वाध्य करने का कार्य राजसत्ता दण्डव्यवस्था के द्वारा करती है। इसी लिए सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही है कि यदि राजसत्ता अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे या उनके विरुद्ध आचरण करे तो उसका नियंत्रण कैसे किया जाय ? यद्यपि कहा यही गया है कि 'जहाँ सारी संस्थाएँ श्रेय अथवा भलाई को लक्ष्य वनाती हैं वहाँ सबसे बड़ी संस्था अर्थात् राज्य का जिसमें शेष सब समुदाय समावेशित हैं, लक्ष्य सर्वोच्च श्रेय को सर्वाधिक मात्रा में उत्पन्न करना है'[१] किन्तु यह सत्य है कि मानवीय प्रकृति की यह प्रवृत्ति है कि मानव को आजीवन अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा रहती है[२]। अतः राजा का 'स्ववश' या निरंकुश हो जाना सम्भव है[३]।

अधिकार-चेतना विषयक विभिन्न मतों की समीक्षा—

आचार्य आल्टेकर का मत है कि इस प्रश्न की ओर प्राचीन भारत के विचारकों ने बहुत कम ध्यान दिया है, क्योंकि यह मान लिया गया है कि सभी पक्ष सामान्यतया अपने अपने धर्म का पालन करेंगे ही। आचार्य घोषाल[५] ने प्रतिपादित किया है कि 'कर्म के सिद्धान्त' पर भरोसा रखकर ही हिन्दू नागरिक निरंकुश राजा के प्रति कोई प्रतिकार करने के लिये प्रवृत्त नहीं होते थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने[६] तो दूसरी पराकाष्ठा को पहुँचकर यही फतवा दे दिया है कि हिन्दू राज्यों में नागरिकों को अपने अधिकारों की चेतना ही नहीं थी अतः निरंकुश राजा के प्रति किसी संवैधानिक प्रतिरोध की सम्भावना ही हिन्दू राज्य में नहीं हो सकती थी। इस प्रकार के विचार किस प्रकार अभावात्मक साक्ष्य पर आधारित और अवैज्ञानिक हैं इसका कुछ विश्लेषण हम पहले भी कर चुके है[७]। उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि हिन्दू राज्य में समाज के विभिन्न घटकों की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राज्य सत्ता की वस्तुस्थिति का अध्ययन करने, सत्ता के सीमित स्वभाव और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को परखने तथा 'संप्रभुता सम्पन्न धर्म' की अवहेलना करने वाले शासक को

१—अरिस्तू की राजनीति पुस्तक १
२—दे० जार्ज एच० सैबाइन, ए हिस्ट्री आव् पोलीटिकल थियरी, १९३९, पृ० ४६३ पर उद्धृत हाब्स का मत।
३—शान्तिपर्व ५९, १०७ 'स्ववशो न कदाचन'।
४—आल्टेकर पृ० ५९।
५—घोषाल, २०७–९ तथा ५५०–५५२ दे० विनय कुमार सरकार, १८१–२।
६—वर्मा, हिन्दू राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार, ९५ तथा जे वी आर एस, पृ० ३९, ७४।
७—यही पुस्तक अ० २,३।

दण्ड देने के लिए उपयुक्त स्थायी प्रबन्ध समाज-व्यवस्था के संगठन में ही कर दिए जाने आदि का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जायगा कि तथाकथित संवैधानिक या कम कठोर उपायों की आवश्यकता ही भारत में क्यों अनुभव नहीं हुई ? इतिहास साक्षी है कि छोटे मोटे राज्य नहीं साम्राज्य तक वदल दिए गये किन्तु ऐसे लिखित विधानों की आवश्यकता नहीं पड़ी[1]। अब यह देखना है कि महाभारत में वर्णित समाज व्यवस्था के अनुसार समाज के विभिन्न घटकों के राजनीतिक कर्त्तव्यों, अधिकारों और उत्तरदायित्वों की दृष्टि से नागरिकों की वास्तविक स्थिति क्या थी ? हम यहाँ यह स्मरण करा देना आवश्यक समझते हैं कि इस प्रश्न का विचार किए बिना हिन्दू राज्य के वास्तविक स्वरूप का वोध होना सम्भव नहीं है।

सामाजिक घटकों की विशिष्ट राजनीतिक स्थिति

हिन्दू समाज व्यवस्था के अनुसार सम्पूर्ण समाज चार वर्गों अथवा वर्णों में विभाजित था। चारों वर्णों की दिव्य उत्पत्ति का सिद्धान्त अर्थवाद मात्र होने के कारण यह स्पष्ट है कि श्रम विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर ही प्राचीन भारत में मानव स्मृति के परे सुदूर अतीत काल में क्रमशः इन वर्णों का विकास हुआ। इस वर्ण-व्यवस्था की विशेषता यही है कि मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में अर्थात् आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक संवासों में प्रत्येक वर्ण को अपनी आपेक्षिक सामर्थ्य के अनुरूप प्रगतिशील विकास करने का अवसर प्राप्त है क्योंकि हमारे मत में, महाभारत काल तक वर्ण व्यवस्था निश्चित रूप से केवल जन्म के ही आधार पर मानव शिशु को अभिशप्त कर देने वाली विकृत विघटनात्मक जाति-संस्था का रूप न ले पाई थी। 'हाँ यह मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन वर्णों की सामाजिक और व्यक्ति विशेष की विशिष्ट योग्यता के अनुरूप ही राजनीतिक जीवन में उनका योगदान होता था और उसी के अनुसार उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा भी। प्राचीन काल में पश्चिम में भी ग्रीस और रोम आदि देशों की राज्य-व्यवस्था में राज्य के सभी नागरिकों. को राज्य के शासन में योगदान देने का अधिकार और प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। जिन्हें राज्य के शासन कार्य में सक्रिय भाग लेने और इसके कानूनों और नियमों का निर्धारण करने में योगदान देने का अधिकार और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी वही लोग 'नागरिक' कहलाते थे। इनकी तुलना में इनमें बिल्कुल विपरीत राज्य के बहुसंख्यक निवासियों के अनेक समुदाय दास अथवा अर्धदास की सी स्थिति में रहते थे और इन्हें शायद ही कोई सामाजिक और राजनीतिक अधिकार उपलब्ध रहे हों। इनके अतिरिक्त विदेशियों को भी राज्य के संवैधानिक जीवन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था[2]।

१—भारत में लिखित विधान की जगह अलिखित विधान—देखिए यूनानी लेखक नियरकस, भाग ७, स्ट्रैबो १५, पृ० ७१६।

२—डा० आल्टेकर ४, ३९।

इसके विपरीत भारत में प्रत्येक वर्ण के नागरिक, हिन्दू धर्म की मानवीयता के कारण, सामाजिक और राजनीतिक जीवन धारा के अभिन्न अंग रहे हैं। वैदिक काल से ही ग्राम-प्रशासन की मूल संस्था ग्राम-सभा (पंचायत) से लेकर राजा की मन्त्रि-परिषद् तक में समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व इसका प्रमाण है[1]। महाभारत के सैद्धान्तिक वाक्यों और इतिहास पक्ष के पात्रों के उदाहरणों से यह बात सिद्ध हो जाती है[2]। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के छोटे छोटे राज्यों में बँटे होने पर भी सम्पूर्ण देश की सांस्कृतिक एकता के नितान्त प्रभावी तत्व के रूप में क्रियाशील होने के कारण अन्य राज्यों के निवासियों को न तो विदेशी ही समझा जाता था और न उनके अधिकार और प्रतिष्ठा में कोई भेद-भाव दिखाई पड़ता था। स्थिति यहाँ तक थी कि अनेक विदेशी व्यक्तियों जैसे ग्रीक, हूण, शक, कुषाण तथा यवन जातियों के सदस्यों को भी हिन्दू राजाओं के द्वारा प्रशासकीय उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था और इन जातियों के सभी सदस्यों को वही अधिकार दिए जाते थे जो अन्य हिन्दू नागरिकों को प्राप्त थे। इसका कारण शायद यही था कि हिन्दू धर्म एवं अध्यात्म में मुसलमान और ईसाई अध्यात्म की तरह विदेशियों को 'काफिर' या 'पैगन' मानकर उनसे घृणा करने या उनका मूलोच्छेद करने का आदेश देने जैसी कोई बात नहीं थी। राज्य सत्ता सभी धर्मों के प्रति न्यायपरक यथोचित मानवीय व्यवहार करती थी। यह विश्वास किया जाता था कि ये जातियाँ कालान्तर में ऐसी ही अन्य अनेक विदेशी जातियों की तरह हिन्दू समाज की अभिन्न अंग बन ही जायेगी[3]। इतिहास साक्षी है कि इनमें से विजेता के रूप में आई जातियां भी हिन्दुत्व का अविभाज्य अंश बन गई। इसका मूल कारण हिन्दू राज्य के नागरिकों को, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समान रूप से प्राप्त होने वाली साझेदारी ही है, फिर चाहे वे किसी भी वर्ग या वर्ण के हों। ऋग्वेद में उल्लिखित (१०,८५) वर्णों की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चारों वर्ण एक ही शरीर के विभिन्न अंग है। सिर और पैर के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्य कलाप, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भिन्न होते हुए भी सम्पूर्ण शरीर की दृष्टि से उनके, सापेक्षिक किन्तु सुनिश्चित महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। और इस सापेक्षिक महत्व अर्थात् दूसरे शब्दों में अधिकार और उत्तरदायित्व की व्याख्या का मूल आधार वर्ण-विशेष के कर्त्तव्य अथवा वर्ण-धर्म को ही मानना पड़ेगा। अतः प्रस्तुत प्रसंग में वर्णों के सामान्य कर्त्तव्यों एवं विशेष अधिकारों की चर्चा करना आवश्यक है। हिन्दू राज्य में इन तत्वों का विश्लेषण किए बिना राज्य की वस्तु स्थिति और उसके नागरिकों की स्थिति और राजनीतिक योगदान का मूल्यांकन संभव नहीं है।

१—दे०-यही पुस्तक, अ० ७।

२—देखिए अ०२,प० २।

३—डा० अल्टेकर ४, ४०–४१

मूल आधार—वर्णधर्म

भारत में, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, यज्ञोपवीत धारण कर विद्याध्ययन करने वाले पहले तीनों वर्णों को 'द्विजाति' या द्विज तथा अन्यों को 'एकजाति' कहा जाता था। इनके वर्ण-धर्मों की व्याख्या ब्राह्मण-ग्रन्थों में और धर्मशास्त्रों में बड़े विस्तार से की गई है [1]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों के तीन सामान्य कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे हैं:—

१—अध्ययन
२—यज्ञ और
३—दान

इनके अतिरिक्त इन तीनों वर्णों में से प्रत्येक वर्ण के कुछ विशेषाधिकार माने गये हैं, जो वस्तुतः इनके प्रमुख आजीविका के साधन कहे जा सकते हैं। ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों में वेदों का अध्यापन, यज्ञों में ऋत्विज या होता आदि का कार्य और प्रतिग्रह (अर्थात् दान ग्रहण करना) ये ही प्रमुख हैं। शस्त्रजीवी होना और रक्षा करना ये क्षत्रियों के विशेषाधिकार हैं तथा खेती, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य तथा रुपया उधार देना आदि वैश्यों के विशेष अधिकार कहे गये हैं। सभी वर्णों की सेवा शूद्रों का विशेषाधिकार है। इस प्रकार अध्ययन, यज्ञ और दान को सभी द्विजों के धर्म तथा वेदों का अध्यापन आदि कार्यों को द्विजों की वृत्ति या आजीविका माना गया है। इस प्रकार कर्त्तव्य और विशेषाधिकार के रूप में, दो विभाजन करने का अभिप्राय यह माना गया है कि पहले तीनों की अवहेलना करने या प्रमादवश उनका पालन न किए जाने पर व्यक्ति को पाप लगेगा, जबकि कोई ब्राह्मण दूसरे तीनों या उनमें (अध्यापन, यज्ञ और प्रतिग्रह में) से किसी एक के द्वारा ही आजीविका चलाने के लिए बाध्य नहीं है।

ब्राह्मण—

इस प्रसंग में ब्राह्मवर्ण के अधिकारों, कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का वर्णन ब्राह्मणों को एक सामाजिक घटक मानकर करना आवश्यक है। पुरोहित, धर्म-गुरु, ऋषि और वैदिक ज्ञान के रक्षक और वितरक (अध्यापक) होने के नाते उनकी विशेष स्थिति, उनके विशेष उत्तरदायित्व और उनके द्वारा हिन्दू राजनीतिक जीवन की प्रगति में किए गये योगदान और अर्जित श्रेय आदि का विवेचन हिन्दू

१—वन पर्व १५०, ३४–५; वही २०६, ३६–७, वर्ण धर्म के लिए दे० गौतम १०, १–३; आप० ध० सू० २, ५; १०, ५८; बौ० ध० सू० १, १०–२५; वसिष्ठ २, १३–१६; मनु १, ८०–६०; १०, ७५; या० १,११८–६; विष्णु ध० सू० ११, १०–१५; अत्रि० १३–१५; (हि० ध० शा० में २, १, १०५ पर पाद टिप्पणी में निर्दिष्ट)

राजनीति के विद्यार्थी को नितान्त महत्वपूर्ण है परन्तु यहाँ अनावश्यक विस्तार के भय से आवश्यक विशेष बातों की ओर संक्षेप में संकेत कर देना ही अभिप्रेत है। महाभारत में ब्राह्मणों की दिव्य उत्पत्ति, दिव्य अधिकार, सामाजिक और राजनीतिक विशेषाधिकार और प्रतिष्ठा, कर मुक्ति, शरीर-दण्ड से मुक्ति, आजीविका और भरणपोषण के लिए समाज और राज्य से दान और सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार, विशेष राजनीतिक उत्तरदायित्वों जैसे पुरोहित, प्रधानमंत्री, न्यायाधीश आदि के पदों पर एकाधिकार तथा धार्मिक और नैतिक जीवन की प्रमुख सूत्रधारता आदि को दृष्टि में रखकर, कहीं साक्षात् और कहीं परोक्ष रूप से, कहीं शास्त्रीय विवेचन के रूप में तो कहीं आख्यानात्मक अर्थवाद-प्रधान पद्धति से इतनी सामग्री उपलब्ध है कि वह अनेक पुस्तकों का उपजीव्य विषय बन सकती है। भारतीय संस्कृति, धर्म तथा राजनीति शास्त्र के विषय में अनुसंधान करने वाले अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इस असामान्य स्थिति के रहस्य को न समझ पाने के कारण तथा आर्य प्रतिभा के समन्वयात्मक तथा सामंजस्य पूर्ण सन्तुलन स्थापित करने में अतिप्रवीण पाण्डित्य को न परख पाने के कारण ही शायद एक सीधा सादा अपने मन्तव्य के अनुकूल विश्लेषण दे दिया है और वह यह है कि इन शास्त्रीय सिद्धान्तों के रचयिता स्वयं ब्राह्मण ही थे अतः अपनी स्थिति को सुदृढ़ और वरेण्य बनाने के लिए उन्होंने यह सब कुछ लिख डाला है। हम यह कहना चाहेंगे कि इस मत का वास्तविकता से कोई नाता नहीं है। सभी जानते हैं कि भौतिक समृद्धि सामान्यतया व्यक्तिगत जीवन में सुख और सामाजिक जीवन में श्रेष्ठता की स्रोत होती है। गहन रूप से अधार्मिक और अनाध्यात्मिक ह्रासोन्मुख मानवीय परिस्थितियों में भी उससे विमुख होकर मानव के सांस्कृतिक ऊर्ध्वोन्मुख विकास का श्रेय वस्तुतः जिस वर्ग को प्राप्त है उसे इस प्रकार अपमानित करना अन्याय ही है। हाप्किन्स ने तो अपने महाभारतकालीन सामाजिक जीवन के वर्णन में ब्राह्मण शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद ही "पुरोहित" (अं० 'प्रीस्ट') किया है और फिर पश्चिम जगत् की पुरोहित सत्ता, पोप, और गिरजे को अवचेतन में रखते हुए पश्चिम जगत् की कुण्ठाओं को भारतीय जीवन पर लाद लिया है[1]। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारत में प्रत्येक ब्राह्मण न कभी पुरोहित होता था और न आजकल होता है। दूसरे जिस ब्राह्मण वर्ग के लिए सैंकड़ों श्लोकों में विशेष अधिकारों और संरक्षणों की व्यवस्था की गई है उस वर्ग के उन्नीसवीं और बीसवीं शती के भी भारतीय प्रतिनिधि-महापुरुषों जैसे उदाहरण के रूप में दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी आदि स्वनाम धन्य ब्राह्मणों के लिए ऐसी व्यवस्था करने वाला तत्त्वदर्शन भी अपने उत्तरदायित्व का ही पालन कर पायेगा न कि ऐसी विभूतियों पर कोई एहसान। सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का संरक्षण और संवर्धन करने का अभौतिक

१—हाप्किन्स—जे० ए० ओ० एस, पुस्तक १३।

एवं सांस्कृतिक उत्तरदायित्व सम्भाल कर तलवार की धार पर चलने वाले वर्ग के लिए विशेष अधिकारों की व्यवस्था "कानून के सामने समानता" के सिद्धान्त की अवहेलना नहीं कही जा सकती।

हजारों वर्ष पूर्व की उन प्राचीन भारतीय परिस्थितियों में निःशुल्क शिक्षा का विना किसी प्रकार का वेतन स्वीकार किए प्रवन्ध करने वाले तथा उसका भार वहन करने वाले वर्ग के लिए आध्यात्मिक तथा धार्मिक पुट देकर प्रयोग में लाई गई हिन्दू व्यवस्था का कोई भी समाजशास्त्री अनुमोदन ही करेगा। पश्चिम की संस्था और पोप-सत्ता, विशप् आदि की नियुक्ति और अधिकारों तथा उनके नियमित गिरजे की प्रचण्ड आय-साधनों की ओर हम यथास्थान आगे संकेत करेंगे जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि धर्म, विधि एवं न्याय की दृष्टि से भारतीय व्यवस्था अपेक्षाकृत कितनी न्याय्य एवं व्यावहारिक है। पश्चिम के अरिस्तू जैसे राजनीतिक विचारक गिरजे की सत्ता के विरोधी होते हुए भी यह मानते हैं कि प्राचीन ग्रीस में ज्ञान-विज्ञान और विभिन्न विद्याओं कीं उन्नति का श्रेय वहाँ के पुरोहित वर्ग को है[1]।

चारों वर्णों के जीवनोपाय—

वन पर्व में कौशिक ब्राह्मण[2] को उपदेश देते हुए धर्म व्याघ ने सभी वर्णों के सामान्य आजीविका के उपायों का वर्णन करते हुए कहा है कि (कृषि, पशु-पालन (गोररक्ष्य) तथा वाणिज्य ये तीनों पेशे संसार में मनुष्यों के (लोकस्य) जीविका के उपाय हैं (जीवनम्) परन्तु वर्णविशेष के लिए भिन्न-भिन्न कर्मों का विशेष निर्धारण कर दिया गया है जैसे ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य, तप, वैदिक वेदविद्या तथा सत्य, क्षत्रिय के लिए संग्राम, वैश्य के लिए कृषि तथा शूद्र के लिए शिल्प या सेवा (कर्म)। इसी नितान्त स्वाभाविक मानवीय दृष्टिकोण की पुष्टि एक अन्य उद्धरण के द्वारा भी होती है जिसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि चारों ही वर्ण वस्तुतः एक ही शरीर से उत्पन्न हुए हैं केवल उनके धर्म और आचरण भिन्न भिन्न हैं। और चारों वर्णों में इन्हीं (धर्म और शौच) के आधार पर ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है[3]। भीष्म पर्व में भगवान् कृष्ण ने चारों वर्णों को अपनी ही सृष्टि वतलाते हुए गुणों और कर्मों के विभाग के अनुसार चारों वर्णों की व्यवस्था किए जाने का समर्थन किया है। इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि इस चातुर्वर्ण्य (चार वर्णों में गुण, कर्म के अनुसार समाज के विभाजन) को भी परमेश्वर की ही सृष्टि माना जाय[4]।

१—अरिस्तू, मेटाफिजिक्स १, १, ९८१।

२—वनपर्व, २०७, २४–२५ 'ब्रह्मचर्यतपोमन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा'।

३—एकदेहोद्भवाः वर्णाश्चित्वारोऽपि वरांगने।
पृथग्धर्माः पृथक् शौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः॥ आदि पर्व ८१, २०।
देखिये ऋग्वेद १०–९०।

४—भीष्म २८, १३; भीष्म २७, ३५।

प्रश्न यह है कि महाभारतकार वर्ण-व्यवस्था की मानवीय संस्था माने जाने की अपेक्षा ईश्वरीय संस्था माने जाने के पक्ष में क्यों हैं? इस प्रश्न का उतर यद्यपि हम पहले दे चुके हैं (अ० २)। तो भी यहाँ इतना और कहना चाहेंगे कि महाभारतकार का उद्देश्य यह है कि राज्य और नागरिक दोनों की दृष्टि से ही अतीव कल्याणकारी वर्ण-व्यवस्था का पालन ईश्वरीय आज्ञा मानकर किया जाय। वह प्रत्येक वर्ण के लोगों को यह आदेश देते हैं कि वे अपने धर्म का यथाशक्ति सर्वथा निर्वाह करें दूसरों के कर्त्तव्यों को भली प्रकार करने की अपेक्षा अपने कर्तव्य का औना-पौना निर्वाह भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अपने कर्तव्य का पालन करने में मृत्यु भी हो जाय तो श्रेयस्कर है, परन्तु अपने धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को स्वीकार करना भयावह है। क्योंकि अपने अपने कर्तव्य में पूरी निष्ठा से परायण रह कर ही मनुष्य सर्वोच्च सफलता को प्राप्त करता है[1]। और फिर कौनसा ऐसा कर्म हैं जिसमें कोई दोष न हो (यद्यपि स्वभावतः अपना कर्म ही सबसे अधिक दोषपूर्ण लगा करता है)। परन्तु जीवन की वास्तविकता यह है कि जीवन के सभी व्यवसायों (सर्वारम्भाः) में दोष इसी प्रकार व्याप्त है जैसे अग्नि में धुआं[2]। सबके स्रष्टा और सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की सच्ची पूजा जीवन की सफलता अपने कर्म को पूजा समझकर करने से सम्पन्न होती है[3]। अपने स्वभाव के अनुरूप सुनिश्चित कर्त्तव्य निवाहते हुए न कोई पाप लगता है और न किसी प्रकार के अनिष्ट की ही आशंका सम्भव है[4]। कर्तव्य बुद्धि से आसक्ति और फल की भी आशा छोड़कर किया जानने वाला निष्काम कर्म परम सिद्धि का देने वाला और नर को नारायण बनाने वाला है[5]। महाभारत की इन कर्म-सम्बन्धी धारणाओं और सामाजिक संगठन की मूल प्रेरणाओं के आलोक (१२/२) में ही हिन्दू राज्य के शासक और शासित दोनों के कर्तव्य, अधिकार और उत्तर-दायित्वों की वस्तु स्थिति को समझ सकते हैं।

ब्राह्मण के गुण-कर्म—

हम अभी कह चुके हैं कि प्रत्येक वर्ण के विभाजन का आधार कतिपय गुण और कर्म हैं इन्ही दोनों का संयुक्त समावेश एक शब्द "धर्म" में हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म का विवेचन करते समय महाभारतकार ने कहा है कि ब्राह्मण स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाले गुण ये हैं: शम, दम, तप, शौच (शुद्धि), क्षमा,

---

१—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। —भीष्म पर्व ४२, ४५।

२—सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ६,४२;४८।

३—स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥६,४२,४६॥

४—भीष्म पर्व ४२, ४७।

५—वही, ४२, ४९–५३ (ब्रह्मभूयाय कल्पते)।

ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक भावना[1]। ब्राह्मण वर्ण के कर्मों का परिगणन संक्षेप में यों किया गया है कि जो अध्यापन और अध्ययन करे, यज्ञ करे अथवा यज्ञ करवाये, यथाशक्ति दान भी दे (और दान ले भी) उसे ही विद्वान् लोग (देवाः), ब्राह्मण कहते हैं। जो द्विज ((द्विजपुंगवः) ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्रह्मचारी, वाग्मी दयालु और करुणापरायण (वदान्यः) प्रमादरहित स्वाध्याय-परायण होता है वही ब्राह्मण कहा गया है।

ब्राह्मण के कर्त्तव्य और विशेषाधिकार—इस विषय में प्रचलित पाश्चात्य मतों की समीक्षा—

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि उपर्युक्त स्वभावजनित गुण-कर्मों के आधार पर ब्राह्मणवर्ण हिन्दू शासनसत्ता और हिन्दू समाज के प्रति कौन-कौन से विशेष कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का पालन करता है? किस प्रकार उसके कर्त्तव्य और विशेषाधिकार उसे हिन्दू राज्य में एक विशेष स्थिति प्रदान करते हैं? यहाँ केवल उपादेयता की दृष्टि से ब्राह्मण के कर्त्तव्यों में से अध्ययन-अध्यापन, प्रतिग्रह और भिक्षा के अधिकार तथा धर्म रक्षा के लिए राज्य की रक्षा के विषय में उसके विशेषाधिकारों की चर्चा करेंगे।

प्राचीन वैदिककाल से ही ब्राह्मणों ने अनेक वैदिक तथा लौकिक विद्याओं के अध्ययन और स्वाध्याय में ही अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विनियोग करके विशेष प्रवीणता प्राप्त की। वैदिक विद्याओं के अतिरिक्त धनुर्वेद जैसी प्रायोगिक कलाओं में भी आचार्य द्रोण जैसे ब्राह्मण अद्वितीय थे। इसके साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही अनेक क्षत्रियों ने भी विद्या के क्षेत्र में भी पर्याप्त योगदान किया है। शतपथ ब्राह्मण और उपनिषदों में अनेक ऐसे राजाओं के वर्णन हैं जो ब्रह्मविद्या में पारंगत थे और अपनी दार्शनिक प्रतिभा के लिए विख्यात थे। अनेक विद्वान् ब्राह्मण मनीषी भी शिष्य के रूप में इन राजाओं के पास आये। महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक से[2], बालाकिगार्ग्य ने काशी नरेश अजातशत्रु से[3], श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि[4] से और पाँच ब्राह्मणों ने केकयनरेश अश्वपति से ब्रह्मविद्या सीखी थी। महाभारत में अनेक ब्राह्मणेतर मनीषियों का उल्लेख है। महाभारत की मूल कथा और प्रासंगिक कथाओं अर्थात् उपाख्यान भाग में भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर द्रौपदी, भीम, नहुष, धर्म व्याध आदि के द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय विवेचन इसके प्रमाण हैं पितामह भीष्म द्वारा शरशैया से दिया हुआ अन्तिम संदेश सुनने के लिए राजन्यों के

१—भीष्म ४२, ४२।
२—शतपथ ब्रा० ११, ६, २१, ५।
३—बृहदारण्यक उप० २, १ तथा कौशीतकी उप० ४।
४—छान्दोग्य उप० ५, ३।

अतिरिक्त अनेक विद्वान् ब्राह्मण और ऋषिजन भी सविनय उपस्थित होते हैं[1]। इसी ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर महाशय डायसन[2] तथा डा० भंडारकर[3] ने यहाँ तक कहने का प्रयास किया हैं कि ब्रह्मविद्या के आदि प्रणेता और प्रवर्तक ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय ही थे। यह घोषणा वस्तुतः अतीव महत्त्वाकाँक्षापूर्ण अर्धसत्य ही है।[4] अति प्राचीन काल से ब्राह्मण ही विशेष रूप से विद्या के अध्ययन, स्वाध्याय और प्रचार को सर्वश्रेष्ठ वर्णधर्म मानकर अपनाते आये हैं। सच्चे ब्राह्मण होने की कसौटी ही वैदिक विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन रहा है।[5] जातीय कट्टरता के कारण अध्ययन में कोई व्याघात होना किसी भी परिस्थिति में अभिप्रेत नहीं रहा हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को क्षत्रिय अथवा वैश्य को गुरु बनाकर विद्याध्ययन करने का आदेश दिया गया है और शूद्र से भी उपादेय और महत्त्वपूर्ण कलाओं और शिल्पों की शिक्षा प्राप्त करना, आवश्यक बतलाया गया है[6]।

विद्वान्, व्रतपरायण, अग्निहोत्री यथा यज्ञ में सोमरस पान करने वाले ब्राह्मणों को ही महाभारत में आदर्श माना गया है। अध्ययन और अध्यापन करने वाले, यज्ञ करने और कराने वाले ब्राह्मण ही प्रतिग्रह (दान लेने) के अधिकारी माने गये हैं। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को दान ग्रहण करना निषिद्ध किया गया है केवल विशेष आपत्कालीन परिस्थितियों में उन्हें केवल भरण-पोषण के लिए राजा या अन्य किसी से धन लेने का विशेषाधिकार है अन्यथा नहीं।[7] ब्राह्मणों में भी उन्हीं ब्राह्मणों को पूजा और आदर के पात्र तथा आदर्श घोषित किया गया है जो स्वयं को अथवा दूसरों को कष्ट पहुंचाये बिना केवल दक्षिणा या दान के रूप में प्राप्त हुए उतने धन से ही सन्तोष करते हैं जो उनके तथा उनके परिवार के भरण-पोषण से लिए नितान्त आवश्यक हो। अनुशासन पर्व में अतिरिक्त धन के द्वारा यज्ञ करने और व्यर्थ ही धन एकत्रित न करने का आदेश दिया गया है[8]। अधार्मिक राजाओं और आचार-

१—दे० शान्ति ५८, २५–६, २६; ५६, ३ आदि।
२—डायसन, 'दास सिस्टम देर वेदान्त' (१८८३), पृ० १८–६।
३—रा० ग० भंडारकर 'वर्हेण्ड लंजेन देस इण्टरनेशनल ओरिण्टलिस्टेन कांग्रेसज़ ज़ वियेन' (आरिश्चे सैक्शन पृ० १०८-६) वैष्णविज्म एण्ड शविज्म' पृ० ६।
४—म० म० पा० वा० काणे, २, १, १०६–८; हाप्किन्स, ऐथिक्स आफ् इण्डिया पृ० ६३; वार्थ, 'रिलीजन्स आव् इण्डिया' पृ० ६५; मैक्डोनल तथा कीथ, 'वैदिक इण्डैक्स' पु० २ पृ० २०६।
५—मनु०, 'योऽनधीत्य द्विजोवेदम्······शूद्रत्त्वमाशु गच्छति सान्वयः।' २, १६८
६—मनु०, २, ३३८–२४१।
७—काणे २, १, १३६ टि०।
८—अनुशासन पर्व ४७ २२।
दे० 'अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद् वित्तनिचयो महान्, अनु० ६१, १६। दे० मनु, १०, ७ "कुम्भीधान्य" और कुसूलधान्य शब्दों की व्याख्या पर कुल्लूक, मेधा तिथि, गोविन्दराज, तथा याज्ञ० १, १२८ पर मिताक्षरा की व्याख्याओं के लिए हि० ध० पु० २, १, ११० टिप्पणी।

भ्रष्ट धनाढ्यों से प्राप्त होने वाले दान को विष के समान त्याज्य माना गया है[1]। इसके विपरीत धार्मिक राजाओं तथा अन्यों के द्वारा अपनी न्याय और प्राणपण से परिश्रम करके कमाई हुई थोड़ी बहुत सम्पत्ति में से अपने आप ब्राह्मणों के पास जाकर सत्कारपूर्वक दान करना सबसे उत्तम बताया गया है। याचना करने पर दिये गये दान को मध्यम और अवेहलना या अश्रद्धा से दिए गये दान को अधम कहा गया है। कहा है कि गुणवान् तथा तृषित व्यक्ति को वह सब कुछ दिया जाना चाहिए जो संसार में सामान्यतया इष्ट होता है और जो उसे प्रिय हो[1]।

परन्तु वन पर्व और अनुशासन पर्व के कुछेक उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तर में ब्राह्मण जनसंख्या के बढ़ने पर वैदिक अध्ययन के लिए अपेक्षित प्रतिभा अध्यवसाय और रुचि आदि सभी लोगों में उपलब्ध होना असंभव होने के कारण दान और प्रतिग्रह के ऊँचे आदर्शों के विषय में शिथिलता आ गई थी और इस बात पर जोर दिया जाने लगा था कि ब्राह्मणों की विद्या तथा आचार आदि के विषय में अधिक ध्यान न दिया जाय उन्हें देव और पित्र्य संस्कारों को छोड़कर अन्य अवसरों पर केवल अग्नि की तरह पवित्र और तेजोयुक्त मानकर ही दान दिया जाय अर्थात् प्रतिग्रह का अधिकारी मान लिया जाय[2]। परन्तु फिर भी विद्वान् ब्राह्मण को ही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है (अनु० १५२, १९)।

बदलती हुई परिस्थितियों में आजीविका के शास्त्रोचित तीनों उपायों (अध्ययन और यजन और प्रतिग्रह) के द्वारा जीवन निर्वाह सम्भव न होने पर ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों के लिए बतलाये गये कर्त्तव्य कर्मों को भी अपना लिया था। महाभारत में ब्राह्मणों के द्वारा क्षत्रिय वृत्ति अपना लिए जाने के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं[3]। महाभारत युद्ध के महारथियों में द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जैसे वीर योद्धाओं और सेनापतियों के नाम विशेष रूप से विवेचनीय हैं। शान्ति पर्व (७८, १८) में सभी वर्णों को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के नष्ट होने के भय होने पर अथवा दस्युओं तथा आक्रान्ताओं के द्वारा विनाश उपस्थित होने पर शस्त्र ग्रहण करने का आदेश दिया गया है[4]। उत्तर भारत में ब्राह्मणों के द्वारा शस्त्र ग्रहण करने की यह परम्परा बहुत पुरानी है।

१—शान्ति २९३; १६–१९।

२—दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा।
ब्राह्मणा नावमन्तव्याः भस्मच्छन्ना इवाग्नयः॥
'एवं विद्वानविद्वान्वा ब्राह्मणो दैवतं महत्।' वन० २००, ८८–९।
दे० अनुशासन ९०, २; इसके समानान्तर देखिए एँग्लिकचर्च के ३९ नियमों में से २६वाँ नियम जिसमें पापी पुरोहित के द्वारा कराये गये संस्कार की भी शुद्धता का समर्थन है।

३—शल्य० ६५, ४२।

४—शान्ति ७८, १८ तथा शा० ७८, २९।

१८४ ई० पू० में सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट् से सत्ता छीनकर शुंग-गोत्रीय ब्राह्मण वंश के राज्य की नींव डाली थी। इसी परम्परा में काण्वायन गोत्रीय वासुदेव (७२ ई० पू०[१]) कदम्बराज मयूर शर्मा और मराठा इतिहास के पेशवाओं के उदाहरण मननीय हैं।

ब्राह्मणों को खेती, पशुपालन तथा वाणिज्य आदि व्यवसायों के द्वारा उन परिस्थितियों में आजीविका का निर्वाह करने की आज्ञा दी गई है जब वर्ण धर्म का पालन करने के द्वारा निर्वाह संभव न हो। परन्तु उन्हें यह आदेश दिया है कि वे इन कार्यों को करते हुए भी अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग न करें।

उदाहरण के लिए उद्योग पर्व में वाणिज्य भी करने वाले ब्राह्मण से एक विशेष प्रकार का आचरण करने की अपेक्षा की गई है। कहा गया है कि वह नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, शहद, तेल, घी, तिल, माँस, फल, मूली-गाजर आदि मूल, सब्जी, लाल वस्त्र, सभी इत्र आदि गन्ध और गुड़ आदि मीठे पदार्थों का विक्रय न करे[२]। इसके अतिरिक्त आपत्तिकाल में विद्या, शिल्प, वेतन, सेवा, गोपालन, वाणिज्य, कृषि, सन्तोष, भिक्षा और धन उधार देना ये दस आजीविका के साधन भी बतलाये गये हैं[३]। भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वतीय घास और ईंधन बेचना, पानी, पेड़, पौधे और वनस्पतियों से भरे देश में रहना आदि भी आपत्तिकाल के धर्म कहे गये हैं[४]। अनेक ब्राह्मण जातीय लोग मानव-स्वभाव के वैचित्र्य और मानवीय परिस्थितियों की जटिलता के कारण अनेक ऐसे पेशे भी अपना लेते थे जिनका उपर्युक्त सैद्धान्तिक विवेचनों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। अनुशासन पर्व में राजर्षि भीष्म युधिष्ठिर को राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए बहुश्रुत और श्रोत्रिय विद्वान् ब्राह्मणों का सम्मान करने का आदेश देते हुए कहते हैं कि कई ब्राह्मण तिनकों से ढके कुए की तरह (वंचक) और कई आकाश की तरह विशुद्ध (निर्मल हृदय) होते हैं। कुछ बड़े साहसिक और कुछ कपास की तरह कोमल, कुछ अत्यन्त शठ और कुछेक महान् तपस्वी, कुछ भिक्षा मांगने लगे हैं तो कुछेक कृषि, गौ-पालन आदि करते हैं। धर्म ज्ञाता ब्राह्मणों में ही कुछेक चोर, झूठे और नट-नर्तकों की तरह आजीविका चलाने वाले हैं। परन्तु फिर भी शासक को उनके अनुग्रह की आवश्यकता इसीलिए बतलाई गई है कि वे उसके विरुद्ध जनता में प्रचार करके सफलता पूर्वक विद्रोह करा सकते हैं।[५]

१—ककुत्स्थ वर्मा का शिलालेख ('एवीग्रैफिका इण्डिका', पु० ८, पृ० २४)

२—उद्योग ३८, ५ शान्तिपर्व ७८, ४—६ दे० कृषि और वाणिज्य के विषय में हिस्टरी आव् धर्मशास्त्र पृ० १२६–९

३—मनु० १०, ११६।

४—याज्ञवल्क्य ३, ४२।

५—अनुशासन अ० ३३।

महाभारत काल में वर्णों का अन्तर्मिश्रण

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा कल्पसूत्रों एवं श्रौतसूत्रों में जिस रूढ़िवादी और कट्टर वर्णव्यवस्था के संकेत मिलते हैं वह व्यवस्था महाभारत काल तक आते-आते भयंकर अनुलोम और प्रतिलोम अन्तर्मिश्रण (सांकर्य) के कारण ऐसी नहीं रह गई थी कि उसमें केवल जन्म के आधार पर ही कोई अधिकार और प्रतिष्ठा प्राप्त होनी सम्भव होती। अनेक जातियाँ जैसे शक, यवन, काम्बोज, द्रविड़. कलिंग, पुलिंद, उशीनर, कोलिसर्प तथा महिपक एवं किरात, चीन और बर्बर आदि तथा पश्चिम समुद्र तट की शूद्र जातियाँ भी कतिपय वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करने तथा ब्राह्मणों को दान तथा राज्याश्रय प्रदान करने की अधिकारी मान ली गई थीं[1]। साथ ही ब्राह्मण लोग वेदों का अध्ययन न करके अन्य व्यवसायों को जैसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के विहित कर्मों को ही अपनाते हों, यही बात न थी अपितु अनेक क्षत्रिय भी ब्राह्मण धर्म के अनुरूप आचरण करते थे, ब्रह्म विद्या में पारंगत माने जाते थे, तथा अध्यापन कार्य करते थे। एक ओर जहाँ महाभारत में विदुर, युयुत्सु और स्वयं पितामह भीष्म के उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहाँ दूसरी ओर अद्वितीय महारथी गुरु द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तथा महाभारत में भाग लेने वाले हजारों ब्राह्मण योद्धाओं के उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि यह काल अतीव तीव्र अन्तर्जातीय संघर्ष, प्रतिस्पर्धा तथा अन्तर्मिश्रण का युग था। और इस परिप्रेक्ष्य में हमें महाभारत की इस भावना को समझना और अधिक सरल हो जाता है कि ज.ति या वर्ण का निर्णय आचार से होता था और आचार के आधार पर ही अधिकार और प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती थी। वनपर्व में ब्राह्मण कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा है कि यदि शूद्र में भी ब्राह्मणों जैसे आचार (लक्षण) हैं तो वही ब्राह्मण है और यदि ब्राह्मण में वे गुण नहीं है तो उसे शूद्र ही माना जाना चाहिए।[2]

महाभारत के तत्त्वदर्शन की विशेषता यह है कि इस प्रकार के विपरीत धर्मों में लगे हुए (विकर्मस्थ) ब्राह्मणों की उपेक्षा न करना, उन्हें चोरी आदि अपराध करने से रोकना और जो केवल जन्म से ही ब्राह्मण हों और वैसे ब्राह्मण धर्म के विपरीत कार्य करते हों उन्हें धन-दण्ड देना तथा उनसे कर वसूल करना राजा का कर्त्तव्य माना गया है। राजा का यह सनातन कर्त्तव्य है कि वह ब्राह्मणों (अर्थात् उनके गुणों और कर्मों) की रक्षा करे, अन्यथा वह राजा के लिए एक बड़ा कलंक है।[3]

भिक्षा का विशेषाधिकार

महाभारत में भिक्षा का विशेषाधिकार केवल ब्रह्मचारी को दिया गया है और भिक्षा मांगने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अथवा भिक्षु या सन्यासी के लिए

१—दे० हिस्टरी आव् धर्मशास्त्र पु० २, भाग १—३।

२—वन पर्व १८०, २१—६।

३—शान्तिपर्व ७७, २—५।

ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य कर्त्तव्य ठहराया गया है[1]। हाप्किंस का यह मत कि 'ब्राह्मण भीख मांगने वालों की निम्न श्रेणि थी[2]', कितना भ्रामक है यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि भिक्षा को केवल आपद धर्म ही स्वीकार किया गया है। केवल ब्राह्मणों को ही केवल विशेष परिस्थितियों में भिक्षा माँगने का अधिकार दिया गया है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि 'जिसकी सम्पत्ति का हरण हो गया हो, जो यज्ञ करना चाहते हों, सम्पूर्ण वेदान्त का अध्ययन पूर्ण कर चुके हों, अथवा उन्हें अपने आचार्य या माता-पिता के लिए धन की आवश्यकता हो अथवा अपने स्वाध्याय के लिए भी धन चाहते हों तो ऐसे साधु ब्राह्मणों को धर्म-भिक्षु माना गया है[3]। इन कारणों के न होने पर आलस्यवश या इन्द्रियसुख के लिए जीविका के रूप में भिक्षा मांगने वाले तथा व्रतों के पालन और अध्ययन से जी चुराने वाले ब्राह्मणों को चोर की तरह समझा गया है और उन्हें ही नहीं वे जिस गांव में रहते हैं उस ग्राम को भी राजा के ग्राम-दण्ड दिए जाने का आदेश है क्योंकि ग्राम का यह अपराध है कि उन्होंने चोरां को भोजन दिया है[4]।

राजदण्ड सम्बन्धी विशेषताएँ

स्वयं मनु ने चोरी के अपराधी शूद्र की तुलना में सब कुछ जानते हुए चोरी करने वाले ब्राह्मण को ६४ गुना, १०० गुना या १२८ गुना धन दण्ड दिये जाने की व्यवस्था की है।[5] तो भी अनुशासन पर्व में ब्राह्मणों के विषय में राज्य का नितान्त मनोरंजक और व्यावहारिक दृष्टिकोण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—'ब्राह्मण यदि चाहें तो, जो देवता नहीं है उसे देवता बना दें और चाहें तो देवता को देवता न रहने दें। वे जिसे चाहें वही राजा हो और जिसे वे न चाहें वही परास्त हो जाय[6]।"

भारत के इस प्रबुद्ध वर्ग के ही पाश्चात्य संस्करण 'पोपसत्ता' के साथ यदि तुलना की जाये तो इनमें आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। पोप, आर्क-

१—'नाब्रह्मचारी भिक्षावान् भिक्षुर्वाब्रह्मचर्यवान्।' शा० प० ७७, २२।

२—हाप्किन्स, जे० ए० ओ० एस०, १३।

३—हृतार्थी यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः।
आचार्यं पितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च।
एते वै साधवो दृष्टाः ब्राह्मणा धर्म भिक्षवः॥ शान्ति पर्व १६५, १–२।
दे० आप० ध० सू० २, ५, १०, १–४; मनु० ४, २५१, ११, १–२; याज्ञवल्क्य १,२१६; गौतम ५, १९–२०।

४—'अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥' वही, १६५,३।
—वसिष्ठ ३,४; पराशर १, ६०।

५—हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र, पु० २, भाग १, पृ० १३५ टिप्पणी।

६—अनु० ३३,१७; दे० वही १५२, १६ तथा भीष्म १२१, ३५।

विशप, विशप, तथा अन्य धार्मिक पुरुष लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी होते थे, बड़ी बड़ी मोटी रकम वेतन के रूप में स्वीकार करते थे और कई बार तो धार्मिक धनपतियों की जायदादें ही हज़म कर जाते थे। यह क्रम यहीं तक नहीं रुकता था, पोप एलैक्जैण्डर षष्ठ ने तो अपने १४९३ के धर्मादेश के द्वारा राजसत्ताओं को पदच्युत करने और बड़े-बड़े प्रदेशों को जिस किसी को दे देने का अधिकार अपने आप सम्भालकर 'न्यू वर्ल्ड' के प्रदेश को 'ईसाबेला आफ् कौंसिल' तथा अरागन के फर्डीनेण्ड को दे दिया था।[1] और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि धर्मसत्ता के इस व्यवहार के विरुद्ध उत्तेजित और आन्दोलित होकर ही जन मत ने धर्म को 'राजनीति' से अध चन्द्र देकर निकाल दिया। मैकियावेली कृत 'प्रिंस' में इसकी पर्याप्त अभिव्यंजना हुई है।

विदेशी मतों की समीक्षा

हिन्दू राजतन्त्र में शासन की वैधानिकता, न्याय के शासन (रूल आफ् लॉ) तथा धर्म या कानून के समक्ष सबकी समानता तथा प्रगतिशील समन्वयात्मक सामाजिक व्यवस्था और नितान्त नैसर्गिक भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित और सीमित शासन-व्यवस्था आदि सप्राण संस्थाओं पर कटु आलोचनाओं के रूप में आघात करने वाले पश्चिमी और भारतीय लेखकों ने प्रायः ब्राह्मण वर्ग और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर सर्वप्रथम चोट करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हमने अपने प्रबन्ध के कलेवर के साथ थोड़ा सा अन्याय करते हुए भी प्राचीन भारत में ब्राह्मण वर्ग की वस्तु-स्थिति को स्पष्ट रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसके बिना हम राज्य और कानून की दृष्टि में ब्राह्मण की विशेष स्थिति का पर्यवेक्षण ठीक रूप में नहीं कर पाते। ब्राह्मण वर्ण के कर्तव्यों और विशेषाधिकारों की समीक्षा करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण की शारीरिक दण्ड (अर्थात् कोड़े लगवाना, हाथ पैर कटवा लेना या सूली या वध दण्ड) से मुक्ति समाज व्यवस्था में उसके विशेष उत्तरदायित्व और कार्य को देखते हुए नितान्त उचित है। वह एक नितान्त आवश्यक, व्यावहारिक और यथार्थ दृष्टिकोण से समाज और राज्य के द्वारा अनुभव के आधार पर सदियों के प्रयोग के बाद स्वीकृत विशेषाधिकार है जो अपने ही हित के लिए समाज और राज्य ने ब्राह्मण वर्ग को प्रदान किया है न कि ब्राह्मण ने स्वयं अपनी सर्वोत्कृष्ट दिव्य उत्पत्ति और दिव्यता का फतवा देकर प्राप्त किया है। ये विशेषाधिकार भी असीमित नहीं हैं। आततायी, चोरी के अपराधी तथा शस्त्रधारी ब्राह्मण के लिए सामान्य नागरिक की ही तरह या उससे भी अधिक दण्ड दिए जाने की व्यवस्था की गई है। यद्यपि ब्रह्म-

१—स्पेंगलर, 'दी डिक्लाइन आफ् दी वेस्ट' (सी० वी० रेटकिंसन द्वारा अंग्रेजी अनुवाद), 'दे० प्रथम वाक्य ही; होल्ड्सवर्थ, 'हिस्ट्री आफ् इंगलिश लॉ' (चतुर्थ सं०) पृ० ३, पृ० ८७ 'मोर्टमेन लॉ'।

हत्या गो-हत्या की तरह ही अतीव नृशंस और जघन्य पाप माना जाता था तो भी शान्ति पर्व में आततायी को स्वयं आततायी बनकर मार डालने का आदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि इससे ब्रह्महत्या का दोष नहीं लगता[१]।

ब्राह्मण ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणों से कर वसूल न करने और उन्हें शरीर-दण्ड या मृत्यु दण्ड न देकर सिर मुंडवाकर या मस्तक पर गरम लोहे से दाग लगवाकर देश से निकलवा देने के दण्ड की जो व्यवस्था की गई है वह ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय तथा बहुश्रुत व्यक्तियों के विषय में है न कि ब्राह्मणमात्र के लिये[२]। शान्तिपर्व में ब्राह्मणों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है :—

१—ब्रह्म समान
२—देव समान
३—क्षत्र समान तथा
४—वैश्य समान

इनमें सम्पूर्ण विद्याओं और गुण लक्षणों से पूर्ण ब्राह्मणों को 'ब्रह्म समान' तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता एवं अपने ब्राह्मण वर्ण के अनुरूप विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों को 'देव समान' कहा गया है। इनके अतिरिक्त श्रोत्रिय अग्निहोत्री होने की अपेक्षा अन्य वृत्तियों के द्वारा आजीविका चलाने वाले ब्राह्मणों को अन्तिम दोनों वर्गों में रखा गया है तथा राज्य को उनसे कर लेने और बेगार (विष्टि) में कार्य करवाने का पूरा अधिकार दिया गया है[३]। इससे यह स्पष्ट है कि सामान्य ब्राह्मण की स्थिति अन्य नागरिकों के ही समान थी।

जहाँ तक बहुश्रुत और श्रोत्रिय विद्वानों का प्रश्न है इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि समाज की सर्वांगीण सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करने वाले और उस काल के आध्यात्मिक वातावरण में समाज की अध्यात्म-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बिना वेतन और विनिमय-मूल्य के ही कार्य करने वाले वर्ग के लिये ये राजदण्ड और राजकर से मुक्ति दिए जाने के विशेषाधिकार कोई अत्यधिक नहीं थे।

इस विषय में मध्य युग के यूरोपियन इतिहास की ओर संकेत अप्रासंगिक न होगा। जहाँ तक राज-दण्ड का प्रश्न है यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रजातंत्र.

१—'आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।' शान्ति १५, ५५। दे० वही ३४,१७।
२—हिस्टरी आव् धर्मशास्त्र, २, १, १४०—३।
३—'विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः॥
ऋग्यजुः सामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः।
एते देवसमाः आदि······शान्ति ६७, २—१२।

और कानून के राज्य के सबसे बड़े ठेकेदार देश इङ्गलैंड में 'पादरीजन को लाभ' के सिद्धांत के आधार पर ईसाई पादरियों तथा गिरजे से सम्बन्धित सभी पुरुषों और स्त्रियों को जो सुविधाएँ प्राप्त थीं वे धर्म और न्याय के सभी सिद्धांतों के विरुद्ध और सर्वथा असंगत थीं। इन लोगों को बड़े बड़े अपराध करने पर भी सामान्य न्यायालयों में उपस्थित नहीं होना होता था और जिन धार्मिक न्यायालयों में इनके अपराधों पर निर्णय दिये जाते थे वहाँ केवल न्याय और कानून की विडम्बना होती थी[1], दूसरे रोमन, कैथोलिक चर्च की परम्परा के अनुसार पादरी, राज्यसत्ता के प्रति वफादार नहीं माने जाते थे वह देश के कानून के द्वारा शासित नहीं होते थे और न ही कर देते थे[2]।

महाभारत के अनेक आख्यानों के द्वारा वैदिक युग से चली आई ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच संघर्ष की भावना की अभिव्यक्ति होती है। उस काल में सभी वर्णों के ब्रह्मचारी छात्रों को ब्राह्मण गुरुओं के अनुशासन और आधिपत्य में शिक्षा ग्रहण करनी होती थी जिसके द्वारा उन्हें अपने वर्ण धर्म के अनुसार कुशल, प्रवीण और शिष्ट तथा स्वर्गकाम बनाने का प्रयत्न किया जाता था। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वाभाविक रूप से अनेक क्षत्रिय राजनीतिक सत्ता के मद में चूर होने के कारण सहन नहीं कर पाते थे। यूरोप के मध्य युग के इतिहास में भी ईसाई कैथोलिक गिरजे के आधिपत्य के विरुद्ध राजाओं और नरेशों में इसी प्रकार की भावना थी।[3]

यह संघर्ष क्षत्रियों और ब्राह्मणों में ही सीमित नहीं था। हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय इतिहास का महाभारत में प्रतिविम्बित युग भीषण उथल-पुथल और संघर्ष का युग है। गांधार से कन्याकुमारी तक तथा द्वारका से कामरूप तक आपस में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का, साम्राज्यों से साम्राज्यों का, अनेक ब्राह्मण-सम्प्रदायों का दूसरे ब्राह्मण सम्प्रदायों के साथ और इसी प्रकार राजतंत्रों का गण-राज्यों के साथ और गणराज्यों में भी विभिन्न राजनीतिक घटकों का आपस में चलने वाला निरंतर वैमनस्य और संघर्ष इस काल की विशेषता है। जिसे स्वीकार किया जाना ही चाहिए।

क्षत्रिय वर्ण, क्षात्रधर्म, विशिष्ट कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व

हिन्दू राज्य में विशेष सामाजिक घटकों के सामाजिक और राजनीतिक कर्त्तव्यों और विशेषाधिकारों के विवेचन करने के इस क्रम में ब्राह्मणों की वस्तु स्थिति पर विचार करने के पश्चात् अब क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करना आवश्यक

१—दे० पोलक और मेंटलैण्ड, हिस्टरी आफ् इंगलिश लॉ, पु० १, पृ० ४२४–४४०; होल्ड्सवर्थ—हि० आ० इं० लॉ, पु० १, पृ० ६१५, ६१६ तथा पु० ३, पृ० २९४–३०२ (इस सिद्धान्त के इतिहास के लिए)।

२—डीन इंगे, 'क्रिश्चियन ऐथिक्स' अ० ४, पृ० १६०–१६१। (रोमन चर्च की धन-लोलुपता का वर्णन।

३—नगेन्द्रनाथ घोष, पृ० ७१।

है। महाभारत में क्षत्रिय शब्द अनेक जगह तो मानों राजा शब्द के पर्याय की तरह प्रयुक्त हुआ है। कहा गया है कि क्षत्रिय की राजनीतिक प्रभुता के दो मूल आधार हैं। एक तो उसका परम पुरुष विराट् की भुजाओं से रक्षा के लिए ही उत्पन्न होना[1] और दूसरे उसका धर्म की रक्षा के लिए राज्य की दण्ड-शक्ति के द्वारा दुर्बलों की रक्षा करना[2]। पितामह भीष्म ने शान्ति पर्व में राजसंस्था की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि उसे सम्पूर्ण प्रजाओं का रंजन करने वाला होने के कारण 'राजा' और ब्राह्मणों को 'क्षति' से बचाने वाला होने के कारण क्षत्रिय कहा गया है[3]। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में इससे पहले शान्ति पर्व में ही अपेक्षाकृत और अच्छी परिभाषा देते हुए यह माना गया है कि महाराज पृथु ही सबसे पहले क्षत्रिय इसलिये कहलाये थे क्योंकि वे 'क्षत' अर्थात् दुःख से सबका त्राण करते थे[4]। बौद्धों के मत में जनता के खेतों की रक्षा करने वाले 'खेत्तिय' होने के कारण ही इस वर्ण का नाम क्षत्रिय पड़ा है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षत्रिय वर्ण के महत्त्व के विशेषतः दो पहलू हैं सैनिक और राजनीतिक। इसीलिए हिन्दू राज्य में क्षत्रिय का वही महत्त्व है जो देवताओं में इन्द्र का। शस्त्र धारण कर रक्षा का उत्तरदायित्व सम्हालने के ही कारण उसका धर्म "ऐन्द्र" कहा गया है जबकि ब्राह्मणों के धर्म को "आग्निक" और "मैत्र" अर्थात् अग्नि और मित्र देवता का सा बतलाया गया है[6]। देवताओं में इन्द्र ऐश्वर्य, वैभव, विजय और पराक्रम के देवता हैं। महाभारत में क्षत्रिय के धर्मों का वर्णन करते हुए पितामह भीष्म ने कहा है कि "क्षत्रिय दान करे किन्तु किसी से याचना न करे, स्वयं यज्ञ करे किन्तु पुरोहित बनकर दूसरों का यज्ञ न करावे। वह अध्ययन करें किन्तु अपनी वृत्ति छोड़कर अध्यापक न बनें, प्रजाजनों का सब प्रकार से पालन करे, लुटेरों और डाकुओं का वध करने के लिए सदा तैयार रहे और रणभूमि में पराक्रम प्रकट

१—ऋग्वेद १०, ९० 'बाहू राजन्यः कृतः'।
२—शान्ति ७३, ७।
३—घोषाल, १९५, शान्ति ५९, १२५–६।
४—शान्ति २९, १३८; दे० बृहदारण्यक उप० ५, १३, ४।
५—राक्हिल, लाइफ आफ् बुद्ध, १—८; डा० नलिनाक्षदत्त, 'गिलगित पाण्डुलिपियाँ' ३, १–४ (कलकत्ता दीर्घनिकाय, ३, ८४–९५, घोषाल, २५८–९ पर उद्धृत।
६—'ऐन्द्रो राजन्य उच्यते' 'परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्' शान्ति ६०, २०; दे० 'ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः' शान्ति १४१, ६४; 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' शान्ति ६०, १२।

करें[1]। "कहा गया है कि वेद शास्त्रों के ज्ञाता और यज्ञ करने वाले क्षत्रिय ही युद्ध-विजय प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय के लिए दान, अध्ययन और यज्ञ से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण और श्रेयस्कर कर्तव्य धर्म युद्ध ही है तथा वह बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। शरीर पर घाव हुए बिना ही समरभूमि से लौटने वाले क्षत्रिय को प्रशंसा नहीं मिलती[2]।

धर्म-युद्ध—

भीष्म पर्व में भगवद्गीता पर्व के कुछेक श्लोकों में क्षत्रिय धर्म के इसी पहलू पर अधिक जोर दिया गया है कि वह धर्ममय युद्ध को ही अपने लिए कल्याणमय माने[3]। स्वामी शंकराचार्य ने धर्ममय युद्ध की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह युद्ध धर्ममय युद्ध है जो पृथ्वी विजय के द्वारा धर्म-पालन और प्रजा-रक्षण के लिए होता है[4]। इसी सन्दर्भ में क्षत्रिय के लिए युद्ध को बिना मांगे मिला हुआ, खुला हुआ स्वर्ग का द्वार कहा गया है और धर्ममय युद्ध न करने से अपने क्षत्रिय धर्म और कीर्ति की हानि होने तथा पाप मिलने की आशंका की ओर ध्यान दिलाया गया है। इन्हीं प्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि उस काल में युद्ध न करने वाले व्यक्ति को अपने विरोधियों और समाज की ओर से कटु अकथनीय शब्दों में निन्दा और अपकीर्ति का पात्र बनना पड़ता था। वैराग्य भावना से युद्ध से मुंह मोड़ने वाले व्यक्ति को लोग डर के कारण युद्ध न करने वाला और सामर्थ्यहीन कहते थे। इस प्रकार धर्मात्मा, शूर तथा पराक्रमी आदि गुणों के लिए प्रतिष्ठा पाए हुए व्यक्ति के लिए यह अपकीर्ति मौत से भी बुरी होती थी। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सुख-दुःख, लाभ-हानि अथवा जीत-हार में राग और द्वेष छोड़कर सन्तुलित समानभाव (समत्व) से कर्तव्य बुद्धि रखते हुए युद्ध करने का आदेश देते हैं[5]। यह योगी की सी कर्त्तव्य-निष्ठा क्षत्रिय योद्धा में धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा, इन्द्रियों पर संयम तथा मन और शरीर की उदात्त क्षमताओं की अपेक्षा रखती है।

आचरणगत विशेषताएँ—

महाभारत के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक पक्ष के अनुशीलन से क्षत्रियों के आचार के विषय में जो निष्कर्ष निकलते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

१—क्षत्रियस्यापि योधर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्॥ शान्ति ६०, १३–१४।

२—दे० शान्ति० ६०, १५–८; वन पर्व १५०, ३६; वही २०७, २४–५।

३—'धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' भीष्म २६, ३१–३८।

४—दे० शांकरभाष्य, गीता २, ३१।

५—भीष्म (भगवद्गीता) पर्व २६, ३२–३८।

क्षत्रियों के आचरण की पहली विशेषता उनकी अतिथि-सत्कार की भावना दिखाई देती है।[1] इसी प्रकार गौ और ब्राह्मण के समान ही शरणागत की रक्षा महाभारत काल की आचार संहिता का एक महत्वपूर्ण सूत्र बन गई थी।[2] इसके अतिरिक्त कृतज्ञता और मित्रकामता क्षत्रिय के दो विशेष गुण माने गये हैं। कृतघ्नता और मित्रद्रोह ऐसे पाप बतलाये गये हैं जिनका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता।[3] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महाभारत के अनुसार क्षत्रिय वर्ण के नागरिकों से अपने धर्म के अनुरूप विशेष आचार एवं गुण अपनाने का आग्रह किया गया है, जहाँ एक ओर यह कहा गया है कि क्षत्रिय के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना ब्राह्मण के लिए अतिक्रूर कार्य है वहाँ क्षत्रिय को वही अतिक्रूर कार्य अर्थात् युद्ध करने को ही सबसे अधिक महत्त्व देने की शिक्षा दी गई है। अत्यन्त सरल शब्दों में ब्राह्मण और क्षत्रिय स्वभाव का विश्लेषण इन शब्दों में किया गया है कि "ब्राह्मण का हृदय नवनीत की तरह अत्यन्त कोमल किन्तु वाक्य अतीव कठोर और स्पष्ट होता है तथा इसके विपरीत क्षत्रिय का हृदय अतीव क्रूर एवं कठोर किन्तु वाणी बड़ी मृदु और कोमल होती है।[4]

संगठित क्रियाशीलता

आचार्य विनय कुमार सरकार का मत है कि "भारत में हिन्दू वीर्य" अर्थात् हिन्दुओं की जातीय प्रतिभा तथा पराक्रम सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में संगठन और सहकार की भावना के अनुरूप, अनेक संस्थाओं के रूप में विकसित हुआ है। यद्यपि यूरोपीय और अमेरिकन विद्वानों में हिन्दुओं की संगठित क्रियाशीलता और सामुदायिक उपलब्धियों की योग्यता और क्षमता के विषय में, जैसा पूर्व के विषय में पाश्चात्य लोगों में प्रायः पाया जाता है निराधार संशय अभी तक विद्यमान हैं, आचार्य सरकार ने इसका यह कारण बताया है कि "श्वेत जनों के उत्तरदायित्व" के इस युग में हिन्दुओं को अपनी उस उग्र प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ है[5]।

महाभारत का राजनीतिक रंगमंच इसी जातीय पौरुष तथा प्रतिभा की मूर्ति-

---

१—अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः॥ शान्ति १४६, ५।

२—यो हि कश्चिद् द्विजं हन्यात् गां च लोकस्य मातरम्।
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम्॥ शान्ति १४५, ८;
दे० 'न निष्कृतिर्भवेत्तस्य यो हन्यात् शरणागतम्' वही १४९, १९।

३—शान्ति पर्व १७३, २१–२। देखिए शा० पर्व १७२, २५।

४—देखिए—यही पुस्तक, अ० ६।

५—विनय कुमार सरकार, 'दी पोलिटीकल इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थियरीज आव् हिन्दूज' पृ० ३०।

मती शक्तियों से अधिष्ठित है। महाभारतकाल का भारतवर्ष अनेक छोटी-बड़ी राजनीतिक इकाइयों में बंटा हुआ था। अनेक श्रेणियों, संघों, पूगों और यौधेय, मालव तथा अन्धक-वृष्णि आदि गणों के अराजतंत्रीय जनपदों में तथा अन्य अनेक राजतन्त्रों में संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की जो भावना महाभारत में प्रतीत होती है वह इसी अदम्य क्षत्रिय प्रतिभा का परिणाम है। इस काल में धर्म की रक्षा के लिए दिग्विजय और प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध राजनीति के अभिन्न अंग बन गये हैं।

विभिन्न क्षत्रिय गणों के स्वरूप

जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में "देमोस्" और "सिवितास्" का विकास हुआ था उसी प्रकार महाभारतकालीन भारतवर्ष में ग्राम और पुर का विकास हुआ है। परन्तु इन दोनों की सीमाओं को और आगे बढ़ाने वाला राजनीतिक घटक गण या संघ एक प्रादेशिक अर्थ का अभिव्यञ्जन करने वाला शब्द है। इन गणों के नाम क्षत्रियों के किसी विशेष गोत्र या अल्ल के आधार पर पड़े हैं जैसें अन्धक-वृष्णि आदि। परन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि ये गण इस काल में भी कबीले थे। यद्यपि यह माना जा सकता है कि इन गणों का मूल आधार कोई विशेष जन (कबीला) रहा हो[1]। इन संघों में कितने ही शस्त्र से आजीविका चलाने वाले क्षत्रियों के गण थे, कितने ही लूटमार करके ही आजीविका चलाने वाले व्रात या अन्य दस्युधर्मा क्षत्रियों के तथा अन्य कितने ही कृषि तथा वाणिज्य के साथ-साथ शस्त्रों से भी आजीविका चलाने वाले (वार्ताशस्त्रोपजीवनः) एवं कितने ही अनेक जातियों के (नानाजातीयाः) अनेक व्यवसायों का पालन करने वाले (अनियतवृत्तयः) तथा आर्थिक एवं लौकिक हितों के लिए संगठित हुए (अर्थकामप्रधानाः) गण भी थे। महाभारत में इन गणों के निवासियों की एक अद्भुत विशेषता की ओर संकेत किया गया है। कहा गया है कि इन गणों में जाति या कुल के आधार पर कोई छोटा या बड़ा नहीं है सभी समान हैं जाति की दृष्टि से और कुल की दृष्टि से भी।[2] हिन्दुओं के उपर्युक्त व्रात-संघ, जो चोरी, डकैती, लूट मार और युद्ध के द्वारा अपनी आजीविका चलाने के लिए प्रसिद्ध हैं, इनकी समता यूरोप के 'रिटर अथवा नाइट्स' (गेटे के 'गोत्जे' और शिलर के "राबर") से की जा सकती है। आधुनिक भारतीय साहित्य में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के आनन्दमठ के चरितनायकों में उसी प्रकार के साम्य की ध्वनि प्राप्त होती हैं।

---

१. जायसवाल पृ० २७–२९ पर दे० जौली, एस० बी० इ०, ३३,६; तुलनीय अमरकोश, २,८,११,३–४; पाणिनि, ४,२,४७; ४,३,९९ तथा अभिधानराजेन्द्र, ३, पृ० ८१३।

२—'जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा'।
—शान्ति १०७, ३१–२; दे० कौटिल्य १९।

इनके विपरीत अनेक राज्यों का उल्लेख भी महाभारत में है जैसे कलिंग आदि। इनके अतिरिक्त अनेक विजित राजाओं के द्वारा तथा बलि (अं० ट्रिब्यूट, उर्दू नजराना) देकर अधीन हुए राजाओं के द्वारा चुने हुए सम्राट् अथवा महाराजों का भी उल्लेख महाभारत में है इनमें जरासन्ध, शिशुपाल, दुर्योधन और युधिष्ठिर आदि सम्राट् विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म का स्वरूप एक सर्वसामान्य सामाजिक विज्ञान सा है। अतः एक छोटे से गरण के सामान्य क्षत्रिय नागरिक और किसी जनपद या राष्ट्र के शासक को हमें एक समान मानकर राजा शब्द का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। महाभारत में "राजाओं का पेशा चोरी, लूटमार और डकैती करना था" यह कहते हुए हाप्किंस ने महाभारत के धर्म युधिष्ठिर जैसे क्षत्रियों (राजाओं) के प्रति अवश्य अन्याय किया है। यद्यपि यह बात मानी जा सकती है कि सम्भव है कि उस काल में इन अपराधों को आजीविका के रूप में अनेक क्षत्रिय वैयक्तिक और सामूहिक रूप से अपनाते रहे होंगे।

ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों का सामञ्जस्य और सन्तुलन—

जहां तक ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों के सामंजस्य और सन्तुलन का प्रश्न है उसकी प्रतिध्वनि सम्पूर्ण महाभारत के वातावरण में व्याप्त है।[1] किस प्रकार यह सामंजस्य और संतुलन राजसत्ता की निरंकुशता का प्रतिरोध करने में एक अमोघ उपाय सिद्ध हुआ इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि क्षत्रिय जाति के राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में सम्पन्न जिस एकाधिकार की ओर संकेत करते हुए हाप्किन्स ने कहा है कि महाभारत की कथा में वस्तुतः क्षत्रिय ही चारों ओर आधिपत्य जमाये हुए हैं और महत्त्वपूर्ण निर्णयों के समय क्षत्रिय कभी किसी की परवाह नहीं करते और न ही ब्राह्मणों या अन्य किसी से परामर्श करते हैं। इस विषय में यह कहना ही पर्याप्त है, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, कि महाभारत निरा इतिहास-ग्रन्थ नहीं है वह एक महाकाव्य है। धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य के बीच संघर्ष का चित्रण और सत्य की विजय का प्रतिपादन महाभारत का प्रतिपाद्य विषय है। अधर्म और असत्य तथा अन्याय और निरंकुश सत्ता के कारण लोभ, मोह, मद और क्रोध में अन्धे होकर दुर्योधन आदि मूल कथा के कुछ पात्र या अन्य उपाख्यानों के नायक क्षत्रिय यदि असंगत आचरण करते हैं तो उसे अपवाद की कोटि में रखा जाना चाहिए न कि प्रमाण कोटि में। यहाँ यह स्मरणीय है कि महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म के निदर्शन और आदर्श प्रजापालक शासकों के रूप में जिस पाण्डव पक्ष की स्थापना की गई है वे पाण्डव विद्वान्, तपस्वी, सदाचारी, शिष्ट हैं और

१—संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम् —आदि ८१, १९।
दे० आदि ७५, १४ वनपर्व १८५, २५, अनुशासन ५९, २४, ३६।

धार्मिक लोगों की सेवा शुश्रूषा और स्वागत करते हैं और महर्षि नारद, योगिराज कृष्ण, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा अन्य बड़े बड़े सम्मान्य ब्राह्मणस्थानीय व्यक्ति ही नहीं सामान्य जनता के लोग भी एकत्रित होकर उनका समर्थन और उनकी प्रशंसा करते है।

यहां हाप्किन्स के एक और विचित्र मत का उल्लेख आवश्यक है जिसके द्वारा उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया हैं कि हिन्दू राज्य में इस काल में गरीब-अमीर सभी को समान अधिकार प्राप्त नहीं थे। इससे स्पष्ट है कि हाप्किस ने महाभारतीय हिन्दू राज्य की परिस्थितियों में १९वीं शती के पूंजीवादी समाज की सभी कुण्ठाओं का आरोप करने का प्रयास किया है। वह यहाँ तक कहता है कि क्षत्रियों में भी निर्धन क्षत्रियों की स्थिति अपने से नीचे वर्णों अर्थात् वैश्यों तथा शूद्रों की सी थी। हाप्किन्स ने इस प्रकार के धनमूलक भेदभाव को हिन्दू समाज का विस्तारानुसारी विभाजन (अं० लैटीच्यूडिनल डिवीजन) कहा है जबकि वह श्रमविभाजन तथा वर्गसन्तुलन के आधार पर हुए वर्ण विभाजन को अपनी मनगढंत परिभाषा के अनुसार आयामानुसारी विभाजन (अं० लोंगीच्यूडीनल डिवीजन) कहता है। इस विषय में विस्तारभय से अधिक विवेचन न करते हुए हम यही कहना चाहेंगे कि महाभारत के गणों में सभी की सामान्य स्थिति, कुल और जाति के आधार पर किसी भी भेदभाव का अभाव तथा महाभारत के इतिहास पक्ष के कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, श्रीकृष्ण आदि उदाहरणों के अनुशीलन से हाप्किस की उक्त काल्पनिक सृष्टि केवल आकाश-कुसुम ही रह जाती है। हाप्किस ने ग्राम से लेकर राजधानी तक प्रत्येक स्तर पर प्रचलित स्थानीय स्वशासन तथा सभी जातियों के गणों तथा श्रेणियों के संगठनों के अस्तित्व की जान बूझ कर उपेक्षा करने का प्रयास किया है क्योंकि इस जनतंत्रात्मक पृष्ठभूमि को स्वीकार करने पर उसके ऊपर लिखे सिद्धांत का भवन भूमिसात् हो जाता है।

दूसरे महाभारत काल में राज्य के राजनीतिक संगठन के विषय में प्राप्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य-सत्ता किसी वर्ण-विशेष को उसकी सामाजिक मान्यता और संगठित शक्ति के आधार पर प्रतिनिधित्व और प्रतिष्ठा नहीं देती थी, अपितु उसका गणतंत्रीय उदार परम्पराओं के अनुरूप आधार जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व देना ही होता था। राजा की केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् में ४ ब्राह्मणों को और ८ क्षत्रियों को स्थान दिया जाना तथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों की संयुक्त संख्या से भी अधिक २१ वैश्यों का मन्त्रिपरिषद् में प्रतिष्ठित किए जाना तथा ३ शूद्रों को तथा १ सूत को भी प्रतिनिधित्व दिया जाना आदि तथ्य भी हाप्किस की उन धारणाओं को भी भ्रान्तिमूलक सिद्ध करते हैं जिनके अनुसार उसने प्रतिपादित किया है कि केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हिन्दू राज्य में अभिजात वर्ग (अं० ऐरिस्टोक्रैसी) में गिने जाते थे, वैश्व केवल इन दोनों वर्णों के भक्ष्य मात्र थे और बेचारे शूद्रों को तो सम्पत्ति का भी अधिकार नहीं था (न ही स्वमस्ति शूद्रस्य, शान्ति ६०, ३६)। हाप्किस ने

मन्त्रिपरिषद् के इन वैश्य और शूद्र, अमात्यों को केवल छोटे-मोटे राज सेवक (अं० पैटी आफिसर्स) मानकर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि वस्तुतः शासन-सत्ता पर एकाधिकार राजा, उसके सेनापति और रिश्तेदारों का ही होता था। वस्तु-स्थिति यह है कि हार्प्किस महाशय पहले कुछेक पूर्वाग्रहों या दुराग्राहों को निश्चित कर लेते हैं और फिर उन्हें सिद्ध करने के लिए क्रूरतापूर्वक अर्थ का अनर्थ करने के लिए अपनी कतरनी चलानी प्रारम्भ कर देते हैं। संस्कृत भाषा में अमात्य शब्द का अर्थ मंत्री रहा है और अब भी है। महाभारत में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बड़े बड़े राज्याधिकारों के लिए सहाय तथा सामान्य राजपुरुषों के लिए राजभृत्य या भृत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त महाभारत के इतिहास पक्ष से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों की राजनीतिक और सैनिक शक्ति उस काल में नगण्य नहीं थी। शुद्ध क्षत्रिय वंशी (सूर्य वंशी अथवा चन्द्र वंशी) होने का दावा करने की स्थिति में न होते हुए भी यादव, काम्बोज, गान्धार, अनेक मलेच्छ और दस्यु जातियों तक के वीरों ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था और उनका उस काल की राजनीति में पर्याप्त प्रभाव था[१]। श्रीकृष्ण, गुरु द्रोण, विदुर, कर्ण, युयुत्सु आदि गणमान्य व्यक्तियों की राजनीतिक और सैनिक स्थिति से इस तथ्य की पुष्टि होती है। आपद्-धर्म पर्व में शूद्र को ही नहीं किसी भी जाति के वीर पुरुषों को राजा के रूप में स्वीकार करके उसकी आज्ञाओं का पालन करने का आदेश महाभारत के शुद्ध लौकिक और राजनीतिक दृष्टिकोण का परिचायक है[२]।

मानवमात्र की मौलिक एकता और उत्तरदायित्व

महाभारतकार मानव मात्र की मौलिक एकता में विश्वास करते हैं। महाभारत का तत्त्व दर्शन प्रत्येक जाति के व्यक्तियों को राज्य-व्यवस्था में पूरा योगदान का अवसर प्रदान करता है। महाशय आर० सी मजूमदार का मत है कि प्राचीन भारत के राजनीतिक जीवन में वर्णों या समाज की स्थिति राज्य की शासन-सत्ता के स्वरूप पर निर्भर करती थी। राजतंत्र में प्रजाओं का काम राजा के कर्त्तव्यों के पालन में सहायता करना तथा उनका नियंत्रण करना होता था जबकि अ-राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रजा को ही स्वयं वे सभी कार्य सम्हालने के लिए अग्रसर होना होता था जो राज्य के प्रशासन की व्यवस्था करने के लिए आवश्यक होते थे[३]।

श्रीमजूमदार का कथन है कि भारत में तथा उसी प्रकार प्राचीन रोम में राजा के सिंहासन पर आसीन होते समय जनता के द्वारा तथा राजाओं (सामंतों) (राजकर्तारः) तथा पुरोहितों के द्वारा उसके अभिषेक की स्वीकृति प्रदान करना राज्याभिषेक का

१—'क्षत्रविट्शूद्रवीराः' द्रोण पर्व ४७, १८।

२—'अपारे यो भवेद् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥' शांति ७८, ३५ आदि।

३—आर० सी० मजूमदार, अ० २।

अनिवार्य अंग माना जाता था[1]। यह स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार इस तथ्य का तर्कपूर्ण समर्थन करता है कि यह अधिकार जनता के उस अधिकार का ही शेषांश है जिस (अधिकार) के द्वारा प्रजा अपने राजा का स्वयं चुनाव करती थी। अन्यथा वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक भारतीय जनता में प्रतिद्वन्द्वी पर विजय पाने की तथा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए संघर्ष करने की जो भावना दिखाई देती है उसकी कोई समझ में आने वाली व्याख्या नहीं की जा सकती। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उपर्युक्त प्रतिस्पर्द्धा और विजिगीषा की भावना क्षत्रिय वर्ण में ही सबसे अधिक दिखाई देती हैं और इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दू राज्य में ब्राह्मणों तथा राजा की अपेक्षा ब्राह्मणों के आवाहन पर प्राण उत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत क्षत्रिय वीरों की यह समवेत शक्ति ही राज-सत्ता की निरंकुशता पर शक्तिशाली अंकुश बन कर काम करती थी।

जो पाश्चात्य अथवा भारतीय लेखक उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है उन्हें यूरोप के इतिहास की राजतन्त्र विषयक एक महत्त्वपूर्ण घटना का अनुशीलन करना चाहिए। उन्हें स्मरण करना चाहिए कि सन् १८३० में जब फ्रांस के शासन में जनशक्ति का प्रभाव पर्याप्त बढ़ गया था तब फ्राँस की जनता ने लुई फिलिप को 'फ्राँस जनता का राजा' यह पदवी देकर राज सिंहासन पर बिठला दिया था। हमारा विश्वास है कि प्राचीन भारत में भी इस प्रकार के समर्थ और उग्र जनमत की कमी नहीं थी। ययाति, देवापि तथा अन्य अनेक राजाओं के सिंहासन पर आसीन होते समय इस प्रकार के जनमत का स्वरूप स्पष्ट प्रकट हुआ है[2] जिसका विस्तार से वर्णन हम आगे करेंगे।

महाशय हार्पिकस ने अपने एक अर्वाचीनतम लेख में स्वयं स्वीकार किया है कि 'महाभारत का राजा निरंकुश शासक नहीं है। राजा के भाई और मन्त्रिगण उसकी निन्दा तथा मर्त्सना करते हैं। यदि वह जन्म से बड़ा होने के कारण राज्य का अधिकारी भी हो तो भी यदि उसमें (शारीरिक या मानसिक) दोष हों तो उसे राजा नहीं बनने दिया जाता। परन्तु जिसे राजा के रूप में चुन लिया जाता है, वह घर में तथा संग्राम में भी नेतृत्त्व का वहन करता है'।

महाशय हाप्किन्स के इस मत से हमारी इस स्थापना की पुष्टि हो जाती है कि न केवल ब्राह्मणों की अपितु उनके आवाहन पर संगठित होकर प्राण उत्सर्ग करने के लिए सदैव तत्पर क्षत्रियों की शक्ति राज्य सत्ता पर अमोघ अंकुश का कार्य करती थी, क्योंकि क्षत्रिय वर्ग इतना स्वाभिमानी, स्वर्गकाम, जीवन की क्षण भंगुरता में विश्वास करने वाला, युद्ध में प्राण पण से जूझने वाला तथा प्राणों, धन-सम्पत्ति तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्य की अपेक्षा यश तथा कीर्ति को ही अधिक महत्व देने वाला

१—आर० सी० मजूमदार, अ० २।

२—यदु-प्रसंग, आदि ८५, २१ 'कथं ज्येष्ठमतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति।
एवं सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय॥'

वर्ग था। यह वर्ग राजा से दबने वाला नहीं था। यह बात हाप्किन्स के ही शब्दों से प्रमाणित हो जाती है। उसने लिखा है कि क्षत्रिय वर्ण के सामान्य सदस्य भी शैया पर मरना बड़ा हेय समझते थे (भीष्म १७, ११ आदि) वीर पुरुष अपने यश और अपने राजा के लिए तब भी लड़ते रहते थे जबकि सामान्य सेना भाग खड़ी होती थी। उनका उद्घोष था संग्राम में मृत्यु वस्तुतः सुखद है, युद्ध के द्वारा ही अनन्त पद की प्राप्ति होती है (कर्ण पर्व, ९३, ५५ आदि) शान्तिकाल में तो राज्य के द्वारा पोषण प्राप्त कर क्षत्रिय वीर विलास का जीवन बिताते थे और युद्ध में ये योद्धा अपने यश और अपने सेनापति के लिए जीते और युद्ध करते थे। कर्ण एक स्वतन्त्र राजा थे, परन्तु उनमें प्रतिशोध तथा यश की कामना मानों मूर्तिमान् हो गई थी[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दुओं की जिस उत्कृष्ट चेतना ने श्रेष्ठतम वैदिक संहिताओं और उपनिषदों को जन्म दिया वहीं 'आत्मनिर्भरता और स्वतन्त्रता की भावना'[2] महाभारत में सर्वत्र ओत-प्रोत, प्रतिबिम्बित और देदीप्यमान है।

भारत का क्रान्तिमय सामाजिक और राजनैतिक रंगमंच

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि क्षत्रिय वर्ण की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थिति के अनुशीलन के अनुसार महाभारत में प्रतिबिम्बित जनता का राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन कोरा धर्म-प्रधान, ऋजु सीधा-सादा और भावना प्रधान नहीं है। प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, भौतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों के लिए युद्ध और विजिगीषा और अदम्य आशावाद इसकी विशेषताएँ हैं। महाभारत की कौरव और पाण्डवों के बीच खेली गई राजनीतिक शतरंज में और महाभारत युद्ध में भी बल और बुद्धि का खुलकर प्रयोग होता है। पाण्डवों ने नैतिकता और अध्यात्म के पालन के लिए अनेक कष्ट और अपमान झेले हैं किन्तु जब टालने का प्रयत्न करने पर भी युद्ध नहीं टल सका तो उन्होंने युद्ध-राजनय के यथासम्भव सभी कुटिल, क्रूर और भयानक कूट-प्रयोगों का खुलकर उपयोग किया है। पाण्डवों की अपेक्षा कौरव कहीं अधिक चालाक, धूर्त और कूटनीतिज्ञ प्रतीत होते हैं। वे अपनी क्रूरता और धूर्तता का राजनीतिक ढंग से प्रच्छन्न प्रयोग करने के अभ्यासी हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी पक्ष को नष्ट करने के लिए शकुनि जैसे कुशल जुआरी का उपयोग, अपने शत्रुओं को जीवित जतुगृह में जला देने का षड्यन्त्र, अर्जुन पर प्रतिज्ञा लेकर गये हुऐ दस संशप्तक हत्यारों के द्वारा आक्रमण कराना, अर्जुन का हृदय कमजोर कर देने के लिए पहले उसके पुत्र अभिमन्यु का वध करा देना, आदि के द्वारा यही सिद्ध होता है कि वे कितने चतुर, कपटी और धूर्त हैं। अतः इस परिप्रेक्ष्य में महाभारत के राजनीतिक रंगमंच की गति विधियों का निरीक्षण करने के बाद यह मानना कठिन है कि महाभारत का वर्णव्यवस्था के द्वारा समन्वित, संगठित और सन्तुलित तथा आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एकीभूत समाज इतना भाग्यवादी, निरीह, परलोक

१—दी कैम्ब्रिज हिस्टरी आव् इण्डिया, १, ११, पृ० २४२–३।

२—दे० वही, पृ० २३६।

परायण और दब्बू था कि उसमें अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों के प्रति कोई चेतना ही नहीं थी। यह ठीक है कि दुर्योधन जैसे निरंकुश और अत्याचारी तथा मदान्ध शासक की राज सभा में उपस्थित बड़े-बड़े भीष्म तथा द्रोण जैसे महारथी तथा विदुर जैसे धर्मज्ञ लोग भी अपने आपको असहाय और (अर्थदास अर्थस्य पुरुषो दासः, भीष्म) अनुभव करते थे तथा कुछेक कर्ण तथा दुःशासन एवं शकुनि जैसे धूर्त तथा षड्यन्त्री व्यक्तियों के ही परामर्श पर अधिक ध्यान देते हुए दुर्योधन पुरोहितों, मन्त्रियों और अपने पिता धृतराष्ट्र आदि तक की अवमानना करता था। किन्तु उसकी इस निरंकुशता का नैतिक विरोध राज-सभा में भी आरम्भ से ही होता रहा था और राज सभा से बाहर जनता में भी। लोग चौराहों पर एकत्रित होकर इस बात की चर्चा करते थे कि राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी धर्म युधिष्ठिर हैं और पांडवों के साथ अन्याय हो रहा है। दुर्योधन के समर्थक असंख्य सामन्तों और राजाओं की संगठित राजनीतिक और सैनिक शक्ति के विरुद्ध सम्पूर्ण मध्यदेश और पाँचाल प्रदेश के राजाओं का संगठित होकर पाण्डव-पक्ष का समर्थन करना और दुर्योधन की ग्यारह अक्षोहिणी सेना के विरुद्ध धर्म-युद्ध के लिए शौर्य के उद्दाम महासागर की तरह केवल सात अक्षौहिणी सेना का निर्णायक युद्ध करने के लिए धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में उतर पड़ना ही इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू नागरिक में अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों के प्रति चेतना और निरंकुश राज-सत्ता का प्रतिरोध करने की भावना बड़े उग्र और सक्रिय रूप में विद्यमान थी।

रक्षा न करने वाले, धन और इज्जत का अपहरण करने वाले, विनाश कराने वाले तथा नेतृत्व प्रदान करने में असमर्थ होकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करने वाले एवं असज्जन और पापिष्ठ सचिवों के परामर्श से राज्य करने वाले, धर्म एवं न्याय की हानि करने वाले राजा रूपी 'कलि' को प्रजाजन संगठित होकर मार दें और ऐसे शासक को पागल कुत्ते की तरह मार देना प्रजा का कर्त्तव्य है[1] इत्यादि वाक्य केवल राजा को रक्षा का उत्तरदायित्व निभाने की प्रेरणा देने वाले आदर्श वाक्य नहीं है जैसा कि महाशय घोषाल ने सिद्ध करने की चेष्टा की है[2]। महाभारत के इतिहास पक्ष के द्वारा इस आदर्श के क्रियारूप में अवतरित होने के ज्वलंत उदाहरण प्राप्त होते हैं और सबसे बड़ा

१—अनु०, ६१, ३२–३।

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः संहत्य निर्घृणम्॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥
दे० शान्ति १९२,९ असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महाः।
शान्ति १२,२९ 'अशरण्यः प्रजानां मयः स राजाकलिः' आदि।

२—घोषाल, पृ० २१३,२१४। द्रष्टव्य, एन० सी० बंद्योपाध्याय, पृ० २०५।

उदाहरण है स्वयं महाभारत युद्ध जिसके द्वारा निरंकुश कौरव-सत्ता का विनाश करके एक नैतिक और न्यायशील चक्रवर्ती धर्म-शासन की स्थापना की गई।

'महाभारत की कथावस्तु और महाभारत-युद्ध का मूल आधार केवल चाचा-ताऊ के भाइयों (सामन्तों) का राजगद्दी के लिए झगड़ा था अथवा इस युद्ध के द्वारा भरतवंशी कुरुवों का पांचालों की सहायता से पाण्डवों ने उन्मूलन कर दिया था और ये पाण्डव वास्तव में बिल्कुल भिन्न परिवार या वंश के थे[1]।' इत्यादि मत सभी प्रकार की ऐतिहासिक वैज्ञानिक समालोचना के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। अतः इनकी मीमांसा न करना ही ठीक है[2]।

इस प्रकार हिन्दू राज्य में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति, उनके अधिकार और कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्वों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ऐतिहासिक पहलुओं पर चर्चा करने के पश्चात् यह आवश्यक है कि-वैश्यों और शूद्रों की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति पर भी एक बार दृष्टि पात कर लिया जाये। क्योंकि इन दोनों वर्णों की स्थिति के विषय में जितना भ्रान्तिमय अन्धकार भारत के संवैधानिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाले पंडितम्मन्य विद्वानों ने फैलाया है वह वस्तुतः अतीव गर्हित और हेय है। यहाँ हमें वाद-विवाद में न पड़ते हुए संक्षेप में ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है।

वैश्य वर्ण

महाभारत काल का वहुसंख्यक वर्ग वैश्य ही था। यह बात मन्त्रिपरिषद् में वैश्य वर्ण के ही सबसे अधिक प्रतिनिधि लिए जाने के नियम से ही सिद्ध होती है। दूसरे चारों वर्णों के लिए सामान्य आजीवका के जो साधन अर्थात् कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वतलाये गये हैं[3]। वे भी मूलतः वैश्यों के ही वर्णधर्म हैं[4]। ऋग्वेद में वैश्य शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ है। इससे मिलता जुलता शब्द 'विशः' वस्तुतः जन सामान्य का ही बोधक है और जन सामान्य के रक्षक होने के नाते ही राजा को 'विशांपतिः' (अं० 'प्रोटैक्टर आफ् दी पीपुल') कहा गया है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि ब्राह्मण वर्ण के अनुरूप गुण कर्म का होना प्रत्येक मानव प्राणी में सम्भव नहीं है और न ही इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति क्षत्रिय धर्म का पालन करने में समर्थ हो सकता है क्योंकि इनके लिए विशेष प्रतिभा और परिश्रम की अपेक्षा होती है। साथ ही पलटते हुए राजनीतिक भाग्य की विडम्बनाओं के अनुरूप

१—दे० 'कैम्ब्रिज हिस्टरी आव् इण्डिया' १, ११, पृ० २३३।

२—पाश्चात्य मतों की समीक्षा के लिए देखिये-वी० एस० सुखथानकर, 'आन दी मीनिंग आव् दी महाभारत,' अध्याय १ (महाभारत और इसके समालोचक)।

३—वनपर्व २०६, २४–५, 'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम्'।

४—'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।' —भीष्म पर्व ४२, ४४।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों को कभी कभी अपने अपने वर्णों के अनुरूप कार्य कर पाना भी संभव न रहता होगा। ऐसी स्थिति में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य, शिल्प तथा नौकरी ही ऐसे व्यवसाय हैं जिनके द्वारा सर्वसाधारण की आजीविका सम्भव है। इन व्यवसायों का आश्रय लेने वाले व्यक्तियों की संख्या समाज में सबसे अधिक होनी स्वाभाविक है। शूद्र वर्ण की संख्या इसका एक छोटा अंश अर्थात् लगभग सातवां भाग प्रतीत होती है, क्योंकि महाभारत में उन शूद्रों को जिनका निर्वाह परिचर्या अर्थात् शूद्र वर्ण के स्वाभाविक कर्म से होना सम्भव न हो कृषि, पशु पालन और वाणिज्य करने की अनुमति दी गई है।

वैश्य वर्ण में उत्पन्न हुए या आपत्तिकाल अथवा अयोग्यता के कारण वैश्य वृत्ति के द्वारा अपना निर्वाह करने वाले लोगों के दो प्रमुख वर्ग थे। धनी-मानी महाजन वाणिज्य करते थे। वे कभी झूठे बाटों से नहीं तोलते थे (न कूटमानैः) और ये लोग सभी प्रकार के उद्योगों तथा शिल्पों का संगठन कर व्यापार और वाणिज्य के द्वारा प्रभूत सम्पत्ति का अर्जन करते थे। ये प्रायः कस्बों तथा नगरों में रहते थे। दूसरा वर्ग उन लोगों का था जिनके सदस्य खेती और पशुपालन के द्वारा आजीविका चलाते थे और प्रायः जनपदों या ग्रामों में निवास करते थे[1]। ये दोनों ही वर्ग ग्राम, नगर तथा श्रेणियों में भली प्रकार सुसंगठित थे और प्रायः ग्राम मुख्यों, नगर मुख्यों तथा श्रेणि मुख्यों के स्थानीय स्वशासन में सुखपूर्वक रहते थे[2]। इनका शासन इनके अपने कुल, जाति तथा श्रेणि के विशेष धर्मों के अनुसार ही चलाया जाता था। राजा इस विषय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था[3]।

अध्ययन, यज्ञ और दान के रूप में वे सभी कर्त्तव्य जिनका पालन अन्य दोनों ब्राह्मण एवं क्षत्रिय, वर्णों के लिए आवश्यक समझा जाता था वैश्यों के लिए भी उनका उसी प्रकार विधान था। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों को प्राप्त सभी कानूनी और आध्यात्मिक (अं० रिलीजिअस) अधिकार वैश्यों को भी प्राप्त थे। परन्तु वैश्यों का विशेष उत्तरदायित्व धन-अर्जन करना माना गया था[4]।

महाशय हाप्किन्स का मत है कि वैश्यों और शूद्रों को भी बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें पुरोहितों और क्षत्रियों की तरह सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी[5]। इस वक्तव्य से अंशतः सहमति प्रकट करते हुए भी हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे

१—'कै० हि० इ०' पु० १, पृ० २३८।
२—दे० 'श्रेणिमुख्याः' वन पर्व २४९, १६।
३—दे० यही पुस्तक, अ० २ तथा 'न्यायव्यवस्था' अ० ८।
४—'वैश्यो धनार्जनं कुर्यात्' उद्योग १३२, ३०।
५—दे० हाप्किन्स द्वारा प्रमाण रूप में उद्धृत श्लोक 'स्त्रियो वैश्यास्च शूद्रास्च०' भीष्म पर्व ३३, ३२। वास्तविकता यह है कि परा गति मोक्ष प्राप्ति की साधना प्रत्येक सामान्य नर नारी के लिए संभव नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण ऐसे लोगों के द्वारा भी गीता के भक्तिमार्ग के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेने की चर्चा करते हैं। यहां प्रश्न प्रतिष्ठा का न होकर योग्यता का ही है।

कि हाप्किन्स का इसी आधार पर यह निष्कर्ष बना लेना कि 'क्षत्रियों द्वारा वैश्यों को निरादर की दृष्टि से देखा जाता था, केवल ब्राह्मणों द्वारा इनकी प्रशंसा की जाती थी, अतीव विवादग्रस्त है[1]। कुछेक स्थलों में क्षत्रियों के द्वारा वैश्यों के प्रति सामान्यजन सुलभ अवमानना प्रकट किए जाने पर भी[2] एक और उद्धरण के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है कि हिन्दू राज्य में अपने अपने वर्ण विहित कर्मो का पालन करने वाले तथा उनके उपयुक्त गुणों से भी शोभित ब्राह्मणों तथा क्षत्रियो का होना जितने गौरव की बात समझी जाती थी उतना ही गौरव और उतनी ही प्रतिष्ठा वैश्यों को भी प्राप्त थी। शान्ति पर्व में केकयराज कहते हैं कि मेरे राज्य के वैश्य अपने कर्मों में ही लगे रहते हैं। वह छल कपट छोड़कर खेती, गौरक्षा और व्यापार से जीविका चलाते हैं। प्रमाद में न पड़कर सदा सत्कर्मो में संलग्न रहते हैं। उत्तम व्रतों का पालन करने वाले और सत्यवादी हैं। अतिथियों को भोजन देकर उसके बाद खाते हैं, इन्द्रियों को संयम में रखते है, शौचाचार का पालन करते हैं और सबके प्रति सौहार्द बनाये रखते हैं[3]।

पशु-धन के प्रति करुणापूर्ण प्रेम वैश्य वृत्ति की विशेषता है। कहा गया है कि विधाता ने पशुओं की सृष्टि करके उन्हें वैश्य को ही सोंपा है। राजा का कर्त्तव्य है कि जब वैश्य रक्षा न कर पाये तभी अन्य वर्णों को पशुपालन करने की अनुमति दी जाय[4]। वैश्य का भी धर्म है कि वह दान, अध्ययन और यज्ञ के साथ साथ पवित्रतापूर्वक (शौचेन) धन का संचय करे तथा उद्योगशील रहकर सब प्रकार के पशुओं का पालन उसी प्रकार करे जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों का करता है पितृवत् पालयते[5]।

शूद्र वर्ण

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि उर्युक्त तीनों द्विजवर्णों के अतिरिक्त चौथे वर्ण को शूद्र कहते थे और सभी आर्य और आर्येत्तर जातियाँ जिन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार न था (एकजातयः) इसी वर्ण में गिनी जाती थीं। (द्विज वर्ण के लोग अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य भी शूद्र कन्याओं के साथ विवाह करते थे और इन शूद्रा माताओं की सन्तानों को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष के द्वारा इस तथ्य कीपुष्टि होती है। शूद्रों में गिनी जाने वाली अनेक जातियों के बड़े-बड़े जनपद और शक्ति- शाली राज्य महाभारत युग में भी विद्यमान थे और इस वर्ण के लोग प्रायः सभी आजीविका के साधनों को अपनाते थे। महाभारत में अन्य द्विजों की तरह शूद्र भी ब्रह्मचारी, विद्वान् और वानप्रस्थी के रूप में वर्णित किए गये हैं। महाभारत युद्ध में अनेक शूद्र वीरों ने भी भाग लिया था। इससे यह स्पष्ट है कि ये लोग 'शस्त्रजीवी' भी

१—दे० हाप्किन्स, पृ० ९२।
२—दे० वन पर्व ४, १५, अनुशासन १०६, १२ आदि।
३—शान्ति ७७, १५–१६।
४—शान्ति ६०, २३; ६०, २७।
५—शान्ति ६०, ३२।

होते थे, यद्यपि महाभारत में अनेक स्थलों में जहाँ कहीं शूद्रों के वर्ण धर्म का विवेचन किया गया है वहीं तीनों वर्णों की परिचर्या करना उसका परम धर्म कहा गया है और कहा गया है कि उसे इस सेवावृत्ति के द्वारा ही महान् सुख मिलेगा[1], क्योंकि प्रजापति ने ही शूद्र को अन्य वर्णों का दास बनाया है। इसी प्रसंग में एक उद्धरण में कहा गया है कि शूद्र को कभी धन का संचय नहीं करना चाहिए क्योंकि धन पाकर वह महान् पाप में प्रवृत्त हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है। इन पंक्तियों से यही स्पष्ट हो जाता है कि अनेक शूद्र पर्याप्त धनाढ्य भी होते थे और उसके यहाँ अनेक 'द्विज' सेवा का कार्य करते थे। आगे चलकर एक पैजवन नामक धनाढ्य शूद्र के द्वारा ऐन्द्राग्न यज्ञ की दक्षिणा के रूप में एक लाख पूर्ण पात्रों का दान दिए जाने का उल्लेख है (सहस्राणां शतं ददौ)। यहीं कहा गया है कि द्विज वर्णों के द्वारा किए जाने वाले यज्ञों में उनकी सेवा करने वाले शूद्र को भी श्रद्धा के कारण यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है। सभी वर्णों को आदेश दिया गया है कि वे अपने सेवक शूद्र का सभी प्रकार अन्न-वस्त्र आदि से पालन पोषण करें। इसी प्रसंग में उस समय हृदय द्रवित हो उठता है जब हम पढ़ते हैं कि स्वामी सन्तान हीन हो तो शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना चाहिए। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका भरण पोषण करना चाहिए। आपत्ति में भी अपने स्वामी का परित्याग न कर, अपने बचाये हुए धन से उसका भरण-पोषण करना चाहिए। शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता आखिर वह अपने स्वामी से ही धन लेकर धनी (भर्तृहार्यधनः) होता हैं। अथवा उसके धन पर स्वामी का ही अधिकार होता है[2]।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि महाभारत में शूद्र वर्ण की जिस प्रकार की स्थिति सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक पक्ष के द्वारा प्रस्तुत होती है उसका बिल्कुल गलत, अशुद्ध और विकृत तथा अप्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करने का घिनौना प्रयास हापूकिंस ने किया है। हापूकिन्स शूद्र वर्ण को अनार्य, काले रंग के, बिना नाक के और दासों तथा अमानवीय पशुओं जैसा जीवन बिताने वाले (अनु० ११८, २४) लोगों का हेय वर्ग कहता है। वह कहता है कि शूद्रों का कोई कानूनी और आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। उन्हें सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं था (न हि स्वमस्ति शूद्रस्य, शान्ति ६०, ३६) उनका जीवन उनके स्वामियों की कृपा पर आश्रित था और उनकी महिलायें नाम को ही उनकी होती थीं। वे पैदा ही 'दास'

१—शान्ति ६०, २८–९।

२—शान्ति ६०, ३५–३६

"देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ।
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यञ्चिदापादि॥
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये।
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः॥"

होते थे क्योंकि वे परमेश्वर के पैरों से उत्पन्न हुए थे (ऋग् १०,९०)'। ये लोग आर्यों द्वारा पराजित किसी आदिवासी जाति के अवशेष थे और विजेता आर्यों के अहंकार और गर्व के कारण ये बेचारे केवल घृणा और दासता के पात्र बन गये।' उक्त असंगत अभिप्रायों को प्रकट करने के लिये हाप्किन्स ने शूद्र शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद ही 'स्लेव' अर्थात् दास किया है। उसने सैद्धान्तिक वाक्यों को कई बार संदर्भ से अलग करके तथा कई बार मनमाने काल्पनिक अर्थ लगाकर अपने मन्तव्यों को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। क्योंकि महाभारत के पर्यालोचन से शूद्र वर्ण की स्थिति का जो चित्र सामने आता है वह अबसे ढाई हजार साल पहले के प्राचीन भारत की परिस्थितियों का विचार करते हुए नितान्त मानवीय और स्वाभाविक है। अतः हाप्किन्स का अभिप्राय किसी न किसी प्रकार आर्य जाति की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का एक घिनौना चित्र प्रस्तुत करना ही प्रतीत होता है। स्मरण रखना चाहिए कि यूरोप के तथाकथित सभ्य देशों में उस काल में दास-प्रथा प्रचलित थी जिसके कारण वहाँ की बहुसंख्यक जनता को नारकीय दास-जीवन बिताना पड़ता था। हाप्किन्स चाहता है कि वह प्राचीन भारत में भी वैसी ही दास-प्रथा का समर्थन कर दे और ऐसा करने की चेष्टा करते हुए वह उस काल के उन यूनानी विचारकों के उल्लेखों की परवाह नहीं करता जिन्होंने संशयरहित स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि 'भारत में दास–प्रथा नहीं है।' शायद इसीलिये यहाँ के निवासी अनेक विवाह करते हैं और अनेक वीर पुत्रों की कामना करते हैं क्योंकि इनके यहाँ दास–प्रथा न होने के कारण इन्हें अपने बच्चों के द्वारा की जाने वाली सेवा पर ही निर्भर करना होता है[1]। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जो लोग मेहनत मजदूरी से जीवन निर्वाह करते थे वे चाहे जन्म से किसी भी वर्ण से सम्बन्ध रखते हों महाभारत काल में शूद्र धर्मा कहलाते थे और शूद्र मां–बाप के घर में जन्म लेने के बाद भी अनेक व्यक्ति अपनी योग्यता और परिस्थितियों के अनुसार दूसरे वर्णों के लिए विहित कर्मों और गुणों की भी साधना करते थे। ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के मार्ग में किसी प्रकार की सैद्धान्तिक या व्यावहारिक बाधा इस काल में नहीं थी।' इसलिए हमारा यह मत है कि हिन्दू राज्य जिस वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा और वर्णसंकरता को रोकने के लिए तथा नागरिकों को अपने अपने कर्तव्य कर्मों में प्रेरित करने के लिए वचन–बद्ध होता था वह व्यवस्था व्यक्ति को उसके प्रगतिशील नैतिक, लौकिक तथा आध्यात्मिक विकास का पूरा अवसर देती थी। परन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि हिन्दू राज्य के मौलिक जन-तत्त्व ये चारों वर्ण ही हैं। मानव जीवन को सुखद और पूर्ण बनाने के लिये श्रम-विभाजन के आधार पर तथा विघटनात्मक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने के लिए गुण कर्म के आधार पर सम्पूर्ण हिन्दू समाज इन्हीं चार वर्गों में विभाजित होता था। हिन्दू राज्य में राजा का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति की इन

१—मैगस्थनीज, उद्धरण ४०, स्ट्रैबो १५, सी ७११ और आगे।

सामाजिक घटकों के एक सदस्य के रूप में रक्षा करना तथा सामाजिक सामंजस्य और सन्तुलन को वनाये रखने के लिए समाज-व्यवस्था की रक्षा करना था।

विभिन्न सामाजिक वर्गों के मूलभूत अधिकार और वस्तुस्थिति

वैदिक साहित्य और धर्मशास्त्रों की अपेक्षा महाभारत में ही हमें सबसे पहले अयोग्य, असमर्थ तथा निरंकुश शासन के विरुद्ध प्रतिरोध अथवा क्रान्ति करने के समाज के अधिकार का समर्थन प्राप्त होता हैं[1]। पितामह भीष्म यह आदेश देते हैं कि जो राजा रक्षा नहीं करता, प्रजा के धन का अपहरण करता है, जो विशेषताओं को नष्ट होने देता है, तथा नेतृत्व देने में असमर्थ है, क्रूर तथा अविश्वसनीय है उसके विषय में जनता का यह कर्तव्य है कि वह संगठित तथा सशस्त्र होकर उसे पागल कुत्ते की तरह मार डाले।

शान्तिपर्व (७९ वां अध्याय) में महाभारतकार ने यह प्रतिपादित किया है कि यदि आंतरिक या वाह्य कारणों से उपद्रव या विप्लव की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएँ और राजा या सम्पूर्ण क्षात्र-शक्ति अपना उत्तरदायित्व निभाने की स्थिति में न रहें तो जनता का कर्तव्य है कि वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्तियों (ब्राह्मणों) के नेतृत्व में संगठित होकर शस्त्र धारण करें और राज्य की विरोधी शक्तियों तथा आक्रांता दस्युओं का उन्मूलन करके फिर से सशक्त राज्य की स्थापना करके विप्लव और अव्यवस्था की स्थिति को दूर कर दें। पितामह भीष्म का कहना है कि ऐसे समय ब्राह्मशक्ति का उत्तरदायित्व है कि वह देश की राजनीतिक अखण्डता, शांति और व्यवस्था की स्थापना करने के लिए समाज का नेतृत्व करे[2]।

महाभारतकार का मत है कि सम्पूर्ण राजसत्ता का स्रोत आध्यात्मिक या ब्राह्म सत्ता ही है। यह समाज की ब्राह्म शक्ति अर्थात् बुद्धिमान वर्ग का ही उत्तर-दायित्व है कि तपस्या और संयम के द्वारा जन-वल और शस्त्रवल के द्वारा अथवा निष्कपट व्यवहार या छल कपट के द्वारा जैसे भी सम्भव हो राज सत्ता को निरन्तर नियंत्रित और स्थिर रखा जाय। महाभारत में समाज के सभी वर्गों को यह आदेश दिया गया है कि वे प्राणपण से ब्राह्मणों और न्याय का पक्ष लेकर युद्ध करें[3]। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार धर्म भी अधर्म और अधर्म भी धर्म बन जाता है। अतः ब्राह्मणों के लिए भी आत्म रक्षा के लिए, वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए तथा राष्ट्र में युद्ध की स्थितियों में शस्त्र उठाकर युद्ध करना धर्म है।

श्री घोषाल[4] ने लिखा है कि महाभारत में हिन्दू साहित्य में पहली बार

१—देखिए शान्ति ५७, ४४–५; १३७, ८९–९०; ९३, ९ (ऋषि वामदेव का मत) तथा अनुशासन ६१, ३१–३३।

२—शान्ति पर्व ७९, १२–१८।

३—वही १९–३३।

४—'दि हिस्ट्री आव इण्डियन पोलिटिकल आयडियाज' पृ० २०८–९।

प्रतिपादित किए गए जनता के मौलिक अधिकारों का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है। पहली वात यह है कि महाभारतकार के अनुसार बुरे और अयोग्य शासक के विरुद्ध जनता को केवल शान्तिपूर्ण असहयोग और आज्ञा भंग करने का ही अधिकार प्राप्त नहीं है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी बुरे शासक के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दे और शासक की हत्या तक कर दे। दूसरे, राजनीतिक सत्ता के पूर्णतया प्रभाव हीन होने पर राज–सत्ता को सशक्त वनाने के लिये प्रजा को अधिकार है कि वह अहिंसात्मक या हिंसात्मक उपायों से राजसत्ता की फिर से स्थापना करे और तीसरे आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् समाज में बुद्धिमान वर्ग का यह उत्तरदायित्व और अधिकार है कि अपने संगठित सामर्थ्य के द्वारा राजसत्ता की स्थापना करे।

यहां यह स्मरणीय है कि उक्त विवेचन से प्रजा के उक्त अधिकारों के मूल दार्शनिक आधारों पर भी प्रकाश पड़ता है जो कि निम्नलिखित है :—

१—व्यक्ति का आत्म रक्षा का मूल अधिकार

२—राजा का सर्वप्रथम और अनुल्लंघनीय उत्तरदायित्व अर्थात् धर्म तथा न्याय के अनुसार व्यवस्था की रक्षा करने का कर्त्तव्य जिसका उल्लंघन करने पर वह स्वयं अपराधी और दण्डनीय हो जाता है। तथा

३—लौकिक सत्ता (अं० टेम्पोरल पावर) का ब्राह्म शक्ति (अं० स्पिरिच्युजल पावर) पर आधारित होना।

वस्तुतः प्रजा और राजसत्ता का मार्गदर्शन ब्राह्मण वर्ग ही करता है अतः वही प्रमाण है।[1] साथ ही राजसत्ता के द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शों का पालन प्रजा धर्म मानकर करती है इसलिए राजसत्ता प्रथा के अच्छे और बुरे सभी कार्यों के लिये उत्तरदायी होती है। तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों महावाक्यों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है[2] जैसा कि कई एक विद्वानों ने समझा है।

इस प्रकार गत पृष्ठों में हमने महाभारत में उपलब्ध प्रचुर सामग्री से केवल आवश्यक और सम्वद्ध साक्ष्य ग्रहण करते हुए तथा अनावश्यक विस्तार से वचते हुए यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि महाभारत में प्रतिविम्बित काल में हिन्दू राज्यों में विभिन्न सामाजिक घटकों की स्थिति क्या थी। सभी सामाजिक समुदाय मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होते हैं अतएव इनका विकास नितान्त स्वांभाविक है। परन्तु इनको स्वाभाविक कहने का यह आशय नहीं है कि इनके निर्माण

१—मनु० ११, ८५।

१—हापकिन्स ने यह प्रतिपादित किया है कि मनु स्मृति में ब्राह्मण को, तो महाभारत में राजा को लोक का प्रमाण माना गया है इसलिए यह महाभारत काल में राजा की अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली स्थिति का द्योतक है। 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है वह आदर्श जिसे देखकर हम अपने आपको संवारते हैं।

में मानव संकल्प का योग नहीं होता और न इसका तात्पर्य यह है कि अन्त तक इन समुदायों का उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र वना रहता है। जैसे जैसे मानव-संस्कृति का विकास होता है और भौतिक आवश्यकता की पूर्ति से अवकाश मिलने लगता है वैसे वैसे मानव-जीवन अनेक प्रकार के अच्छे जीवन की कल्पना और प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील होता है। इसी के द्वारा मानव जीवन अधिकाधिक व्यापक और समुन्नत होता जाता है। सम्भवतः सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के इसी श्रेयस्कर स्वरूप पर वल देने के लिये इन्हें दिव्य माना गया हैं। भारतीय वर्ण-व्यवस्था का विवेचन (अ० २ परिच्छेद २) करते हुए हम यह कह चुके हैं कि इसका आधार श्रम-विभाजन का सिद्धान्त हैं। व्यक्ति को धन और सम्पत्ति का अधिकार, उसकी पैतृक आजीविका की सुरक्षा और अस्वस्थ वर्गीय प्रतिस्पर्धा से मुक्ति आदि आर्थिक पहलुओं के अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था की सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से उपादेयता यह है कि वह आर्थिक-वित्तीय वितरण को नियमित करते हुए समाज को स्थायित्व प्रदान करती है, समाज की सांस्कृतिक एवं बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक शक्तियों का नियमन करती हुई अनावश्यक प्रतिस्पर्धा और विघटन की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखते हुए समाज की उपर्युक्त शक्तियों में शक्ति सन्तुलन निर्माण करती है। समाज की सम्पूर्ण उपलब्धियों पर किसी एक वर्ग का एकाधिकार इस व्यवस्था में सम्भव नहीं है। यह व्यवस्था किसी एक वर्ग के हाथों में अनावश्यक शक्ति-संचय नहीं होने देती और सभी शक्तियों के सन्तुलित सम्मिश्रण के द्वारा एक प्रगतिशील समृद्ध और सुखी समाज की सृष्टि करती है। अतः राजसत्ता का यह उत्तरदायित्व है कि वह समाज व्यवस्था को मानव स्वभाव की काम, क्रोध, लोभ और अहंकार आदि दुर्बलताओं के परिणामस्वरूप छिन्न-भिन्न और विशृंखलित तथा दुर्बल न होने दे, प्रत्येक वर्ग को अपना अपना कर्तव्य-पालन करने के लिए वाध्य करे, उन्हें अपने अपने विशेषाधिकारों के उपभोग के लिए अपेक्षित विशेष सुविधाएं प्रदान करे और विशेष प्रतिभावान् व्यक्तियों की समाज का कल्याण करने में समर्थ और उपयोगी शक्तियों को अपनी स्वीकृति और यथोचित सम्मान प्रदान करे चाहे वे व्यक्ति किसी भी वर्ग के हों। साथ ही राज्य का यह कर्तव्य है कि वह समाज के हितकारी कानून का अपनी दण्डव्यवस्था के द्वारा पालन करवाये और अपराधियों को दण्ड दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू राज्य में शासन सत्ता की अपेक्षा समाज और उसकी परम्परागत विधियों का महत्त्व कहीं अधिक है। तात्विक दृष्टि से शासन सत्ता केवल साधन है साध्य नहीं।

पंचम अध्याय

राज्य के भेद, स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

- राज्य के भेद
- राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य
- राज्य के अंग
- अध्यात्म-तंत्र (थियोक्रैसी) का अभाव
- उद्देश्य एवं आदर्श
- राज्य के उत्तरदायित्व
- क्रान्ति, राजद्रोह और विद्रोह

पञ्चम अध्याय

राज्य के भेद, स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

राज्य के भेद—

अब हमें यह देखना है कि महाभारत में वर्णित भारत की राज्य-व्यवस्था में किस-किस प्रकार के राज्य विद्यमान् थे। भारतवर्ष विशेषतः महाभारतकाल में अनेक छोटे-बड़े जनपदों अथवा राष्ट्रों में बंटा हुआ था। ऋग्वेद काल से ही अनेक छोटे-बड़े जनों (कबीलों) के अनवस्थित (घुमन्तू) और अवस्थित संगठनों की सत्ता का उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक युग में जन की ही प्रधानता थी। जनपद का विकास उस समय तक नहीं हुआ था। जैसे भरत जन किसी एक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानने वाला एक छोटा समुदाय था[1]। उसमें पृथक् कुलों के गोत्र या वंश विकसित होने लगे। कुटुम्बों की अभिवृद्धि से जन की घुमन्तू स्थिति में बाधा पड़ी और वह किसी एक स्थान में बद्धमूल हो गया। इस प्रकार जन का जीवन भूमि के साथ सम्बन्धित होने लगा। वहीं से जनपद के विकास का आरम्भ हुआ। जिस प्रदेश में जन का सन्निवेश हुआ वही जनपद कहलाया। यह स्वाभाविक ही था कि मूल जन के अतिरिक्त और लोग भी उस प्रदेश में आकर बसने लगे। पारस्परिक सम्मिलन के आधार पर जनपदीय जीवन का विकास एवं भाषा, धर्म तथा आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में व्यापक सम्पर्क और आदान-प्रदान हुआ। और धीरे धीरे मूल जन के नाम पर ही नामकरण होने पर भी ये जनपद वस्तुतः जनमूलक अर्थ के द्योतक न रहकर प्रादेशिक अर्थ के द्योतक हो गये।[2]

महाभारत में अनेक जनपदों के नाम उपलब्ध होते हैं। यौधेय (सभा, ५२, द्रोण ६) क्षुद्रक (सभा ५१, भीष्म ५७) मालव (सभा ३२, वही ५२) वसाति (सभा ५२, उद्योग ३०) शिवि (सभा ३२, वही ५२) उदुम्बर (सभा ५२) प्रस्थल (कर्ण ४४) त्रिगर्त (सभा ५२) मद्र (सभा ५२, भीष्म ६१) केकय (वन, १२०) तथा आग्रेय

१—विश्वामित्रस्य रक्षाति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।

—ऋग्वेद ३, ५३, २।

२—'जनपद' शब्द के जन- सम्बन्धी (अं० ट्राइबल) या प्रादेशिक (अं० टेरीटोरियल) अर्थ के लिए देखिए जायसवाल, हिन्दू, राज्यतन्त्र पृ० ३१–३२।

(वन, २५४) आदि जनपदों में से अनेकों का उल्लेख अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों में भी उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त आदि पर्व में महाराजा वलि की रानी सुदेष्णा के पाँच पुत्रों को आदि संस्थापक मानकर अंग, वंग, कलिंग, सुह्म तथा पुण्ड्र इन पांच जनपदों के नामों का उल्लेख किया गया है। भौगोलिक सान्निध्य के कारण महाभारत में अनेक जनपद नामों के जोड़े भी पाए जाते हैं–जैसे सिन्धु-सौवीर,।[1] भद्रगान्धार (कर्ण ४४, ४७) वसाति सिन्धु-सौवीर (कर्ण ४४, ४७) वसातिमौलेय (सभा ५१,५२) शूर-वैयमक (सभा० ५१,५३ अफगानों के सूर और ऐमक नामक कवीले) नीप-अनूप (सभा ५१, २४) माद्रेय–जांगल (भीष्म १, ३६) आदि। इन सवके विषय में भौगोलिक दृष्टि से यह तथ्य सर्वांश में लागू है कि जिन जनपदों के नामों के जोड़े भाषा में प्रसिद्ध थे उनकी भौगोलिक सीमाएं किसी न किसी अंश में एक दूसरे से मिली हुई थीं वैदिक काल से ही प्रचलित कोसल, काशी, विदेह, कुरुपांचाल, मगध, उत्तर कुरु, उत्तर मद्र आदि जनपदों के नाम महाभारत में भी मिलते हैं। इस प्रकार महाभारतकाल में सम्पूर्ण भारतवर्ष इन जनपदों में इस प्रकार वंटा हुआ था जैसे प्राचीन यूनान पुरराज्यों में तथा जैसे मैकियावेली के समय का इटली राज्यों और गणराज्यों में[2]। अन्तर केवल इतना है कि यूनान के पुरराज्य अधिकांश पहाड़ी प्रदेश और घाटियों में फैले थे। उन्हें एक को दूसरे से पृथक् क ने वाली निश्चित सीमाएं थीं। उनकी तुलना में भारतीय जनपद राज्यों का प्रयोग यूनान देश से कहीं अधिक विस्तृत और महान् था। इनके भौगोलिक क्षेत्र प्रायः यूनानी पुर-राज्यों की अपेक्षा पर्याप्त वड़े थे। भारतीय जनपदों की जनसंख्या के दो महत्वपूर्ण भाग वीर और जनपद थे राजधानी और दुर्ग के नाते पुर (नगर) का वड़ा महत्व था परन्तु ग्रामों में भी सार्वजनिक दृष्टि से पौर या नागरिकों के समान ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली नागरिक निवास करते थे। इसके विपरीत यूनानी राज्यों में नागरिकता के अधिकारों का भोग करने वाले लोग ही पुरों में रहते थे और उसके अलावा ग्रामों में प्रायः दास और कृषक रहते थे जिन्हें नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं थे। यूनानी नगर राज्यों की राजधानी "एक्रोपोलिस" की तरह महाभारत में भी जनपदों की रक्षा और जनपदों के सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से राजधानी का वड़ा महत्व था। जनपद की रक्षा कैसे हो यह प्रश्न उठाकर शान्ति पर्व (६६, १–७१) में राजधानी का जनपद की रक्षा और सैनिक तैयारी की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है। वस्तुतः कई एक गण महाभारत-काल में क्षेत्रफल की दृष्टि से इतने वड़े भी थे कि उनकी तुलना यूरोप के किसी एक देश के साथ सुविधापूर्वक की जा सकती है। यूनानी लेखकों ने चर्चा की है कि मालव गण की सेना में ६० हजार पैदल, १० हजार घुड़सवार, ५००० हजार हाथी और ५०००

१—वन २५८, १८; शान्ति १०१, ३।
२—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४२२।

रथ सम्मिलित थे[1]। सिन्धु के मुहाने की ओर लौटते हुए इन्हीं मालवों से युद्ध करते हुए दुर्ग पर किसी सैनिक के पांच अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े फलक वाले एक वाण से सिकन्दर के कवच को चीर कर छाती में समा जाने के कारण बाद में उसकी मृत्यु हुई थी। सेना की इस विशाल शक्ति के आधार पर अनुमान लगाने से इन जनपदों (राष्ट्रों) की तुलना में मध्यकाल के वेनिस या फ्लोरेंस जैसे कुछ बड़े गणराज्यों या राजतन्त्रों से करना अधिक उचित होगा।

शासन के प्रकार—

महाभारत में प्रतिविम्बित राजनीतिक परिस्थितियों में शासन के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है:— (१) राजतन्त्र या राज्य (२) गणराज्य तथा (३) अराजक जनपद। इनमें से पहले दो प्रकार ही प्रमुखतया प्रचलित थे क्योंकि सभा पर्व तथा उद्योग पर्व में प्राप्त विवरणों से यही ज्ञात होता है कि उस काल के जनपद या तो राजाधीन थे या फिर गणाधीन[2]। जो जनपद अभी तक राजनीतिक विकास की आरम्भिक दशाओं में ही थे उनमें किसी प्रकार की संघीय प्रणाली से कार्य चलता था। इनमें से हुई एक तो उत्सेक अर्थात् लूटमार आदि तथा दस्युकर्म से आजीविका चलाते थे। ऐसे व्रात समूहों या दस्यु-संघों को ही पितामह भीष्म ने शान्ति पर्व में अराजक राष्ट्र कहा है[3]।

हमने महाभारत के जनपदों को जानबूझकर एक राजजनपद या एकाधीन (अं० मौनार्की) की संज्ञा नहीं दी है। राजाधीन जनपदों में राजा राज्य करता था किन्तु शासन का कार्य राजा मन्त्रिपरिषद् की सहायता से ही करता था। वैदिक युग की दो जन-संख्याओं अर्थात् सभा और समिति का स्थान महाभारतकाल में शासन की दृष्टि से मंत्रिपरिषद् ने ले लिया था। अतः मन्त्रिपरिषद् और धर्म के प्रभुसत्ता अनुशासन में 'सीमित राजतन्त्र' की पद्धति से शासित होने वाले राज्यों को 'एक राज' की अपेक्षा राजतन्त्र ही कहना अधिक उचित होगा। गणराज्यों में गणतन्त्रीय पद्धति से शासन चलाया जाता था। गण की सभा में कुल को इकाई मानकर कुल मुख्यों के द्वारा गण की सभा का निर्माण होता था। विभिन्न वर्गों में नेतृत्व के अनुसार बंटे हुए ये कुल

१—मैक्क्रिंडल, 'भारत पर सिकन्दर का आक्रमण', १२१।
दे० पाणिनि—'क्षौद्रकमाल की सेना' (क्षुद्रकमालवत् सेनासंज्ञायाम्, गणसूत्र, खण्डिकादिभ्यश्च ४, २, ४५)।

२—अवदानशतक सं० स्प्रेयर, (पैट्रोग्रैड, १९०२) २, १०३, दे० सभा, १४, २–६; पाणिनि ४, १, १३७; ६, २, ३४ तथा ५, ३, ११६।

३—शान्ति ६७, ४ तुलनीय कौटिल्य १०, १, आर० सी० मजूमदार, एज आफ् इम्पीरियल यूनिटी, ३३४। महाभारत में गण-विरोधी भावना'।

४—दे० अक्रूर वर्ग्याः, 'वासुदेव वर्ग्याः' क्रमशः पतञ्जलिकृत महाभाष्य में सूत्र ४. २, १०४ पर वार्तिक क्र० ११ पर तथा पाणिनि सूत्र ४, ३, ५४।

मुख्य शासन के सामान्य कार्यों में और गण की सुरक्षा, सेनापतियों तथा गण-मुख्य के चुनावों, तथा अन्य सार्वजनिक हित के मामलों में होने वाले विचार तथा निर्णय में सक्रिय भाग लेते थे और इन (कुल मुख्यों) की पदवी 'राजा' थी[1]।

महाभारत का परिप्रेक्ष्य पूर्णतया राजतन्त्र शासन प्रणाली से अधिष्ठित है। इसलिए राजधर्मानुशासन पर्व तथा अन्य पर्वों में भी राजनीतिक विषयों का जितना विवेचन प्राप्त है वह सभी राजतन्त्र विषयक है। स्पष्ट है कि ये सभी विवरण राजतन्त्र के समर्थक विचारकों द्वारा प्रस्तुत किए गये हैं। गणतन्त्र के विषय में शास्त्रीय विचार केवल शान्ति-पर्व के एक ही अध्याय (१०७ वें) में उपलब्ध हैं। जहाँ तक (अराजक) राज्यों का प्रश्न है महाभारतकार की दृष्टि में उन्हें राज्य कहना ही गलत है क्योंकि उनमें राज्य के मौलिक तत्त्वों का ही अभाव होता है[2]।

मैकियावेली ने शासन-प्रणालियों की चर्चा करते हुए प्रथम अध्याय में ही कहा है कि सभी राज्य एवं प्रभुसत्ताएँ जिन्होंने मानव जाति पर शासन किया है और कर रही हैं उनके दो भेद रहे हैं और वे हैं—(१) गणतन्त्र या (२) राजतन्त्र। हम पहले ही इस वात की चर्चा कर चुके हैं कि मैकियावेली हृदय से गणतन्त्र शासन प्रणाली का समर्थक था और रोमन साम्राज्य की तुलना में अधिक दीर्घकाल तक चलने वाले तथा अधिक सफलतापूर्वक विस्तार करने में समर्थ रोमन गणराज्यों का वह बड़ा प्रशंसक था[3]। परन्तु अपने काल के इटली भ्रष्टाचार ग्रस्त तथा अनुशासनहीन राजनीतिक जीवन में सुधार तथा व्यवस्था लाने की दृष्टि से वह निरंकुश वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना के पक्ष में था। अतः उसने अपने 'प्रिंस' में जिस राजतन्त्र की दृष्टि से विश्लेषण किया है वह सच्चे अर्थों में एक राज्य था निरंकुश संप्रभुता सम्पन्न राजतन्त्र (अं० ऐब्सोल्यूट मौनार्की) का समर्थन है। जिस प्रकार महाभारत में राजनीतिक दृष्टि से अतिहीन दशा के रूप में ही 'अराजक जनपद या राष्ट्र' की कल्पना करते हुए भी उसका उल्लेख अवश्य किया गया है, उसी प्रकार मैकियावेली ने भी गणतन्त्र और राजतन्त्र के अतिरिक्त दशा की ओर संकेत किया है जिसे उसने 'अराजकता' (अं० एनार्की) की संज्ञा दी है। 'प्रिंस' के नौवें अध्याय में नगरों के शासन के विषय में विचार करते हुए उसने कहा है कि प्रत्येक नगर में एक काल में नीचे लिखी परिस्थितियों में से एक रहती है—(१) राजतन्त्र (२) स्वशासन या फिर (३) अराजकता।

इस प्रकार मोटे तौर से राजनीतिक दृष्टि से विकसित राज्यों की शासन प्रणालियों के दो भागों (अर्थात् राजतन्त्र तथा गणतन्त्र) में वांट देने पर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक राजतन्त्र प्रशासित जन-समुदाय और वहाँ का राजनीतिक जीवन किसी भी दूसरे राष्ट्र से अलग एक छोटी सी प्रयोगशाला सरीखा होता है।

१—कर्ण ४, ४७।
२—दे० 'सप्तांग राज्य' आगे इसी अध्याय में।
३—देखिए-यही पुस्तक अध्याय ३ परिच्छेद २।

देश और काल की भिन्नता के साथ ही साथ अनिवार्य रूप से बदलने वाली मानवीय परिस्थितियों में राजनीतिक संस्थाओं में किसी मौलिक एकरूपता की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः आवश्यकतानुसार राज्यों और संघों में शासनों के अनेक अवान्तर भेद रहे होंगे। राज्यों के इन भेदों और उनकी विशेषताओं के संकेत वैदिक और वैदिकोत्तर कालीन साहित्य में एवं अर्थशास्त्र, जैन एवं बौद्ध-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। मैक्क्रिंडल द्वारा प्रस्तुत यूनानी लेखकों के उद्धरणों से यह बात सिद्ध होती है कि सिकन्दर महान् के आक्रमण के काल में पश्चिमोत्तर भारत में राज्यों के अनेक संवैधानिक भेदों की स्थिति थी। मैगस्थनीज ने लिखा है कि प्राचीनकाल में राज-तन्त्रों का स्थान कई जगह गण अथवा संघ राज्यों ने ले लिया था। मैगस्थनीज ने स्पष्टतया उल्लेख किया है कि उसके काल में स्वशासित नगर भी थे जिनमें न तो संघ शासन प्रणाली ही थी और न राजतन्त्र ही। साथ ही कुछेक जनपदों में राजतन्त्र पद्धति ही चली आ रही थीं[1]।

विभिन्न राजतंत्रीय संविधान—

प्रश्न यह है कि इन राजाधीन और गणाधीन जनपदों में क्या एक ही प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित थी? यदि नहीं तो उनके कौन कौन से भेदों का उल्लेख मिलता है। महाशय आल्टेकर का विश्वास है कि प्राचीनकाल के साहित्य में राज-तन्त्र जनपदों के शासक का अभिषेक सम्पन्न हो जाने पर जो विभिन्न पद दिए जाते थे, हो सकता है कि वे अनेक प्रकार के राज्यों के द्योतक हों[2]। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका उल्लेख है कि विभिन्न प्रदेशों के राजाओं का विभिन्न पद अर्थात् जैसे राज्य, स्वराज्य, भौज्य वैराज्य, महाराज्य, साम्राज्य आदि के लिए अभिषिक्त किया जाता था[3]। विभिन्न प्रदेशों के शासकों का विभिन्न पदों के लिए अभिषेक किए जाने के आधार पर ही डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इन विभेदों को विभिन्न राजतन्त्रीय संविधानों की संज्ञा दी है।[4]

महाभारत में इस ऐतिहासिक तथ्य के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कितने ही राजा लोग वस्तुतः सीमित संप्रभुसत्ता और स्वशासन के अधिकार का उपभोग करते हुए बड़े-बड़े सम्राटों के अधीन राज्य करते थे। सामान्यतया इनमें से अनेकों की स्थिति सामान्तों जैसी थी। हो सकता है कि छोटे-छोटे राजाओं को भोज या स्वराज आदि उपाधियों से पुकारा जाता हो और इनके द्वारा जिसकी अधिनता स्वीकार कर ली गई हो उसका सम्राट के नाते साम्राज्य-पद के लिए अभिषेक किया जाता हो। हो सकता है कि

१—दाओदोरस ३, ३८; मैक्क्रिंडल, मैगस्थनीज पृ० ३८—४०।

२—आल्टेकर पृ० २०।

३—ऐतरेय ब्राह्मण ८, २, ६; ८, ३, १३, शान्ति ६८, ५४, 'राजा मोजो विराट् सम्राट्'।

४—ऐतरेय ब्रा० ८, १४; । 'हिन्दू राज्यतन्त्र' १०, ७६—८१।

इस प्रकार के सम्राट अपने शौर्य और पराक्रम से दिग्विजय करने में सफलता प्राप्त कर अनेक राजाओं के द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाने पर ही सम्राट मान लिये जाते हों और वस्तुतः उनके साम्राज्य अथवा स्वशासित प्रदेश का क्षेत्रफल अपने अधीनस्थ राजाओं के कोई अधिक बड़ा न होता हो[१]। आचारांग सूत्र में अराज्य, गणराज्य, युवराज्य, द्वैराज्य तजा वैराज्य तथा विरुद्ध राज्य आदि प्रशासनिक भेदों का संकेत किया गया है[२]। इनमें से द्वैराज्य-संविधान का प्रयोग वस्तुतः विचित्र और नितान्त भारतीय प्रयोग है। महाभारत के सभापर्व में अवन्ती में दो शासकों अर्थात् विन्द और अनुविन्द के शासन का उल्लेख है।[३] कौटिल्य ने भी द्वैराज्य और वैराज्य की तुलना करते हुए यह मत प्रकट किया है कि द्वैराज्य संविधान के अन्तर्गत राज्य में आपस में प्रतिस्पर्द्धा, राग-द्वेष अथवा परस्पर में ही संघर्ष होने के कारण उसका विनाश हो जाता था[४]। पाश्चात्यों के मत में "द्वैराज्य" एक नितान्त असम्भव कल्पना है। वे हाब्स के संप्रभुसत्ता की अविभाज्यता" के सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण द्वैराज्य व्यावहारिक पक्ष को समझ ही नहीं सकते। परन्तु भारतवर्ष में संयुक्त परिवार की संस्था नितान्त व्यवहार्य और जीवित संस्था है। मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त स्वामित्व का धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त जब पारिवारिक जीवन की परिधियों से ऊपर उठाकर अधिक व्यापक रूप में राज्य पर लागू कर दिया जाता है तो वह निनान्त व्यावहारिक प्रयोग है। हो सकता है कि शासक वंश में परस्पर कलह, प्रतिस्पर्धा और रक्तपात आदि की आशंकाओं का निवारण करने के लिए इस प्रणाली को स्वीकार कर लिया गया है[५]। इस प्रकार राज्य के वंशानु-संक्रमण के आधार पर अधिकार होते हुए भी जब दो शासक राज्य का बंटवारा करने की अपेक्षा मिलकर एक दूसरे की सलाह से शासन चलाते होंगे तो यह "द्वैराज्य" कहलाता होगा और यदि ये शासक आपस में ही एक दूसरे के प्रति स्पर्द्धा और द्वेष के कारण परस्पर विरोधी कार्य करते होंगे तो उस राज्य को आचरांग सूत्र के जैन प्रणेताओं ने विरुद्ध-राज्य की संज्ञा दी होगी।[६]

कुछेक विद्वानों का यह मत है कि वैदिक युग से महाभारतकाल तक ऐसे अनेक राजतन्त्रों का भी उल्लेख है जिनमें अनेक राजा लोग चुनाव के द्वारा किसी एक को

१—आल्टेकर, पृ० २०,।

२—आचारांग सूत्र २, ३, १, १० 'अरायाणि वा, गणरायाणि वा, जुवरायाणि वा दौरज्जाणि वा वैरज्जाणि विरुद्धरज्जाणिवा'।

३—सभा पर्व ३१ तथा उद्योग १६५ आदि।

४—अर्थ० ८, १; २।

५—दे० जायसवाल पृ० ८५-८६।

६—आल्टेकर पृ० २१।

अपना राजा चुना करते थे[1]। अतः ऐसे राजतन्त्र को शायद 'अल्पजनतन्त्र' (अं० औलीगार्की) ही कहना अधिक उचित है[2]।

हमारे विचार में हिन्दू राजतन्त्र के उचित भेद को स्वल्प जनतन्त्र कहना उचित नहीं है। अरिस्तू ने स्वल्पजनतन्त्र (एरिस्टोक्रैसी) की परिभाषा करते हुए लिखा है, कि जब शासन व्यवस्था का स्वामित्व (अथवा प्रभुशक्ति) सम्पत्तिशाली लोगों के हाथ में होता है तब शासनतन्त्र स्वल्पजनतंत्र कहलाता है। इसकी व्याख्या करते हुए भोलानाथ शर्मा ने लिखा है कि जिस समाज में सम्मान का केन्द्रविन्दु सम्पत्ति होती है उसमें अल्पजनतंत्र अथवा धार्मिकतन्त्र की स्थापना होती है। धनोपलब्धि की आकांक्षा समता की भावना को सहन नहीं कर सकती अतः धनिकों की संख्या समाज में कम ही होती है। और वे अपनी सम्पत्ति के उपभोग और वृद्धि की सुविधा के लिए शासनतन्त्र को हथियां लेते हैं। इसके विपरीत वहुसंख्यक जनता अपनी स्वाधीनता का समान उपयोग करने के लिए जनतंत्र की प्रशंसा करने के पक्ष में होती है। इन दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा अपवाद रूप में अरिस्तू ने यह भी सम्भावना प्रकट की है कि निर्धन लोग धनवानों की अपेक्षा कम संख्या में हों और जिस पर भी अधिक शक्तिशाली होने के कारण राष्ट्रों की प्रभुता की व्यवस्था उन्हीं के हाथ में हो, यह असंभव जैसी प्रतीत होने वाली सम्भावना उच्चतर संगठन अथवा लोकोत्तर चरित्रवल के आधार पर ही संभव हो सकती है अन्यथा नहीं। इस विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार अनेक जनपदों में मूल जनवंशीय (जनपदिन्, पाणिनि) क्षत्रियों की उपाधि ही राजा होने के कारण उनके द्वारा निर्वाचित "राजा" के शासन को निर्वाचित राजतंत्र (अं० इलैक्टिव किंगशिप) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। स्वल्पजनतन्त्र के लिए आवश्यक तत्त्व अर्थात् सम्पत्तिशाली लोगों के हाथों में सत्ता का स्वामित्त्व, समाज में धन की ही प्रतिष्ठा, इन तथाकथित राजाओं का अनिवार्य रूप से धनी होना और उनका वहुसंख्यक जनता के हितों के विरुद्ध संगठित होकर राज्यसत्ता हथिया लेना आदि का उक्त राजतन्त्रों में पर्याप्त अभाव प्रतीत होता है। हम पहले ही कह चुके है कि इन "राजा" कहलाने वाले क्षत्रियों की जाति तथा कुल के आधार पर समान प्रतिष्ठा और समान सत्ताधिकार उपलब्ध थे। लिच्छिवि जैसे ऐतिहासिक गणों में इन कुल या ग्राम के प्रतिनिधि के रूप में शासन-कार्य में भाग लेने वाले तथा शासकों एवं सेनापतियों का चुनाव करने वाले राजाओं की संख्या पर्याप्त वड़ी होती थी। लिच्छिवि गण की सभा के सदस्यों की संख्या ७७०७ थी। शासन-सत्ता पर इतना विकेन्द्रित अधिकार भी कुल धर्मों, जाति धर्मों और श्रेणि धर्मों की संप्रभुता के कारण सर्वथा सीमित था। अतः इन सीमित निर्वाचित राजतन्त्रों को स्वल्पजनतन्त्र कहना उचित नहीं है।

१—द्रष्टव्य ऋग्वेद १०, ६७, ६; ।
शतपथ ब्राह्मण ६, ३, २, ५।

२—आल्टेकर, पृ० २१।

राजतन्त्र अथवा राजाधीन जनपदों के अतिरिक्त महाभारतकाल में अनेक गणराज्यों, गणाधीन जनपदों अथवा संघों की सत्ता का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महामनीषी काशीप्रसाद जायसवाल ने महाभारत में उल्लिखित गणराज्यों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जहाँ तक "अराजक" कहे जाने वाले राजनीतिक दृष्टि से अविकसित तथा अर्द्धविकसित समुदायों का प्रश्न है उनके विषय में यहा केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "अराजक राष्ट्र, महाभारत में एकराज्य" या राजाधीन राष्ट्र की तरह कोई राजनीतिक एवं संवैधानिक इकाई नहीं है जैसाकि कतिपय विद्वानों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है। भारत के किन्हीं मैज़िनी या टालस्टायों ने यह अराजक संविधान का प्रयोग किया था, यह कहना साथ ही यह मानना कि लोगों में दण्ड या भय न होने के कारण वह सफल नहीं हुआ, ये दोनों बातें ही सत्य के नितान्त विपरीत हैं[1]। ऐसा लगता है कि उक्त मत के प्रवर्त्तक डा० जायसवाल ने जान बूझकर या अनजाने ही, भारतवर्ष के प्राचीन काल की राजनीतिक संगठन के सम्पन्न होने से पहले की सामाजिक दशाओं का प्रतिपादन करने वाले" नैव राज्यं न राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः" इन वाक्यों में उन आधुनिक राजनीतिक मान्यताओं को खोजने का प्रयास किया है जिन्हें अराजकतावाद के प्रवर्त्तक गौडबिन ने १९ वीं शताब्दी में यूरोप में प्रतिपादित किया है। मैसूर के प्रसिद्ध भारत-विद्याशास्त्री डा० नीलकण्ठ शास्त्री ने श्री जायसवाल के उक्त दोषपूर्ण विवेचन को अस्वीकार करते हुए इन पंक्तियों के लेखक को यह अधिकार दिया था कि वह उनका (डा० नीलकंठ शास्त्री का) नाम इस मत के खण्डन के लिए इस प्रवन्ध में उद्धृत कर दे। अतः विनीत शिष्य-भाव से हमने डा० नीलकंठ शास्त्री के ही मत को यहाँ उद्धृत किया है। हमारा यह विश्वास है कि महाभारत में उल्लिखित "अराजक" घटकों की स्थिति बड़ी दयनीय और मात्स्य न्याय (अं० ऐनार्की) से अद्भूत थी। अतः उसकी कोई संवैधानिक संज्ञा नहीं हो सकती। अतः अराजक शब्द का अर्थ प्राचीन भारतीय परिप्रेक्ष्य में केवल "राजहीन" करना चाहिए। जिन राजहीन (अं० किंगलॅस) जनपदों का गणों अथवा नगर राज्यों का उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है उनमें किसी न किसी प्रकार की जनतंत्रीय शासन प्रणाली अवश्य रही होगी। राजसत्ता का न होना कोई अनौखी बात नहीं है किन्तु किसी प्रकार भी शासन सत्ता के विना ही चलने वाले किसी जनपदीय जीवन का उल्लेख महाभारत में नहीं है। अराजकीय संवैधानिक स्थिति की कल्पना कौरी कष्टतु-कल्पना है। हाँ संक्रमण कालीन अस्थायी राजनीतिक परिस्थिति के रूप में अराजकता का अस्तित्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

सामान्यतया प्राचीन भारत में राज्य एकात्मक (अं० यूनिटरी) थे। मंत्रियों, राष्ट्रियों (गवर्नर) तथा अन्य अधिकारियों की प्रभुता का मूल स्रोत राज्य की सत्ता ही होती थी। केन्द्रीय शासन की ग्राम-पंचायतों, नगर परिषदों और वाणिज्य श्रेणियों पर

१—जायसवाल, ८६–८८।

निरीक्षण और नियंत्रण रखने का अधिकार था। परन्तु अतिप्राचीन काल से चली आई प्रथाओं, विधियों और परम्पराओं ने शासक-सत्ता की संप्रभुता को इतना सीमित और नियंत्रित बना दिया था कि राज्य इन संस्थाओं के स्थानीय स्वशासन के अधिकार में केवल उन्हीं परिस्थितियों में हस्तक्षेप कर सकता था जब ये संस्थाएँ अपने परम्परागत नियमों और संविधानों का उल्लंघन करें। इस प्रकार ये स्थानीय स्वशासन का उपभोग करने वाली संस्थाएँ राज्य के एकात्मक स्वरूप को सीमित भी करती थीं और अपने क्षेत्र में अपने-अपने संविधानों और विधियों के अनुसार निरन्तर कार्य करते हुए समाज के राजनीतिक जीवन को वह स्थायित्व प्रदान करती थीं जिसमें केन्द्र में होने वाले परिवर्तनों और क्रान्तियों से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

महाभारत में इस बात के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं कि कई बार अनेक जनपद मिलकर एक महान जनपद या गणसंघ के रूप में संगठित भी हो जाते थे। उत्तर वैदिक काल के कुरु और पांचाल ये दोनों जनपद महाभारतकाल में एक हो गये थे और इनकी राजधानी हस्तिनापुर थी। इसी प्रकार अन्धक- वृष्णि संघ तथा मुद्रक-मालवा संघ भी ऐसे ही गणसंघ थे। यूनानी लेखकों के वर्णनों से पता चलता है कि क्षुद्रक-मालव संघ सिकन्दर के आक्रमण के समय एक गणसंघ के रूप में संगठित थे। इग दोनों गणराज्यों कि विशाल सेनाओं का सेनापति क्षुद्रकों में से चुना गया था।

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्य

राज्य के अनेक भेदों और उनके हेतुओं का पर्यवेक्षण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त भेदों का मूल तथा प्रेरक कारण वस्तुतः शासन-प्रणाली होती है। उसी के कारण हम किसी राज्य को राजतन्त्र या गणतन्त्र कह देते हैं। वस्तुतः राज्य का शासन तो वह संगठन है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है अपने आदेश जारी करता है और अपने कार्यों का सम्पादन करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रशासक और प्रशासित दोनों का समावेश कर लेने वाला संवास ही राज्य है। प्रश्न यह है कि राज्य के वास्तविक स्वरूप की ओर भी क्या प्राचीन भारतीय विचारकों ने कोई ध्यान दिया था? महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए (अ० २, परिच्छेद ३) हमने हिन्दू राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और कार्यों के विषय में हिन्दू मान्यताओं का परीक्षण किया है। एक बात जो दोनों ही स्रोतों में समान रूप से अभिव्यक्त हुई है वह यह है कि महाभारत के प्रणेताओं की यह मान्यता है कि अतिप्राचीनकाल से विकसित हुई राज्य-संस्था मानव-जीवन की अपेक्षाकृत अधिकाधिक सुरक्षा के लिए तथा मानव के उच्चतर आदर्शों की पूर्ति के लिए सिद्धान्त अनिवार्य कल्याणकारिणी संस्था है। इन विचारकों ने राज्य को अन्य कोई विकल्प न होने के कारण एक अनिवार्य बुराई मानकर स्वीकार नहीं किया है। वास्तविकता यह है कि इनका विचार है कि मानव के सर्वांगीण विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करने तथा समाज के विध्वंसकारी तत्त्वों का दमन कर व्यक्ति

को स्वतन्त्र विकास का अवसर देने के कारण राज्य ही विध्वंसकारी तत्त्वों का दमन कर व्यक्ति को स्वतन्त्र विकास का अवसर देने के कारण राज्य ही सर्वोपरि संस्था है और इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।

राज्य के प्रति अनादर और आशंका की दृष्टि से वही लोग देखते हैं जो आसुरी प्रकृति के हैं तथा जो दूसरों का अहित करके अपना निजी स्वार्थ ही सिद्ध करने के दाव लगाते रहते हैं। परन्तु समाज का विघटन और विनाश करने पर खुले हुए ऐसे लोगों का क्या अधिकार हैं कि वे समाज से यह आशा रखें कि उनकी सुविधाओं और इच्छाओं की परवाह की जाय।

प्राणिमात्र के भौतिक और पारमार्थिक कल्याण के लिए मानव-समाज को जो प्रथाएँ, परम्पराएँ, नियम तथा धर्म विरासत में मिले हैं उन दिव्य शाश्वत धर्मों का पालन करना शासक (राजा) और शासित दोनों के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है। इन धर्मों की रक्षा के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है। इन धर्मों की रक्षा के लिए ही शासक को वह अधिकार दिया गया है जिसके द्वारा वह उन लोगों को दण्ड दे सकता है जो राज्य के नियमों में बंधा है। वह भी राज्य के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है। वह शासक के नाते प्रतिज्ञावद्ध होता है कि वह नियमों के अधीन होकर धर्मों की व्याख्या करने वाले धर्मवृद्धों की आज्ञानुसार कार्य करेगा कभी स्वच्छन्द नहीं बनेगा। क्योंकि स्वच्छन्द और निरंकुश आचरण करने पर वह भी दण्डनीय अपराधी बन जाता है और वह अपने उस अधिकार से वंचित हो जाता है जिसके अनुसार शासित वर्ग या जनता उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। ऐसी दशा में प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे पदच्युत कर देने का अधिकार रखती है और निरंकुश शासक की हत्या भी कर सकती है। इस प्रकार हिन्दू-राज्य में शासक और शासित दोनों पर धर्म की संप्रभुता का अमानयीय दिव्य नियंत्रण माना गया है। इस विषय की हम पहले भी (अं० ३ परिच्छेद १ में) विशेष रूप से व्याख्या कर चुके हैं।

मैकियावेली की दृष्टि में भी समाज के सर्वोपरि हित की साधक संस्था राज्य ही है। वह राज्य की दण्ड-शक्ति को मानव-स्वभाव की दुष्टता और स्वार्थ पर नियंत्रण रखते हुए सार्वजनिक हित के संरक्षण के लिए आवश्यक मानता है। साथ ही वह इन विघटनकारी असामाजिक तत्त्वों के अतिरिक्त ईमानदारी और शान्ति से जीवन विताने की इच्छुक जनता के द्वारा राज्य के नियमों का पालन कराने के लिए भी राज्य-दण्ड की आवश्यकता मानता है। उसका विश्वास है कि जनता अपने वचनों और निर्णयों पर दृढ़ रहे और उनकी प्रमादवश उपेक्षा न करे इसके लिए शासक की सर्वोच्च निरंकुश सत्ता की आवश्यकता है। इस प्रकार मैकियावेली शासक को पूर्ण संप्रभुता (अं० एब्सोल्यूट औथौरिटी) देने का पक्षपाती है, जबकि हिन्दू राजा को यह पूर्ण संप्रभु-सत्ता प्राप्त नहीं है। मैकियावेली राज्य की सुरक्षा और हित के लिए शासक को विधायिका शक्ति का स्रोत मानता है और उसके द्वारा लागू किए गये

नागरिक कानूनों को मान्यता देता है, इसके विपरीत हिन्दू-राज्य के शासक को कानून बनाने का अधिकार नहीं है, वह विधायक नहीं है वह केवल कार्यपालक (अं० ऐक्जीक्यूटिव) शासन का संचालक है।

जनात्मक या क्षेत्रीय ?

अब हमें यह देखना है कि क्या महाभारत में वर्णित हिन्दू-राज्य का स्वरूप 'जनात्मक' या कवीलों की प्रकृति का था। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध अनेक प्रकरणों से यह पता चलता है कि प्रारम्भ में अनवस्थित रूप में भ्रमण करने वाले कवीले वंशों के विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप कालक्रम से किसी न किसी भौगोलिक क्षेत्र में बद्धमूल हो गये थे। महाभारतकाल में इसी प्रकार के बद्धमूल अवस्थित जनों के निवास-प्रदेशों अनेक जनपदों या राष्ट्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन राष्ट्रों के विवरण से ही यह भी स्पष्ट है कि जनपद राजनीतिक विकास की विभिन्न दशाओं में विद्यमान थे। कितने ही राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया संगठित तथा औद्योगिक एवं आर्थिक विकास की जीती जागती प्रयोगशालाओं जैसे थे तो उसी काल में कुछेक जनपद अवस्थित होते हुए भी कवीलों जैसी प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हुए थे। ये अभी अर्ध-विकसित थे। इन जनों तथा जनपदों के सैकड़ों रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करके हिन्दू-राज्य के उद्गम और विकास के क्रम और परम्परा का अध्ययन किया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाय तो फिर आज के मूर्धन्य हिन्दू राजशास्त्र वेत्ताओं को यह कहने की आवश्यकता न रहे कि 'प्राचीन भारत के लेखकों को ऐतिहासिक प्रणाली का ज्ञान नहीं था, अतः उन्होंने राज्य के विभिन्न दशाओं में होकर सम्पन्न हुए विकास का वर्णन नहीं किया"। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू-राज्य के क्रमिक विकास और महाभारतकालीन स्वरूप के अनुशीलन का प्रश्न स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि महाभारत में राज्य का सर्वोन्नत स्वरूप वह है जिसमें उसके शासक को सार्वभौम अर्थात् समुद्रों से घिरी हुई सम्पूर्ण भूमि (सर्वभूमि) अर्थात् उस काल के काम्बोज से कामरूप तक और कैलास से कन्याकुमारी तक फैले हुए भारतवर्ष का एकच्छत्र सम्राट होने का वर्णन किया गया है। यह आदर्श महाभारत से भी सदियों पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। अतः हिन्दू-राज्य को जनात्मक (अं० ट्राइवल) कहना केवल सत्य का उपहास करना है। परन्तु उस दुराग्रह की प्रवृत्ति के विषय में क्या कहा जाय जिसके कारण अंग्रेज विद्वानों ने क्षुद्रक मालव, अन्धक-वृष्णि तथा यौधेय जैसे महाजन-पदों के मुद्रा-विषयक एवं अन्य उल्लेखों का अंग्रेजी में अनुवाद करते हुए उनके वाचक "गण" का अनुवाद भी "कवीला" किया है। मैकिण्डल ने लिखा है कि 'क्षुद्रक-मालवों की एक लाख सेना से मुकाबिला होने की आशंका से सिकन्दर की सेनाओं का मनोवल टूट गया था। भारत की एक और नितान्त दुर्घर्ष और दुर्जेय सैन्य शक्ति से युद्ध की विभीषिका उपस्थित होने पर सिकन्दर के सैनिक छोटी-छोटी सभाओं में एकत्रित

होकर और आगे न लड़ने का निर्णय करते थे और सिकन्दर को भला-बुरा कहते थे।' कोई राजशास्त्र-वेत्ता किस प्रकार इन गणराज्यों को कबीले कहने का दु:साहस करेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि महाभारत में हिन्दू-राज्य को पर्याप्त विकसित और सर्वथा (अं० टैरीटोरियल) स्वरूप प्राप्त हो चुका था। शताब्दियों से सम्पन्न देश की सांस्कृतिक एकता की पृष्ठभूमि में सार्वभौम साम्राज्य का आदर्श कार्यान्वित हो रहा था। छोटे-छोटे जनपदों के लिए प्रयोग में आने वाला राष्ट्र शब्द अब सारे भारतवर्ष के लिए प्रयुक्त होने लगा था क्योंकि 'पृथिव्या आसमुद्र पर्यान्तया एकराट्" की यह राजनीतिक कल्पना उस आधार के विना भला कैसे साकार हो सकती थी ?

राज्य के अंग

अब हमें यह देखना है कि महाभारत में वर्णित राज्य के अंग कौन कौन से हैं ? हम यह पहले ही कह चुके हैं कि दोनों स्रोतों के अनुशीलन से राज्य संस्था का जो स्वरूप प्रस्तुत होता है वह जन मूलक (कबायली) न होकर प्रादेशिक (अं० टैरी-टोरियल) अर्थ का द्योतक है। आधुनिक विचारकों की परिभाषाओं के अनुसार राज्य के ४ अंग माने जाते हैं। वे हैं—

१—जनसंख्या
२—भूखण्ड
३—शासन
४—संप्रभुसत्ता

अब प्रश्न यह है कि प्राचीन भारत के विचारकों ने राज्य के अंगों का जिस प्रकार वर्गीकरण किया है उनसे आधुनिक मान्यताओं की समता और विषमता कहाँ तक है ?

सात अंग

महाभारत में, मनु की परम्परा के अनुसार, राज्य के सात अंग बतलाये गये हैं[1]। कौटिल्य ने भी वे सात अंग माने हैं[2]। इनके नाम ये हैं—१–राजा २–प्रधान-मन्त्री या मन्त्रिपरिषद् ३–भूखण्ड या जनपद (राष्ट्र) ४–दुर्ग ५–कोश ६–सेना और ७–महत्वपूर्ण मित्र राष्ट्र। इन अंगों के महत्व के विषय में आचार्यों ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। कहा जाता है कि इसमें सातवें अंग की अपेक्षा छठा अंग अधिक है। और इसी प्रकार पौर्वापर्य से छठे अंग से ५ वां, पांचवे से चौथा, चौथे से तीसरा, तीसरे से दूसरा और दूसरे की अपेक्षा पहला अंग अधिक महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने सभी तत्त्वों को मिलाकर समान रूप से इन्हें राज्य के अंग बतलाया है और उन्हें पृथक्-पृथक् रूप में 'राज्य सम्पद' की संज्ञा दी है। मनु ने कहा है कि प्रत्येक अंग

१—मनु० ९,२९४; शान्ति ६९,६४–५।
२—अर्थशास्त्र ६, १।

का महत्त्व अपने अपने उत्तरदायित्व एवं कार्य तथा उपादेयता के कारण अपने अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। जिससे जो कार्य सिद्ध होता है उसमें वही अंग श्रेष्ठ माना गया है। ये सभी अंग एक दूसरे अंग के पोषक और उपकारी हैं[3]। प्रत्येक अंग राज निकाय अथवा राज्य (अं० बौडी पौलिटिक) का अभिन्न अंग होने के नाते इसलिए और भी अनिवार्य और महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि उसके द्वारा सम्पन्न होने वाली आवश्यकता की पूर्ति अन्य किसी अंग के द्वारा उतने ही अनुपात में अच्छे ढंग से नहीं हो सकती। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि महाभारत में राज्य को अष्टांग भी कहा गया है और आठवें अंग के रूप में नागरिकों की श्रेणियों को गिना गया है[4]।

इससे यह स्पष्ट है कि एक तो जिस समय इस राज्य के सप्तांग होने की धारणा का प्रतिपादन किया गया है उस काल तक राज्य सुनिश्चित भौगोलिक सीमाओं में अपने अपने प्रदेशों में अवस्थित हो गये थे। अनवस्थित अथवा जनमूलक स्वरूप कभी का अतीत की वस्तु वन चुका था। दूसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारत में राजशास्त्र-वेत्ताओं ने राज्य की सावयवता में विश्वास प्रकट किया है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग मिलकर एक सुगठित संघ का निर्माण करते हैं, सभी अंग एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे के आश्रित होते हैं, तथा सम्पूर्ण शरीर का स्वास्थ्य विभिन्न अंगों के निश्चित कार्य कलापों पर निर्भर होता है, उसी प्रकार किसी संगठित समान राज-निकाय का अस्तित्व, विकास और वृद्धि भी उसके इन्हीं अंगों पर निर्भर करती है। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क और आँख का स्थान कानों या हाथों की अपेक्षा कुछ अधिक होता है उसी प्रकार इन अंगों के पूर्वापर महत्व के सिद्धान्त से राज्य की सावयवता के सिद्धान्त की हानि नहीं होती। हां यह स्पष्ट है कि सप्तांग शब्द में अंग शब्द का अर्थ लाक्षणिक ही माना जाना चाहिए। प्राचीन भारतीयों ने यह सिद्ध करने का प्रयास कदापि नहीं किया है कि राज्य वस्तुतः एक सजीव शरीरधारी के समान है और ये अंग भी शरीर के अवयवों की तरह ही राज-निकाय के अवयव हैं। वस्तुतः अभिप्राय केवल इतना ही है कि ये राज्य के इसी प्रकार आवश्यक उपादान हैं जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर आदि अंग शरीर के तथा इनकी आवश्यकता राज्य की स्थिति के लिए अनिवार्य है।

दूसरे शब्दों में एक सुघठित प्रशासन, सुनिश्चित भूखण्ड, आर्थिक आत्म निर्माण, प्रतिरक्षा के उपयुक्त उपाय तथा अन्य राष्ट्रों के द्वारा प्राप्त मान्यता ये सब राज्य की स्थिति के लिए अनिवार्य आवश्यक उपादान माने गये हैं। अंगों के उन आवश्यक गुणों का वर्णन जिनका विकास सम्पूर्ण तन्त्र में उनके महत्व और उपादेयता के लिए आवश्यक हैं महाभारत में विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उनकी ओर

३—मनु० ६, २६५–८, सभा ५, २३ टिप्पणी।

४—आश्रमवासिक ५, ८ तथा सभा ५, २३ पर नीलकण्ठ की व्यवस्था में आठों अंगों का परिगणन।

संकेत मात्र कर देना ही पर्याप्त होगा क्योंकि अगले अध्यायों में राजा, (छठा अध्याय) मन्त्रिपरिषद्, राष्ट्र कोश (सातवां आठवां अध्याय) और दुर्ग तथा सेना (९ वां अध्याय) तथा मित्र राष्ट्रों (नवां अध्याय) की दृष्टि से पृथक् विचार करेंगे।

राजा—

हम यह कह चुके हैं कि हिन्दू-राज्य में राजा की प्रभुसत्ता पर संप्रभु 'धर्म' (कानून) का तथा स्वशासन का उपभोग करने वाले तथा सामरिक दृष्टि से भी पर्याप्त समर्थ समाज के पौर तथा जानपद इन दोनों वर्गों का नियंत्रण होने के कारण उसकी प्रभुसत्ता सीमित थी। परन्तु अराजकता की भयावह परिस्थितियों को दूर कर शान्ति और सुव्यवस्था का राष्ट्र में भीतर और बाहर प्रबन्ध करना अपने आप में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी[1], आर्य तथा आर्येतर सभी प्रजाओं की रक्षा का उत्तरदायित्व एक बहुत जटिल और बड़ी समस्या है। सैनिक और सार्वजनिक, प्रशासनिक एवं वैधानिक तथा आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय अनेक क्षेत्रों में नितान्त सतर्क होकर अनेक समस्याओं का समाधान करने के द्वारा ही राजा का 'रक्षा' का उत्तरदायित्व निबाहा जा सकता है[2]। जनता को अच्छा शासन प्रदान करना, उनके धन का अपहरण न करना, आचरण में शुद्ध और पराक्रमी होना ये सभी राजा के लिए आवश्यक हैं।

यदि राजा अपने रक्षा के उत्तरदायित्व का पालन न करें तो नागरिकों की व्यक्तिगत सुरक्षा, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति का अधिकार तथा उनके कुटुम्ब तथा आजीविका के साधन सभी का अस्तित्व संकट में पड़ जाय, इन शब्दों में महर्षि बृहस्पति ने राजा वसुमना को राज-पद का महत्व समझाया है[3]। प्राचीन हिन्दू विचारकों ने शान्ति, सुव्यवस्था तथा भय के अभाव (अभय) की स्थापना पर ही जनता के सर्वांगीण विकास के लिए अधिक बल दिया है। उस राजा को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है जिसके राज्य में जनता इस प्रकार निर्भय होकर विचरण करें जैसे अपने पिता के घर में बेटे और बेटियाँ रहती हैं[4]।

मंत्री—

मुख्यामात्य या प्रधान मंत्री का पद प्राचीन भारत में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। पिछले अध्याय में ब्राह्म और क्षात्र शक्ति के जिस सहयोग और हिन्दू राज्य में उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले जिस सन्तुलन और संवैधानिक स्थायित्व की ओर हमने संकेत किया था उसका ही व्यावहारिक प्रशासनिक रूप किसी विद्वान् ब्राह्मण के द्वारा

१—शान्ति ५८, २१, दे० शान्ति ५६, २।

२—उद्योग ३९, ५५, दे० मनु ७, १७८-९।

३—शान्ति ६८, १५ राजा के महत्व के लिए विशेषतः देखिए वही, ६८, १–७१, ७३, २१–६, ६७, २–३६, ६५, २८–३१।

४—'पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः। निर्भयाः विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥' शान्ति, ५७, ३३।

क्षत्रिय राजा के महामन्त्री का पद ग्रहण करना है। महामन्त्री और उसकी मन्त्रि-परिषद् प्राचीन भारत को राजनीति में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है। पाणिनि ने ऐसे महामंत्री की 'आर्य ब्राह्मण' की संज्ञा दी है और इस आर्य ब्राह्मण[1] के साथ अनुवन्ध पूर्वक वचनबद्ध होकर धर्म के अनुसार शासन करने में सहयोग देने वाले राजा को 'ब्राह्मण मित्र'[2] राजा कहा है। आचार्य भगवद्दत्त ने ऐसे अनेक राजाओं और उनके महामन्त्रियों की सूची दी है। जिनमें से कई नाम आज भी सर्वसाधारण की जिह्वा पर रहते हैं और जिनसे यह विदित होता है कि प्रधानमन्त्री का महत्त्व भी उतना ही था जितना राजा का। ये नाम हैं—राजा अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोसलराज विडुभ के महामंत्री दीर्घ-चारायण, वत्सराज उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण, मगध-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधा गुप्त, अवन्तिराज पालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन, चंड प्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमान के आचार्य घोटमुख, कौशल राज परन्तप के कणिक भरद्वाज, पंचाल राज ब्रह्मदत्त के आचार्य वाभ्रव्य (मत्स्य पुराण २।३०) आदि। वैदिक युग से चली आई इस प्रथा के अनुसार त्यागी विद्वान् राजशास्त्रवेत्ता ही मुख्यमंत्री होते थे और उनकी पदवी ब्राह्मण थी। महाभारतकार राजा को राज्य रथ का केवल अकेला पहिया कहते हैं और जिस प्रकार एक पहिया नहीं चलता उसी प्रकार राजा और मन्त्रिगण के सहयोग को सफल प्रशासन के लिए आवश्यक समझते हैं।

मैकियावेली तो मन्त्रियों से मंत्रणा करके उपयुक्त और उचित निर्णयों पर पहुँचना ही शासक की बुद्धिमत्ता की कसौटी मानते हैं[3]। प्रिंस के २३ वें अध्याय में कहा है कि जो नरेश स्वयं बुद्धिमान् नहीं होगा वह कभी श्रेष्ठ मंत्रणा प्राप्त नहीं कर सकेगा। परन्तु मैकियावेली के मंत्री की स्थिति केवल परामर्शदाता जैसी ही है। वह राजा को यह आदेश देता है कि वह मंत्रियों से मन्त्रण करे किन्तु निर्णय स्वयं ही ले, अपने निर्णय का दृढ़तापूर्वक पालन करे और अपनी नीतियों पर दृढ़ रहे[4]। मैकियावेली का मत है कि यदि राजा ऐसा नहीं करेगा तो वह इन मंत्रियों के द्वारा ही अपदस्थ कर दिया जायगा या फिर पर-प्रणेय होने के कारण या फिर अपने निर्णयों पर दृढ़ न रहने के कारण प्रजा की घृणा का पात्र बन जायगा[5]। इसके विपरीत महाभारत और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में महामन्त्री राजनीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर राजा का सर्वथा मार्ग दर्शन करते हैं। महाभारत के चरितनायक सम्राट् युधिष्ठिर राज्य का

१—सूत्र ६,२, ४८ (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः)
२—दे० पण बन्ध के लिए देखिए ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक में राजा के द्वारा ली गई शपथ।
३—प्रिंस २३, १८७।
४—वही २३, १८५।
५—वही २३, १८६।

सम्पूर्ण उत्तरदायित्व महामन्त्री युयुत्सु को सौंप कर ही अपनी अन्तिम हिमालय-यात्रा पर गये क्योंकि राज्य के उत्तराधिकारी परीक्षित का राज्याभिषेक तो करवा दिया गया था परन्तु वह राज्य शासन के भार को वहन करने की दृष्टि से अभी वालक ही था[१]।

जनपद या राष्ट्र—

अपनी मातृभूमि के प्राप्त पवित्र मातृभावना भारतीय संस्कृति की अतीव वलवती भावना है। वैदिक काल में ही इसका कितना उदात और उत्कृष्ट रूप विकसित हो चुका था यह अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में प्रतिविम्वित है। कहा गया है 'भूमि मेरी माता है मैं इस विशाल भूमि (पृथिवी) का पुत्र हूँ' यह माता पृथिवी मेरी हिंसा न होने दे। मैं अपनी माता पृथिवी की हिंसा न होने दूं[२]। महाभारतकाल में तो भौगोलिक सीमाओं की दृष्टि से भारतमाता का सवसे श्रेष्ठ और विशालतम रूप प्रस्तुत होता है। महाभारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का संपूर्ण ताना-वाना इसी राष्ट्रभक्ति तथा मातृभूमि की निष्ठा से ओत-प्रोत हैं। भारतीय धर्म है किन्तु यज्ञ से भी अधिक पुण्य है मातृभूमि की प्रदक्षिणा। उस पृथिवी की प्रदक्षिणा जिसका प्रत्येक आंचल एक पुण्य तीर्थ है[३]। सभी अमीर-गरीव, आर्य और आर्येत्तर विना किसी भी प्रकार के भेद भाव के मातृभूमि की प्रदक्षिणा अर्थात् तीर्थयात्रा करते और इसका सच्चा दर्शन प्राप्त कर लाभान्वित होते थे। महाभात के वनपर्व में पाण्डवों की तीर्थयात्रा का मनोरम वर्णन है। राज्य का भार युयुत्सु को सौंपकर अपने पौत्र परीक्षित का राज्याभिषेक करने के वाद पाँचों पाण्डवों और द्रोपदी ने फिर एक वार पृथिवी की प्रदक्षिणा की है तथा इस प्रकार भारतभूमि के सभी तीर्थों का दर्शन करने के वाद उन्होंने हिमालय की ओर महाप्रस्थान किया है[४]। राष्ट्र के प्रति निष्ठा और मातृभूमि की भक्ति का ऐतिहासिक प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि ऐतिहासिक युग में भी अनेक वार अपने जनपदों की सीमाओं से कहीं सुदूर पश्चिमोत्तर की ओर की सीमाओं तक पहुँच कर आक्रान्ता दस्यु जातियों से लोहा लेकर तथा उनको पराजित कर अनेक भारतीय राजाओं और सेनापतियों ने मातृभूमि का ऋण चुकाया है तथा शक, हूण आदि दुर्धर्ष जातियों को परास्त कर विक्रमादित्य की परंपरा का मूल आधार भारतीय जनता की वह भावना है जिसके अनुसार वह संपूर्ण भारतभूमि को स्वर्ग से भी अधिक महान्, गौरवपूर्ण और कल्याणमयी मानते आये है। इस भारतभूमि से पाप का वोझ हटाकर धर्म का राज्य स्थापित करने के ही

१—महाप्रस्थानिक पर्व १,६।
२—अथर्व १२, १, १२।
३—वन ८२, १७।
४—तीर्थ यात्रा के लिए देखिये—वनपर्व अध्याय ८१ से १६३ तक महाप्रस्थानिक पर्व अ० १, २।

लिए लाखों वीरों ने कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र में रण-चण्डी का आह्वान किया था।

मातृभूमि के प्रति निष्ठा और भक्ति की यह भावना यूरोप में भी अति प्राचीन काल से ही अतीव उग्र रूप में विद्यमान थी। 'यूनान के पुर-राज्यों (अं० सिटी स्टेट्स) में प्रत्येक नागरिक अपने पुर के शासक एवं उसके राजनियमों के प्रति अत्यधिक निष्ठा को अपने जीवन का सर्वोत्तम गुण मानता था। इस भाव की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति महात्मा सुकरात के इस कथन में पाई जाती है—"जिस प्रकार अपने माता-पिता और स्वामी के प्रति, वैसे ही अपने देश और उसके विधान के प्रति भी, नागरिकों को उचित है कि वह अपकार का उत्तर प्रत्यपकार से और घात का प्रतिघात से न दे। देश माता से भी अधिक है उसके लिए सब कुछ सह लेना चाहिए।" (ग्लौन्स, दि ग्रीक सिटी एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स,' पृ० १४०[1]। इसके अतिरिक्त यूनानी पुर-राज्यों में नागरिक अपने पुर-राज्य की रक्षा के लिए भी युद्ध करने को सदैव सन्नद्ध रहते थे। ग्लौन्स ने इस विषय में एक और उद्धरण में कहा है कि नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि जैसे अपने कानूनों के लिए वैसे ही अपने पुर की प्राचीर-रक्षा के लिए भी युद्ध करें[2]।

प्राचीन भारत के नागरिकों की अपनी जाति तथा अपनी भूमि के गौरव की रक्षा के लिए युद्ध करने की तत्परता का उदाहरण आदिपर्व का वह प्रसंग है जब अर्जुन सुभद्रा का अपहरण कर इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करता है। इस घटना की सूचना पाते ही सभापाल सान्नाहिकी भेरी बजाता है और सहस्रों यादव योद्धा यादवों की सभा 'सुधर्मा' में तत्काल खाना-पीना तक छोड़कर सभापति का निर्णय और आज्ञा सुनने के लिए एकत्रित हो जाते हैं[3]।

दुर्ग—

हम पहले ही कह चुके हैं कि दुर्ग या पुर का महत्त्व राष्ट्र की राजधानी के रूप में विवेचनीय है। महाभारत में सम्पूर्ण जनपद की रक्षा की दृष्टि से राजधानी या दुर्ग की रक्षा के प्रबन्धों के विषय में बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है[4]। मैकियावेली ने एक पूरे अध्याय में दुर्गों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है और बतलाया है कि किस प्रकार दुर्ग में आश्रय लेकर नरेश अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। मैकियावेली का विश्वास है कि पहले से तैयारी सम्पन्न कर चुकने के बाद दुर्ग में आश्रय लेने वाले शासक के लिए जनता का मनोबल बनाये रखना, साहस और नेतृत्व के गुणों से शत्रु को टक्कर देते रहना कठिन कार्य नहीं है। और संसार की बदलती हुई परिस्थितियों में घेरा डाले पड़ी हुई सेनाओं के लिए भी अनिश्चित काल तक घेरा बनाये रखना संभव नहीं होगा।

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, पृ० ४२७–८

२—ग्लौन्स, पृ० १३९

३—आदि २२०, १२।

४—शान्ति ६६, १–७१।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सुदूर प्राचीन महाभारतकाल से लेकर १६ वीं शताब्दी तक राष्ट्रों के लिए दुर्ग ही वलवान् आक्रान्ताओं से अपनी रक्षा करने के अमोघ उपाय थे। दुर्ग का सहारा लेकर लड़ती हुई सेनाएं और राष्ट्र महीनों ही नहीं वर्षों तक शक्तिशाली शत्रु सेनाओं का सामना कर सकती थीं। छत्रपति शिवाजी की रणकुशल नीति का महत्त्वपूर्ण भाग उनके द्वारा अनेक दुर्घर्ष दुर्गों का निर्माण और शत्रु के किलों का साहसपूर्वक अपने आधिपत्य में ले लेना ही था। हो सकता है कि आज के वायुयानों के विकास तथा परमाणु वम जैसे घातक अस्त्रों के एवं अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के विकास के युग में इस प्राचीन उपादान का महत्त्व आंकना सरल न हो परन्तु यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में वलशाली शत्रु-सेना या अनेक शत्रुओं की सुसंगठित सैन्य शक्ति से राष्ट्र की सुरक्षा का सर्वोत्तम साधन या तो दुर्ग था या फिर सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा दूर निष्क्रमण; जिसके उदाहरण अन्धक-वृष्णिसंघ तथा क्षुद्रकमालव संघ आदि के द्वारा अपने मूल प्रदेशों को छोड़कर और अधिक सुरक्षित प्रदेशों की ओर किए गये प्रवास हैं। यद्यपि सुरक्षा की दृष्टि से किए गये इन प्रवासों के आधार पर आचार्य वेणीप्रसाद ने यह कल्पना की है कि ये बड़े बड़े राष्ट्र भी घुमन्तू थे जो सर्वथा भ्रममूलक धारणा ही है[1]।

कोश—

हम कह चुके हैं कि राज्य एक बहुत वड़ा तंत्र है। इसका प्रवन्ध चलाने के लिए प्रचुर आर्थिक साधनों की आवश्यकता पड़ती हैं। शासन-सत्ता की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रजा अपने ही हित में राज्य को कर देती है। कर देने वाली जनता और शासनसत्ता के उत्तरदायित्व के विषय में हम राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करने के प्रसंग में चर्चा कर चुके हैं[2]। कर-व्यवस्था का विस्तृत विवेचन अन्य प्रशासनिक मामलों के साथ आगे (अध्याय ७ में) किया जायगा। महाभारत में कोश को धर्म तथा राज्य का मूल कहा गया है[3]। एक और उद्धरण में कहा गया है कि जो राजा बलहीन है उसके पास कोश कैसे रह सकता है ? कोशहीन के पास सेना कैसे रह सकती है ? और जिसके पास बलिष्ठ सेना नहीं है उसका राज्य कैसे सुरक्षित रह सकता है और कैसे रह सकती है राज्यलक्ष्मी (स्वतन्त्र संप्रभुसत्ता)[4]। ? राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से कोश, सेना और मित्रों की संख्या बढ़ाना आवश्यक है[5]।

मैकियावेली ने राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से कोश को अतीव महत्त्वपूर्ण

१—दे० स्टेट इन एण्श्येण्ट इण्ड़िया।
२—यही पुस्तक अं० २ परिच्छेद ३।
३—शान्ति १३३, १।
४—शान्ति १३३, ४।
५—'तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत्
 —शान्ति १३३ ५'।

बतलाया है। राजनीति की दृष्टि से वह उन्हीं बातों को विश्वसनीय, सुनिश्चित और स्थायी मानता है जो स्वयं शासक पर या उसके पराक्रम पर निर्भर हों[1]। वह वर्षों तक युद्ध में ठहरने की क्षमता और अपनी राष्ट्रीय सेनाओं पर ही निर्भर होना सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन मानता है[2]। मैकियावेली का मत है कि यदि दुर्गुणों के बिना राज्य की रक्षा कठिनता से हो सकती है तो उनके कारण होने वाली निन्दा से उसे परेशान होने की आवश्यकता नहीं है[3]। कोश-संचय के लिए मैकियावेली के अनुसार, शासक का उदार होने की अपेक्षा कृपण होना ही अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि 'उदारता की ख्याति बनाये रखने की इच्छावाला नरेश अपने महत्त्व की रक्षा के लिए अपने सम्पूर्ण कोश को ही व्यय कर डालेगा और उसको अपनी उदारता को बनाये रखने के लिए जनता को कर-भार से अनुचित रूप में दबाना पड़ेगा और धन प्राप्त करने में प्रत्येक उपाय को अपनाना पड़ेगा इस प्रकार वह शीघ्र ही अपनी प्रजाओं के लिए क्रूर (अं० ओडियस) बन जायगा। और कोश की समृद्धि पर ही राजा की प्रभुता और प्रताप की निर्भरता की ओर संकेत करते हुए वह कहता है कि 'निर्धन होने के कारण कोई भी उसे कुछ नहीं समझेगा । और वह सबसे पहले ही संकट के उपस्थित होने पर नष्ट हो जायगा। इसके विपरीत कृपण होकर पर्याप्त कोश–संचय कर लेने वाले शासक के विषय वह में कहता है कि ऐसा शासक (१) अपनी मितव्ययिता के कारण पर्याप्त प्रचुर कोश संचित कर लेगा, (२) बिना अतिरिक्त कर लगाये ही सभी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकेगा और (३) अपनी प्रजा पर भार डाले बिना ही नये उद्योगों एवं उत्थानों को क्रियान्वित कर सकेगा[4]।

दण्ड या सेना

शासक अपने उत्तरदायित्त्व का वहन कदापि सेना के बिना नहीं कर सकता। शासक का कार्य देवताओं में इन्द्र की तरह 'रक्षा' का उत्तरदायित्त्व निभाना है[5]। वह समाज-विरोधी तत्त्वों का दमन करने के लिए भी वचनबद्ध है और इसीलिए 'यम' की तरह भी कहा गया है।[6] राज्य के अस्तित्त्व की रक्षा ही महाभारतकाल में दुर्ग और सेना के बिना असम्भव थी (अबलस्य कुतो राज्यम्, शान्ति १३३, ४)। राज्य पर आक्रमण करने वाली शत्रु सेनाओं के विरुद्ध या फिर प्रतिरक्षात्मक दोनों ही प्रकार से प्रत्याक्रमणात्मक युद्ध करके अपनी सुरक्षा करने के लिए सेना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंग है। हिन्दू राज्य में क्षत्रिय को समाज या राजनिकाय के हाथ (भुजा) होने का जो

१—प्रिंस २४, १९३।
२—प्रिंस २४ १९२।
३—प्रिंस १४, १९९ तुलना कीजिये शान्ति १३०, ३०–५०।
४—प्रिंस १६, १२४।
५—'ऐन्द्रो राजन्य उच्यते' शान्ति ६०, २०।
६—'यमयन्नसतो यमः' शान्ति १३९, १०३ और आगे।

सामग्य वर्णन है वह नितान्त उपयुक्त ही है। बिना सेना के राज्य ऐसा ही है जैसे लूला या अपंग व्यक्ति। सशस्त्र सेना के संगठन, भेद तथा कार्य आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक विचार हम आगे नवें अध्याय में करेंगे। यहाँ यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि कई-एक विद्वानों ने हिन्दू राज्य के इन अंगों का वर्णन करते हुए दुर्गों और सशस्त्र सेनाओं को संवैधानिक दृष्टि से महत्त्व रहित बतलाया है। प्राचीन युगों की राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इस बात पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यह मत वस्तुतः ठीक नहीं है। आज के युग में भी सैन्य-शक्ति राज्य की दण्ड-शक्ति का प्रमुख आधार है तो फिर प्राचीन भारत में इसका महत्त्व कहीं अधिक होना स्वाभाविक है।

मित्र राष्ट्र

राज्य के अंगों में ही मित्र राष्ट्रों का भी समावेश कर देना आश्चर्य की-सी बात लगती है। परन्तु यह एक तथ्य है और इतिहास की अनेक, आज तक की, घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि राज्य के प्रशासनिक, प्रादेशिक तथा आर्थिक साधनों से ही राज्य का अस्तित्व नहीं बना रह सकता। अन्य शक्तियों, सत्ताओं एवं राष्ट्रों से मित्रता स्थापित कर बुद्धिमत्तापूर्वक उचित शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने पर ही किसी एक की सुरक्षा निर्भर रहती है।

नागरिक

यद्यपि यह कहा जाता है कि किसी राष्ट्र की समृद्धि वहाँ की भूमि के प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करती है परन्तु वस्तुतः राज्य की समृद्धि का भूमि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण आधार वहाँ की जनता है। आल्टेकर का यह कहना है कि 'राज्य के अंगों में जनता जैसे महत्त्वपूर्ण अंग का परिगणन शायद इसलिए नहीं किया गया था क्योंकि यह एक इतना स्वयंप्रकाश सत्य है कि उसकी पृथक् गणना करना आवश्यक ही नहीं समझा गया।' वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने राज्य के सात अंगों में जनपद और पुर इन दोनों का परिगणन किया ही है इनमें ही पौर और जानपद अर्थात् नगर और ग्रामों में रहने वाली जनता का भी समावेश हो जाता है। हिन्दू राजनीति में ऊजड़ भूमि नहीं मनुष्यों से बसी हुई भूमि ही राज्य का आधार मानी गई है। राजा के वाचक भूपति या भूपाल का अर्थ केवल 'भूभाग का रक्षक' नहीं है। राष्ट्र शब्द की कल्पना प्रदेश और उस प्रदेश में बसे हुए राज-निकाय की द्योतक है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के विवेचन में अर्थ का अभिप्राय मनुष्यों के द्वारा बसी हुई भूमि ही लिया है। इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक परिभाषाओं में जनसंख्या को जिस प्रकार राज्य के चार आवश्यक अंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, उसकी प्राचीन विचारकों ने उपेक्षा नहीं की थी। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से और हो जाती है कि महाभारत में राज्य को अष्टांग कहते हुए जन की श्रेणियों को आठवां अंग माना है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्राचीनकाल में इन श्रेणियों का सामाजिक

आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से भी महत्त्व बहुत अधिक था। विशेषतः इन स्वशासन का उपभोग करने वाली श्रेणियों तथा गणों में ही उस काल के पौरुष, उद्योग, विज्ञान और वीर्य को परम उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ था[1]। ये संस्था ही राष्ट्र की चौमुखी प्रतिभा के विस्फोट का केन्द्र थीं। यूनान के पुर-राज्यों में भी ठीक इसी तरह ज्ञान और शिल्प के उदय का स्वर्ण युग अवतरित हुआ था। मैकिया-वेली के काल में भी राज्य (अं० प्रिंसीपलिटी) के प्रमुख केन्द्र ऐसे ही संवासों के केन्द्र थे। मैकियावेली ने अपने शासक को आदेश दिया है कि वह उनके साथ सम्पर्क बनाये रखे और उनका प्रोत्साहन करे। महाभारत में श्रेणियों की पृथक् सेनाओं का भी उल्लेख है।[2]

जिस प्रकार प्लातोन एवं अरिस्तू ने राज्य के लिए जनसंख्या की एक विशेष, कम से कम सीमा राज्य की दृष्टि से निश्चित की है उस प्रकार का प्रयत्न महाभारत में उपलब्ध नहीं है। प्लातोन केवल ५ हजार से ऊपर और अरिस्तू लगभग एक लाख जन-संख्या का होना राज्य के प्रशासन के लिए आवश्यक मानता था। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दू राजनीति के आदर्श के अनुसार हिमालय से महासागर तक फैले हुए विशाल राष्ट्र को आदर्श नरेश की प्रभुसत्ता का वैध क्षेत्र माना जाता था। पारमेष्ठ्य तथा सार्वभौम नामक राज्य के संवैधानिक रूपों के वर्णनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है[3]। ऐसी स्थिति में राज्य के प्रशासनिक जीवन के लिए कम से कम जन-संख्या के निश्चित किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त उस काल में सारा देश छोटे-छोटे राजाधीन या गणाधीन जनपदों तथा महाजनपदों में विभक्त था। इन राज्यों की शायद ही कभी कोई भौगोलिक सीमाएँ उन्हें विभक्त करने वाली मर्यादाओं के रूप में रही हों। ये राज्य सामान्यतया इतने छोटे थे कि भली प्रकार शासित हो सकें और इतने बड़े भी होते थे कि आत्मनिर्भर रह सकें[4]।

अध्यात्म-तंत्र (थियोक्रैसी) का अभाव

इन छोटे-बड़े राज्यों में एक ही संस्कृति के मानने वाले, एक से ही अध्यात्म और जीवन-पद्धति तथा समाज-व्यवस्था का पालन करने वाले नागरिकों में यद्यपि राष्ट्र के अपने प्रजाजन तथा विदेशी, जनों की दृष्टि से दो वर्ग अवश्य थे, किन्तु राज्य की दृष्टि में उन सभी को एक-सा ही स्थान प्राप्त था। हम यह कह चुके हैं कि सम्पूर्ण भारतवर्ष की सांस्कृतिक चेतना अतीव उग्र, बलवती, सप्राण, सर्वहितकारी एवं सुग-ठित तथा सुनियोजित होने के कारण सभी राज्यों में गुणवान् व्यक्तियों का सम्मान

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४३०।
२—'श्रेणयो बहुसाहस्राः संशप्तकगणाश्च ये'॥ कर्ण ५, ४०।
३—सभा पर्व १४, २–६।
४—आल्टेकर पृ० २८।

और स्वागत अपने मूल निवास के समान ही दूसरे जनपदों में भी उसी प्रकार होता था। इतिहास के उज्जयिनी और पाटलिपुत्र आदि राजधानियों में प्रतिष्ठा पाने वाले काश्मीरी या दक्षिणी विद्वानों के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। आज तक भी वह परम्परा नितान्त जीवित है और धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में चमकने वाले मानवरत्नों को सारे भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश में मान्यता प्राप्त होती आई है फिर चाहे वह व्यक्ति जन्मतः किसी भी एक प्रदेश से सम्बन्धित हो। इस विवेचन से हमारा अभिप्राय यह है कि अनेक भाषाओं, वेषों, प्रथाओं और परम्पराओं तथा आचार-व्यवहार की शतशः पद्धतियों के बावजूद, हिन्दू राज्य में अति प्राचीन काल से ही सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। हिन्दू-राज्य का यह लौकिक (अं० सैक्यूलर) स्वरूप इस बात का निराकरण कर देता है कि अध्यात्म (अं० रिलीजन) का प्रशासन से कोई कानूनी सम्बन्ध था। हिन्दू राज्य में कभी अध्यात्म तंत्र (अं० थियोक्रैसी) की प्रतिष्ठा नहीं थी। जहाँ तक अनेक आर्येतर और अभारतीय जातियों के प्रति राज्य के व्यवहार और नीति का प्रश्न है, उन्हें भी सामाजिक और राजनीतिक जीवन में यथोचित स्थान सदैव प्राप्त था। यह बात अलग है कि ऐसी सामाजिक इकाइयाँ राष्ट्रीय संस्कृति में ही विलीन हो जाती थीं और विभिन्न भाषा, विभिन्न अध्यात्म को छोड़कर राष्ट्र की जीवनधारा का अभिन्न अंग बन जाती थीं और उन्हें सर्वसामान्य नागरिक अधिकारों का उपभोग करने की स्वतन्त्रता तथा अवसर प्राप्त होते थे। महाशय आल्टेकर[1] ने इस स्थापना की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'सम्राट् अशोक ने एक तुशाप्य नाम के यूनानी व्यक्ति को काठियावाड़ के सीमान्त प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया था, हालांकि उस काल में फारस और बैक्ट्रिया में यूनानी राज्य का शासन था। सिकियन वंशीय रुद्रदामन् ने सुविशाख नाम के एक पार्थियावासी को काठियावाड़ का ही गवर्नर नियुक्त किया था, यद्यपि उस समय सन् १५० ई० में फारस में प्रभुसत्ता पार्थियावासियों की थी। महाभारत में ही युधिष्ठिर की राजसभा की रक्षा करने का उत्तरदायित्व वीर सेनापति मय तथा उसके ८००० सैनिकों को सौंपा गया था। स्मरण रहे कि 'मय' को दानव और उसकी सेना को दानवगण कहा गया है अतः इनका आर्येत्तर होना निश्चित ही है। हम यह देखते हैं कि आर्येतर एवं विदेशी नागरिक राज्य के जीवन में हिन्दुओं के समान ही भाग लेते थे। उनके कारण कोई समस्याएँ नहीं उत्पन्न होती थीं। इसीलिए शान्ति पर्व में राजा को यह आदेश दिया गया है, 'वह अपने प्रजाजनों तथा विदेशियों के भी पालन पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर शासन करे[2]।' कहा गया है कि जिसके राज्य में अपनी जनता के व्यक्ति और परदेशी भी आजीविका के अभाव में कष्ट पाते हों उस राजा के जीवन को धिक्कार है।

१—'स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्श्यैण्ट, इण्डिया' पृ० २८ टिप्पणी।

२—शान्ति १३०, ३४।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छोटे बड़े प्रादेशिक राज्यों का स्वरूप प्रायः एकसा ही था। सभी राज्यों में अनेक सम्प्रदायों और विचारधाराओं के लोग शान्तिपूर्वक रहते थे। अध्यात्म (अं० रिलीजन), प्रजाति तथा संस्कृति की दृष्टि से कोई विशेष भेद इन राज्यों के नागरिकों में नहीं था। आर्येतर प्रजातियों की बाढ़ें आती थीं और हिन्दू समाज का ही एक अंग बनकर उसमें ही अपना स्थान बना लेती थीं। इसीलिए महाभारतकार ने भाषा, प्रजाति और अध्यात्म की दृष्टि से राज्य की जनता के एक जैसा होने पर कोई बल नहीं दिया है। अखिल भारतीय संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रभाव होने के कारण तथा तब तक प्राकृत भाषाओं में अत्यधिक विभिन्नताओं का अभाव होने के कारण ही सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की विलक्षण समानता के 'जीवन का एक तथ्य' होने के कारण उसके विषय में विशेष विवेचन की आवश्यकता ही महाभारत में नहीं समझी गई।

इस प्रकार भारतीय हिन्दू-राज्य के स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में राज्य के सातों अथवा आठों अंगों का अनुशीलन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राजशास्त्र-वेत्ताओं ने राज्य के जिन चार अंगों अर्थात् प्रदेश, जनता, केन्द्रीय प्रशासन, समान आकांक्षा और संप्रभुता को राज्य के अनिवार्य अंग माना है उन सभी का समावेश महाभारतकार के उक्त सात अंगों में हो जाता है। अतः अब यह आवश्यक है कि राज्य के उद्देश्यों और कार्यो अथवा उत्तरदायित्वों पर एक वार दृष्टिपात कर लिया जाय।

उद्देश्य एवं आदर्श

राज्य की उत्पत्ति के विषय में महाभारत और 'प्रिंस' में उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम उन मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा कर चुके हैं जिनके अनुशीलन से इन प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है कि राज्य की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई[1]? परन्तु शान्तिपर्व में राज्य की उत्पत्ति के विषय में प्रस्तुत दोनों सिद्धान्तों के आधार पर ही राज्य के उद्देश्य के विषय में जो संकेत दिये गये हैं वे प्रायः नितान्त सैद्धान्तिक हैं और उनके द्वारा सम्पूर्ण महाभारत में राज्य के उद्देश्यों और कार्यो के विषय में केवल आंशिक चित्रण ही प्रस्तुत हुआ है। अतः महाभारतीय राजतंत्र के उद्देश्यों के विषय में और अधिक व्यापक विश्लेषण अपेक्षित है।

आनुषंगिक विवरणों से महाभारत में राज्य के उद्देश्यों और आदर्शों के विषय में जिन बातों पर अधिक बल दिया गया परिलक्षित होता है उनमें सबसे प्रमुख बात यह है कि राज्य अराजकतापूर्ण भयंकर परिस्थितियों का निराकरण करके शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की ऐसी व्यवस्था करे जिसमें जन समुदाय के द्वारा

१—यही पुस्तक अ० २ परि० ३।

राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक (धर्म, अर्थ, काम) क्षेत्रों में सर्वोपरि कल्याण की साधना एवं चरम उत्कृष्ट उपलब्धियाँ की जा सकें।

धर्म—

राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह व्यवस्था, कानून तथा न्याय की अर्थात् जन-कल्याण की सर्वथा साधक शाश्वत विधियों (धर्म) को सबसे पहला स्थान दे और निःशंक होकर उनका पालन स्वयं करे तथा जनता के द्वारा करवाये।[२] इस प्रकार धर्म के अनुसार प्रजा का पालन ही शासक का परम कर्त्तव्य है। राज्य का यह लोक-रक्षा और लोकरंजन का आदर्श केवल नैतिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं से शासक के द्वारा पुण्य कमाने के लिए निभाया जाने वाला कार्य नहीं है अपितु शासक के अस्तित्व की न्याय्यता की आधार भित्ति और उसकी योग्यता एवं क्षमता की कसौटी है। लोकभावना के विरुद्ध कार्य करने वाले असमंजस तथा श्वेतकेतु के उनके पिता क्रमशः सम्राट् सगर तथा महर्षि उद्दालक के द्वारा बहिष्कृत कर दिये जाने के उदाहरण देते हुए, शान्ति पर्व में कहा गया है कि लोकरंजन ही राजाओं का शाश्वत आदर्श है[३]।

लोकरंजन के लिए महाभारतकार ने सर्वप्रथम तीन आवश्यकताओं पर बल दिया है, (१) आत्म संयम, (२) राष्ट्र में वैधानिक शासन की स्थापना (धर्म-राज्य) तथा (३) उचित न्याय-व्यवस्था अर्थात् साधुपुरुषों की रक्षा करने तथा अपराधियों के दण्डित किए जाने का प्रबन्ध।

शासक को अपने मन को वश में रखते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा मान आदि के वशीभूत न होकर समाज में अपने कर्तव्यों और विधियों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को स्वयं दण्ड देना चाहिए फिर चाहे वह व्यक्ति कोई भी हो[४]। इसी प्रसंग में महर्षि बृहस्पति का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को दण्ड देने का विधान शाश्वत है। (शान्ति ५७, ७) यही धर्म की रक्षा है और इसी धर्म के शासन में अर्थ और काम नामक पुरुषार्थों की चरम उपलब्धियाँ संभव हैं।

महामनीषी डा० आल्टेकर ने लिखा है कि राज्य से किसी विशेष सम्प्रदाय या मत के अनुसार अध्यात्म (अं० रिलीजन) को संरक्षण देना धर्म की रक्षा का अभिप्राय नहीं है, अपितु जनता में पवित्रता और धार्मिकता की भावनाएँ उत्पन्न करके, सद्गुणों और नैतिक आचारों को प्रोत्साहन देकर सभी सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के आध्यात्मिक प्रतिष्ठानों की रक्षा और सहायता करते हुए, जनता के लिए धर्मार्थ

१—दे० शान्ति, ५९ तथा ६७ अध्याय।
२—शान्ति ५९, १०७–१६।
३—'धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय' शान्ति ७१, २५।
४—'सप्तांगस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः॥' —शान्ति ५७, ५।

चिकित्सालय और दरिद्र लोगों के लिये भोजनालय और भंडारों की स्थापना करके और, अन्त में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अर्थात् साहित्य और विज्ञान को संरक्षण प्रदान करके धर्म की रक्षा का कार्य करना राज्य का उद्देश्य माना गया है[1]।

जहाँ तक अर्थ की वृद्धि का प्रश्न है वहाँ सेतु (बाँध) बनवाकर तथा नहरें खुदवाकर कृषि को केवल 'देवमातृक' (वर्षा पर ही आधारित) न रहने देना,[2] व्यापार, वाणिज्य, उद्योग तथा शिल्प की उन्नति का प्रबन्ध करना, रत्नों और सुवर्ण की तथा अन्य धातुओं की खानों का प्रबन्ध करना आदि सैंकड़ों व्यवस्थाओं का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है[3]।

तृतीय पुरुषार्थ "काम" की अभिवृद्धि की दृष्टि से भी राज्य का दायित्व पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है (१) जनता के धन-धान्य और स्त्रियों की रक्षा करना और (२) व्यक्ति की सुरक्षा और उसके सामाजिक आजीविका आदि से सम्बन्धित अधिकारों को संरक्षण प्रदान कर उसे जीवन की स्वतन्त्रता प्रदान करना तथा (३) अनेक ललित कलाओं-संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला आदि को संरक्षण देकर समाज की कलात्मक प्रवृत्तियों एवं संस्कृति का संरक्षण तथा उद्बोधन करना भी राज्य के ही लक्ष्यों का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस प्रकार राष्ट्र के नैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हितों का सम्पादन करना राज्य का परम कर्त्तव्य है।

लोक हितकारी राज्य

राज्य के उक्त उद्देश्यों से राज्य का जो रूप सामने आता है वह सर्वहितकारी राज्य का है। राज्य या राजतन्त्र तब तक सफल तथा आदर्श नहीं माना जा सकता जब तक उसका दृष्टिकोण जन सामान्य की सुरक्षा के साथ-साथ दीन, अपंग, अनाथ और असहाय लोगों की यथासंभव सेवा-शुश्रूषा और सहायता करने की ओर न हो[4]। चारों वर्णों के धर्मों और विशेषतः ब्राह्मणधर्म की पवित्रता की रक्षा, गौओं का पालन तथा न्याय के शासन के द्वारा प्रजा का पिता की तरह संवर्धन करना, राज्य का आदर्श है[5]। इन धर्म, अर्थ, काम अर्थात् त्रिवर्ग की प्राप्ति तथा सर्वहितकारी राज्य की स्थापना करते हुए राज्य को प्रगतिशील और व्यावहारिक होना चाहिए। महाभारतकार ने मनु के विचारों के समान ही राज्य को आदेश दिया है कि वह दण्डनीति को सदा सामने रखकर जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे तथा जो कुछ सुरक्षित है उसकी वृद्धि का प्रबन्ध करे[6]। बाद में कौटिल्य ने भी इसी

१—आल्टेकर पृ० २६।
२—सभापर्व ५, ७७।
३—सभा पर्व ५।
४—दे० शान्ति ८६, २४; दे० ७७, १२, १८, २०।
५—शान्ति ५७, ३३; सभा पर्व ५।
६—शान्ति ६६, १०२; मनु ७, ६६।

लक्ष्य को सामने रखने का प्रतिपादन किया है।[1]

संविभाग का उत्तरदायित्व

इस प्रकार हम देखते हैं कि शासक को पूर्णतया पक्षपात रहित रहकर तथा वासनाओं से ऊपर उठकर साहस, शौर्य, धार्मिकता और दयालुता आदि उदार गुणों का परिचय देते हुए समाज के सर्वांगीण भौतिक विकास का प्रबन्ध करना चाहिए। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि राज्य की संप्रभुशक्ति का नियमन करने वाली तथा प्रजा की रक्षा के नियमों का निर्देश करने वाली दण्डनीति के शासन (अं० रूल आफ ला) की ही प्रतिष्ठा करना तथा इसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति की निरन्तर वृद्धि करना राज्य का परम उद्देश्य है। आश्चर्य की बात यह है कि दण्डनीति का उद्देश्य अप्राप्त की प्राप्ति (अलब्ध लाभ) प्राप्त की रक्षा (लब्ध परिरक्षण) और रक्षित की वृद्धि (परिरक्षित विवर्धन) तक ही सीमित नहीं है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इस सम्पत्ति का 'संविभाग' भी करे[2]। संविभाग का अभिप्राय प्राप्त हुई सम्पत्ति को उचित कार्यों और योजनाओं में तथा उचित व्यक्तियों के संरक्षण के लिए लगाना ही है। शान्ति पर्व में जनता से कर वसूल करके और असाधु पुरुषों को धन-दण्ड देकर राजा के पास जो कोश एकत्रित होता है उसे प्रजा की सम्पत्ति सिद्ध करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उस राजा को 'चोर' बतलाया है, जो शास्त्रीय उचित करों के अतिरिक्त और अधिक कर लगाता है या उस धन के द्वारा प्रजा-पालन के अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता। इसके बिना राजा के सभी तप एवं यज्ञ व्यर्थ कहे गये हैं[3]। दण्डनीति के अनुसार 'धर्म' के शासन की स्थापना करने में राजा को जिस अनुपात में सफलता प्राप्त होती है उसके अनुसार ही वह अपने राज्य में युग का निर्माण करता है। वैधानिक शासन का पूरा पूरा एवं ठीक प्रयोग किए जाने पर सत्य युग, तीन अंश अर्थात् तीन चौथाई का शासन होने पर त्रेता, नीति का आधा पालन और आधा परित्याग करने पर द्वापर तथा नीति का परित्याग करके अयोग्य उपायों से प्रजा को पूरी तरह कष्ट देने के लिये शासन के उतारू हो जाने पर कलियुग का आरम्भ हो जाता है। कहा गया है कि निःसन्देह शासक के द्वारा ही काल का निर्माण होता है, काल शासक का नहीं अपितु शासक ही काल का कारण होता है[4]।

विधि बनाम राज्य

यहाँ यह स्मरणीय है कि हिन्दू राज्य में शान्ति, सुव्यवस्था सुरक्षा, और न्याय की स्थापना के द्वारा नये युग का निर्माण तो राजा कर सकता था किन्तु यह सब कुछ करते हुए वह समाज के परम्परागत कानूनों, प्रथाओं और नीतियों का सम्मान करने के

१—अर्थशास्त्र १, ४।
२—शान्तिपर्व ६९, ७२–३।
३—शान्तिपर्व ६९, ८०–९७।
४—शान्ति ६९, ८०।

लिए वचनबद्ध होता था। यह सभी मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था में, उसके अनेक लाभ होते हुए भी, एक विशेष दुर्गुण था जिसे हम मानव मात्र के प्रति असमानता का व्यवहार कह सकते हैं। इस व्यवस्था में जहाँ जन्म के कारण ही एक व्यक्ति को मानों दिव्य प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती थी वहाँ दूसरी ओर शूद्रों और चाण्डालों के साथ सिद्धान्त रूप में उन्हें राजनिकाय का अभिन्न अंग मान लिए जाने पर भी उन्हें नागरिकता के सामान्य अधिकारों से भी वंचित रखा जाता था। राज्य के द्वारा तलवार के बल से वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के लिए अपनी जनता को बाध्य करना उसके शाश्वत धर्म का पालन कराने के आदर्श का एक महत्वपूर्ण अंग होते हुए भी भयंकर सामाजिक अन्याय को बढ़ावा देना है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि हिन्दू राजा एक कार्यपालिका शक्ति के रूप में कार्य करने के कारण जनता के परम्परागत नियमों और अच्छे-बुरे विधियों में परिवर्तन नहीं करता था। शायद कर भी नहीं सकता था। यह कार्य स्वयं जनता और विद्वान् लोगों को सुपुर्द था। सामाजिक मान्यता या अमान्यता प्राप्त होने पर ही इनमें धीरे-धीरे स्वयं परिवर्तन होता था। गो-हत्या, नियोग, स्त्री को सम्पत्ति में स्वामित्व, शूद्र को सम्पत्ति का अधिकार आदि प्रश्नों पर विचार करने से उक्त मत की सत्यता स्पष्ट हो जायेगी। वैदिक काल में यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी और इन पशुओं में गाय को भी बलियोग्य पशु गिना जाता था। परन्तु महाभारत काल तक ही यह प्रथा पूर्णतया परित्याज्य हो गई थी। नियोग की प्रथा को महाभारत काल में सामान्यता मान्यता प्राप्त थी किन्तु हम देखते हैं कि बाद में यह प्रथा सर्वथा अमान्य और अवैध करार दे दी गई। स्त्रियों और शूद्रों को विद्याध्ययन और सम्पत्ति में स्वामित्व का अधिकार, ब्राह्मण ग्रन्थों की अनेक विरोधी विधियों के बावजूद, महाभारत काल में सर्वथा प्राप्त हो गया था। उपनिषद् काल से ही दायाधिकार एवं विद्या की दृष्टि से नारी की स्थिति बड़ी स्पृहणीय थी। महाभारत में राजा के पुत्र न होने पर कन्या को भी राज्य की अधिकारिणी कहा गया है और उसी के अभिषेक की आज्ञा दी गई है। प्रस्तुत उदाहरणों से स्पष्ट है कि राज्य के द्वारा नये विधियों तथा अधिनियमों का निर्माण न किए जाने पर भी, देर में ही सही, पर परिवर्तन होते थे। यह विश्वास किया जाता था कि राज्य केवल उन्हीं विषयों में नियम बनाये जिसका सम्बन्ध दण्डनीति और वार्ता से हो। सामाजिक संगठन को प्रभावित करने वाले किसी वर्ण-विशेष के परम्परागत धर्मों या अधिकारों में हस्तक्षेप राज्य नहीं करता था। हो सकता है कि राज्य का व्यवहार भी अनुभव और न्याय पर ही आधारित हो। हम यह देखते हैं कि समाज की मान्यता प्राप्त हुए बिना राज्य के द्वारा बनाये गये कानून केवल निर्जीव वाक्य बनकर रह जाते हैं। हमारे ही देश में स्वतन्त्रता से पहले बने हुए 'शारदा एक्ट' की तथा स्वतन्त्रता के बाद भारत के बड़े उत्साही सुधारवादी प्रशासनों के द्वारा बनाये गये 'हिन्दू कोड' 'दहेज विरोधी विधि' तथा 'अस्पृश्यता निवारक कानून' आदि की कैसी दुर्दशा हुई है वह सभी को ज्ञात है। क्या कानून बना देने से ही समाज सुधार सम्भव है? यह एक विवादास्पद विषय है। हो सकता है कि प्राचीन

काल में अपनी सीमाओं और न्यूनताओं को ध्यान में रखते हुए ही राजशास्त्र-वेत्ताओं और राजाओं ने यह परम्परा डाली हो कि राजा को समाज की विधियों का यथावत् पालन कराना चाहिए, उनमें अपनी ओर से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। समाज की इन परम्पराओं के अतिरिक्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दूराज्य के शासक को यथेष्ट अपरिमित अधिकार प्राप्त हैं। सभी प्रकार की सामाजिक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का संचालन करना राज्य के अधिकार क्षेत्र में आ जाता है। अतः उक्त समस्या के विषय में हमारा यही मत है कि जिन विद्वानों ने हिन्दू राज्य पर समाज विरोधी विधियों को भी कार्यान्वित करने का दोष लगाया है वह इस विषय में हिन्दू राज्य तथा हिन्दूओं के सामाजिक विकास की वस्तुस्थितियों को न समझने के कारण हैं[1]।

पुरोहित-वर्ग का प्रभाव—

यहाँ इस प्रश्न की मीमांसा करना भी आवश्यक है कि क्या हिन्दूराज्य में राज्य के उद्देश्यों, आदर्शों तथा उत्तरदायित्वों का नियमन किसी अध्यात्म-सत्ता के द्वारा होता था और क्या राज्यसत्ता केवल किसी आध्यात्मिक सम्प्रदाय के हाथ का उपकरण मात्र थी। राज्य के इस भेद के उदाहरणों के रूप में इस्लाम के खलिफाओं के राज्यों और आधुनिक वेटिकन पोपों के राज्यों को गिनाया जा सकता है। इस तन्त्र में कोई धर्म-गुरु स्वयं ही राजा होता है या फिर किसी धर्मगुरु के हाथ की कठपुतली वनकर कार्य करता है। हिन्दू राज्य के विषय में पहले (तीसरे और चौथे) अध्यायों में हम इस विषय का विवेचन विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। उन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू राज्य महाभारतकाल में न तो अध्यात्म-नियंत्रित ही था और न अध्यात्मनिष्ठ ही। हो सकता है कि ब्राह्मण काल में ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता और विशेषाधिकारों तथा ब्राह्मणों के लिए राज्य की संप्रभुता के अनुशासन से भी मुक्ति आदि का समर्थन इसलिए किया गया हो कि उस काल में पुरोहित की स्थिति वस्तुतः तत्कालीन अध्यात्म-प्रधान समाज में पर्याप्त प्रवल रही हो[2] परन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की यह आध्यत्मिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, महाभारतकाल में पर्याप्त शान्त हो गई थी और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं (चौथा अध्याय) विद्वान् ब्राह्मणों की महत्ता को सर्वथा स्वीकार करते हुए भी उनका स्थान राज्य की संप्रभुशक्ति के क्षेत्र से ऊपर नहीं था। अपितु ब्राह्मण धर्म का उचित पालन करने वालों को प्रतिष्ठा दान और संरक्षण देकर तथा स्वधर्म का पालन न करने वाले ब्राह्मणों पर कर लगा कर तथा अन्य दण्ड देकर उन्हें भी उनका पालन करने के लिए बाध्य करने के द्वारा

१—अंजारिया, 'दि नेचर एण्ड ग्राउण्ड आव् पोलिटिकल औब्लिगेशन इन हिन्दू स्टेट' पृ० १७५–१८८। स्पैल्मैन, 'पोलिटिकल थियरी आव् एँश्यैण्ट इण्डिया'।
२—ऐतरेय ब्राह्मण ७, ५, २४; गौतम ध० सूत्र० १, ११।

स्वयं ब्राह्मण वर्ण की रक्षा का भार भी राज्य पर ही था। वास्तविकता यह है कि ब्राह्मणों की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए तथा बाद में राजा की प्रतिष्ठा को भी चार चाँद लगाने के लिए दिव्यता के जो आरोप, अर्थवाद के रूप में, किए गये उसके कारण राजनीतिक जीवन में न तो पुरोहितों को ही या न राजाओं को ही ऐसा स्थान मिल पाया था कि जिसके कारण उन्हें सर्वथा अदण्डनीय और दिव्य शक्तियों के प्रतिनिधि माना जाता। इसके विपरीत हम यही देखते हैं कि सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं पर आधारित और वेद-शास्त्र प्रतिपादित कानूनों के अनुसार आचरण करने के लिए ब्राह्मण भी वाध्य हैं और क्षत्रिय 'राजा' भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः राज्य सामाजिक आकांक्षाओं और मान्यताओं की प्रतिनिधि सत्ता के रूप में कार्य करता है। अतः स्पष्ट है कि जिन विद्वानों ने हिन्दू राज्य के विषय में उसके पुरोहितों के वशंवद होने अथवा अध्यात्म-तंत्र होने की कल्पना केवल ब्राह्मण ग्रन्थों और अन्य साहित्यिक स्रोतों से कुछ वाक्य चुनकर की है वह पूर्णतया एकांगी और अपूर्ण है। इन्हीं स्रोतों में ब्राह्मणों की उक्त स्थिति का खण्डन करने वाले वाक्यों की भी कमी नहीं है। अतः ऐसे तर्कों और प्रतिपाद्य सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं हो सकता जिनके द्वारा परस्पर विरोधी वातों का समर्थन सम्भव हो[१]।

राज्य के उत्तरदायित्व-

आधुनिक राजशास्त्रवेत्ताओं का राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित मत नहीं है। राजनीतिक दर्शन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने राज्य के कार्यों के विषय में पृथक्-पृथक् मत व्यक्त किए हैं। कुछ विचारकों का मत है कि राज्य अधिक से अधिक कार्य करे और इससे विपरीत कुछ लोग चाहते है कि राज्य कम से कम कार्य करे। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक राष्ट्र की देश और काल के अनुसार भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ ही उसके राज्य के कार्यों और दायित्वों का निर्माण करती हैं।

महाभारत के तत्त्व-दर्शन के अनुसार राज्य या राजतन्त्र को अनिवार्य बुराई के रूप में नहीं माना गया है अपितु मानव जीवन की सुरक्षा और विकास के लिए अनिवार्य से रूप से आवश्यक सर्वोपरि हितकारी संस्था के रूप में ही इसे स्वीकार किया गया है।[२] वैदिक काल में राज्य के कार्यों का क्षेत्र प्रायः बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा[३]

१—दे० तैत्तिरीय ब्रा० ३, ६, १४, ऐतरेय ब्रा० ७, २६; बृहदारण्यक उप० १, ४, १० आदि।

२—यही पुस्तक, अ० ३ 'दार्शनिक पृष्ठभूमि'।

३—सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के महत्त्व के विषय में देखिए—तैत्तिरीय संहिता २, ४, २, १।

एवं आन्तरिक व्यवस्था के लिए परम्परागत (ऋत एवं धर्मन्) की प्रतिष्ठा[1] तक ही सीमित था। परन्तु वैदिक काल से महाभारतकाल तक आते-आते राज्य के कार्यों का क्षेत्र इतना विशाल एवं व्यापक हो गया कि प्रायः मानव जीवन के सम्पूर्ण व्यापक क्षेत्र का उसी में अन्तर्भाव हो जाता है।[2] उडरो विलसन आदि आधुनिक विचारकों की तरह महाभारत के प्रणेताओं ने राज्य के कार्यों का (१) अनिवार्य एवं (२) ऐच्छिक इन दो भेदों में वर्गीकरण नहीं किया है। यद्यपि आध्यात्मिक और राजनीतिक विचारों का वर्गीकरण, सूत्रीकरण एवं वैज्ञानिक प्रतिपादन आर्य-प्रतिभा की विशेषता है। इसका कारण यह है कि महाभारत के अनुसार 'राजा कालस्य कारणम्'[3] इस सिद्धान्त के अनुकूल राज्य के उत्तरदायित्व की परिधि में आने वाले सभी कार्य राज्य के लिए अवश्य-कर्तव्य एवं अनिवार्य हैं। राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे कार्यों के विषय में सार्वजनिक हित की दृष्टि से विचार करने के लिए राज्य उत्तरदायी है। जहाँ एक ओर राज्य की सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सन्धि-विग्रह आदि के कार्यों का निर्वाह राज्य ही करता है वहाँ दूसरी ओर छोटे स्तर पर राज्य का ही कार्य यह भी देखना है कि संकटकालीन स्थिति में छप्परों में रहने वाले लोग अपने छप्परों को मिट्टी से लेप दें और आग को घर के भीतर रखें तथा दिन में कदापि चूल्हे न जलायें। यहाँ तक कि लोहार आदि की भट्टियों और सूतिकागृहों में भी अत्यन्त सुरक्षित रूप से आग जलाई जाय।[4]

यहाँ यह स्मरणीय है कि राज्य के कार्यों का क्षेत्र वहुत कुछ राज्यविशेष के प्रशासन की संगठन कुशलता और उस के क्षेत्रफल और स्वरूप पर भी निर्भर रहता होगा। क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि महाभारत के सभापर्व में राज्य के कार्यों का जितने विस्तार से वर्णन किया गया है उतना प्रशासनिक विकास सभी जनपदों में एक सा सम्भव हुआ हो। सभापर्व में राज्य के जिन कार्यों की ओर संकेत किया गया है उनकी सूची वहुत बड़ी वन सकती है। अतः उनका मुख्य शीर्षकों में वर्गीकरण करके हम उसे इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

१—धर्म, अर्थ एवं काम की सन्तुलित वृद्धि—राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह मानव जीवन के उक्त तीनों पुरुषार्थों के विषय में यथोचित जीवन मूल्यों के अनुसार स्वयं आचरण करे और जनता को भी उसी के अनुरूप आचरण करने के

१—वैदिक 'धर्मन्' के विषय में दे० ऋक्० १, ६५, २, १, १०५, १२, १, १३६, २; १, १२४, ३; ४, २३, ८–१०; ४, ५१, ७–८ इत्यादि। श० ब्रा० १२, ४, ३, १४; ५, ३, ३, ९; ऐ० ब्रा० ८, १२ आदि; वृहदारण्यक उप० १, ४–१४।

२—दे० सभा पर्व अ० ५ तथा शान्तिपर्व अ० ६३।

३—शान्ति ६९, ७९।

४—शान्ति ६९, ४७ आदि।

लिए प्रेरित करे। ऐसा न हो कि अर्थ के लोभ में धर्म की अथवा धर्म के अनुचित आचरण से अर्थ की या प्रीतिमय कामुकतापूर्ण आचरण से धर्म और अर्थ इन दोनों की हानि हो जाय। राजा का कर्तव्य है कि वह समय को समझकर काल के अनुरूप ठीक प्राथमिकता देते हुए तीनों पुरुषार्थों के सेवन पर बल दे।[1]

२—सुरक्षा एवं सुव्यवस्था—राजा अपने मन्त्रियों की सहायता से राज्य की सुरक्षा का प्रबन्ध करता था। ये मंत्री राजा के सम्मान ही सम्मान्य राजा को समझाने और चेताने में समर्थ, शुद्ध आचरण करने वाले, कुलीन और स्नेहशील तथा आयु एवं ज्ञान से वृद्ध होते थे। विजय की मूल कारण राजकीय मन्त्रणाओं को गुप्त रखने वाले ये मन्त्री राष्ट्र की सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध करते थे कि शत्रु उसका विनाश न कर पायें।[2] हम यह पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दू राजतन्त्र का मौलिक स्वरूप नागरिक-तन्त्र था, सैनिक तन्त्र नहीं। राजा मन्त्रियों की सहायता से शत्रु, मित्र और उदासीन राष्ट्रों की सभी चेष्टाओं का ध्यान रखते हुए कालानुसार सन्धि और विग्रह (युद्ध) का प्रयोग करते हुए बाहरी और भीतरी संकटों से राष्ट्र की रक्षा करता था।

३—बाहरी आक्रमण से प्रतिरक्षा—महाभारतकार ने शान्ति काल में ही युद्ध की विभीषिकाओं की ओर दुर्लक्ष्य न करते हुए निरन्तर देश की प्रतिरक्षा की तैयारियाँ करते रहने की ओर ध्यान दिया है। शस्त्र-विद्या के विशेषज्ञ आचार्यों के द्वारा (कारणिकाः) प्रमुख योद्धाओं और कुमारों की शिक्षा का प्रबन्ध, दुर्गों में धन-धान्य, शास्त्रों और यन्त्रों के पूरे भण्डार एकत्रित करना तथा धनुर्धर सैनिकों और शिल्पियों को वहीं प्रचुर मात्रा में रखना, सेनापतियों को सभी प्रकार के युद्धों की शिक्षा देकर (सर्वयुद्ध विशारदाः) उनका उनके प्रगल्भ, निर्मल और पराक्रमी स्वभाव के लिए सत्कार एवं सम्मान करना, सेना को यथोचित और समय पर वेतन और अन्य सामग्री देना और उन्हें राज्य के प्रति प्रेम करने वाले और राज्य की रक्षा के लिए प्राणों की बलि देने वाले योद्धाओं के रूप में रखना यह सभी कार्य प्रतिरक्षा की दृष्टि से राज्य के परम कर्त्तव्य हैं।[3] इसी प्रसंग में प्रगल्भ, शूर, बुद्धिमान, धैर्यशाली, सदाचारी, कुलीन राज्यभक्त एवं दक्ष सेनापति को भी अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।[4] महाभारतकार की दृष्टि में राष्ट्र की सुरक्षा और प्रतिरक्षा के लिए युद्ध करना क्षत्रिय शासक का परम कर्तव्य है। कहा गया है कि विरोध न करने वाले (अविरोद्धा) राजा और अतपस्वी ब्राह्मण को भूमि इस प्रकार ग्रास बना लेती है जैसे सर्प बिल में सोने वाले

१—सभा ५, १९-२०।
२—सभा ५, २८ 'कच्चित् संवृतमन्त्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते॥'
३—सभा ५, ३४, ३६, ४८-५०।
४—वही ५, ४६।

चूहों को ।[1] हम यह पहले ही कह चुके हैं कि क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध करना और जनता की रक्षा करना है और एक आदर्श क्षत्रिय के नाते राजा के लिए युद्ध केवल राजनय का एक साधन नहीं है वह उसका पवित्र कर्तव्य है ।[2]

सामाजिक व्यवस्था एवं नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा—

व्यक्ति की सुरक्षा के साथ ही साथ सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा का भी कार्य राज्य का एक अनिवार्य उत्तरदायित्व है । अनेक प्रकार के सामाजिक घटकों से बनी हुई समन्वित, सामञ्जस्यपूर्ण और सन्तुलित समाज-व्यवस्था में सभी घटकों को अपने-अपने कर्तव्यों (धर्म) का पालन करने के लिए प्रेरित करना और उनके विशेषाधिकारों की रक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य है । इसका सबसे अच्छा निर्वाह तभी किया जा सकता है जबकि उसे जनता की भावनाओं के अनुरूप कार्यान्वित किया जाय । राज्य अपनी दण्डशक्ति का प्रयोग लोकरंजन के सर्वोच्च उद्देश्य को समक्ष रखकर ही कर सकता है । महाभारतकार ने दण्ड के उग्र प्रयोग के परिणामस्वरूप जनता में वैचेनी या उद्वेग उत्पन्न करने का निषेध किया है और जनता को अनुशासित करने का कार्य इसीलिए मन्त्रियों के द्वारा किए जाने की सलाह दी है न कि स्वयं राजा द्वारा ।[3] समाज व्यवस्था में कोई परिवर्तन राजनीतिक विधियों के द्वारा न करते हुए परम्परागत धर्म के अनुसार सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त के अनुकूल ग्रामों, नगरों और श्रेणियों तथा संघों को अपने धर्मों का पालन करने की स्वतन्त्रता देना और केवल उल्लंघन करने वालों को दण्ड देकर सज्जनों की रक्षा करना—यही राज्य के सामाजिक उत्तरदायित्व का स्वरूप है ।

महाभारतकार ने चारों वर्णों और चारों आश्रमों के व्यक्तिगत, पारिवारिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्वन्धों की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी राज्य पर ही छोड़ा है ।

न्याय-व्यवस्था—

महाभारत के प्रणेताओं ने न्याय व्यवस्था पर सबसे अधिक वल दिया है । दण्डनीय अपराधियों का दमन करने वाली यह राज्य की दण्डशक्ति वस्तुतः धर्म की व्यवस्था का सबसे प्रवल उपाय मानी गई है । दण्डनीय लोगों को यम की तरह कठोर दण्ड देते हुए तथा पूज्यों का सम्मान करते हुए राजा का कर्त्तव्य है कि वह भली प्रकार परीक्षा करके तथा प्रिय और अप्रिय लोगों में कोई भेद-भाव या पक्ष-

---

१—शान्ति २३, १५; द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चातपस्विनम् ॥'

दे० अनुशासन ३६; सभा ५५, १५१ आदि

३—जान डवल्यू० स्पैल्मैन–'पोलिटिकल थियरी आव् एणश्यैण्ट इण्डिया, पृ० १४६ ।

१—'कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विलये प्रजाः । राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभा' सभा ५ ।

पात न करते हुए समान भाव से न्याय की व्यवस्था दे। कहा गया है कि वह लोभ अथवा मोह के कारण कहीं ऐसा न करे कि अर्थी तथा प्रत्यर्थी न्याय के लिए उसके यहाँ आयें और वह उनसे मिले ही नहीं। कहीं ऐसा न हो कि लोभ के कारण मूर्ख अधिकारी विशुद्धात्मा, सदाचारी और आर्य लोगों को भी चोरी आदि का दोष लगाकर मार डालें। कहीं ऐसा न हो कि चोर को देखकर उसका पीछा करने वाले कोष्ठपाल अधिकारियों के द्वारा चोरी किए जाने पर भी कहीं धन के लोभ के कारण उसे छोड़ दिया जाय[1]।

महाभारतकार का यह आदेश है कि राज्य के अमात्यों का कर्त्तव्य है कि वे धनवान् और निर्धन सभी के बहुत थोड़े ही काल में बीज-कणिका न्याय से सैकड़ों गुनी वृद्धि को प्राप्त हुए धन आदि पर अपनी दृष्टि रखें और वह धन उन लोगों ने किस प्रकार और कहाँ से कमाया है इसका पता लगायें और वह किसी भी प्रकार की ठगी में न आते हुए अपराधियों को दण्ड दें[2]। साथ ही इस बात पर भी बल दिया गया है कि सारे देश में छोटी बड़ी सम-विषम सभी बस्तियों में कहीं चोरों का आतंक न हो। यहाँ यह स्मरणीय है कि महाभारत की न्याय-व्यवस्था के विषय में उद्धृत और प्रस्तुत उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि महाभारत-काल की न्याय व्यवस्था का स्तर पर्याप्त उन्नत और जटिल हो गया था। सभा पर्व के पाँचवें अध्याय में ही न्याय विषयक सभी संकेतों को एकत्रित करने और उनकी व्याख्या करने से एक पर्याप्त विस्तृत न्याय-व्यवस्था का चित्रण प्रस्तुत हो सकता है। जिन विद्वानों ने महाभारतीय हिन्दू राज्य की न्याय-व्यवस्था को निरी नैतिक और सांस्कृतिक कहने का प्रयास किया है। उन्होंने केवल पाप-पुण्य एवं स्वर्ग नरक का नाम लेकर भले-बुरे की मीमांसा करने वाले सिद्धान्त वाक्यों को प्रायः शान्ति पर्व से ही चुनकर इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि जिसके द्वारा यह सिद्ध हो सके कि महाभारत के तत्त्व-दर्शन में प्राविधिक वैज्ञानिक चिन्तन का अभाव है और वह सर्वत्र नैतिक और आध्यात्मिक ऊल–जलूल मान्यताओं का दास ही है। सभा पर्व के पाँचवें अध्याय का अध्ययन करके कोई भी हिन्दू राजनीति का विद्यार्थी इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि इसमें हिन्दू राजनीतिक, दर्शन और राजतंत्र के नितान्त विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में दण्डनीय अपराधियों को कठोर दण्ड देना और शुद्ध आचरण वाले साधु जनों की अपराधियों से ही नहीं अन्यायपूर्वक किसी प्रकार दिये जाने वाले दण्ड से भी रक्षा करना राज्य का प्रमुख कार्य माना गया है। दण्ड के न्याय्य प्रयोग के द्वारा धर्म के शासन का प्रवर्तन करना राज्य की न्याय-व्यवस्था का उद्देश्य है। प्रिय–अप्रिय का अथवा धनी निर्धन का विचार करना न केवल अन्याय है अपितु वह प्रजाओं में उद्वेग का निर्माण करता है।

१—सभा पर्व, १०५।

२—सभा पर्व ५, १०६।

लोक हितकारी ऐच्छिक कार्य—

उपर्युक्त अनिवार्य कार्यों और उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त अन्य अनेक वे कार्य भी राज्य के कार्य-क्षेत्र में ही गिने जाते थे जिनके द्वारा राज्य एवं समाज का हित सम्पादन हो सके। कृषि, पशु पालन, वाणिज्य और साहूकारे का कार्य करते हुए[1] तथा अनेक शिल्पों और कलाओं के द्वारा समाज की श्रीवृद्धि करते हुए[2] लोग सुख-पूर्वक जीवन बितायें। किसान सन्तुष्ट हों और सम्पूर्ण राष्ट्र में कोई पीडित न हो। महाभारतकार का मत है कि राजा का कार्य शासन को इस प्रकार चलाना है कि उस पर कोई शंका न करे और वह सबके लिए समान व्यवहार करने के लिए विश्वसनीय हो। वह लंगड़े, लूले, अन्धे, वहरे, गूंगे अपाहिजों, शरणागतों, युद्ध में पराजित हुए व्यक्तियों तथा अनाथों और विधवाओं का पालन तथा विरागी और संन्यासियों का भी भरण-पोषण माता- पिता के समान करे[3]। राज्य का उत्तरदायित्व है कि वह विद्या-विनीत एवं ज्ञान विशारद तथा विद्वान् लोगों को मान-सम्मान देकर और उनके भरण-पोषण का प्रवन्ध करके विद्या के प्रसार का प्रवन्ध करे। द्विजों के भरण-पोषण के साधन कृषि, पशु-पालन और पुष्प-फल आदि का संरक्षण करते हुए उनका इस प्रकार पालन करे कि वे अपने धर्म का आचरण भली प्रकार से कर सके। सभी शिल्प-विशेषज्ञों को चार मास तक के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त निश्चित धन और उपकरण आदि दिया जाये[4]। इसके अतिरिक्त लोगों की अध्यात्म-सम्वन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुरोहितों, चिकित्सा के लिए सभी प्रकार के वैद्यों तथा यहाँ तक कि मनोरंजन के लिए संगीत, नृत्य, नाटक तथा अभिनय के विशेषज्ञों एवं पहलवानों तथा इन्द्रजाल दिखाने वालों को भी राज्य के द्वारा आश्रय दिए जाने का उल्लेख किया गया है[5]। नरेश का यह कार्य है कि वह वड़ी वड़ी सड़के वनवाये, और आवश्यकता के अनुसार जल-क्षेत्र (प्याऊ आदि) तथा वाज़ार वनवाये[6]। अन्त में सभी प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों (ईतयः) से राष्ट्र की रक्षा का भार भी राज्य पर ही है। कृषि प्रधान देश होने के कारण इसी दृष्टि से ये विपत्तियाँ (१) अतिवृष्टि (२) अनावृष्टि (३) चूहे (४) टिड्डियाँ, (५) तोते या ऐसे ही अन्य पक्षी तथा (६) पड़ौसी नरेश इस प्रकार गिनाई गई हैं। इसके अलावा व्यापार और वाणिज्य तथा उद्योग एवं शिल्प की प्रवृत्तियों और प्रगतियों पर दृष्टि

१—सभा पर्व ५, ७६।

२—वही ७६।

३—सभा ५, १२४; कच्चिदन्धाँश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगानवान्धवान्।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥दे० सभा ५, ५५ आदि।

४—वही, ५, ११७–११८

५—शान्ति ६९, ६०।

६—शान्ति ६९, ५३

रखना, व्यापारियों को अनुचित लाभ कमाने से रोकने और वस्तुओं के मूल्यों को स्थिर रखने के लिए बाजारों पर नियंत्रण रखना तथा मदिरालयों, द्यूत-भवनों और वेश्यागृहों पर भी राजकीय निरीक्षण का प्रवन्ध करना आदि असंख्य कार्य राज्य के उत्तरदायित्व की सीमा में आते हैं।

क्रान्ति-राजद्रोह एवं विद्रोह

क्रान्ति—

राज्य के स्वरूपों अथवा राज्य की प्रशासन नीतियों में आमूल चूल उग्र परिवर्तनों को ही प्रायः राजनीतिक क्रान्ति का नाम दिया जाता है। इस प्रकार की राज्य क्रान्तियों का आधार केवल नैतिक एवं धार्मिक हो सकता है, क्योंकि अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए ही देश के कानून का प्रयोग करने वाली शासन-सत्ताएँ प्रायः राज्य-क्रान्ति के लिए किसी कानूनी आधार का अवकाश ही नहीं दिया करतीं। राज्य का तख्ता उलटने के लिए किए गये कार्य और हिंसा के प्रयोग का कोई कानूनी आधार न होने पर इनके द्वारा हुए परिवर्तनों को ही हम "क्रान्ति" कह सकते हैं, अन्यथा संवैधानिक पद्धतियों के अनुसार वैध उपायों से किए गये वैध राजनीतिक परिवर्तन क्रान्ति नहीं कहलाये जा सकते। वैदिक काल वैदिकोत्तर काल एवं बौद्ध-काल के साहित्य में इस प्रकार वैध और अवैध उपायों से होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का परिचय देने वाले अनेक उदाहरण संगृहीत हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में महाभारत और अन्य साहित्य में प्राप्त होने वाले सफल और असफल राज्य क्रान्तियों के विवरणों और राजनीतिक परिवर्तनों के विषय में कोरे सैंद्धान्तिक विवाद में पड़ जाना हमें अभिप्रेत नहीं है। हमारा अभिप्राय ऐतिहासिक साक्ष्यों को ज्यों के त्यों विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करके केवल अपनी सामान्य व्याख्या देते हुए उन्हें उन्हीं के निर्णय के लिए प्रस्तुत करना है जिससे कि जिज्ञासु विद्वान् स्वयं यह समझ लें कि कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने भी किस प्रकार शब्दों की जादूगरी दिखलाकर स्पष्ट तथ्यों को विकृत विद्रूप और विखण्डित करने का अन्याय्य प्रयास किया है। इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए हम केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। प्रसिद्ध आधुनिकतम अमरीकी भारत-विद्या-विशारद स्पैलमैन ने राज्य-क्रान्ति के विषय में विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह तो 'स्वीकार किया हैं कि भारतीय राजनीतिक तत्त्व-दर्शन निरंकुश एवं अत्याचारी राजा को अपदस्थ करने अथवा मार डालने तक की अनुमति देता है'[1]। परन्तु ये महाशय डा० आल्टेकर के मत से सहमत नहीं है कि 'अत्याचारी शासक को अपदस्थ कर देने या मार देने के जनता के अधिकार को मान्यता दिए जाने से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीयों के मत में संप्रभुसत्ता का अन्तिम और सर्वोपरि आधार जनसमूह या समाज था।"

१—जौन डवल्यू स्पैल्मैन, पृ० २३५।

और ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत और आवश्यक मानते हैं। इन्होंने जो अनुचित और अपमानजनक तर्क प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अपूर्ण अप्रासंगिक और अन्याय्य तो है ही साथ ही इनकी श्वेतजनसुलभ दुर्भावना का भी द्योतक है। ये कहते हैं कि "अगर दासों के किसी समूह ने किसी क्रूर स्वामी के विरुद्ध विद्रोह किया हो तो बहुत से लोग यह अनुभव करेंगे कि नैतिक दृष्टि से औचित्य उनके कार्य में हैं, परन्तु इससे यह पता कहाँ चलता है कि संप्रभुसत्ता के अंतिम आधार दासजन थे और स्वामी नहीं।' वे स्वयं भी यह स्वीकार करते है कि यद्यपि उक्त उपमा के द्वारा प्राचीन भारत की परिस्थितियों का ठीक वर्णन नहीं होता, परन्तु तो भी वह इसका प्रयोग अवश्य करते हैं। भारतीयों पर कीचड़ उछालने के लिए जो भी साधन मिल जाये इनकी दृष्टि में ठीक ही हैं। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दू राज्य में राजा की संप्रभुसत्ता और उसकी दण्डशक्ति सीमित थी क्योंकि वह धर्म के अनुसार ही राज्य करने के लिए वचनवद्ध होता था। अतः वास्तविक संप्रभुसत्ता धर्म में निहित है उसके विपरीत आचरण करने पर राजा स्वयं दण्ड का अधिकारी हो जाता है और प्रजा को यह वैध अधिकार प्राप्त है कि वह धर्म की रक्षा न करने वाले ऐसे मूर्तिमान् कलि शासक को अपदस्थ कर दे या उसकी हत्या कर दे[1]। अतः यह आवश्यक है कि महाभारत के मूल वाक्यों के आधार पर उक्त विषय में हिन्दू राज्य की परिस्थितियों का विवेचन किया जाय।

राज-भक्ति—

वैदिक काल से ही यह सामान्य मान्यता थी कि जनकल्याण की दृष्टि से राज-सत्ता नितान्त आवश्यक है। ऐतरेय व्राह्मण में कहा गया है कि "क्षात्रशक्ति का आधार व्राह्मशक्ति है और जनता का आधार क्षात्रशक्ति[2]। महाभारत में अनेक वाक्यों में राज्य की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए यह मान्यता प्रकट की गई है कि राजा के विना प्रजाओं में अराजकता अथवा मात्स्य-न्याय के प्रवृत्त हो जाने के कारण व्यक्तिगत सुरक्षा, धन सम्पत्ति, कौटुम्विक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की रक्षा सम्भव नहीं है। यदि राजा की दण्डशक्ति भलाई की रक्षा और बुराई का उन्मूलन करने के लिए सतत जागरूक न हो तो अधिक प्रबल लोग दुर्बलों को उसी तरह खा जायें जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती है[3]। अतः स्वाभाविक ही है कि महाभारत ने सर्वसामान्य को राज-भक्त होने का उपदेश दिया है। शान्ति पर्व के ६८ वें अध्याय में गया है कि "जिसके न रहने पर सब ओर से प्राणियों का अभाव होने लगता है और जिसके रहने पर सदा सवका अस्तित्व वना रहता है उसका आदर

१—यही पुस्तक अ० ४, 'राज्य और नागरिक'।

२—ऐतरेय ब्रा० २, ३३।

३—दे० यही पुस्तक अ० २, 'राज्य की उत्पत्ति,' शान्ति अ० ६७।

सत्कार (पूजयेत्) कौन नहीं करेगा[1] ? राजा के शासन के उत्तरदायित्व, एवं शासन-भार को बड़ा भयंकर बतलाते हुए (भारं सर्वलोकभयं-वहन्) यह कहा गया है कि जो व्यक्ति राज्य के शासन-भार को वहन करता है तथा राज्य के प्रिय और हित का साधन करता है वह दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) पर विजय प्राप्त करता है[2]। इसके विपरीत जो व्यक्ति मन से भी राजा के अनिष्ट का चिन्तन करता है वह निश्चित रूप से इस लोक में भी कष्ट भोगता है और मरने के बाद भी नरक में पड़ता है। इसी प्रसंग में मनुष्य ही समझकर राजा की अवहेलना न करने (४०) राजा की निन्दा न करने (४८) उसके विपरीत आचरण न करने तथा निकट सम्बन्धी होने पर भी राजकोप से बचे रहने का प्रयत्न करते रहने का आदेश दिया गया है। आगे चलकर कहा गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को राजस्व (राजधन) की रक्षा अपने ही धन के समान करनी चाहिए[3] और राजधन के अपहरण करने से उसी प्रकार डरना (घृणा करनी) चाहिए जिस प्रकार मृत्यु से[4], और राज्य की रक्षणीय वस्तुओं से दूर ही रहना चाहिए। इसी प्रसंग में कहा गया है कि राजस्व का अपहरण करने वाले व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं और वे घोर नरक में पड़ते हैं (५३)। हो सकता है कि आग जलाते हुए कहीं कुछ शेष छोड़ भी दे परन्तु राजा का कोप उस व्यक्ति का कुछ भी शेष नहीं छोड़ता जो राजकोप का पात्र बनने की गलती करता है[5]। साथ ही प्रत्येक मेधावी, अपनी उन्नति चाहने वाले, स्मरण शक्ति से सम्पन्न, नियमशील और जितेन्द्रिय व्यक्ति को यह आदेश दिया गया है कि वह राजा का आश्रय ग्रहण करे[6]।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार का मन्तव्य लोकोपकारी होने के कारण राज्य के प्रति जनसामान्य में भक्ति-भावना जागृत करना है। वह चाहता है कि जनता के मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति राजा को शासन-कार्य में सहायता दें। राज्य की आवश्यकता को समझें, उसकी अवहेलना, निन्दा या विरोध न करें, तथा उसके धन (राजस्व) का अपहरण न करके उसकी रक्षा करें। अर्थवाद का प्रयोग करते हुए राजभक्ति को दोनों लोकों की साधिका और राजद्रोह या राजस्व के अपहरण को इस लोक और परलोक दोनों का विनास करने वाला तथा नरक में डालने वाला भी इसलिए कहा गया है क्योंकि महाभारतकार राज्य की सुरक्षा, समृद्धि और विकास के लिए जनता के उक्त सहयोग और आज्ञा पालन के भाव को अनिवार्य

१—शान्ति ६८, ३७।
२—वही, ३८।
३—वही ६८, ५२ 'आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान्'।
४—वही ६८, ५१ 'मृत्योरिव जुगुप्सते राजस्वहरणान्नरः'।
५—वही ५०।
६—वही ५५।

मानते हैं। आजकल भी प्रत्येक राष्ट्र इसी प्रकार के भक्ति-भाव की अपेक्षा अपने सभी नागरिकों से करता हैं।

आश्चर्य की बात है कि महाशय स्पैल्मैन ने इस प्रकार के उद्धरणों को 'क्रान्ति के विरुद्ध तर्क' शीर्षक के अन्तर्गत संकलित करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दू राजनीतिक दर्शन शासन-सत्ता और प्रशासन नीति में परिवर्तन किए जाने का विरोधी है[1]। यह एक निराधार, मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण निष्कर्ष है। यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारतकार के अनुसार अयोग्य और अनुत्तरदायी शासन को तत्काल बदल देने का उत्तरदायित्व संगठित प्रजा और विशेषतः ब्राह्मणों का पवित्र कर्तव्य माना गया है[2]। महाशय स्पैलमैन ने आदिपर्व के ४१वें अध्याय का हवाला देते हुए यह भी प्रतिपादित किया है कि "राजा कुछ भी करे सब कुछ के लिए उसे क्षमा किया जाना चाहिए[3]। वास्तविकता यह कि उक्त प्रसंग में महर्षि शमीक ने अपने पुत्र शृङ्गी को यह समझाया है कि उसने तपस्वियों के धर्म अर्थात् क्षमा का पालन न करते हुए क्रोध में आकर राजा परिक्षित को यह शाप देकर कि उसे सातवें दिन तक्षक डस लेगा—अच्छा नहीं किया। महर्षि शमीक के वचनों को यथातथ्य के साथ उद्‌धृत कर देने से उनका मन्तव्य और स्पष्ट हो जायेगा। वे कहते हैं" उस (परिक्षित्) ने हमारी न्यायपूर्वक रक्षा की है, मैं उसके इस पाप (कन्धे पर मरा सांप डाल देने) को बुरा नहीं मानता. हमारे जैसे तपस्वियों के साथ सदा सब प्रकार के ठीक वर्ताव करने वाले राजा को हम जैसे लोगों को चाहिए कि क्षमा कर दें। हे पुत्र ! इसमें सन्देह नहीं है कि यदि कोई धर्म की हत्या करता है तो वह (धर्म) उसका विनाश कर देता है। यदि राजा रक्षा न करे तो हमें सबसे अधिक कष्ट हो और हम अपने धर्म का पालन सुखपूर्वक न कर पायें[4]। और परिक्षित् ने तो अपने प्रपितामह की तरह ही जिस प्रकार प्रजा की रक्षा करनी चाहिए उसी प्रकार प्रजा की रक्षा की है। आज उस वेचारे ने (तपस्विना) भूखे और थके होने के कारण (क्षुधितेनाथ श्रान्तेन) अज्ञानवश (अजानता) मेरे साथ यह व्यवहार किया है—यह मेरा विश्वास है[5]। हे पुत्र ! राजा किसी प्रकार से भी हमारे शाप के योग्य नहीं है (न अर्हति)।'

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महर्षि शमीक ने राजा परिक्षित् के क्षमा कर दिये जाने का समर्थन तपस्वियों की सी स्वाभाविक क्षमा-शीलता के आधार पर

१—जान डवल्यू स्पैलमैन पृ० २२६ "हमारे कुछेक ग्रन्थकारों का मत हैं कि क्रान्ति किन्हीं भी परिस्थितियों में न्याय्य नहीं है" इत्यादि देखिए "आर्गूमैण्ट्स अगैंस्ट रिवोल्यूशन" शीर्षक के अन्तर्गत।

२—यही पुस्तक अ० ४।

३—'इन आल ह्वाट ही डज, दि किंग इज टू वी फौरगिविन' स्पैलमैन पृ० २२६।

४—आदि ४१, २१–२।

५—वही २६।

भी केवल इसलिए किया है कि वह प्रजाओं का न्यायपूर्वक पालन करता है और उसके महत्त्व और उसकी सेवाओं के बदले में उसका अज्ञानवश किया गया एक अपराध (न कि जान बूझ कर किया गया अपराध) अवश्य क्षमा कर दिया जाना चाहिए। भला उक्त शब्दों से कौन ईमानदार अनुसंधानशील विवेचक फिर भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि उक्त अध्याय में राजा को सर्वथा क्षमा कर दिए जाने की बात कही गई है, चाहे राजा कुछ भी और कैसे भी करे। न्यायपूर्वक प्रजाओं का पालन करने वाले शासक की वैयक्तिक भूल के प्रति उक्त पंक्तियों में प्रकट किया गया क्षमा-भाव नितान्त मानवीय और स्वाभाविक है। उक्त भाव से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि महाभारत का तत्त्वदर्शन क्रान्ति का विरोधी है। अपितु उक्त प्रसंग के ऐतिहासिक पक्ष से तो यही स्पष्ट हुआ है कि चाहे अज्ञानवश ही क्यों न सही राजा के द्वारा एक तपस्वी ऋषि के गौरव के विरुद्ध की गई चेष्टा का दण्ड उसे अपने प्राणों से चुकाना पड़ा है। इससे सिद्ध है कि महाभारत का तत्त्व-दर्शन राजा की किसी उच्छृंखलता को भी अदण्ड्य और क्षम्य नहीं मानता।" राजा कोई गलती नहीं कर सकता" यह पाश्चात्य सिद्धान्त भारतीय परम्परा को मान्य नहीं है।

राजद्रोह—

महाभारतकार के मत में राजद्रोह बड़ा भयंकर पाप है। कहा गया है कि सभी लोकों के गुरु स्वरूप राजा का अपमान करने वाले व्यक्ति को दान, होम एवं श्राद्ध आदि पुण्य कार्यों का फल प्राप्त नहीं होता[1]। कहा गया है कि धर्मकाम राजा का अपमान देवता तक नहीं करते[2]। क्योंकि भगवान् प्रजापति ने सत्कर्म में लगाने और दुष्कर्म से निवृत करने के लिए (प्रवृति-निवृत्यर्थम) धर्म की रक्षा के हेतु क्षात्र-शक्ति की कामना की थी और इसीलिए वह मान्य और पूज्य है[3]। आगे चलकर कहा गया है कि अन्यायपूर्वक क्षत्रिय धर्म की अवहेलना करने से प्रवृति निवृति धर्म भी उसी प्रकार बीच में ही नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अन्धा पुरुष रास्ते में ही नष्ट (पथ-भ्रष्ट) हो जाता है।[4]

उद्योग पर्व में राजा के प्रति पिशुनता (चुगली या धोखादेही) को ब्रह्महत्या के समान पाप बतलाया गया है[5]। अनुशासन पर्व में आचार की शिक्षा देते हुए भीष्म ने राजा का असम्मान य अपमान करने का निषेध किया है[6] और इसी पर्व के बाईसवें

१—शान्ति ६५, २८।
२—वही २९।
३—वही ३०–३१।
४—वही ३४।
५—उद्योग ४०, ३।
६—अनुशासन १०४।

अध्याय में राजा पर प्रहार करना भ्रूण-हत्या के समान पाप कहा गया है[1]। केवल राजा के ही नहीं राजा आदि सातों अंगों समेत राज्य के विरुद्ध आचरण करने वाले राज्यद्रोही को, चाहे वह गुरु हो या मित्र, मृत्यु-दण्ड दिए जाने का आदेश दिया गया है[2]। महाभारतकार का यह मत उस वैदिक परम्परा के अनुरूप है जिसके अनुसार राजद्रोह को बड़ा जघन्य अपराध माना जाता था और इसके विषय में राजा को अनुमति दी गई थी कि वह पुरोहित को भी यदि वह राजद्रोह का अपराधी हो तो मृत्यु-दण्ड दे[3]। बौद्ध-साहित्य में भी राजद्रोह के अपराधी मन्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं। आचार्य चाणक्य ने राज्य छीनने की कामना करने वाले वनवासी, दस्युओं या अन्य शत्रुओं को भड़काने वाले, दुर्गों में राष्ट्र में या सेना में असन्तोष और कोप उत्पन्न करने वाले (दुर्ग-राष्ट्र-दण्ड-कोपकम) को मृत्यु-दण्ड दिए जाने की व्यवस्था दी है और कहा है कि यदि वह व्यक्ति ब्राह्मण हो तो उसे कालकोठरी में डाल दिया जाए (ब्राह्मणं तमः प्रवेशयेत्)[4]।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यद्यपि शान्ति पर्व में भरद्वाज कणिक ने अव्यवस्था निर्माण हो जाने, धर्म के शासन के क्षीण हो जाने तथा डाकू और लुटेरों (दस्युभिः) के द्वारा राष्ट्र के पीड़ित होने की स्थिति में आपद्-धर्म का उपदेश देते हुए यहाँ तक बतलाया है कि राजा को प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए अर्थ-नीति के संचालन में विघ्न उपस्थित करने वाले पिता, भाई, मित्र या पुत्र तक को भी मृत्यु-दण्ड देना चाहिए[5]। यह भी कहा गया है कि यदि गुरु भी घमण्ड में भर कर कर्तव्य और अकर्तव्य को न समझ रहा हो और बुरे मार्ग पर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित है, दण्ड उसे राह पर ले जाता है।

राजनीतिक 'शिशुहत्या' का अभाव

इस प्रसंग में महाशय स्पैलमैन के कुछ विचारों को उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा। वे कहते वे कि 'यह आश्चर्य की बात है कि साहित्यिक संकेतों और ऐतिहासिक उल्लेखों के द्वारा यद्यपि यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि राज्य के विरुद्ध नैतिक और अनैतिक आधारों पर विद्रोह यद्यपि अनहोनी घटना नहीं थे, और प्राचीन भारत के अनेक राजाओं के लिये राजा के अधिकारियों अथवा सम्बन्धियों के द्वारा आयोजित विद्रोह का भय निरन्तर चिन्ता का विषय था, तो भी इस चिन्ता के बावजूद राजनीतिक शिशु-

१—वही २२, ३०।

२—शान्ति ५७, ५।

३—ए०बी० कीथ वैदिक इण्डैक्स भा० २, पृ० ८४।

४—अर्थशास्त्र ४, ११, १७-१८। राजद्रोह करने वालों का प्रतिकार करने के उपायों के विषय में दे० वहीं ५, १; ५, २; १, १३; १, १४; ६, ३ आदि।

५—शान्ति १४०, ४७ 'पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृद्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥'

हत्या का कोई भी उल्लेख प्राचीन भारत के इतिहास में उपलब्ध नहीं है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस प्रकार के कृत्यों का साहित्य कृतियों तक में कोई संकेत प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक देशों में राजा के द्वारा शिशु-हत्या कराया जाना कोई असामान्य बात नहीं थी। यह कहा जा सकता है कि शायद अब उक्त कृत्यों के विषय में साक्ष्यों का अभाव हो (और वस्तुतः राजाओं के द्वारा अपने पुत्रों या अन्य उत्तराधिकारियों की शिशु-हत्याएँ कराई या की जाती रही हों) परन्तु यह तर्क तो फिर प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में प्रतिपादित अनेक निष्कर्षों के विरुद्ध भी उठाया जा सकता है। फिर भी यदि हम, बिना किसी प्रमाण के ही, यह कल्पना कर भी लें कि कभी-कभी ऐसा भी हुआ होगा तो भी यह मानना पड़ेगा कि ऐसी घटनाएँ बहुत ही कम हुई होंगी। ऐसे अधिकतर मामलों में विद्रोही राजकुमारों को नियंत्रण में रखा जाता था, जिसका अभिप्राय यह है कि या तो उन्हें देश निकाला दे दिया जाता था या कैद कर दिया जाता था। तो भी प्रायः राजा की मृत्यु के बाद वे ही सिंहासन पर आसीन हो जाया करते थे[1]।

डा० स्पैलमैन के उक्त निष्कर्ष की भावना से शत प्रतिशत रूप में सहमति प्रकट करते हुए महाभारतकार की स्थिति को और अधिक स्पष्ट कर देने के लिए हम केवल यही कह देना पर्याप्त समझेंगे कि महाभारतकार किसी भी परिस्थिति में, यहाँ तक कि शत्रु राजाओं को पराजित और विनष्ट करने के प्रसंग में भी वंशोन्मूलन का समर्थन नहीं करते। जबकि उसी प्रकार के प्रसंगों में मैकियावेली ने निःसंकोच इस मत का प्रतिपादन किया है कि भविष्य के राजनीतिक परवर्तनों की विभीषिका को समाप्त कर देने के लिए शासक वंश का पूर्णतया उन्मूलन कर देना ही भावी षड्यन्त्रों से रक्षा का एकमात्र सफल उपाय है! साथ ही कोरी आत्मश्लाघा की प्रवंचना में मुग्ध न होते हुए लेखक भारतीय होने के नाते यह उल्लिखित कर देना अपना कर्त्तव्य समझता है कि भारतीय इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात से परिचित है कि यद्यपि उत्तराधिकारी या सम्भावित विद्रोही शिशुओं की हत्या कराने के लिए किए गये निरंकुश और अत्याचारी क्रूर शासकों के एक भी सफल प्रयास का उदाहरण हमारे इतिहास में अंकित नहीं है तो भी यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के असफल प्रयास अनेक किए या कराये गये हैं। ऐसे प्रयास प्रायः दैवी या मानवीय प्रयत्नों एवं बलिदानों के कारण सदैव असफल होते आये हैं। अत्याचारी कंस के द्वारा वसुदेव और देवकी के शिशुओं की हत्या के प्रसंग, राजा मुंज के द्वारा भोज की हत्या का षड्यन्त्र तथा क्रूर बनवीर के घातक आक्रमण की बलि के रूप में अपने औरस पुत्र को देखकर राजशिशु की पन्ना धाय के द्वारा रक्षा आदि अनेक प्रसंग इस बात के द्योतक हैं कि मानव स्वभाव के सर्वत्र एक सा होने के कारण कम से कम राजनैतिक कार्यों और परम्पराओं में एकान्तिक भिन्नता सम्भव नहीं है। हाँ केवल इतना कहना ही ठीक है कि भारत की नैतिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के राजनीतिक परम्पराओं की अपेक्षा सुदूर

१—जान डबल्यू स्पैलमैन, 'पोलिटिकल थियरी आफ् एण्श्यैण्ट इंडिया', पृ० २८८।

प्राचीनकाल से लेकर आज तक अपेक्षाकृत अधिक बलवती होने के कारण उक्त प्रकार के घोर नृशंस कृत्यों का होना संभव नहीं रहा है। आश्चर्य विशालाक्ष ने राजकुमारों के पितृभक्षक स्वभाव का प्रतिपादन करने वाले भरद्वाज के मत का खण्डन करते हुए राज-शिशु की हत्या का इन शब्दों में विरोध किया है—'निरपराध बच्चों का इस प्रकार चुप-चाप वध करा देना घोर पाप और क्रूरता है और ऐसा करने से क्षत्रिय वंश का नाश हो जाना निश्चित है'[1]। आचार्य चाणक्य ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए राजकुमारों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध करने का आदेश दिया है और बतलाया है कि राजकुमार को उसके प्रच्छन्न मित्र ही यह समझायें कि देखो राजा के साथ कभी द्वेष नहीं करना चाहिए, यदि तुम्हारा विद्रोह असफल रहा तो तुम मार दिए जाओगे, यदि तुम राजा को मारने में सफल भी हो गये तो नरक में पड़ोगे, फिर सम्पूर्ण प्रजाजन तुमसे नाराज हो जायेंगे (संक्रोशः) और एक साथ आपस में मिलकर तुम्हें दुर्गति के साथ मार डालेंगे (प्रजाभिरेकलोष्टवधः)[2]।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार और अन्य राजशास्त्र के विचारकों विशेषतः अर्थशास्त्र-प्रणेताओं के मत में राजद्रोह या विद्रोह पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से राजदण्ड के भय के अतिरिक्त दो और भयों की ओर सामान्य रूप से संकेत किया गया है। ये दो भय हैं एक तो पाप या नरक का भय (अर्थात् नैतिक नियंत्रण)। और दूसरा संगठित और आक्रुष्ट जनता का भय (अर्थात् लोकमत का नियंत्रण)। राजद्रोह जैसे शुद्ध लौकिक विषयों में भी अनेक पाश्चात्य और भारतीय राजशास्त्र-वेत्ताओं ने महाभारत और अन्य स्रोतों से अनेक पाप-पुण्य नरक तथा स्वर्ग का लोभ और नरक का भय दिखाने वाले वाक्यों को उद्धृत करके शायद पाठकों पर यही अमिट प्रभाव डालने की कुचेष्टा की है कि भारतीय राजतन्त्र का तत्त्वदर्शन शुद्ध लौकिक राजदर्शन के रूप में प्राचीन भारत में विकसित नहीं हुआ था और सामान्य जनता और विचारक ऋषि मुनि तक नैतिक, पौराणिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं के ही अतिशय प्रभाव में होने के कारण शुद्ध लौकिक दृष्टिकोण से विचार करने में असमर्थ थे। हमारी यह मान्यता है, जैसी कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि नैतिक और आध्यात्मिक विचारों का सामाजिक मान्यताओं पर पर्याप्त प्रभाव होते हुए भी संसार के अन्य महाप्राण, जीवन्त, संघर्ष-परायण और विस्तारशील समाज में रोमन आदि समाजों की तरह प्राचीन भारत के महाभारतकालीन समाज में राजनीतिक और आर्थिक विषयों में पर्याप्त लौकिक चिन्तन का विकास हो चुका था। अतः हमें यह विचार करना चाहिए कि 'अपनी प्रजा पर अन्याय और अत्याचार करने वाले शासक को पाप का भागी होना होगा, अन्त में घोर नरक भोगना पड़ेगा', आदि वाक्यों से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि महाभारतकार ने राजा को न्यायपूर्वक धर्म के अनुसार

१—अर्थ० १, १७, ८।
२—अर्थ० १, १७, ४२।

शासन करने की आवश्यकता और ऐसा न करने पर उसके ऊपर आने वाली विपत्तियों के लौकिक पक्ष की ओर ध्यान न दिलाया हो। कुछ भी हो उक्त वाक्यों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करना कि जनता राजा के अच्छे-बुरे कृत्यों के लिए उसे कर्म-सिद्धान्तों के अनुसार 'राजा जैसा करेगा वह परलोक में अवश्य भोगेगा' यह सोचकर छोड़े रखती थी, यह प्रयास न केवल मिथ्या और अनैसर्गिक है महाभारतीय तत्त्वदर्शन के विपरीत भी है। यद्यपि आदिपर्व में राजा अम्बुवीच[२] के कथानक से यह स्पष्ट होता है कि राजा के राज्य की प्राप्ति और सुरक्षा में भाग्य का वहुत वड़ा हाथ है। कर्मवाद एवं भाग्यवाद का प्रभाव प्राचीन भारतीय और उसी प्रकार मध्यकालीन यूरोपीय समाज पर पर्याप्त था। परन्तु यह कहना नितान्त असत्य है कि निरंकुश राजसत्ता पर नियन्त्रण करने जैसे लौकिक एवं राजनीतिक प्रश्नों में इन वादों का कोई विशेष विचार किया जाता रहा होगा।

इसके विपरीत कहा गया है कि जो राजा अच्छा वर्ताव करने वाले स्वजनों के प्रति मिथ्या व्यवहार करता है वह स्वयं अपने आप पर कुल्हाड़ी चलाता है[३] तथा जो राजा अन्याय और अधर्म के द्वारा अपना राज्य चलाता है वह सदैव हृदय में भयभीत रहता है और प्रजा भी उससे, वाज से पक्षियों की तरह दूर भागती है और समुद्र में डूबी हुई नाव जिस प्रकार कहाँ की कहाँ वह जाती है उसी प्रकार प्रजा भी धीरे-धीरे अन्यत्र चली जाती है[४]। इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक बार कहा गया है कि निरंकुश शासक को जनता ही अपदस्थ और नष्ट कर देती है। शान्ति पर्व में पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को वतलाया है कि यदि उन्होंने अपने राष्ट्र में वाणिज्य एवं कृषि करने वाले वहुसंख्यक लोगों को प्रमाद रहित होकर अपने साथ नहीं रखा तो वे उद्विग्न होकर वनों या अन्य राष्ट्रों में चले जाते हैं और असावधान राजा पर गिद्ध पक्षियों की तरह सहसा टूट पड़ते हैं (मारुदण्ड सदृशा ह्येते निपतन्ति)[५]।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अत्याचारी राजा के विरुद्ध शान्त एवं असहयोगात्मक तथा सक्रिय एवं हिंसात्मक उपायों का प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार प्रजा के द्वारा किया जाता था। डा० स्पैलमैन[६] का यह कथन अंशतः तो ठीक है कि जिन उपायों के द्वारा अत्याचारी शासक का विनाश किया जाना चाहिए उनका वर्णन महाभारत में नहीं है, क्योंकि महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म में राजा को ही दृष्टि में रखकर उसके कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का वर्णन किया गया है। राजा के विरुद्ध

१—शान्ति १०४, १००।
२—आदि पर्व १०४, १६ आदि।
३—शान्ति ६५, ८।
४—वही ८५, १४।
५—शान्ति ८९, २२, २३, २४, दे० वही ९०।
६—स्पैल्मैन, पृ० २३१।

क्रान्ति तथा क्रान्ति के विभिन्न उपादेय उपायों को प्रतिपाद्य विषय वनाकर कोई विस्तृत विवेचन भारतीय राजनैतिक साहित्य में उपलब्ध है भी नहीं, परन्तु क्या इस प्रकार के विवेचन यूरोप के किसी राजतंत्रीय राष्ट्र में आज तक भी कहीं उपलब्ध हैं (शायद हो भी नहीं सकते) अतः इस प्रकार के विवेचनों के अभाव में यह तर्क उपस्थित करना कि भारतीय राजनीतिक तत्त्व-दर्शन क्रान्ति का अनुज्ञा नहीं देता और प्रजा के द्वारा अपदस्थ किए एवं मारे गये राजाओं के उदाहरणों तथा इसका प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का तात्पर्य केवल राजा को यह वतलाना है कि उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिए अन्यथा प्रजा विद्रोह कर देगी। डा० स्पैलमैंन के उक्त दुराग्रह का मूल कारण यह है कि उन्होंने कर्मवाद, भाग्यवाद और अद्वैतवाद जैसी पौराणिक और दार्शनिक विचारधाराओं का मनमाना आरोप सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन पर अनधिकृत रूप से कर लिया है और फिर उस वात की नींव पर अपने सिद्धान्तों का महल वनाया है।

भारतीय जन-जीवन की मूल प्रेरणाओं और वैदिक काल से आज तक भी वड़े उग्र रूप में वर्तमान भारतीय चेतनाओं की उपेक्षा करते हुए उन्होंने भारतीय राजनीति के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त और स्थानीय स्वशासन जैसे तथ्यों की ओर, न जाने क्यों, दुर्लक्ष्य किया है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि उक्त तत्त्वों को दृष्टि में रखकर ही भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों की समीक्षा संभव है[१]। यहाँ डा० स्पैलमैन के दुराग्रह-पूर्ण विवेचन का एक रोचक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने १७७६ में प्रचारित "अमरीकी स्वातन्त्र्य घोषणा[२]" को शव्दशः उद्धृत करते हुए कहा है कि 'प्राचीन भारत में ऐसे विचारों का कोई प्रभाव नहीं था। निश्चित रूप से हिन्दू समाज में कभी यह संकेत तक नहीं किया गया कि सभी मानव प्राणी जन्म से समान

१—दे० यही पुस्तक अ० २—यहाँ यह स्मरणीय है कि कर्मवाद और भाग्यवाद को महाभारत का जीवन-दर्शन नहीं माना जा सकता। महाभारत का जीवन-दर्शन तो गीता का कर्मयोग हैं जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय है।

२—"हम इन सत्यों को स्वयं प्रकाश मानते हैं कि सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं और उनके स्रष्टा ने उन्हें कतिपय अनपहार्य अधिकार प्रदान किए हैं जिनमें जीवन स्वतन्त्रता और 'समृद्धि की सिद्धि' भी है। मनुष्यों में इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए शासितों की अनुमति से उपलब्ध न्याय्य प्रभुताओं को धारण करने वाले शासकों की स्थापना हुई है,···कि जव कभी कोई शासन उक्त उद्देश्यों का विघातक हो जाय तो जनता को उसे वदल देने या समाप्त कर देने का अधिकार है और उन्हें अधिकार है कि वे नये शासन की स्थापना करें और उसकी नींव ऐसे सिद्धान्तों पर रखें तथा उसकी शक्तियों को उस रूप में संगठित करें जो उन्हें अपनी सुरक्षा और समृद्धि की उपलब्धि के लिए सम्भवतः श्रेष्ठतम उपाय प्रतीत होता हो।"

हैं। वस्तुतः कोई यह भी नहीं कह पाया कि एक जाति में उत्पन्न हुए लोग भी समान होते हैं। केवल इतना ही नहीं कि प्रत्येक प्राणी के आध्यात्मिक पुण्य का संचय ही भिन्न-भिन्न होता हो, अपितु यह भी स्पष्ट था कि प्राणी भौतिक दृष्टि से भी समान नहीं थे। वे असमान पैदा होते असमान जीते और असमान ही मरते थे। हिन्दू-दर्शन कहेगा कि ऐसी अवस्थाएँ मनुष्यों के पूर्वजन्म और कर्म का परिणाम होती हैं। हमारे विचार में यह कहना पूर्णतया गलत है कि प्राचीन भारत में संप्रभुसत्ता जनता में निहित थी और क्योंकि अत्याचारी शासक अनुवन्ध को भंग करता था अतः जनता को विद्रोह करने का अधिकार था (यह विचार एन० सी० वन्द्योपाध्याय का है, उनकी पुस्तक हिन्दू पालिटी एण्ड पौलिटिकल थियरीज पृ० २३४ पर)।'

डा० स्पैलमैन के उक्त तर्कों के सैद्धान्तिक पहलू पर हम पर्याप्त विस्तार के साथ दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में विवेचन कर चुके हैं।" जाति से भी समानता और कुल से भी समानता" का उद्घोष करने वाले महाभारत के सैकड़ों वाक्यों और मानवमात्र की समता का प्रतिपादन करने वाले भगवद्गीता के अनेक वाक्यों के रहते हुए यह कहना ठीक नहीं है कि" निश्चित रूप से हिन्दू समाज में यह कभी माना ही नहीं गया कि सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं। महाभारतकाल के हिन्दू-समाज की सामाजिक असमानताओं से हम इंकार नहीं करना चाहते। ऐसी असमानताएँ आज तक भी आज के बड़े प्रजातांत्रिक और सभ्य कहलाये जाने वाले देशों में भी विद्यमान हैं। अमरीका में ही श्वेत और काले अमरीकियों को कानून के समक्ष समान अधिकार देने की घोषणा करने वाले शान्ति के देवता जान० एफ० कैनेडी के बलिदान से अमरीकी समाज में भी व्याप्त सामाजिक अन्याय और असमानता का सबसे घिनौना रूप संसार के सामने आ गया है। सामान्यतया कहा जा सकता है कि अमरीकी समाज की यह असमानता अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व और अधिक उग्र रूप में व्याप्त रही होगी। परन्तु क्या उसके रहते हुए उस काल के अमरीका-वासियों ने डा० स्पैलमैन के द्वारा उद्धृत उदार और दिव्य तथा आदर्श सिद्धान्तों से अनुप्राणित होकर हजारों प्राणों की बलि देकर भी सफल क्रान्ति नहीं की थी। विद्वान् समालोचक ने अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा को स्वयं आज के विश्व का सबसे अधिक विख्यात क्रान्ति का सिद्धान्त कहा है। फिर विश्व के सबसे अधिक विख्यात मानव-मात्र की समानता का उद्घोष करने वाले धर्म-वाक्यों के रहते हुए उन्होंने असमानता का प्रतिपादन करने वाले कर्म सिद्धान्त को ही इतना तूल क्यों दिया है? अन्य भारतीय दार्शनिक विचार-धाराएँ लेखक का ध्यान क्यों नहीं आकर्षित कर पाईं? सिकन्दर का आक्रमण विफल हो जाने के बाद अपने थोड़े-बहुत जीते हुए प्रदेश में उसने जो राज्यपाल नियुक्त किए थे उनके विरुद्ध भारतीय जनता के द्वारा संगठित विद्रोह किए जाने का उल्लेख यूनानी लेखक एरियन ने भी किया है[1]। फिर भी उक्त महाशय डा० वेणी प्रसाद आदि विद्वानों

१—जे० डवल्यू० मैकक्रिंडल, पृ० ११२।

के मतों का खण्डन करते हुए यहीं क्यों सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राचीन भारत में अत्याचारी शासक को वदलने या उसके शासन को समाप्त कर देने का अधिकार प्रजा को नहीं था। हम पहले ही युक्तिपूर्वक महाभारतकाल की वस्तु-स्थिति को स्पष्ट कर चुके हैं अतः इस विवाद में ने पड़ते हुए डा० स्पैलमैन के ही कुछेक वाक्यों को इस प्रसंग में उद्धृत कर देना चाहते हैं जिनमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'मध्य-कालीन यूरोप की तरह ही प्राचीन भारत में भी राजा के उन कार्यों को अवैध समझा जाता था जो धर्म के विरुद्ध हों।' डा० स्पैलमैन ने लिखा है कि 'मध्यकालीन यूरोप के क्रान्ति के सिद्धान्त का आधार यह नियम था कि प्राकृतिक विधि (अं० 'नैचुरल ला') का उल्लंघन करने वाला प्रत्येक राजकीय कृत्य अवैध है। ठीक जिस प्रकार भारत में राजा की अपेक्षा धर्म की प्रभुता उत्कृष्टतर और श्रेष्ठ मानी जाती थी, इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप के राजाओं की अपेक्षा प्राकृतिक विधि के विरोधी राजकीय कृत्य न केवल अवैध माने जाते थे अपितु राज्य के व्यक्तिशः नागरिक उसका पालन करने के लिए वाध्य नहीं थे। वस्तुतः यह सिद्धान्त और अधिक दूरगामी था। राजा के प्रति आज्ञापालन का भाव वहीं तक आवश्यक समझा जाता था जहाँ तक उसके कार्य प्राकृतिक विधि के अनुरूप होते थे। प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल राजकीय विधियों का सक्रिय प्रतिरोध करना शासित का कर्त्तव्य माना जाता था। उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जाता था कि शासितों को अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार था[1]।

हमारा यह मत है कि डा० स्पैलमैन के द्वारा प्रतिपादित उक्त अधिकार वैध अधिकार था और उक्त वैध विद्रोह के सफल होने पर एक वैध शासन की स्थापना महाभारत के तत्त्वदर्शन को सर्वथा मान्य थी। अन्तर केवल इतना ही है कि डा० स्पैलमैन उक्त अधिकार को वैध राजनीतिक अधिकार न मानकर केवल एक नैतिक अधिकार की सीमित संज्ञा देना चाहते हैं। इससे वह सन्तुष्ट भले ही हो जायें किन्तु वैधता के नैतिक और राजनीतिक पहलुओं की यह सीमा-रेखा प्राचीन भारत के परि-प्रेक्ष्य में इतनी सूक्ष्म है कि उसका पृथक् आकलन केवल अनधिकार चेष्टा ही है।

विद्रोह एवं क्रान्ति की न्याय्यता—

महाभारत ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें वड़े स्पष्ट शव्दों में अयोग्य, अत्याचारी और निरंकुश शासक के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह करने का आदेश दिया गया है[2]। हम पहले से ही चौथे अध्याय में (१) धर्म के अनुसार प्रजा का पालन न

१—स्पैलमैन पृ० २३४ दे० ओटो जियर्के—'पोलिटिकल थियरीज आव् मिडिल एजज; पृ० ८४।

२—दे० अनुशासन ६१, ३१–३३; शान्ति ७८, ४१ आदि वही, ५७, ४४–५। वही १३५, २१; ६३–६–१०; ९२, २६; १२०, ४४ (डा० स्पैलमैन द्वारा उद्धृत) मनु० ७, २७–२८; अर्थ १, ४।

करने वाले या (२) दण्ड–शक्ति का उचित उपयोग न करने वाले शासक के विरुद्ध शासितों के क्रान्ति के अधिकार के विषय में विवेचन कर चुके हैं अतः अब यहाँ इस विषय पर विचार करना उचित होगा कि इस प्रकार की क्रान्ति के लिए किन उपायों का आश्रय लिया जाता था।

विद्रोह के प्रकार—

विद्रोह का एक व्यावहारिक ढंग प्रजाओं के द्वारा असन्तुष्ट और रुष्ट होकर अत्याचारी राजा के राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में चले जाना था। कौरवों के द्वारा छलपूर्वक पाण्डवों के राज्य का द्यूत-सभा में अपहरण कर लिए जाने पर पाण्डव काम्यक वन में चले गये थे। उक्त अन्याय से रुष्ट होकर अनेक प्रजा ने राज्य छोड़ देने और युधिष्ठिर की प्रजा के रूप में वन में ही निवास करने का निर्णय किया। युधिष्ठिर ने उन्हें अपने घरों में वापिस जाने का आदेश दिया और बतलाया कि यदि धृतराष्ट्र उनका पालन न्यायपूर्वक न करें तो वे पांचाल प्रदेश में चले जायें[1]। शान्ति पर्व में वाणिज्य करने वाले व्यापारियों के राजा से उद्विग्न होकर वन में जाकर वस जाने का संकेत किया गया है[2]।

इस ढंग से राजा को केवल राजस्व की हानि नहीं होती थी, अपितु प्रजा के दूसरे राज्य में जाकर वस जाने के कारण उस अत्याचारी राजा का राज्य भी परिणाम स्वरूप नष्ट हो सकता था। इस प्रकार के सार्वजनिक प्रवास से उनके राज्य की जनशक्ति क्षीण होती थी और शत्रु राष्ट्र की शक्ति तथा सेना की वृद्धि इन असन्तुष्ट तत्त्वों के द्वारा स्वाभाविक रूप से हो ही जाती थी। सुना जाता है कि एक वार राजा जनमेजय को किसी ब्राह्मण की हत्या का दोष अनजाने में (अबुद्धि-पूर्वकम्) लग गया[3]। इस बात को जानते ही राजपुरोहित समेत सभी ब्राह्मणों ने जनमेजय के राज्य को छोड़ दिया। इस पर प्रजाओं ने उसे गद्दी से उतार दिया और वह वन में रहकर महान् पुण्य कर्म करने लगे। दुःख से दग्ध होकर वे दीर्घ-काल तक तपस्या में लगे रहे।

(२) उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि अत्याचारी राजा को राजसिंहासन से उतार कर देश से निर्वासित कर देना क्रान्ति का दूसरा प्रकार था। इससे यह संकेत मिलता है कि पौर और जानपद जनता के अनेक मुख्य पुरुषों और मन्त्रियों तथा सेनापतियों के हाथ में पर्याप्त शक्ति होती थी जिसके द्वारा वे राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रख सकते थे। और यदि आवश्यकता पड़े तो उसे दण्ड भी दे सकते थे। वैदिक काल में भी इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में दुष्ट ऋतु पौंसायन को उसके गत दस पीढ़ियों से उसी के वंश के द्वारा शासित

१—वनपर्व १, ९२, आदि पर्व १४७।

२—शान्ति ९०, २२।

३—शान्ति १५०, ३। 'अबुद्धिपूर्वमागच्छद् ब्रह्महत्या महीक्षितं'।

होते हुए प्रजाजन के द्वारा राजपद से च्युत किए जाने तथा साथ ही सृंजय के द्वारा रेवोतरस् पाटव के पद्च्युत किए जाने का भीं उल्लेख है[1]। जातकों में भी सेनापतियों या मन्त्रियों तथा संगठित प्रजा के द्वारा अत्याचारी और नृशंस शासकों के निर्वासित किए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं[2]।

(३) विद्रोह अथवा क्रान्ति का सबसे अधिक प्रचलित प्रकार अत्याचारी राजा का वध कर देना था। शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजा वेन बड़ा अत्याचारी और अधार्मिक हो गया था। वह न्याय के स्थान पर राग और द्वेष के वश होकर शासन करता था। वेपवादी ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाग्रों से वेन को मार डाला। और उसके पुत्र पृथु का राज्याभिषेक कर दिया[3]।

उद्योग पर्व में राजा नहुष के इन्द्रिय लोलुप हो जाने और पराई स्त्री की ओर कुदृष्टि डालने के अपराध के कारण तथा ऋषियों की अवज्ञा और अपमान करने तथा धर्म की अवहेलना करने के कारण पदच्युत किए जाने का वर्णन किया गया है।[4]

उद्योग पर्व में[5] ही भगवान् कृष्ण ने कौरवों की सभा में यह घोषणा की है कि कुरुवंश के वृद्धजन (मुख्यों) की यह बहुत बड़ी त्रुटि है कि वे ऐश्वर्य के मद में चूर होकर धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले दुर्योधन को दण्ड नहीं देते (न नियच्छत)। श्रीकृष्ण ने अन्धक-वृष्णि संघ का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि अपने पिता उग्रसेन के जीते हुए भी दुरात्मा विलासी और क्रूर कंस ने सभी मर्यादाओं का भंग करते हुये अत्याचार करना प्रारंभ कर दिया था। बान्धवों और जाति के लोगों ने ही उसे पदच्युत कर दिया। यादव वंश के हित के लिए मैंने ही उसे युद्ध में मार डाला। परिणाम स्वरूप अब अन्धक वृष्णि लोग सम्पूर्ण कुल के लिए एक कंस का परित्याग कर देने के बाद मेल-मिलाप से सुखपूर्वक रहते हैं। भगवान् कृष्ण ने आगे बतलाया है कि जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा की आज्ञा के अनुसार भगवान् धर्म ने दैत्यों और दानवों को बाँधकर वरुण को दे दिया था उसी प्रकार कुरुवंशियों को चाहिए कि दुर्योधन, कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन को बाँधकर पाण्डवों के हवाले कर दें[6]।

उक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि राजा की निरंकुशता और अत्याचार

१—शतपथ ब्रा० ६, ३, १–१३।
२—महासुतसोम जातक क्रमांक ५३९; खण्डहाल जातक क्र० ५४२।
३—शान्ति ५६, ६४ आदि।
४—उद्योग ११।
५—उद्योग (ब) १२८, ३४।
६—उद्योग १२८, ४० 'कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः।
संभूय सुखमेधन्ते भारतान्धक कृष्णयः॥'

से उद्विग्न होकर सामान्य प्रजा ही नहीं राजा के वंश एवं गोत्र के बान्धव लोग भी राजा को बाँधकर उसे निर्वासन या वध का दण्ड दे देते थे।

इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि हिन्दू राज्य में राजा को विद्रोह एवं क्रान्ति का भय निरन्तर बना रहता था। वैदिक काल में भी राजा को अपने विरोधी गोत्र बान्धवों से; प्रजाओं से और विरोधी राजाओं से निरन्तर संघर्ष करते हुए अपने राज्य की रक्षा करनी होती थी[1]। अपदस्थ हुए राजा भी तप और यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा अपना खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त करने का प्रयास करते थे और उनके ये प्रयास कभी कभी सफल भी हो जाते थे[2]। महाभारतकार ने बार-बार राजा को राज्य क्रान्ति की विभीषिका से सावधान किया है। शान्तिपर्व में पितामह भीष्म ने सब पर शंका करने वाले तथा प्रजा का सर्वस्व हरण कर लेने वाले लोभी और कुटिल राजा के विषय में कहा है कि वह एक दिन अपने ही लोगों के हाथ से शीघ्र मारा जाता है। इसके विपरीत पितामह भीष्म का कहना है कि जो राजा बाहर भीतर से शुद्ध रहकर प्रजा के हृदय को अपनाने का प्रयत्न करता है वह शत्रुओं का आक्रमण होने पर भी उनके वश में नहीं आता और यदि उसका पतन हुआ भी तो अपने सहायकों की सहायता से शीघ्र ही फिर उत्थान कर लेता है[3]।

यह एक विस्मयावह संयोग ही है कि मैकियावेली ने अपने ग्रंथ 'प्रिंस' में क्रांति एवं परिवर्तनों आदि के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उनमें तथा महाभारतकार के विचारों में यत्र-तत्र कुछ अन्तर होते हुए भी बड़ी समानता है।

मैकियावेली का कहना है कि 'क्रूरता से और बलपूर्वक अपहरण करने वाला तथा प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति और महिलाओं की पवित्रता को ध्वंस करने वाला शासक सबसे अधिक घृणा और निरादर का पात्र बन जाता है। किन्तु नरेश की सफलता इसी में है कि वह अन्य किसी भी प्रकार की निन्दाओं के भय की परवाह न करते हुए केवल इस बात की परवाह करे कि वह उन दुर्गुणों और दुष्कृत्यों से बचा रहे जो उसे लोगों की दृष्टि में घृणा और तिरस्कार का पात्र बनाते हैं क्योंकि ये दुर्गुण बहुसंख्यक जनता को राज्य-क्रान्ति करने के लिए प्रेरित करते हैं जिससे रक्षा सम्भव नहीं है।' मैकियावेली का कहना है कि 'जब न तो उनकी सम्पत्ति और न उनकी प्रतिष्ठा पर ही कोई आँच आती है तो बहुसंख्यक जन-समुदाय सन्तुष्ट बने रहते हैं और फिर शासक की मुट्ठीभर लोगों की महत्वाकांक्षाओं पर ही नियंत्रण रखना होता है जिसे वह अनेक प्रकार से कार्यान्वित कर सकता है।' वह कहता है कि 'अस्थिर बुद्धि, कामी, स्त्रैण, क्षुद्र भावनाओं से युक्त और अनिश्चयी समझे जाने वाले व्यक्ति से लोग घृणा करते हैं। इन्हें खतरे के चिह्न समझकर शासक को इनसे सर्वदा दूर रहना

१—ऋग्वेद १०, १७४; अथर्व १३, १, ३१।

२—तै० सं० ६, ६, ५।

३—शान्ति २७, २७-२८।

चाहिए और अपने कार्यों में महानता, साहस, गम्भीरता और सहिष्णुता का परिचय देना चाहिए[१]।

मैकियावेली ने राजा की लोकप्रियता के राज्य की सुरक्षा के साथ तात्विक सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए कहा है[२] कि शासक को यह ख्याति प्राप्त कर लेनी चाहिए कि उसके निर्णय अनुल्लंघनीय हैं जिससे कि किसी को भी उसे धोखा देने या उस पर हावी हो जाने की आशा ही न हो सके। ऐसा शासक अनन्त एवं अत्युच्च प्रतिष्ठा का स्वामी होता है और प्रतिष्ठित और गौरवान्वित शासक के विरुद्ध सरलता से षड्यन्त्र नहीं हो सकता। मैकियावेली का यह विश्वास है कि यदि यह भली प्रकार विदित है कि वह एक विलक्षण एवं उत्कृष्ट व्यक्ति है और उसकी प्रजा उसका सम्मान करती है तो उस पर बड़ी कठिनता से ही आक्रमण किया जा सकता है[३]।

मैकियावेली ने उन आक्रमणों के दो भेद किये हैं जो राजा पर हो सकते हैं:—(१) आन्तरिक षड्यंत्र और (२) वाह्य आक्रमण। इससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली भी क्रान्ति या विद्रोह को कोई वैध आधार नहीं देता है। परन्तु इस प्रकार के विद्रोह को एक वास्तविकता मानते हुए उसके विरुद्ध सुरक्षा के उपायों तथा षड्यंत्रकारी की स्थिति, उसकी सफलता या असफलता के मूल कारण आदि पर वह व्यापक एवं पर्याप्त प्रकाश डालता है।

मैकियावेली का यह विचार है कि शासक का उत्कृष्ट गुणवान् होना और प्रजा के तिरस्कार और घृणा का पात्र न होना उसकी सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि ऐसे शासक के विरुद्ध षड्यन्त्र करना सरल न होगा जनता के सम्मान और गौरव के अधिकारी शासक के विरुद्ध षड्यन्त्र होने की सम्भावना बहुत कम होती है और शासक ऐसे षड्यन्त्रों से अपनी रक्षा सरलतापूर्वक कर सकता है। षड्यन्त्रकारी की वास्तविक स्थिति यह होती है कि वह विद्यमान शासक को हटाकर जनता को प्रसन्न करना चाहता है परन्तु यदि उसे परिणामस्वरूप प्रजा का रोष ही दीख पड़े तो वह षड्यन्त्र का मार्ग अपनाने का साहस ही न करेगा। दूसरे, षड्यंत्रकारी को अनन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और इसीलिए जैसा कि अनुभव से सिद्ध है अनेक षड्यन्त्रों में केवल विरले षड्यन्त्र ही इतिहास में सफल हो पाये हैं[४]। कारण यह है कि षड्यन्त्रकारी अकेला तो कार्य कर नहीं सकता, उसे उन लोगों में से अपने साथी चुनने होते हैं जिन्हें वह असंतुष्ट समझता है और असन्तुष्ट व्यक्ति को षड्यंत्रकारी के अपना मन्तव्य उसके सामने प्रकट करते ही आत्म-संतोष के लिए एक साधन अनायास प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह उक्त षड्यंत्र की निन्दा करके प्रत्येक लाभ अर्जित करने के विषय में सोच सकता है।

१—प्रिंस १९, १४५।
२—वही पृ०, १४६।
३—वही पृ०, १४६।
४—प्रिंस १९, १४८।

मैकियावेली ने अपने नितान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से परखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि षड्यन्त्र के मार्ग से होने वाले प्रत्याशित लाभों को तथा दूसरे संशयास्पद तथा खतरनाक परिणामों को देखते हुए जो व्यक्ति षड्यन्त्रकारी के साथ अपने वचन निभाये वह या तो कोई उसका विरला मित्र या फिर नरेश का कोई कट्टर शत्रु ही हो सकता है। उक्त तथ्यों के आधार पर मैकियावेली ने यह प्रतिपादित किया है कि यदि षड्यंत्रकारी और शासक दोनों की स्थिति की तुलना करें तो षड्यंत्रकारी के पक्ष में केवल भय, ईर्ष्या और स्वयं उसे आतंकित कर देने वाली दण्ड की आशंका ही होती है और कुछ नहीं। जबकि शासक के पक्ष में राज्य की महत्ता, कानून, मित्रों का संरक्षण और राज्य की शक्ति उसकी रक्षा के लिए होती है, इसलिए इनमें लोकमत की सद्भावना को और जोड़ देने पर उसके विरुद्ध षड्यंत्र करने की धृष्टता के लिए किसी व्यक्ति का तैयार होना असम्भव है, क्योंकि जहाँ षड्यंत्रकारी को सामान्यतया अपनी योजना को कार्यान्वित करने से पहले ही डरना होता है, लोकप्रिय नरेश के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में उसे अपनी दुरभिसन्धि के कार्यान्वित होने के पश्चात् के सम्भावित दुष्परिणामों से भी डरना पड़ेगा क्योंकि परिणाम में समाज का सम्पूर्ण जनसमुदाय उसका शत्रु होगा और उनसे वह बचकर नहीं जा सकता[1]।

बोलना का शासन करने वाले वेन्ती वोगली परिवार की लोकप्रियता का उदाहरण देते हुए मैकियावेली ने कहा है कि जनता ने उक्त वंश के नरेश एनीवाले वेन्तीवोगली की हत्या करने वाले 'केनेशी' को परिवार समेत मार डाला था। इसके पश्चात् जनता ने ही राजवंश के शिशु उत्तराधिकारी की रक्षा के लिए उसी वंश के एक नागरिक को फ्लोरेंस से लाकर उसे राज्य सौंप दिया था और यह व्यक्ति तब तक राज्य-कार्य चलाता रहा जब तक शिशु राजा मेसर जिओवानी, वयस्क होकर राज्य चलाने योग्य हुआ।

उक्त विवेचन के आधार पर मैकियावेली ने अपने शासक को आदेश दिया है कि जब तक शासित वर्ग शासक का सम्मान करता हो तब तक उसे षड्यंत्रों की बहुत थोड़ी परवाह करनी चाहिए। परन्तु जब जनता उसके विरुद्ध हो, उसे प्रत्येक बात और व्यक्ति से डरना चाहिए। इसीलिए मैकियावेली शासक के सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य की ओर निर्देश करते हुए कहता है कि शासक को इस बात को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसकी जनता सन्तुष्ट और आश्वस्त रहे और उसके सामन्त हताश होकर कट्टर शत्रु न बन जायें। ऐसे ही शासक को मैकियावेली ने बुद्धिमान् माना है और ऐसे ही शासकों के राज्य को सुव्यवस्थित[2]।

हम यह देखते हैं कि मैकियावेली के द्वारा सुव्यवस्था (धर्म) की रक्षा के साथ शासक की सुरक्षा के सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला यह सिद्धान्त "धर्म एवं

१—प्रिंस १९, १४८।

२—प्रिंस १९, १४८-१४९।

हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः" (यदि धर्म की हत्या की जाती है तो धर्म उन्हें (इसकी हत्या करने वालों को) मार डालता है और धर्म ही उसकी रक्षा करने वालों की रक्षा करता है) इस महाभारतकार के मत से पूरी तरह मिलता है।

मैकियावेली ने इसी प्रसंग में अनेक रोमन सम्राटों के उदाहरण देते हुए इस प्रश्न की मीमांसा प्रस्तुत की है कि उनमें से अनेक सम्राटों के उदात्त जीवन बिताने और अनेक सद्गुणों से युक्त होने पर भी उन्हें उनकी ही प्रजा ने षड्यन्त्र करके क्यों मार डाला ? मैकियावेली के मत का विवेचन संक्षेप में और सारांश रूप से यों किया जा सकता है कि प्रायः वही शासक षड्यन्त्रों के द्वारा नष्ट हुए जो जन्म या शिक्षा के कारण महान् प्रभाव से युक्त नहीं थे तथा जो राज्य पर नये-नये अधिष्ठित होने के कारण अपने काल की जनता और सेना इन दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के महत्त्व को ठीक नहीं समझ पाये। वे सैनिकों को ही सन्तोष देने में लग गये। इसके लिए वे युद्धप्रिय, साहसी, क्रूर और बलपूर्वक प्रजा के धन का अपहरण करने वाले भी हो गये। उन्होंने अपनी शान्तिप्रिय और अ—महत्वाकांक्षी जनता को भी क्षति पहुंचाने की तनिक भी परवाह नहीं की। इसके अतिरिक्त मैकियावेली ने माना है कि शासक प्रायः किसी न किसी की घृणा का पात्र बनने से नहीं बच सकता, अतः सबसे पहले उसे यह देखना चाहिए कि कहीं सभी एवं प्रत्येक ही उससे घृणा न करने लगे। तो फिर उसे पूरे परिश्रम से ऐसे वर्ग की घृणा से बचना चाहिए जो सबसे अधिक शक्तिशाली हो। अतः जो रोमन शासक अनुभव के आधार पर किसी एक तत्त्व का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता में थे उन्होंने तत्परतापूर्वक प्रायः सेना या जनता का पक्ष लिया और यह उपाय वहीं तक लाभकर या हानिकर रहा जहाँ तक उनमें उस पक्ष पर अपना प्रभाव बनाये रखने की क्षमता या ज्ञान था।

इसके अतिरिक्त मैकियावेली का यह मत है कि ऐसी हत्याएं जिन्हें दृढ़-निश्चयी और हताश साहसी व्यक्ति जानबूझकर करते हैं, उनसे कोई नरेश बच नहीं सकता। क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो मरने से नहीं डरता ऐसी हत्या कर सकता है। परन्तु नरेश को ऐसे व्यक्तियों का कभी भी डर नहीं होना चाहिये क्योंकि वे विरले ही होते हैं। उसे केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उन लोगों को कोई गम्भीर आघात न पहुंचाये जिन्हें वह राज्य की सेवा में अपने समीप नियुक्त करे या जो लोग उसके चारों ओर रहते हों। इस विषय में महाभारतकार का वचन विचारणीय है जिसमें राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने सहायकों तथा अपने बीच केवल राजचिह्नों का ही अन्तर रखे। शेष धन-मान आदि की दृष्टि से उन्हें भी उसी प्रकार रखे जैसे वह स्वयं रहे।[२]

१–प्रिंस १९, १५५।
२–शान्ति ५७, २५–६।

षष्ठ अध्याय
राजा और उसका पद

- राज-संस्था की प्रभुता और शक्ति की न्याय्यता
- राज-संस्था की वस्तुस्थिति
- राजा की योग्यता
- राजा की शिक्षा
- राजा के कर्त्तव्य
- राजा की दिनचर्या
- राज-पद की प्राप्ति
- स्त्री-जाति का राज्य विषयक उत्तराधिकार
- राजा का राज्याभिषेक
- आदर्श राजा

षष्ठ अध्याय

राजा और उसका पद

१—राज-संस्था की प्रभुता एवं शक्ति की न्याय्यता—

राज-संस्था की जनसामान्य पर प्रभुता और शक्ति का न्याय्य आधार क्या है ? यह प्रश्न प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत अनेक जटिल प्रश्नों में से एक है। अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत मत-मतान्तर और सिद्धान्तों की परस्परविरोधी व्याख्याओं ने इसे और भी जटिल बना दिया है। राज्य के उद्गम और विकास के विषय में विवेचन प्रस्तुत करते हुए हम यह पहले ही कह चुके हैं[1] कि महाभारत में प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार राज्य एक सर्वथा हितकारी संस्था है और उसके विना मानवीय प्रगति एवं सुव्यवस्था की कल्पना संभव नहीं है क्योंकि मानव प्राणी के स्वभाव के अनुरूप एक ऐसी व्यवस्था शाश्वत आवश्यकता हैं जो मानव-व्यवहार का उचित नियन्त्रण और नियमन करती है। मानव जाति ने राज्य को अनिवार्य रूप से आवश्यक बुराई मानकर स्वीकार नहीं किया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में राज्य या राजा की अपेक्षा राजत्व अथवा राजसंस्था (अ० किंगशिप) की दृष्टि से यह विचार करना अपेक्षित है कि महाभारतकार ने राज-संस्था की प्रभुता और शक्ति के वैध और न्याय्य आधारों के रूप में जिन तर्कों को उपस्थित किया है। यद्यपि महाभारत शताब्दियों के विभिन्न हिन्दू विचारों का आकर ग्रन्थ है महाभारतकार का मन्तव्य राजपद की न्याय्यता के विषय में बड़ा स्पष्ट और असन्दिग्ध है। महाभारत में अर्थशास्त्र और धर्म-शास्त्रों की परम्परा के अनुरूप ही राजत्व की प्रभुता और शक्ति के लिए 'दण्ड' शव्द का प्रयोग किया गया है। अवंछित तत्त्वों का दमन करने के कारण (दमनात्) ही इसे दण्ड कहा गया है[2]। कहा गया है कि दण्ड ही प्रभु है जिस पर सब कुछ निर्भर (प्रतिष्ठित) है और सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड ही देवताओं और ऋषियों से लेकर पशुओं और पक्षियों तक सभी

१—दे० यही पुस्तक अ० ३

२—शान्ति १५, ८ यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥

द्रष्टव्य—मनु० ७, ११; ५, ९६–९७।

प्राणियों के लिए कल्याण का साधन है। युधिष्ठिर के उक्त मत का ही समर्थन करते हुए और उनमें दण्ड के स्वरूप के विषय में किए गये प्रश्न के उत्तर में पितामह भीष्म ने दण्ड को महान् देवता बतलाते हुए इसके अनेक रूपों, शस्त्रों, विविध स्वरूपों के अनुसार विविध नामों, और इसके अनेक तथा विविध गुणों का वर्णन करते हुए दण्ड को वस्तुतः देवाधिदेव नारायण का ही स्वरूप बतलाया है और कहा है कि यदि दण्ड की व्यवस्था न होती तो सब लोग एक दूसरे को नष्ट कर डालते। दण्ड के ही भय से मनुष्य आपस में मार-काट नहीं मचाते[1]। महाभारतकार का यह मत है कि दण्ड के द्वारा सुरक्षित प्रजाओं के द्वारा ही राजा फलता-फूलता है इसलिए दण्ड ही वस्तुतः सबका आधार है। भीष्म के वक्तव्य का सबसे महत्वपूर्ण भाग यह है जिसके द्वारा दण्ड, धर्म और राजा के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। कहा गया है कि जो राजा प्रिय और अप्रिय के प्रति पक्षपात न करके दण्ड का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए प्रजा की भली भांति रक्षा करता हैं, उसका वह कार्य केवल धर्म है[2]। यहीं शान्ति पर्व (अ० १२२) में कहा गया है कि दण्ड के अभाव में वर्णों और कर्तव्यों में संकरता फैलने लगी। कार्य-अकार्य, भोज्य-अभोज्य, पेय-अपेय का विवेक नष्ट होने लगा। यौन-सम्बन्ध अव्यवस्थित हो गये। अपनी और पराई सम्पत्ति का विचार न रहा और एक दूसरे की हिंसा पर उतारू हुए लोग एक दूसरे पर ऐसे झपटने लगे जैसे कुत्ते मांस के टुकड़े पर। बलवान् लोग दुर्बलों की हत्या करने लगे और सब जगह मर्यादा-हीनता फैल गई (निर्मर्यादमवर्तत)। तब कहीं पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के ही अवतार के रूप में दण्ड का प्रादुर्भाव हुआ। अन्त में कणिक भरद्वाज के शब्दों में महाभारतकार का यह मत स्पष्ट होता है कि राजा के लिए दण्ड का निरन्तर प्रयोग अतीव आवश्यक है क्योंकि दण्ड का उचित प्रयोग करने वाले राजा का प्रभाव और प्रताप सभी पर निरन्तर व्याप्त रहता है[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायपूर्वक कार्यान्वित की गई दण्ड-व्यवस्था[4] अर्थात् व्यवहार[5] के द्वारा धर्म के शासन की स्थापना करते हुए प्रजा की रक्षा करना, महाभारतकार के मत में राजा के शासकत्व का न्याय्य आधार हैं। इसी दण्डरूपी आधार के द्वारा न केवल शासित अपितु शासक भी मर्यादित होता है। शान्तिपर्व के १५ वें अध्याय में कहा गया है कि दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों में असंमोह (अव्यवस्था के निवारण) और अर्थ (धन-सम्पत्ति और मनुष्यों द्वारा आबाद पृथिवी) के संरक्षण के लिए स्थापित

१—शान्ति, १२१, ३४ 'न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद् दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर॥'

२—शान्ति १२१, ३५।

३—शान्त १३८, ७–८: दे० मनु० ७, १०२–३।

४—डा० एस० के० बेलवलकर, टिप्पणी शान्ति-पर्व-संस्करण।

५—'विगतः अवहारः (धर्मस्य लोपः) येन सः' ('धर्म का लोप न होने देने वाला')।

की गई है[१]। इसी दण्ड के द्वारा प्रजा का शासन होता है, दण्ड द्वारा ही सबकी रक्षा होती है। जब सब सो रहे होते हैं तो दण्ड ही जागता रहता है इसीलिए समझदार लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं[२]। दण्ड या धर्म की महत्ता और सर्व-प्रधानता पर हम पहले भी प्रकाश डाल चुके हैं। इसकी अवहेलना करने वाले शासक को शासकत्व का अधिकार नहीं रहता यह उसी वाक्य से स्पष्ट है जिसमें सज्जनों की रक्षा न करने वाले (अर्थात् दुष्टों का दमन करने में असमर्थ) प्रजा के धन का हरण करने वाले, अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करने वाले तथा नायकत्व करने में अयोग्य या असमर्थ राजकलि (शरण देने में असमर्थ) राजा को मार डालने का आदेश दिया गया है[३]।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि राजा के शासकत्त्व का आधार कदापि निरपेक्ष अथवा दिव्य होना संभव नहीं है। व्यवहार में वह सर्वथा सानुबन्ध और सापेक्ष रहा है।

दिव्य आधार—

वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों तथा अन्य स्रोतों की तरह महाभारत में भी राजा की दिव्य उत्पत्ति के संकेत प्राप्त होते हैं। मानवीय संस्थाओं में दिव्य उत्पत्ति का आरोप कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। भाषा जैसी प्राकृतिक उपलब्धियों की भी दिव्य उत्पत्ति की कल्पना प्राचीन काल में की गई है। इसे केवल महाभारतकाल की भावना को ध्यान में रखते हुए अर्थवाद ही मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा केवल राज-संस्था को महत्त्व देने के लिए ही किया गया है। अतः आचार्य वन्द्योपाध्याय का यह मत सर्वथा समीचीन है कि भारतीय समाज में राजा न तो दिव्यता का दावा कर सकता था और न उसके कोई विशेष दिव्य अधिकार ही थे[४]। उनका कहना है कि राजा की दिव्यता या दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता तब भली प्रकार प्रकट हो जाती है जब हम देख सकते हैं कि अनेक भारतीय तत्त्व-वेताओं ने निरंकुश और अत्याचारी शासकों के बहिष्कृत किए जाने या वध किए जाने का प्रतिपादन किया है[५]। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् मैसन-आरसैल का कहना है कि "राजसंस्था शुद्ध मानवीय संस्था है, और वह किसी दिव्य अधिकार का दावा नहीं करती। देवताओं और राजाओं में केवल सादृश्य का वर्णन है और उसमें भी प्रायः संसार के रक्षक वरुण और

१—शान्ति १५, १० 'असंमोहाय मर्त्यानां धर्म संरक्षणाय च'।
२—वही १५, २ 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥'
३—अनुशासन ३२—३३, शान्ति ९२—१९ वध्यो लोकस्य धर्मज्ञ'।
४—एन० सी० वद्योपाध्याय, 'हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज' पृ० ९४।
५—वही, पृ० २९४।

ऐश्वर्य के अवतार इन्द्र के साथ ही सादृश्य का वर्णन किया गया है[1]। इस विषय में डा० आल्टेकर का कहना है कि केवल धार्मिक और श्रेष्ठ राजा ही दिव्य माने जाते थे, जबकि बुरे और पापी राजाओं को राक्षस जैसे माना जाता था[2]। डा० शाम शास्त्री का यह स्पष्ट मत है कि "इतना सुनिश्चित है कि न तो वैदिक काल में और न कौटिल्य के काल में ही राजाओं की उत्पत्ति या दिव्य अधिकार की कभी कल्पना की गई थी[3]। परन्तु उक्त भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के मतों को अमरीकी विद्वान् स्पैल्मैन न तो समीचीन ही मानते हैं और न ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक ही। आचार्य ए०के० सेन न तो यहाँ तक कहा है कि वैदिक राजसंस्था एक मानवीय संस्था है और जब राजाओं का चुनाव होता है और उन्हें पदच्युत भी किया जाता है तो यह संस्था मानवीय के अतिरिक्त और हो भी क्या सकती है[4]। वास्तविकता यह है कि महाभारत में राजा की दिव्यता का प्रतिपादन करने वाले सैकडों वाक्यों[5] के होते हुए भी महाभारत के सिद्धान्त-पक्ष और ऐतिहासिक-पक्ष के सांगोपांग पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में महाभारत या अन्य ग्रन्थों में राजा की जिस दिव्यता की ओर संकेत किया गया है उसका अभिप्राय राजसंस्था की दिव्यता से है न कि व्यक्तिशः राजा की दिव्यता से। श्री सेन ने इसी अभिप्राय का समर्थन करते हुए कहा है कि इन सभी विचारों में एक ही भाव निहित है कि दिव्यता का सम्बन्ध राजसंस्था से है न कि राजा के व्यक्तित्त्व से, यह राजपद दिव्य आदेश के अनुसार पालन करने योग्य कर्त्तव्य है न कि उच्च दिव्य प्रभुता द्वारा सौंपा गया अधिकार। अन्यथा हम इस विचार की किस प्रकार व्याख्या करेंगे कि अधार्मिक राजा प्रजाओं के द्वारा संगठित होकर मार देने के योग्य है और वह वस्तुतः नरक में पड़ता है[6]।

परम्परागत रूढ़ विचारधाराओं को सुरक्षित रखते हुए भी महाभारत के तत्त्व-दर्शन में राजसंस्था की प्रभुता के आधार जैसे शास्त्रीय प्रश्नों के विषय में बड़े मौलिक और वैज्ञानिक विचार भी प्रस्तुत किए गये हैं जिनकी सराहना कोई भी समाजशास्त्री किए बिना न रहेगा। उदाहरण के लिए शान्ति पर्व के ८९ वें अध्याय में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है कि 'पितामह जो बाहुबल में एक समान हैं और गुणों में भी एक समान हैं उनमें कोई एक मनुष्य सबसे अधिक कैसे हो जाता है जो अन्य सब मनुष्यों पर शासन करने लगता है? उक्त मौलिक प्रश्न के उत्तर में

१—पी० मैसन, आरसेल, पृ० ९१।

२—आल्टेकर, पृ० ९२।

३—आर० शामशास्त्री, 'इवोल्यूशन आव् इण्डियन पालिटी', पृ० १४५।

४—ए० के० सेन, 'स्टडीज इन हिन्दू पौलिटिकल थोट', पृ० ५१।

५—दे० शान्ति पर्व ८९, ५९, १२९–३०, ६५, २९, ७२, २५। ५८, १५३, ९६, ९५–१००, ६७, ४०–२, ४३–४८; दे० अर्थ० १, ९; मनु० ७, ३, ४–७।

६—ए० के० सेन, हिन्दू पौलिटिकल थोट', पृ० ५७; दे० आल्टेकर, पृ० ९१।

पितामह भीष्म ने कहा है कि जिस प्रकार पैरों से चलने वाले प्राणी न चलने वाले प्राणियों को अपने उपयोग में लाते हैं, दाढ़ वाले जन्तु विना दाढ़ वाले जीवों को अपना आहार बना लेते हैं तथा क्रोध में भरे हुए बड़े-बड़े विषधर सांप दूसरे छोटे सांपों को खा जाते हैं (उसी प्राकृतिक नियम के अनुसार बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्यों पर एक सबल मनुष्य शासन करने लगता है।) इस प्रकार महाभारत में प्रतिबिम्बित राजसंस्था-विषयक विचारधारा के अनुसार राजा को न तो ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है और न स्वयं ईश्वर ही। सम्मानसूचक शब्दों और वाक्यों के द्वारा केवल राजपद के लिए आवश्यक सम्मान, आदर और पूजाभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है और वहाँ भी राजा के प्रजा-पालन के कर्त्तव्य पर ही बल दिया गया है। महाराज वेन की दिव्य उत्पत्ति का वर्णन और उनके विलासी और निरंकुश हो जाने पर ऋषियों के द्वारा उसका वध भी इसी बात को प्रमाणित करता है।[1]

राजत्व के दिव्य आधार का समर्थन करने वाले पाश्चात्य सिद्धान्तों की मौलिक विशेषताओं का अनुशीलन करने से महाभारतीय चिन्तन की वस्तुस्थिति और स्पष्ट हो जाती है। पश्चिम में विख्यात राजा के दिव्य अधिकार के सिद्धान्त के पूर्णतम स्वरूप का निर्देशन करते हुए महाशय फिगिस ने अधोलिखित चार विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया है। उनके अनुसार दिव्य अधिकार के सिद्धान्त की सबसे पहली विशेषता है :— (१) एकराजतन्त्र की दैवी विधान से प्रभूत संस्था होना; (२) जन्म-जात प्रभुत्व का किसी भी अवस्था में कदापि अवैध न होना अर्थात् किसी को भी किसी भी आधार पर योग्य या अयोग्य कैसे भी शासक को उसके शासकत्व के जन्मसिद्ध अधिकार को चुनौती देने का अधिकार प्राप्त न होना; (३) राज्य का केवल परमेश्वर के प्रति उत्तरदायी होना (अर्थात् इस नियम के अनुसार सीमित एकराजतन्त्र अपने आप में परस्पर विरोधी कल्पना है) तथा (४) परमेश्वर के आदेश के अनुसार राजा का किसी प्रकार प्रतिरोध न करना तथा आँख मूंदकर आज्ञा-पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य होना (अर्थात् किसी भी परिस्थिति में राजा का विरोध एक पाप है और ईश्वर के प्रकोप का कारण है, यदि राजा का विरोध एक पाप है और ईश्वर के प्रकोप का कारण है, यदि राजा भगवान् के कानून के विरुद्ध भी आज्ञाएँ प्रचारित करे तो उनका भी पालन करना धर्म है और राजाज्ञाओं के उल्लंघन के परिणामस्वरूप जो भी दण्ड मिले उसे धैर्यपूर्वक सहन करना प्रजा का धर्म है)। दिव्य अधिकार का यह सिद्धान्त यूरोप में अध्यात्म और राजनीति का घनिष्ठ मिश्रण के युग अर्थात् सोलहवीं और सतरहवीं शताब्दी में बहुत प्रचलित था[2]।

उक्त विशेषताओं पर समग्र रूप से दृष्टिपात करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा के दिव्य अधिकार का सिद्धान्त हिन्दू राजा के सन्दर्भ में आंशिक रूप से भी लागू नहीं होता।

१—शान्ति ५९।
२—जे० एन० फिगिस, 'दि डिवाइन राइट आव् किंग्स', (१९३४), पृ० ५-६।

हिन्दू राजतन्त्र की विशेषता—

हिन्दू राजतन्त्र को एकतन्त्र तो केवल नाम मात्र को ही कहा जा सकता है वस्तुतः उसमें धर्म और शासन के नियमों से राजा के बंधे हुए होने के कारण सीमित राजतन्त्र ही कहना अधिक उपयुक्त है। और इस प्रकार की व्यवस्था में दिव्य अधिकार की कल्पना करना भी असंगत है। महाभारत में प्राप्त सभी विचारों का सारांश देते हुए राजसत्ता की प्रभुता के दिव्य अधिकारों का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है। पहले तो राजा अपने शास्त्रीय वर्ण-धर्म का दास है, जिसके द्वारा वह अनेक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए वाध्य है और इन कर्त्तव्यों में उसका सबसे पहला और मुख्य कर्त्तव्य अपनी प्रजा के उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। दूसरे, अपनी जनता के ऊपर राजा की प्रभुता राज्य के प्रति सापेक्ष है, अतः जहाँ एक ओर ये राज्य के नागरिक कानून प्रजाओं के ऊपर उसके स्वामित्व का समर्थन करते हैं वहीं उसे उसी कानून के दण्ड-विधान के द्वारा प्रजा से भी अपेक्षाकृत अधिक दण्डनीय भी निर्धारित करते हैं। तीसरे, राजा केवल नैतिक और आध्यात्मिक पुरस्कार और दण्ड के द्वारा ही नहीं अपितु कर्म के अटल सिद्धान्त के अनुसार सबसे अधिक कठोरता पूर्वक वाध्य किया गया है कि वह प्रजा के पालन के अपने शास्त्रीय उत्तरदायित्व का पूर्ण रूप से निर्वाह करे। चौथे, पितामह भीष्म के अनुसार, अयोग्य असमर्थ या बुरे शासक के विरुद्ध विद्रोह करने या उसका प्रतिरोध करने का प्रजा को पूर्ण अधिकार है और अन्तिम एवं पाँचवें, ब्राह्मणों को अत्याचारी राजा के विरुद्ध प्रतिरोध या विद्रोह करने का अधिकार है क्योंकि (ब्राह्म शक्ति) ही क्षात्र शक्ति का स्रोत है। सारांश यह है कि महाभारत में प्रतिपादित भीष्म के तत्त्वदर्शन के अनुसार और मनु के अनुसार भी, यद्यपि राजा के वाहरी स्वरूप में उन्नत या भिन्न कोटि की दिव्यता का आरोप किया गया है तो भी राजा अपने वर्ण-धर्म और राष्ट्रीय संविधान दोनों के ही द्वारा अनिवार्य रूप से नियंत्रित है। यह नियंत्रण कर्म के सिद्धान्त के द्वारा और अधिक कठोर हो जाता है क्योंकि अपने कर्त्तव्य का पालन न करने पर राजा को नरक भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जनता के प्रतिरोध एवं विद्रोह का न्याय्य आधार उनका आत्मरक्षा का मौलिक अधिकार है जिसके अनुसार उनका सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र एवं राज्य के हित के लिए एक व्यक्ति को बलि दे देना सर्वथा युक्तिसंगत है और ब्राह्मण वर्ग के विद्रोह की न्याय्ता का आधार यह है कि वे उस ब्राह्म-शक्ति के प्रतिनिधि हैं जो सम्पूर्ण राजसत्ता या क्षात्र-शक्ति को जन्म देती है।

राजसंस्था की वस्तु-स्थिति—

हिन्दू राज्य में राजा का स्थान मूर्धन्य था। भारतीय विचारकों की दृष्टि में समाज और राज्य की स्थिति और समृद्धि के लिये दण्ड की मर्यादा के अनुसार एक शासन-व्यवस्था की अनिवार्य आवश्यकता थी। मनुष्यों को स्वधर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करने के लिए और चारों वर्णों और आश्रमों के धर्मों की रक्षा करते हुए

स्वधर्म का पालन न करने वालों को दण्ड देने के लिए तथा सभी के जीवन सम्मान और समृद्धि की सुव्यवस्था के लिये न्यायपूर्ण शासन की व्यवस्था करना राजा का शाश्वत धर्म कहा गया था[1]।

निरंकुशता का अभाव—

यहाँ यह स्मरणीय है कि राजा के लिये यह प्रतिज्ञा करना आवश्यक था कि वह दण्डनीति में प्रतिपादित किए गये शाश्वत धर्म का आंशिक रूप से पालन करेगा और कभी स्वेच्छाचारी या निरंकुश होकर शासन नहीं करेगा[2]। अपनी इस प्रतिज्ञा को भंग करने की दशा में स्वेच्छाचारी शासक स्वयं दण्ड का भागी होता था। महाभारत में राजा वेन के स्वेच्छाचारी और विलासी हो जाने पर ऋषियों द्वारा कुशाग्रों से उसका वध कर दिए जाने का उल्लेख इसी तथ्य का साक्षी है। राज्याभिषेक के अनुष्ठान के समय ऋत्विज के द्वारा अभिषिक्त होने वाले राजा की पीठ पर धीरे-धीरे डण्डे से आघात किए जाने का तात्पर्य में भी यही वतलाया गया है कि राजा दण्ड की मर्यादा से बाहर नहीं है[3]। इसके अतिरिक्त हिन्दू राजतन्त्र की अभिषेक पद्धति में अभिषेक की घोषणा के पश्चात् प्रायः सभी प्रकार की साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराग्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, सामन्तवादी तथा सार्वभौम आदि राजतन्त्रीय शासन प्रणालियों में अभिषिक्त राजा के द्वारा जो शपथ ली जाती थी उससे भी उसकी वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इस शपथ में राजा कहता था कि जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके वीच में सम्पूर्ण जीवनकाल में जो भी इष्टापूर्त्त (शुभकार्य) मैंने किए हो, वे सव नष्ट हो जायें और मैं अपने सव सुकृतों, आयु और पूजा से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपसे द्रोह करूँ।' यह शपथ राजा को अत्यन्त श्रद्धा के साथ लेनी होती थी[4]। उक्त उद्धरणों से राजा के राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व के भाव की अभिव्यक्ति होती है।

यद्यपि सामान्यतया राज्य के सात अंगों में राजा का ही स्थान सर्वोपरि माना जाता था, किन्तु महाभारत ही एक मात्र ऐसा प्रमाण-ग्रंथ है जिसमें राजा को भी केवल उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना जनता को। कहा गया है कि राजा का प्रथम शरीर है, तो प्रजा भी राजा के अप्रतिम शरीर हैं। राजा के बिना देश नहीं होता और देश (राज्य) के विना राजा नहीं होता। इसका अभिप्राय यही है कि राजा और राज्य की सत्ता एक दूसरे पर निर्भर होती है[5]। और इसीलिए राजा से अपेक्षा

१—शान्ति ५६, १५ तथा ५८, ११४।

२—शान्ति ५८, ११६ 'यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥'

३—शतपथ ५, ४, ४, ७।

४—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा पृ० ५४ पर अनूदित ऐतरेय ब्रा० ८, १५।

५—शान्ति ६७, ५९ 'राजा प्रजाना प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्'।

की जाती है कि वह दम, सत्य और सुहृद्भाव से प्रजा के हित के लिए शासन करें[1]। कौटिल्य ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रजा के सुख, प्रिय और हित में ही वस्तुतः राजा का अपना सुख, प्रिय और हित निहित होता है[2]। यह सिद्धान्त जहाँ एक ओर राजा को दण्डनीति के अनुकूल शाश्वत धर्म के अनुसार प्रजा के हित के लिए शासन करने के लिए वाध्य करते हुए उसकी संप्रभुता को सीमित करता था वहीं दूसरी ओर हिन्दू राज्य को सर्वहितकारी राज्य (अं० वेल्फेयर स्टेट) का स्वरूप भी प्रदान करता था।

नैतिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व—

राजा के उत्तरदायित्व और कृतित्व के महत्त्व के विषय में महाभारत में बड़े प्रशंसात्मक और महत्त्वपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ एक ओर यह कहा गया है कि सम्पूर्ण जनता के पुण्य का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है वहाँ दूसरी ओर उसे प्रजा में पाप और अत्याचार से युक्त आचरण करने वाले लोगों के कारण होने वाले अपुण्य का भी भागी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत-के अनुसार राजा समाज में विद्यमान अच्छाइयों और बुराइयों के लिए वैयक्तिक रूप से उत्तरदायी है।

उक्त उत्तरदायित्व का दार्शनिक आधार महाभारत का वह तत्त्वदर्शन है जिसके अनुसार माना जाता है कि मानव का स्वभाव ही अनुसरण करने का है। अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से राजा का यह पवित्र कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है कि वह आचरण का उदात्त आदर्श प्रस्तुत करे। कहा गया है कि 'श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो आचरण करता है अन्य लोग भी वही करते हैं। वह जिन आचरणों को प्रमाण बना देता है लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं[3]।' इससे यह स्पष्ट है कि अपनी इस स्थिति के कारण राजा वस्तुतः काल का कारण वन जाता है।

असैनिक आधार—

इस प्रकार राज-संस्था की महाभारत के काल की वस्तुस्थिति की परीक्षा करने पर उसका वड़ा विविध, जटिल और विकासशील रूप सामने आता है। प्रायः सभी परम्परागत मान्यताओं के सुन्दर उदाहरणों के अतिरिक्त प्रायः सभी सम्भव अपवादों के भी महाभारत के सैद्धान्तिक अथवा ऐतिहासिक पक्ष में कहीं न कहीं थोड़े बहुत उल्लिखित संकेत उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए जहाँ महाभारतीय परिस्थितियों और उस काल की अनिश्चित, संघर्षशील, विकासपरक दशाओं में एक ओर यह मानना आवश्यक है कि राजसंस्था का बहुत बड़ा आधार राजा का सैनिक व्यक्तित्व होता होगा। उसके उत्तरदायित्व को देखते हुए यह आवश्यक होता होगा कि राजा

१—शान्ति ६७, ६० 'नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन'।
२—अर्थशास्त्र १, १९।
३—भीष्म २७, २१ 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेत्तरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥'

स्वयं एक सैनिक और सेनापति के रूप में प्रतिभा सम्पन्न हो। महाभारत में अनेक राजाओं के शौर्य और पराक्रम का बड़े महत्त्व के साथ वर्णन किया गया है। आदि-पर्व में राजपद के तीन स्रोतों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा पद की प्राप्ति के लिए अच्छे कुल में जन्म, शूरता और सेना का नेतृत्व करने की प्रतिभा ये तीन ही हेतु होते हैं[1]। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि राजा की शूरता और सेनापतित्व का स्थान वस्तुतः कुल से भी अधिक माना गया है जिसे हम प्राचीन भारतीय परिस्थितियों में सर्वथा स्वाभाविक भी कह सकते हैं। परन्तु महाभारत में ऐसे उदाहरणों और उद्धरणों की कमी नहीं है जिनसे यह सिद्ध होता है कि महाभारतकाल तक भारत में राजसंस्था की वैध संप्रभुता इतनी स्थिरता के साथ प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि कई बार तो अव्यस्क वालक भी राजपद पर अभिषिक्त किए जाते थे। परिक्षित् की मृत्यु के पश्चात् मन्त्रिगण, पौरों और जानपदों (जनाः) ने एकत्रित होकर उसके पुत्र जनमेजय को राजा वना दिया जाता था। चित्रांगद की मृत्यु के पश्चात् विचित्रवीर्य ने राजपद ग्रहण किया था और राज-माता सत्यवती की आज्ञाओं के अनुसार भीष्म ही राजकार्य चलाते थे। अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छे सेनापतित्व के गुणों से युक्त होने पर भी अर्जुन और भीम आदि वड़े भाई और सम्राट् युधिष्ठिर की आज्ञाओं का पालन करते थे। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले पाण्डव पक्ष की सेना के लिए महाराज युधिष्ठिर ने और कौरव पक्ष के लिये दुर्योधन ने प्रमुख योद्धाओं और मन्त्रियों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से भरी हुई राजसभाओं में योग्य और सुसम्मत सेनापतियों को मनोनीत किया था। शान्ति पर्व में वालक राजा की भी अवहेलना न करने और उसको देवता समान पूजा और श्रद्धाभाव से देखने पर वल दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दू राजसंस्था का स्वरूप महाभारत में निरा सैनिक नहीं है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि राजपद के उत्तरदायित्वों का योग्यता और सफलतापूर्वक निर्वाह करने के लिए महाभारतकार ने राजा के निर्भयता, शूरवीरता और प्रहार करने की कुशलता जैसे गुणों को अतीव आवश्यक वताया है। परन्तु साथ ही अनृशंसता, जितेन्द्रियता वात्सल्य और संविभाजन (संविभक्तारम्) अर्थात् दानशीलता आदि को भी अनिवार्य माना है। राजा के न्याय-व्यवरथा और कूटनीति सम्वन्धी विशेप उत्तरदायित्वों तथा अन्य ऐसे ही कर्त्तव्यों के कारण उसके व्यक्तित्व में जिन गुणों का होना आवश्यक वतलाया गया है, उन्हें देखते हुए कई एक विद्वानों ने तो उन्हें अतीव आदर्शवादी और अतिमानवीय तक कह डाला है[2]।

यद्यपि इस चित्र के उस दूसरे पहलू की ओर हम दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते जो उन आख्यानों के अनुशीलन के द्वारा सामने आता है जिनमें अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो उपर्युक्त उदार गुणों की अपेक्षा अनेक मानवीय और किसी सीमा

१—आदि १३६, ३५।
२—डा० स्पैलमैन, पृ० ४३ 'राजपद की योग्यताएं।

तक राक्षसी दुर्गुणों से युक्त थे और जिन्हें निरे अपवाद कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। दैवी और आसुरी प्रकृतियाँ मानव-स्वभाव की कठोर सत्यताएं हैं। परम्परागत राजधर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी होकर राजशक्ति का जनहित के विरुद्ध प्रयोग करने वाले अनेक राजाओं और राजपुत्रों के उदाहरण महाभारत में उपलब्ध हैं। इन उदाहरणों में नहुष के द्वारा ऋषियों और विद्वान् ब्राह्मणों को घोड़े की तरह अपने रथ में जुतवाने और अन्य अन्यायपूर्ण कार्य करने के परिणामस्वरूप उनके शाप के कारण उसका हजारों वर्षों तक सांप की योनि में रहना, राजा के द्वारा वसिष्ठ-पुत्र शक्ति पर कोड़े से आघात करने के कारण ब्राह्मण के शाप से ही उसका राक्षस हो जाना, राजा दुर्योधन और दुःशासन और कर्ण आदि उसके मित्रों का अपने अन्यायपूर्ण कार्यों के परिणाम-स्वरूप दुःखद अन्त होना आदि के द्वारा यह तो सिद्ध होता है कि महाभारतकार के राजनीतिक तत्त्वदर्शन के अपवाद के रूप में ही ऐसे निरंकुश राजाओं के अस्तित्व को माना जाना चाहिए और इसीलिए उनके विनाश का वर्णन सर्वत्र प्रस्तुत भी किया गया है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में उस काल में भी जिसका प्रतिनिधित्व महाभारत के द्वारा होता हैं अनेक स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजा भी होते थे। हो सकता है कि वैदिक काल से ही राजनीतिक दृष्टि से सुसंगठित और स्थानीय स्वशासन का उपभोग करने वाले जनपदों की जागरूक और सशक्त जनता के गणतंत्रात्मक संस्थाओं की अभ्यस्त होने के कारण उन जनपदों में निरंकुश, अनुत्तरदायी एवं स्वेच्छाचारी राजसंस्था का पनपना उतना सरलतापूर्वक संभव न रहा हो जितना कुछेक अपेक्षाकृत छोटे नये और कम विकसित राजतंत्रों में क्योंकि राजाओं की जिस प्रकार निरंकुशता के नृशंसतापूर्ण कुछेक उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उक्त प्रकार का व्यवहार परम्परागत, सुसंगठित, वैध शासन का संचालन करने वाले शासकों के लिए संभव नहीं रहा होगा।

महाभारत में राजा के लिए नैतिकता और न्याय के उदात्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन सामान्यतया उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार जनसामान्य के लिए सामाजिक नैतिकता के नियमों और न्याय की अपेक्षाओं का निर्वाह करने के लिए अपनी वरिष्ठ स्थिति के कारण राजा और अधिक बाध्य है। राजा के अनैतिक और चरित्र भ्रष्ट होने पर या उसके अधिकारियों के वैसा होने पर संपूर्ण समाज में अनैतिकता और भ्रष्टाचार का फैल जाना स्वाभाविक है ऐसी स्थिति में समाज में नैतिकता, चारित्र्य और देशभक्ति की कल्पना भला कैसे की जा सकती है। तो क्या महाभारत का उक्त नैतिक दृष्टिकोण राजनीतिक दृष्टि से अव्यावहारिक है? या नैतिकता का यह राजसंस्था पर आरोप कोरा आदर्शवाद है और अनैसर्गिक एवं अनैतिहासिक है? बात ऐसी नहीं है। वस्तुतः महाभारतकाल जैसे संघर्षपूर्ण और जटिल राजनीतिक जीवन के युग में 'मैकियावेली' की सी कूटनीतिक आचरण पद्धति की आवश्यकता अपेक्षाकृत और अधिक रही होगी। महाभारत में स्पष्ट शब्दों में

बल की अपेक्षा बुद्धि 'नीति' को कहीं अधिक प्रबल और सफल माना गया है और महाभारत के प्रणेताओं ने अनेक स्थलों पर उस नीति का प्रतिपादन भी किया है जो लगभग मैकियावेली की नीति के ही सदृश हैं। परन्तु वह सभी अनैतिक और कूटनीतिक आचरण केवल 'आपद्धर्म' के रूप में प्रतिपादित किए गये हैं। आपद्धर्म के रूप में राज्य की रक्षा के लिये राजा को येन केन प्रकारेण किसी भी नीति से अपना उद्देश्य पूर्ण करने और राज्य की प्रगति के मार्ग के कण्टकों (शत्रुओं) का उन्मूलन करने का आदेश दिया गया है। कहा गया हैं कि महान् राज्यलक्ष्मी की उपलब्धि के लिए दूसरों के मर्म का छेदना, दारुण कर्म करना और मछुवे की तरह हत्या करना अनिवार्य है उसके बिना कार्य नहीं चल सकता[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पहलुओं की दृष्टि से विचार करने पर महाभारतकार और मैकियावेली के राजसंस्था की नैतिकता के विषय में विचार पर्याप्त सादृश्य से युक्त हैं। अन्तर केवल इतना है की नैतिकता के द्वारा अननुज्ञात जिन नीतियों को मैकियावेली राजनीतिक नैतिकता का आवश्यक और अवश्यपालनीय अंग मान लेते हैं उन्हें महाभारतकार ने केवल आपद्धर्म के रूप में ही अपनाने की सलाह दी है[2]।

राजा की योग्यता–

महाभारतकार के मत में राज्य एक महान् तन्त्र है[3] और उसका संचालन करने का भार वहन करने का उत्तरदायित्व जिस व्यक्ति के कंधों पर हो, उसमें उन अनेक सद्गुणों का होना आवश्यक है जो उसे अपने पद के लिए अपेक्षित योग्यता प्रदान करते हों। महाभारतकार ने राज धर्म का प्रतिपादन करते हुए राजा को योग्य शासक बनने के लिए आवश्यक गुणों को धारण करने और संभावित राज-दोषों का निराकरण करने का आदेश दिया है। शान्ति[4] पर्व में कहा गया है कि पराक्रमी, सत्यवादी, क्षमाशील अपने मन को वश में रखने वाला, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला, शास्त्रों के सिद्धान्तों का निश्चयात्मक ज्ञान रखने वाला धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रयत्न में लगा हुआ, तीनों वेदों का जानने वाला अपनी मंत्रणाओं को गुप्त रखने वाला तथा प्रजाओं की रक्षा करने वाला व्यक्ति ही राजा होने के योग्य है। इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि बुद्धिमानी, त्यागी, शत्रुओं की दुर्बलता जानने में चतुर, देखने में सुन्दर सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला, शीघ्र निर्णय तथा कार्य करने में समर्थ, आश्रितों पर कृपा करने वाला महामनस्वी, कोमल स्वभावयुक्त उद्योगी, कर्मठ,

---

१—शान्तिपर्वान्तर्गत 'आपद्धर्म'।
२—देखिए यही पुस्तक अ० ३
३—शान्ति ५८, २१ 'राज्यं हि सुमहत् तन्त्रम्'।
४—शान्ति ४६, १२ आदि।

तथा आत्म प्रशंसा से दूर रहने वाला राजा ही श्रेष्ठ है[1]। इसी अध्याय में राजा को शूरवीर और भक्त सहायकों की नियुक्ति के विषय में यह उपदेश दिया गया है कि वह स्वयं गुणों और भोगों तथा ऐश्वर्य में अपने सहायकों के समान ही रहे केवल राजोचित छत्र, धारण करना और आज्ञा देना ये ही दो अतिरिक्त विशेषताएँ उसमें होनी चाहिएँ। इन सहायों के गुणों में भी उनका कुलीन होना, नीरोगता, शिष्टता, शिष्टों से सम्बन्ध, अपने मान की रक्षा करना किन्तु दूसरों का अपमान न करना, धर्म परायण, विद्वान्, लोक-व्यवहार के ज्ञाता और शत्रुओं की गतिविधि पर दृष्टि रखने वाले होना, साधु होना और पर्वतों के समान अटल रहने वाले होना आदि आवश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त आगे ७० वें अध्याय में उन ३६ गुणों का वर्णन किया गया है जिन्हें आचरण में क्रियान्वित करते हुए दया और उदारता आदि गुणों से युक्त शासक उत्कर्ष लाभ कर सकता है। इन गुणों के लिए आवश्यक विनय (अनुशासन) और शिक्षा का वर्णन करते हुए अगले परिच्छेद में हम उनका वर्णन करेंगे। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि डा० स्लैमैन जैसे आधुनिकतम भारत-विद्या-विशारद ने भी इसी प्रकार के कौटिल्य के द्वारा वर्णित राजा के अपेक्षित गुणों को उद्धृत करते हुए यहाँ तक कहा है कि प्राचीन भारत में शायद ही कभी यह राजकीय आदर्श प्राप्त हुआ हो क्योंकि ऐसे गुण तो शायद किसी अतिमानवीय व्यक्तित्व में ही दृष्टिगोचर होने संभव हैं। परन्तु मैकियावेली के द्वारा प्रिंस में उल्लिखित अनेक शासकों के गुणों और आचरणों पर विचार करते हुए हम यह निःसंकोच कह सकते हैं महाभारतकार द्वारा परिगणित उक्त गुण उत्कृष्टतम प्रशासकीय योग्यता के लिए नितान्त आवश्यक उपादान मानकर ही लिखे गये हैं न कि कोरे पुण्यवादी आदर्शवाद से प्रेरित होकर। मैकियावेली ने अपने ही काल के तथा अपने से पुराने काल के जिन ऐतिहासिक शासकों के व्यक्तित्वों और उनकी योग्यता का विश्लेषण किया है उससे यह स्पष्ट है कि अच्छे शासक में इन गुणों का समग्र रूप में नहीं तो आंशिक रूप में होना न केवल आवश्यक ही है अपितु सर्वथा संभव है और अनेक राजनीतिक व्यक्ति के द्वारा इन गुणों का सफल आचरण किया गया है। रोम के मार्कस, पर्टीनेक्स और एलैक्जैण्डर के विषय में मैकियावेली ने लिखा है कि वे विनयपूर्ण जीवन के अभ्यासी, न्यायप्रिय, क्रूरता से रहित, नितान्त मानवीय गुणों से युक्त और सौम्य थे। उसने मार्कस के सम्मानार्ह और स्पृहणीय गुणों को ही उसके सम्मानपूर्वक आजीवन शासन करने और अन्य शासकों की तरह षड्यन्त्रों का शिकार न होकर शान्तिपूर्वक दिवंगत होने के लिए उत्तरदायी माना है[2]। वह सेवरेस की अद्भुत वीरता और यशस्विता एण्टीनाइनस की शूरता, साहस, परिश्रम, सहिष्णुता त्याग (विलास का अभाव[3])ड्यूक (सीजर वोर्जिया) की बुद्धिमता, चाणाक्षता, कठोरता,

१—शान्ति ५७, ३०–३२।

२—प्रिंस १६, १५१।

३—वही १६, १५२–५६।

शक्ति, आत्म निर्भरता, प्रताप, आतंक और प्रभाव आदि की भूरि भूरि प्रशंसा करता है। मैकियावेली ने ड्यूक को एक आदर्श नरेश मानते हुए उसकी लोगों और सामन्तों से मैत्री और प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता, उसके अनुकरणीय और सम्मानीय नेतृत्व, उसकी कठोर न्यायप्रियता दयालुता और उदारता आदि की अतुल प्रशंसा की है[1]। इसके अतिरिक्त उसने अपने ही काल के स्पेन नरेश, एरागोन के फर्डीनेण्ड[2] के यशस्वी व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए उसके साहसिक कार्यों और उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करने के द्वारा एक साधारण नरेश से अपनी ख्याति और यश के द्वारा ईसाई जगत् के मूर्धन्य राजा होने का गौरव प्राप्त कर लेने की चर्चा की है। उसकी महत्ता का मूल उसका असाधारण विलक्षण व्यक्तित्व था, उसके अधिकार और प्रभुत्व की नींव उसकी शान्त नीति कुशलता थी। उसकी उपलब्धियों और योजनाओं की महानता, रणकुशलता तथा प्रतिष्ठा पर उसकी प्रजा मंत्र मुग्ध सी बनी रहती थी। मैकियावेली ने इसी प्रसंग में, मिल के मैसर वर्नावी का उदाहरण[3] देते हुए उसके विशिष्ट व्यक्तित्व, महता और विलक्षणता की चर्चा की है। वह चाहता है कि नरेश अपने आपको 'योग्यता' का संरक्षक वनाये और कला और उद्योग के क्षेत्रों में योग्य व्यक्तियों का यथोचित सम्मान करते हुए उन्हें पुरस्कृत करे[4]। मैकियावेली ने प्रिंस के २३ वें अध्याय में नरेश को सावधान और विवेचनशील रहकर चाटुकारों से अपनी रक्षा करने का आदेश दिया है। यहीं उसने यह भी घोषित किया है कि जो नरेश बुद्धिमान् नहीं है वह कभी अच्छी मंत्रणा प्राप्त नहीं कर सकता यदि दैवात् उसने अपने संपूर्ण कार्य किसी अतीव विलक्षण व्यक्ति को न सौंप रखे हों। उसका विश्वास है कि बुद्धिमान्, अनुभवी और विवेकशील व्यक्ति ही उचित परामर्श प्राप्त कर सकता है, उन परामर्शों को मिलाकर सामंजस्यपूर्ण निर्णय पर पहुंच सकता है और फिर उसे दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित कर सकता है[5]। उसके विचार में इटली के पतन का मुख्य कारण इटली की शक्ति का बुद्धि के क्षेत्र में बार बार पराजित होना है[6]। वह उसी नरेश को बुद्धिमान् मानता है जिसके चारों ओर के लोग योग्य और राजभक्त हों, क्योंकि उसे योग्य व्यक्तियों को पहचानना और उन्हें राजभक्त वनाये रखना आता है[7]। प्रिंस के २५ वें अध्याय में मैकियावेली ने शासक के लिए यह आवश्यक माना है कि वह अपनी पुरानी रीति नितियों का दास न होकर समय की वदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपनी

१—वही अ० ७।

२—वही अ० २१, १७३।

३—प्रिंस पृ० १७४।

४—वही १७७।

५—वही २३, १८७।

६—वही अ० २६।

७—वही अ० २२।

नीतियों और साधनों में बुद्धिमत्तापूर्वक शीघ्रता और साहस के साथ परिवर्तन करने में समर्थन होना चाहिए[1]। मैकियावेली ने १८ वें अध्याय में अपने नरेश को पूर्णतया क्षमाशील सत्यवादी, मानवीय, न्यायशील और धार्मिक होने तथा सत्य एवं साधुता के विरुद्ध आचरण न करने का तब तक आदेश दिया है जब तक वह वैसा न होने अर्थात् सत्य और साधुता के विरुद्ध आचरण करने को बाध्य ही न हो जाये[2]।

उक्त पंक्तियों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार और मैकियावेली दोनों के ही मत में शासक के व्यक्तित्व में जिन विशेष गुणों और अनुशासन की आवश्यकता मानी गई है उनका होना बिना विशेष प्रतिभा और शिक्षा के संभव नहीं है। कौटिल्य ने कहा है कि अशिक्षित और अविनीत व्यक्ति व्यसनों का शिकार बन जाता है क्योंकि वह उन व्यसनों के दोषों को नही पहचान पाता[3]। अतः राजा के लिए विशेष शिक्षा और अनुशासन तथा विनय से युक्त आचरण के द्वारा नैतिक गुणों को धारण करने की आवश्यकता है।

राजा की शिक्षा—

राजपद के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए महाभारतकार अनेक मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक गुणों का होना राजा के लिए आवश्यक बतलाया है। राजा की शिक्षा और उसके नैतिक अनुशासन की दृष्टि से महाभारत में अनेक संकेत यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।

शान्ति पर्व में कहा गया है कि भगवान् ब्रह्मा ने देवताओं, ऋषियों और मनुष्यों का कल्याण करने के लिए एक लाख अध्यायों का एक नीतिशास्त्र बनाया और यही शास्त्र दण्डनीति के नाम से विख्यात हुआ[4]। कहा गया है कि उस ग्रन्थ में तीनों वेदों, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं का निरूपण किया गया है। महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे अन्य धर्मशास्त्रों और नीति-ग्रन्थों की तुलना करते हुए इन्हीं चारों विद्याओं को राजा की शिक्षा के विषय माना है[5]। यद्यपि इन उक्तियों से यह प्रतीत होता है कि राजा के लिए केवल लौकिक विद्याओं का अध्ययन सुदूर प्राचीन काल में ही आवश्यक माना जाने लगा था परन्तु महाभारत के आदि पर्व में पाण्डवों की शिक्षा-दीक्षा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उन्होंने सम्पूर्ण वेदों और विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था[6]। वन पर्व के २७७ वें अध्याय में राज-

१—प्रिंस अ० २५, १९९।

२—अर्थ ८, ३, १–२।

३—प्रिंस १८।

४—शान्ति ५९, २९ से आगे।

५—हिस्टरी आव् धर्मशास्त्र पु० ३ पृ० ४८। यहीं पर संकेतित दे० मनु० ७, ४३; अर्थ० १, २ याज्ञ० १, ३११; काम० २, २; शुक्र १, १५२; अग्निपुराण २३८, ८।

६—आदि १९।

पुत्रों के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करने, रहस्य समेत वेदों का ज्ञान प्राप्त करने तथा साथ ही रहस्यपूर्ण धनुर्वेद का भी अध्ययन करने का उल्लेख किया गया है[1]। आदि पर्व में कहा गया है कि अभिमन्यु ने अपने पिता अर्जुन से १६ वर्ष की अवस्था होने से पहले ही धनुर्वेद के चारों भागों तथा दसों प्रकार का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। उसने सभी ब्रह्मास्त्र आदि दिव्य और खड्ग आदि मानवीय अस्त्रों की शिक्षा अर्जुन से ही ली थी। वह सभी शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञान, उनके कुशलतापूर्वक प्रयोग करने (सौष्ठवे) तथा सभी शारीरिक क्रियाओं की विशेषताओं के विषय में सैद्धान्तिक ज्ञान (आगमे) और उनके प्रयोग में अपने पिता अर्जुन के तुल्य ही प्रवीण हो गया था[2]। इसी प्रसंग में द्रौपदी के पाँचों पुत्रों (अर्थात् प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकर्म, शतानीक तथा श्रुतसेन) के द्वारा वेदाध्ययन करने और अर्जुन से सम्पूर्ण दिव्य और मानवीय अस्त्रों के विषय में पूर्ण ज्ञान ग्रहण कर लेने का उल्लेख किया गया है। अनुशासन पर्व में राजा की शिक्षा के विषयों में वेद, धनुर्वेद, हाथी घोड़े और रथ पर सवारी करना, युक्तिशास्त्र (अं० लौजिक), शब्दशास्त्र (व्याकरण) गान्धर्वशास्त्र (संगीत) सभी कलाओं, पुराण, इतिहास तथा आख्यान एवं महापुरुषों (महात्मनां) के चरित्रों का नित्य श्रवण आदि की गणना की गई है[3]। उक्त शिक्षा-प्रणाली का समर्थन प्राचीन भारत के ऐतिहासिक शिलालेखों के द्वारा भी होता है। इसके अतिरिक्त सभा पर्व (५, ७९) तथा शान्ति पर्व (२६३, ३) में वार्ताशास्त्र के महत्त्व पर विशेष बल दिया गया है। शान्ति पर्व के ६८ वें अध्याय में वार्ता को लोकजीवन का मूल कहा गया है और तीनों वेदों को लोक का धारण एवं पोषण करने वाला मानते हुए दोनों के अनुसार प्रजा की रक्षा करने के लिए राजा को प्रेरित किया गया है[4]। वन पर्व में वार्ता के अन्तर्गत वाणिज्य, खानें, व्यापार, कृषि तथा पशु पालन की चर्चा करते हुए उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है[5]। कौटिल्य के कोष और सेना के लिए वार्ता का महत्त्व स्वीकार करते हुए इसे राजा की समृद्धि का हेतु कहा है[6]। सभा पर्व के पाँचवें अध्याय में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त यन्त्र-सूत्रों तथा विषयोगों के ज्ञान की चर्चा भी की गई है[7]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों ही दृष्टियों से अपेक्षित विषयों का समावेश राजा की शिक्षा में आवश्यक माना गया है।

१—वन २७७, ४।

२—आदि २२१, ७२–४।

३—अनु० १०४, १४६–९।

४—शान्ति ६८, ३५।

५—वन पर्व १५०, ३०।

६—अर्थशास्त्र १, ४।

७—सभा ५, २१ तथा २२ धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम्।
······विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शकनाशनाः ॥

नैतिक शिक्षा—

प्राचीन भारत में ग्रन्थकारों ने राजा की लौकिक और आध्यात्मिक शिक्षा पर इतना लिखा है कि जिसके द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य अपने नरेश को राजर्षि बनाना है[1]। महाभारतकार को हम इस नियम का अपवाद नहीं कह सकते। हालांकि हम पहले ही कह चुके हैं कि महाभारतकाल में प्रायः उन्हीं विद्याओं और कलाओं की शिक्षा विशेषतः राजाओं और सामान्यतया सभी क्षत्रियों को दी जाती थी जो उनके वर्ण-धर्म का पालन करने में सबसे अधिक सहायक सिद्ध हों। इसके अतिरिक्त राजा के विनय (विद्वता और अनुशासन से पूर्ण सदाचार) पर बहुत ही अधिक बल महाभारत में दिया गया है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि (काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद और मात्सर्य इन) छहों आन्तरिक्त शत्रुओं को (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण) इन पाँचों इन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों में आसक्त न होने के द्वारा पाँचों विषयों को और (काम में आसक्ति के कारण किए गये आखेट, जुवा, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा, स्त्रियों में आसक्त होना, मदिरा पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना इन दस दोषों को तथा इसी प्रकार क्रोध के कारण उत्पन्न हुए चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोष दर्शन, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता इन आठों दोषों पर विजय प्राप्त कर लेने पर राजा को देवता भी नहीं जीत सकते फिर मनुष्य का तो कोई प्रश्न ही नहीं[2]। परन्तु इन दोषों के वश में होने से राजा और उसके राज्य का भी विनाश निश्चित है।

राजा जनमेजय (परिक्षित के पुत्र नहीं) का विनाश के कारण[3], तालजंघ का भी ब्राह्मण भृगुवों पर आक्रमण करने के कारण, हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन का अत्याचारी, लोभी तथा अहंकारी होने के कारण[4] वातापि का विनाश हर्ष के मद में अगस्त्य पर आक्रमण करने के कारण[5], रावण का स्त्री में आसक्ति के कारण[6], तथा इसी प्रकार दुर्योधन का अतिशय क्रोध, लोभ और अहंकार के कारण विनाश हुआ। उद्योग पर्व में इस प्रकार के १८ राजाओं के नाम गिनाये गये हैं जो स्वयं अपने और अपने सम्बन्धियों और मित्रों के भी विनाश के हेतु बने। महाभारत युद्ध को टालने की इच्छा से सन्धि के प्रयोजन से दूत बनकर जाने वाले कृष्ण को कोमल और मधुर वाक्यों द्वारा दुर्योधन के कारण होने वाली कुल के नाश की विभीषिका को कौरव सभा में प्रस्तुत

१—काणे पु० २, पृ० ५२।
२—शान्ति ६९।
३—वही, १५०, ३।
४—सभा २२, २४; वन ११५, १२; अनु० १५३, ३; शान्ति ४९, २५ आदि आश्वमेधिक २९।
५—वन ९६।
६—वन २९०।

करने की प्रार्थना करते हुए भीम ने उक्त ऐतिहासिक नाम गिनाये हैं। ये हैं:—हैहय वंश का मुदावर्त, नीपवंश का जनमेजय, तालजंघवंश का वहुल, कृमिवंश का उद्धत वसु, सुकीर देश का अजबिन्दु, सुराष्ट्र का रुषर्द्धिक, वलीह का अर्कज, चीन का धौतमूलक, विदेह का ह्यग्रीव, महौजस्वंश का वरयु, सुन्दर वंश का वाहु और दीप्तादा वंश का पुरूरवा, चेदि तथा मत्स्य प्रदेश का सहज, प्रवीर का वृषध्वज, चन्द्रवन्सों का धारण, मुकुटों का विगाहन तथा नन्दि वेगों का शम ये सभी कुलों एवं राज्यों का विनाश करवाने वाले नराधम कहे गये हैं।

इसके अतिरिक्त महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष के द्वारा प्रस्तुत नल और महाराज युधिष्ठिर के उदाहरणों के द्वारा महाभारतकार ने राजा को जुआ खेलने के व्यसन से दूर रहने के लिए प्रेरित किया है। कौटिल्य ने भी इन्हीं दोनों उदाहरणों की ओर संकेत करते हुए जुए को सवसे अधिक घातक व्यसन वतलाया है[1]। सभा पर्व में दुर्योधन के छोटे भाई विकर्ण ने द्यूत-सभा में द्रौपदी के हारे जाने को अवैध वतलाते हुए कहा है कि मृगया (शिकार खेलना) शराव पीना, जूआ खेलना और ग्राम्य (स्त्री भोग) में अतीव आसक्त होना ये चार राजाओं के व्यसन होते हैं श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है कि व्यक्ति धर्म का परित्याग करके ही इनमें प्रवृत्त होता है और इस प्रकार धर्म-त्याग कर व्यसन के वश में होकर की गई है और इस प्रकार धर्म-त्याग कर व्यसन के वश में होकर की गई क्रियाओं को लोक में मान्यता प्राप्त नहीं होती। महात्मा विदुर ने (उद्योग ३३) उक्त चारों व्यसनों के साथ वाक् पारुय, दण्डमारुष्य और अर्थदूषण इन तीनों को मिलाकर राजा को विनष्ट करने वाले सात दोष वतलाये हैं।

राजा की नैतिक शिक्षा पर महाभारतकार ने केवल नकारात्मक ढंग से विचार करते हुए निषेधात्मक रीति से उक्त व्यसनों से दूर रहने की ही राजा को प्रेरणा दी है, महाभारत में राजा को उसके कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए उचित आचरण करने की रचनात्मक शिक्षा भी हजारों वाक्यों में दी गई है। शान्ति पर्व में राजा को सफलता और यश प्रदान करने वाले छत्तीस गुणों का वर्णन किया गया है जिनका पालन करना राजा का कर्त्तव्य माना गया है।

राजा के कर्त्तव्य—

राजा को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इस विषय में महाभारत में सहस्रों वाक्यों में समग्र राजधर्म का प्रतिपादन किया गया है। महाभारत के अनुसार राजा का सवसे वड़ा कर्त्तव्य प्रजा का पालन करना है। शान्ति पर्व के ६८ वे अध्याय में वृहस्पति ने राजा कौसल नरेश वसुमना को यह वतलाया है कि

१—अर्थ० ८, ३।
२—सभा ६८, २०। 'मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम्'।
३—उद्योग ३३, ९२। 'स्त्रियोऽक्षा मृगयापानं वाक्पारुष्यं च पंचमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥'

राजा के प्रजापालन का कर्तव्य भली प्रकार निभाने पर ही प्रजाओं की स्थिति और समृद्धि निर्भर होती है[1]। शुक्राचार्य ने यही ५७ वें अध्याय में राजा के प्रजापालन रूप कर्तव्य के विषय में आदेश दिया है कि उसे सन्धि करने योग्य व्यक्तियों से सन्धि करनी चाहिए किन्तु विरोध के योग्य व्यक्तियों का डटकर विरोध करना चाहिए। इस प्रकार राज्य के वाहरी शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने के अतिरिक्त भीतरी शत्रुओं को भी कठोर दण्ड देकर राज्य के विपरीत आचरण करने से रोकना राजा का कर्तव्य है[2]। शुक्राचार्य का मत है कि "वाहरी आक्रान्ताओं और भीतरी चोर और लुटेरे आदि राष्ट्रद्रोहियों का विरोध न करने वाले राजा को भूमि उसी प्रकार निगल जाती है जैसे सांप बिल में रहने वाले चूहों को, यही दशा ज्ञानार्जन के लिए प्रवास न करने वाले ब्राह्मण की भी होती है[3]। इससे यह स्पष्ट है कि प्रजापालन के कर्तव्य का निर्वाह करते हुए वाहरी आक्रमणों और भीतरी अव्यवस्था से राज्य की रक्षा करना न केवल प्रजा की रक्षा के लिए अनिवार्यतया आवश्यक है अपुति राजा की आत्मरक्षा का भी यही एकमात्र साधन है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि राजा प्रजा की रक्षा के अपने उत्तरदायित्व में सदैव सर्तक और सावधान रहे। उसे भविष्य के लिए पूरी प्रतिकारात्मक तैयारी करनी चाहिए। वर्तमान की दृढ़तापूर्वक व्यवस्था करते हुए उसे यह जानना चाहिए कि अतीत की कौन सी समस्याओं का समाधान अभी करना है[4]। इस प्रकार उसे अपनी सम्वन्धित या असम्बन्धित आर्य अथवा अनार्य सभी प्रकार की प्रजा की रक्षा करना उसके धन का अपहरण न करना तथा शुद्ध और शौर्ययुक्त आचरण रखना चाहिए[5]। शान्ति पर्व में (५७ अध्याय) कहा गया है कि प्रजावर्ग की प्रसन्नता सत्य की रक्षा और व्यवहार अथवा न्याय-व्यवस्था की सरलता को स्थापित रखना राजा का सनातन कर्तव्य है[6]।

उक्त उद्धरणों में अभिव्यक्त प्रजा पालन के कर्तव्य का स्वरूप वस्तुतः नितान्त जटिल है। रक्षा के अनेक अनन्त विषयों में सैन्य-व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, सार्वजनिक शासन प्रवन्ध तथा राजा के निजी कुलगत प्रबन्ध आदि अनेक जटिल विभाग आ जाते हैं।

रक्षा के कर्तव्य का पालन करने में युद्ध का भी समावेश हो जाता है और सम्भवतः उसके परिणामस्वरूप मृत्यु का भी। अतः धर्मयुद्ध में लड़ना और वीरगति

१—मनु० ७, १४४।

२—शान्ति ५७, ४–५ 'सन्धेयानमिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय० आदि'।

३—शान्ति ५७, ३।

४—उद्योग ३९, ५५–६।

५—देखिए वन, १५०, ३७, उद्योग ७२, ४४, ७३, २७, ३७, २३, आश्वमेधिक १०, ४२ आदि। दे मनु० ७. १७८–९।

६—शान्ति ५७, ११।

प्राप्त करना क्षत्रिय का सर्वोत्तम आदर्श रहा है । स्त्रीपर्व में शूरवीर लोगों को युद्ध में वीरगति पाने पर स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि दक्षिणा से युक्त यज्ञों के द्वारा तथा तपस्याओं और ब्रह्मविद्या के द्वारा भी वैसा पद प्राप्त नहीं हो सकता[1] । उद्योग पर्व में कहा गया है कि युद्ध में पीठ न दिखाने वाले एवं सम्मुख रह कर समरांगण में मृत्यु पाने वाले व्यक्ति को योगी की तरह सूर्यलोक की प्राप्ति होती है[2] । शान्ति पर्व (२१, १९ तथा ७७, २८ और ३०) में विशेषकर गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा को महत्त्व दिया गया है । इसी प्रकार भीष्म पर्व (१७, ११) शल्य पर्व (५, ३२) एवं शान्ति पर्व (९७, २३ और २५) में भी क्षत्रिय के लिए युद्ध में शस्त्रास्त्रों के द्वारा प्राप्त हुई मृत्यु को ही प्रशंसनीय कहा गया है ।

महाभारत में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राजा न केवल बाहरी आक्रमणों से राज्य की रक्षा करे अपितु बाहरी शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करने के साथ साथ अपने प्रशासक अधिकारियों, दस्युओं, चोरों, राजद्रोहियों राजकुल के रानी, राजकुमार आदि सदस्यों तथा स्वयं अपने ही काम, क्रोध और लोभ आदि से भी प्रजा की रक्षा करे । वह विद्यार्थियों, विद्वान् ब्राह्मणों और यज्ञ करने वाले अनुष्ठाताओं का भी पोषण करे[3] । दीनों, अनाथों और विधवा स्त्रियों के कल्याण और आजीविका का प्रबन्ध करना उसका कर्तव्य है[4] । अपाहिज और अपंग लोगों का भी वह भरण-पोषण करे[5] । इन सभी कर्तव्यों के अतिरिक्त अनुशासन पर्व में राजा को यह आदेश दिया गया है कि अच्छे राजा को अपने राज्य में सभा-भवनों, प्याऊओं, तालावों. मन्दिरों और धर्मशालाओं का निर्माण करना चाहिए[6] ।

आचार-संहिता—

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अपने प्रशासनिक दायित्व को भली प्रकार निभाने के योग्य सामर्थ्य और पात्रता प्राप्त करने के लिए राजा को अनेक अवान्तर नैतिक और व्यावहारिक कर्तव्यों का पालन करना अपेक्षित है । महाभारतकार के द्वारा प्रस्तुत ये विवेचन आज भी प्रत्येक शासक के लिए आचार-संहिता के रूप में उपयोगी और पालनीय दिखाई देते हैं । अतः उनका संक्षेप में विवरण आवश्यक है ।

१—स्त्री पर्व २, १६–१८; दे० कौटिल्य १०, ३ ।

२—उद्योग ३३, ६१; (दे० मनु० ७, ८९) 'द्वाविभौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः'।।

३—दे० सभा० ५ ।

४—शान्ति ८६, २४ ।

५—सभा ५, १२४, दे० आदि ४९, ११, सभा १८, २४, विराट् १८, २४, शान्ति ७७, १८ ।

६—काणे ३, ६० पर उद्धृत ।

शान्ति पर्व में युधिष्ठिर पूछते हैं कि हे आचार के ज्ञाता पितामह। किस प्रकार का आचरण करने से राजा दोनों लोकों में भविष्य में सुख देने वाले अर्थों को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है[1]। इसके उत्तर में पितामह भीष्म कहते हैं[2] कि (१) धर्म का आचरण करें किन्तु कटुता न आने दे। (२) आस्तिक रहते हुए दूसरों के साथ प्रेम का वर्ताव न छोड़े। (३) अर्थ-संग्रह करे किन्तु क्रूरता से नहीं। (४) मर्यादाओं का पालन करते हुए विषयों को भोगे। (५) दीनता न लाते हुए प्रिय भाषण करे। (६) शूरवीर बने किन्तु बढ़ बढ़ कर बातें न बनावे। (७) दान दे, किन्तु अपात्र को नहीं। (८) साहसी (प्रगल्भः) हो, किन्तु निष्ठुर न हो। (९) दुष्टों (अश्रेष्ठ व्यक्तियों) से मेल (सन्धि) न करे। (१०) बन्धुओं के साथ लड़ाई-झगड़ा (विग्रह) न ठाने। (११) जो भक्त न हो उसे गुप्तचर न बनाये। (१२) किसी को पीड़ा पहुँचाये बिना अपना कार्य करे। (१३) असज्जनों को अपना अभीष्ट (अर्थम्) न बतलाये। (१४) अपने गुणों का स्वयं वर्णन न करे। (१५) सज्जन पुरुषों (साधुभ्यः) से उनका धन न छीने। (१६) नीच पुरुषों का आश्रय न ले। (१७) अपराध की अच्छी तरह जाँच पड़ताल किए बिना ही किसी को दण्ड न दे। (१८) गुप्त मंत्रणा को प्रकट न करे (न प्रकाशयेत्)। (१९) लोभियों को धन न दे। (२०) जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उन पर विश्वास न करे। (२१ ईर्ष्या रहित होकर स्त्रियों की रक्षा करे। (२२) शुद्ध रहे, किन्तु किसी से घृणा न करे। (२३) स्त्रियों का अधिक सेवन न करे। (२४) शुद्ध और स्वादिष्ट (मृष्टं) भोजन करे, अहित कर भोजन न करे। (२५) उद्दण्डता छोड़कर विनीत भाव से माननीय पुरुषों का आदर सत्कार करे। (२६) निष्कपट भाव से (अमायया) गुरुजनों की सेवा करे। (२७) दम्भहीन होकर देवताओं की पूजा करे। (२८) अनिन्दित (अकुत्सिताम्) धन-सम्पत्ति (श्रियम्) की कामना करे। (२९) प्रीति-अप्रीति का विचार छोड़कर सेवा करे। (३०) कार्यकुशल (दक्षः) हो किन्तु अवसर के ज्ञान से शून्य न हो। (३१) केवल पिंड छुड़ाने के लिए किसी को सान्त्वना या भरोसा न दे। (३२) किसी पर अनुग्रह करते समय आक्षेप न करे। (३३) बिना जाने पहचाने किसी पर प्रहार न करे। (३४) शत्रुओं को मारकर शोक न करे। (३५) क्रोध करे, किन्तु अकस्मात् नहीं। (३६) कोमल हो, किन्तु अपकार करने वालों के लिए नहीं। इन उपर्युक्त छतीस उपदेशों के पश्चात् महामना पितामह भीष्म ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि राज्य का शासन करने वाले राजा का कल्याण इसी प्रकार के आचरण पर निर्भर है अन्यथा इसके विपरीत आचरण करने वाले राजा का विकटतम भारी विपत्तियों में पड़ जाना निश्चित है[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा के आचरण के विषय में नितान्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से किए गये विचार और ऊहापोह के परिणामस्वरूप महाभारत

१—शान्ति ७०, १।
२—वही, ७० ३–११।
३—शान्ति ७०, १२।

काल में यह परम्परागत ज्ञान शास्त्रीय स्वरूप में संकलित हो गया था। महाभारत तो मानवीय आचारशास्त्र का विशालकाय आकरग्रंथ हैं। इन आचार-संहिताओं और नीति-नियमों के विषय में केवल 'आपद् धर्म पर्व' के अन्तर्गत राजा के लिए स्वीकार किए गये कुछेक अपवादों को छोड़कर शेष सभी मानव-सामान्य के लिए निर्धारित कर्त्तव्य राजा के भी कर्त्तव्य हैं हीं। उद्योग पर्व में महात्मा विदुर के इसी प्रकार के विशाल नीति-विवेचन में राजा के लिए विशेष रूप से कर्त्तव्य निर्धारण करने का प्रयास किया गया है[1]।

राजा की दिनचर्या

राजा के दैनिक कार्यों एवं उसके समय-विभाग के विषय में भी महाभारत में कतिपय संकेत प्राप्त होते हैं। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१, १९) मनुस्मृति (७, १४५-७, २१६–२६) याज्ञवल्क्यस्मृति (१, ३२७–३३३) शुक्रनीति (१, २७६–२८५) आदि की तरह महाभारत में विस्तृत और व्यापक नियमावली का निर्देश नहीं किया गया है तो भी यत्र तत्र उल्लिखित संकेतों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार का मत इस विषय में उक्त ग्रंथ के अनुरूप ही है। अनुशासन पर्व में राजा के अनेक नित्य कृत्यों में सर्वोपरि स्थान एवं महत्त्व का कृत्य (कृत्यतमम्) यह बतलाया गया है कि यदि वह अपना कल्याण चाहता है तो श्रोत्रिय ब्राह्मणों, वृद्ध पुरुषों; पौर-जानपदों एवं बहुश्रुत विद्वानों का प्रतिदिन अर्चन करे[2]। ठीक इसी प्रकार मनुस्मृति में राजा को आदेश दिया गया है कि वह प्रातःकाल ही सबसे पहले तीनों वेदों के ज्ञाता एवं बुद्धिमान् ब्राह्मणों का दर्शन करे और उनके कल्याणकारी निर्देशों के अनुसार ही आचरण करे। राजा से यह भी आशा की जाती थी कि वह प्रतिदिन जनता के समक्ष अपने आपको दिखाये अथवा दर्शन दिया करे[3]।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत के अनुसार राज्य एक महान् तंत्र है और इसलिए राजा को सतत जागरूक रहकर अपने लोकरंजन के धर्म का पालन करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है[4]। राजा के लिए यह आवश्यक है कि अपने मन के अनुकूल अपने हित की परवाह करने की अपेक्षा जो जो कार्य लोक-हित का ही उसी में प्रतिक्षण लगा रहे। उसकी स्थिति गर्भिणी स्त्री की तरह होनी चाहिए जो अपने मन के अनुकूल आचरण न करके सदैव अपने गर्भ के ही हित का चिन्तन करती है[5]। सभा पर्व में राजा से यह आशा की गई है कि वह प्रजा के अकल्याण या विपत्ति का समाचार सुनकर भी अन्तःपुर में ही सुखपूर्वक न सोता रहे। कहा गया है

१—उद्योग ३३, १०४–१२१।
२—अनुशासन ३३, २–८; दे० काणे २, ८०५–६; १३५–६।
३—सभा पर्व ५, ९०—दे० रामायण, अयोध्या १००, ५१।
४—शान्ति ५७, ११ 'लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः'।
५—शान्ति ५६, ४५–६; दे० शान्ति ९०, १ तथा ५; उद्योग ११८, १३–५।

कि राजा रात्रि के दूसरे और तीसरे पहरों में सोकर अन्तिम अर्थात् चौथे पहर में उठकर धर्म तथा अर्थ का चिन्तन करे। समयानुसार अपने कालज्ञ मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे और निरन्तर मनुष्यों के हित की बात सुने। सभा पर्व के उक्त समय-विभाग सम्बन्धी उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि महाभारत काल में राजा के लिए समय विभाग की कोई व्यवस्था नितान्त अज्ञात नहीं थी।

राजपद की प्राप्ति

राजा के अपेक्षित गुणों का वर्णन करते हुए हम यह कह चुके हैं कि अनेक उदात्त गुणों से भूषित, सत्कुलीन, शूर और पराक्रमी व्यक्ति ही राजा बनने के योग्य माने जाते थे। आदि पर्व में कुलीन, शूरवीर और सेना का नेतृत्व करने की क्षमता रखने वाले व्यक्तियों को राज्य का उचित अधिकारी घोषित किया गया है[1]। महाभारत युग में अपनी प्रशासन-क्षमता और बुद्धिमत्ता के साथ साथ शक्ति, प्रभुता और अदम्य साहस के धनी होने के कारण जनपदों का शासन सफलतापूर्वक चलाने वाले और जनता में समृद्धि, शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करने वाले योग्य (क्षत्रिय या क्षत्रियेतर) व्यक्तियों को हम राज-पद पर सुशोभित होते हुए देखते हैं[2]।

वंशानुसंक्रमित राज्य—

प्राचीन और मध्यकालीन भारत में सामान्यतया वंशानुक्रसंमित राजतन्त्र ही प्रायः प्रचलित शासन-पद्धति थी[3]। शायद ऐसा इसलिए था क्योंकि उस काल की जनता किसी व्यक्ति के पर्यावरण की अपेक्षा उसके रक्त-सम्बन्ध को ही अधिक महत्त्व देती थी या फिर यह समझा जाता होगा कि राज-पद के उत्तरदायित्व को निभाने के लिए जिन उदात्त और उच्च गुणों की अपेक्षा होती है, वे गुण किसी उच्च कुल से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति में ही भली प्रकार और अधिक मात्रा में विकसित हो सकते हैं। महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रायः सभी राजा, जिनका उल्लेख महाभारत में हुआ है, वंशानुसंक्रमित राज्य ही प्राप्त करके राजा बने। इस नियम के अपवाद के रूप में हम अङ्गराज कर्ण को ही पाते हैं[4] भगवान् कृष्ण के अन्धक-वृष्टि-संघ के गणमुख्य के रूप में[5] और अन्य अनेक उल्लिखित राक्षस राजाओं के शासकों[6] के रूप में किये गये वर्णनों से यह सिद्ध अवश्य होता है कि

१—आदि १३८।
२—दे० कर्ण, कृष्ण तथा अन्य राक्षस राजाओं के वर्णन।
३—काणे, ३, ३३, ८७।
४—दे० आदि, १३८; वन, २५३–४।
५—शान्ति १०७ तथा ८१।
६—पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येन्तराश्रिताः।
तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाह्लीकान्...... ॥ कर्ण, ४४, ७।

राजा का क्षत्रिय होना या वंशानुसंक्रमित होना कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक तथ्य नहीं था क्योंकि ऐसा होना राजनीति विज्ञान की दृष्टि से सम्भव भी नहीं है। परन्तु गणराज्यों और कुल राज्यों के विषय में अन्य धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं अधिक विस्तार से किए गये विवेचन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की उस काल की परिस्थितियों में गणतन्त्रीय तथा कुलतन्त्रीय शासन-पद्धतियों के प्रयोग उतने सफल नहीं हो सके थे जितने राजतन्त्रीय पद्धति के। वंशानुसंक्रमित एक राजतन्त्र की लोक प्रियता, प्रचार और वांछनीयता का आधार निश्चित रूप से कुछेक व्यावहारिक आवश्यकताएँ और अनुभव ही प्रतीत होते हैं। शान्तिपर्व में कहा गया है कि 'आन्तरिक कलहों के कारण (भेदमूल:) गणराज्यों का विनाश हो जाया करता है। मेरा विचार है कि अनेक शासकों के रहते शासन की नीतियों को गुप्त रखना कठिन हो जाता है। गणराज्य के सभी नागरिकों को राज्य की नीति सम्बन्धी मन्त्रणाओं का बतलाया या सुनाया जाना उचित नहीं होता; अपितु गणराज्य के मुख्य व्यक्तियों को ही मिलकर सम्पूर्ण राज्य का हित-साधन करना चाहिए; कुल-वृद्ध व्यक्ति कुलों में उत्पन्न हुए कलह और फूट की उपेक्षा कर देते हैं, उन्हें बढ़ावा देते हैं और इस प्रकार उस कुल और गोत्र का ही नाश नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण गणराज्य ही छिन्न-भिन्न और कलह (फूट) से ग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। गणराज्यों के लिए बाहरी आक्रमण या भय घातक नहीं होते; बाहरी भयों को असार मानकर केवल आन्तरिक भयों से ही गणराज्य की रक्षा को अधिक महत्त्व देना चाहिए। यद्यपि गणराज्यों के नागरिक जन्म और कुल के नाते सर्वथा समान (सदृशा:) होते हैं परन्तु वह सभी उद्योग (पराक्रम), बुद्धि, रूप और द्रव्य (धन) के क्षेत्र में उसी प्रकार समान नहीं होते। गणराज्यों के शत्रु इन्हीं भेदों का लाभ उठाकर आन्तरिक भेद और विघटन उत्पन्न कराकर अथवा रिश्वत देकर उनमें भेद उत्पन्न करा देते हैं। इसलिए गण-राज्यों के कल्याण का एकमात्र मार्ग (महत् शरणम्) आन्तरिक एकता या संगठन ही (संघातमेव) है[1]। यहीं ८१ वें अध्याय में महाभारतकार ने नारद के

१—भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥८
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः ॥२५
कुलेषु कलहा जाता कुलवृद्धैरुपेक्षिताः।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ॥
आभ्यन्तरभयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ शान्ति १०९, २७–३२।

मुख से श्रीकृष्ण को उपदेश दिलाते हुए कहा हैं कि 'हे कृष्ण तुम संघ के मुख्य (गणपति) हो, संघ (गणराज्य) का विनाश विघटन का कारण होता है, अतः तुम्हें गणपति के रूप में प्राप्त करके यह गणराज्य जिस प्रकार से भी विनाश से वच सके उस प्रकार का प्रयत्न करो।' गणराज्य के नेताओं के गुणों का वर्णन करते हुए महाभारतकार कहते हैं कि 'विलक्षण बुद्धि, सहिष्णुता, इन्द्रियों को वंश में रखना और धन के लोभ का त्याग किए विना कोई प्राज्ञ (अत्यन्त बुद्धिमान) नेता भी गणराज्य की रक्षा नहीं कर सकता'[1]। इस प्रकार महाभारतकार ने अनेक व्यक्तियों के शासन की दुर्बलताओं और दोषों पर अंगुली छुआते हुए यह वतलाया है कि अनेक व्यक्ति मन्त्रणाओं को गुप्त नहीं रख सकते और लोभ और ईर्ष्या के कारण रिश्वत (भ्रष्टाचार) और भेद के शिकार वनकर राज्य के विनाश के कारण वन जाते हैं। महाभारत में ही प्रस्तुत राजतन्त्रीय पद्धति की शासन-व्यवस्था के गुणों और दोषों के विवेचन[2] के साथ गणतन्त्रीय परिस्थितियों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछेक प्रशासनिक कठिनाइयों और ऐतिहासिक परिस्थितियों से विवश या बाध्य होकर ही उनके अनिवार्य परिणाम के रूप में राजतन्त्रीय शासन-पद्धति और उसमें भी जन्मजात उत्तराधिकार के नियम को प्रायः सार्वजनीन संस्था के रूप में इस काल में स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। राजा के औरस (सगे) और योग्य पुत्र राजगद्दी के अधिकारी माने जाते थे। यह परम्परा अनेक राज्यों में कुलधर्म के रूप में वद्धमूल हो चुकी थी। राजा का पुत्र (राजपुत्र) न होने के कारण ही स्वयं धृतराष्ट्र भी अपने पुत्र दुर्योधन को कुरुराज्य का वैध उत्तराधिकारी नहीं मानते थे। उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र ने महाराज पाण्डु के ज्येष्ठपुत्र युधिष्ठिर के ही राज्य का वैध उत्तराधिकारी होने के कारण विवशता और निराशा के करुण स्वरों में दुर्योधन को समझाते हुए कहा है कि 'मुझ अभागे के पुत्र होकर तुम राज्य की इच्छा क्यों करते हो। तुम राजपुत्र नहीं हो इसलिए राज्य के स्वामी न होने पर भी (अराजपुत्रो हि अस्वामी) दूसरे (युधिष्ठिर) के अधिकार (स्वम्) को क्यों छीनना चाहते हो[3]? पाण्डु की मृत्यु के वाद यह राज्य उसके पुत्रों का है।[4]

१—भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु॥
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥ शान्ति ८१, २५–६।

२—दे० यही पुस्तक, अ० ५।

३—मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि॥ उद्योग, १४९, ३१।

४—पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन्नृपः।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिन्दम॥ वही, १४९, ३०॥

(शेष पृष्ठ २३८ पर)

ज्येष्ठाधिकार की परम्परा--

इसमें कोई सन्देह होना सम्भव नहीं है कि महाभारत में वर्णित राजतन्त्र पद्धति में राजा के उत्तराधिकारी का निर्णय सामान्यतया ज्येष्ठाधिकार के नियम के अनुसार किया जाता था। महाभारत की मूलकथा में, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् महाभारत-युद्ध का, ज्येष्ठाधिकार के आधार पर राज्याधिकार के विषय में उठा हुआ विवाद ही मूल कारण है[1]। हम कह चुके हैं कि स्वयं महाराज धृतराष्ट्र ने दिवंगत राजा पाण्डु के ज्येष्ठपुत्र युधिष्ठिर को राज्य का वैध उत्तराधिकारी बतलाते हुए दुर्योधन की स्वयं सिंहासन पर आसीन होने की इच्छा को अनधिकार चेष्टा कहा था। परन्तु लोभ और अहंकार तथा ईर्ष्या के कारण वह युधिष्ठिर के उत्तराधिकार को मान्यता देने को कभी तैयार नहीं हुआ। रामायण में भी राजा के पुत्र होने और ज्येष्ठ होने के कारण राम को यौव राज्य का अधिकारी बतलाया गया है[2]। बौद्ध साहित्य में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि राज्य के उत्तराधिकार के विषय में राजा के ज्येष्ठ पुत्र के द्वारा ही राज्य प्राप्त करने की प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी[3]।

उस काल में ज्येष्ठाधिकार की प्रथा इतनी प्राचीन और सर्वमान्य हो चुकी थी कि वह सामाजिक नैतिकता का एक अभिन्न अंग बन चुकी थी। यह बात उद्योगपर्व में श्रीकृष्ण को कहे गये कर्ण के वाक्यों से भली प्रकार पुष्ट होती हैं। कर्ण ने कहा है कि 'यदि संयतेन्द्रिय धर्मात्मा युधिष्ठिर को यह पता चल गया कि कुन्ती का सबसे बड़ा पुत्र मैं हूँ तो वह कभी भी राज्य ग्रहण नहीं करेंगे। और यदि मुझे यह महान् राज्य मिल भी जाये तो मैं उसे दुर्योधन को ही दे दूंगा। अतः आप यह बात

(पृष्ठ २३७ का शेष)

दे० रामायण अयोध्याकाण्ड, ७६, ५ 'राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् तथा किष्किन्धाकाण्ड, ६, ३१।

दे० वैदिककाल में शत० ब्रा० १२, ६, ३, ३ में वर्णित सृंजय नरेश एवं दुष्टऋतु पौंसायन का दस पीढ़ियों से चला आया राज्य; श० ब्रा० १२, ८, ३, १६; ऋग्वेद १, ५, ६; तै० सं० २, २, ११, ५।

१—डा० स्पैलमैन, पृ० ५७

२—रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोर्हति। द्रष्टव्य—अयोध्या० ८, १४।
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः। वही ७६, ७।

३—दे० महावंश, ३६, तेरह राजा; मज्झिम निकाय, २, ८३; देवधम्मजातक ६; मखादेव० ६; महासिलव० ५१; असिलक्खन० १२६; चुल्ल पदुम० १९३; थुस० ३३८; मूसिक० ३७३, कुस० ५३१, कह्ण्डहाल० ५५४ (डा० स्पैलमैन द्वारा पृ० ५७–८ पर–उद्धृत)।

गुप्त ही रखें कि मैं कुन्ती का पुत्र हूँ।[1]

इसी से एक बात और भी स्पष्ट हो जाती हैं कि न केवल पिता के ज्येष्ठ पुत्र ही अपितु माता के ज्येष्ठ पुत्र भी राज्य के वैध उत्तराधिकारी माने जाते थे। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट ही हो गया है कि राज्य का एक व्यक्ति से दूसरों के प्रति हस्तान्तरण संभव था। वह अपरिवर्तनीय अधिकार नहीं माना जाता था।

महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष में उक्त ज्येष्ठाधिकार के नियम के अनेक अपवाद भी प्राप्त होते हैं मूलकथा के प्रमुख पात्रों में से एक धृतराष्ट्र का उदाहरण इसका ज्वलन्त प्रमाण है उद्योग-पर्व में धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बतलाया है कि 'मैं ज्येष्ठ होते हुए भी हीनांग (अंधा) होने के कारण राज्य से वंचित हो गया और बुद्धिमान पाण्डु ने महाराज विचित्रवीर्य (धृतराष्ट्र और पाण्डु के पिता) की मृत्यु के बाद स्वयं राज्यग्रहण किया क्योंकि कहा जाता है कि देवता हीनांग राजा का अभिनन्दन नहीं करते। धृतराष्ट्र ने अपने पितामह शान्तनु के राजा बनने की कथा सुनाते हुए यह भी बतलाया है कि 'महाराज शान्तनु भी अपने पिता प्रतीप के ज्येष्ठ पुत्र नहीं थे। सबसे बड़े थे देवापि, उनसे छोटे वाह्लीक और सबसे छोटे थे शान्तनु। राजा प्रतीप स्वयं देवापि का राज्याभिषेक करना चाहते थे, परन्तु पौर जानपदों और ब्राह्मणों ने उनका राज्याभिषेक रुकवा दिया क्योंकि वे चर्मरोग से पीडित थे। इससे निर्विण्ण होकर वे वन में चले गये। उनसे छोटे वाह्लीक राज्य छोड़कर और शान्तनु को राज्य ग्रहण करने की अनुमति देकर अपने मामा के यहां चले गये और इस प्रकार लोक विख्यात शान्तनु ने हस्तिनापुर राज्य पाया'[2]। इसी अध्याय में पहले ज्येष्ठ होते हुए भी राज्य के अधिकारी माने जाने तथा छोटे होते भी राज्य के वैध अधिकार माने जाने के विषय में कहा गया है 'कि यदि पुत्र ज्येष्ठ होते हुए भी उद्दण्ड और आज्ञा-पालन न करने वाला (उत्सिक्तः) हो तो वह राज्य का अधिकारी नहीं होता, कौटिल्य ने भी कहा है कि अशिक्षित एवं दुर्बुद्धि[3] एक पुत्र को राजा कभी राज्य पर स्थापित न करे'[4]। ठीक इसी नियम के अनुसार, कहा गया है, नहुष के पुत्र पदाति ने भी अपने सबसे बड़े पुत्र बलवान् पराक्रमी और शूरवीर यदु को अभिमानी और अपनी आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाला दुर्विनीत (दुर्बुद्धि) होने के कारण गान्धार भेज दिया था और उसे राज्य के उत्तराधिकार से वंचित करके अपने पाँच पुत्रों में सबसे छोटे किन्तु अपने वशवर्ती एवं आज्ञापालक पुत्र यदु को

१—यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति॥ उद्योग, १४१, २१,
दे० उद्योग १४१, १९, २०, २२, २३ आदि।

२—उद्योग, १४९।

३—अथ ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते।

४—न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत् अर्थशास्त्र; १, १७, ५३।

हस्तिनापुर का राज्य दिया। इसी प्रकार सगर के पुत्र असमंजस को भी ज्येष्ठ होते हुए भी राज्य से वंचित किए जाने का का वर्णन सभा-पर्व में किया गया है। कहा गया है कि सगर ने नागरिकों के हित की कामना से अपसे ज्येष्ठ पुत्र असमंजस का परित्याग कर दिया[1]। सुना जाता है कि क्रूर असमंजस प्रजा के बालकों को सरयू में फेंक देता था और उन्हें डूबते देखकर प्रसन्न होता था। रामायण (बालकाड ४२, १) में लिखा है कि सगर की मृत्यु के बाद प्रजाजनों ने (प्रकृतिजनाः) अत्यन्त धार्मिक (सुधार्मिकम्) (असमंजस के पुत्र) अंशुमान् को अपना राजा बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में अशिक्षित, दुर्बुद्धि, अविनीत आज्ञापालन न क ने वाले तथा हीनांग व्यक्तियों को ज्येष्ठ राजपुत्र होने पर भी राज्य के अधिकारी नहीं माना जाता था। यूनानी इतिहासकारों ने भी प्राचीन भारत की इसी प्रकार की उत्तराधिकार-प्रणाली की ओर संकेत किया है[2]।

परन्तु मानसिक और शारीरिक गुणों तथा योग्यता के आधार पर ही राज्य की प्राप्ति होने और इस योग्यता के अभाव में राज्य से वंचित किए जाने के विषय में स्मरणीय यह है कि केवल क्रूर, दुष्ट अथवा दुर्बुद्धि होना जैसे मानसिक दोष जिनके कारण विशेषतः ब्राह्मण-वर्ग और सामान्यतया साधारण जनता में रोष उत्पन्न होने की संभावना अधिक होती थी और उस व्यक्ति के कारण उस वंश के राज्य के ही डूबे जाने का भय रहता था वही (दुर्गुण) अधिक गम्भीर समझे जाते थे। शारीरिक न्यूनताओं में कोढ़ जैसे चर्मरोगों से पीड़ित उत्तराधिकारियों को प्रजा सहन नहीं करती थी। अन्यथा आदिपर्व में कहा गया है कि सभी नागरिकों ने एकत्रित होकर परिक्षित् के पुत्र जनमेजय को राजा बनाया यद्यपि यह अभी शिशु ही था[3]। शाल्व देश के बड़े धर्मात्मा राजा द्युमत्सेन अन्धे हो जाने पर भी प्रजा के अनुरोध के कारण राजा बने रहे, यद्यपि बाद में उनकी पुत्री सावित्री के पुण्य के कारण उनकी आँखें ठीक हो गई थीं[4]। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के उत्तराधिकार का निर्णय करने में प्रजा की इच्छा भी एक महत्वपूर्ण योगदान करती थी। वस्तुतः किसी व्यक्ति के राजा बनाने

१—विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वसमंजसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया॥ सभा ६२, ७।

२—जे० डब्ल्यू० मैक्क्रिंडल, एँश्येन्ट इण्डिया ऐज डैस्क्राइब्ड बाइ मैगेस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ३८, ७१, २०० तथा देखिए उसी की कृति एँश्यैण्ट इंडिया ऐज डैस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० ५८।

३—नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः। आदि ४४, ६।

४— आसीत् शाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूवह ३।।५
ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्वति॥

या न बनाने के विषय में निर्णय लेते हुए उनकी योग्यता, क्षमता एवं अनुरूपता का विचार करके औचित्यपूर्ण निर्णय किए जाने की प्रथा थी। यह बात राजमाता सत्यवती के उन शब्दों से प्रकट हो जाती है जो उन्होंने धृतराष्ट्र के अन्धे होने के कारण (प्रज्ञा-चक्षुष्ट्वान्, आदि, १४३, २५) उसे राजा बनने के लिये अयोग्य बनाने के लिए अयोग्य बतलाते हुए कहीं है। वह महर्षि व्यास से कहती हैं कि कुरु प्रदेश एवं कुरुवंशियों के राजा के पद के लिए अन्धा व्यक्ति अनुरूप नहीं है[1]। इससे यह स्पष्ट है कि 'हीनांग राजा का देवता अभिनन्दन नहीं करते' यह वाद तो केवल आध्यात्मपरक अर्थवाद ही है।

राजा का वरण या निर्वाचन

प्रजा के द्वारा राजा के वरण का सिद्धान्त और परम्परा भारतीय राजनीतिक तत्त्व-दर्शन की एवं भारतीय राजतंत्र की सबसे बड़ी विशेषता थी। वैदिक काल में भारतीय राजतंत्र का रूप 'वृत राजतन्त्र' (अं० इलैक्टिव किंगशिप) का ही था[2]। अनेक पाश्चात्य और भारतीय लेखकों ने इसका समर्थक और अनेकों ने वृत राजतंत्र को 'निर्वाचित राजतंत्र' समझकर इसका खण्डन किया है और शायद इसीलिए डा० ई० डब्ल्यू० स्पैल्मैन ने इस संस्था को भारतीय राजनीति की सबसे अधिक विवाद-ग्रस्त समस्या कहा है[3]। प्रश्न यह है कि क्या उस प्राचीन काल में, जिसका उल्लेख और प्रतिनिधित्व महाभारत में हुआ है, प्रजा अपने राजा को स्वयं चुनती थी।

श्री दीक्षितार कहते हैं 'प्राचीन भारत में राजतंत्र के उद्भव का स्रोत चाहे कुछ भी रहा हो एक तथ्य नितान्त स्पष्ट है कि राजा के वरण के सिद्धान्त ने इसके विकास में अतीव महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जहाँ राजतंत्र का स्वरूप वंशानुसंक्रमित भी दिखाई देता है वहाँ भी वरण का सिद्धान्त (अं० प्रिंसिपिल आफ् इलैक्शन) किसी न किसी रूप में विद्यमान है।' 'हम यह निरापद रूप से कह सकते है कि राजा लोग अपने उत्तराधिकारी चुनने में, विधान के अनुसार, असमर्थ थे वे चाहें तो अपने किसी अभिष्ट व्यक्ति को मनोनीत कर सकते थे, परन्तु केवल तभी जब ऐसे व्यक्ति के सामान्य जनता के द्वारा मान्य हो जाने की संभावना रहती हो"[4]। महाशय वन्द्योपाध्याय का मत है कि 'हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कुरु प्रदेश में लोकप्रिय 'वृत राजतंत्र' की प्रतिष्ठा एक परम्परागत शासन-प्रणाली के रूप में हो चुकी थी। यद्यपि यहाँ के राजा पहले राजाओं के उत्तराधिकारी होने के कारण राज्य के प्रति अपने अधिकार

१—नान्धः कुरूणां नृपति अनुरूपस्तपोधन ॥ आदि, १०६, ११। वनपर्व, २६३।

२—दे० काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, अ० २३, "वैदिक राजा और उसका वरण'।

३—डा० ई० डब्ल्यू० स्पैल्मैन, पृ० ५०।

४—वी० आर० दीक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, क्रमशः पृ० ६७ तथा ६९।

का दावा कर सकते थे, परन्तु साथ ही वे राज्य-प्राप्ति के लिए जनता पर ही पूरी तरह निर्भर थे। जनता अपने स्वयं राजा चुनने के अधिकार का प्रयोग करती थी और उनके समर्थन के विना कोई राजा अनुत्तरदायी रूप से शासन चला लेने की कल्पना भी नहीं कर सकता था[1]।

पश्चिम में भारत-विद्या-शास्त्रियों में अग्रगण्य दिवंगत डा० एल० डी० वर्नेट ने भी राजा के वरण के सिद्धात का अनुमोदन किया है। चाहे फिर वह कितना ही सीमित रूप से किया हो[2]। डा० वर्नेट ने वैदिक काल में इसकी प्रथा को स्वीकार किया है और डा० जिम्मर ने तो निःसन्देह रूप से वैदिकयुग से इसके प्रचलन को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। महाशय वेवर और ब्लूमफील्ड असंदिग्ध रूप से 'वृत राजतंत्र' की सत्ता को स्वीकार करते हैं[3]।

प्रजा के द्वारा राजा के वरण के सिद्धान्त का विरोध करने के लिए वीड़ा चवाकर अधकचरे और अर्धसत्य तर्कों का भी सहारा लेकर असफल प्रयास करने से न चूकने वाले स्पैल्मैन भी यह कहने को वाध्य हुए हैं कि हम मैक्डोनल और कीथ से, कम से कम, इस वात में सहमत हैं कि कदाचित् राजतंत्र निर्वाचित (वृत) नहीं होता था" इस वात को सिद्ध करने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है'।[4] इसका यह अभिप्राय स्पष्ट है कि महाशय मैक्डोनल और कीथ जैसे भारतविद्या धुरन्धरों ने भी प्राचीन भारत में निरपवाद रूप से न सही यह स्वीकार किया है कि कभी-कभी राजा का चुनाव प्रजा के द्वारा किया जाता था। हमारा भी इतना ही कहना है फिर यद्यपि भारतीय राजतंत्र वंशानुसंक्रमित था वह प्रायः 'वृत राजतंत्र' के रूप में ही प्रचलित था हिन्दू राजा के राज्याभिषेक के समय प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में अनेक राजकर्त्ताओं की स्वीकृति लिए जाने और उनके द्वारा ही राजा का अभिषेक किए जाने तथा उसे मुकुट पहिनाये जाने के वाद उन्हीं के सामने राजा के प्रतिज्ञा करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनकी सम्मति वैधानिक दृष्टि से अनिवार्य मानी जाती थी और यह परम्परा उस प्राचीन का युक्तियुक्त अवशेष ही मानी जा सकती है जिसके अनुसार सारी प्रजा की इच्छा और अनुमति स्वीकृति एवं निर्वाचन के विना राजा का अभिषेक होना असंभव था।

महाशय काणे ने राज्याभिषेक के इसी पक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि (राजा के राज्य का उत्तराधिकारी होने में) मूल मान्यता यही थी कि राजा को जनपद के मुख्य पुरुषों, बड़े अधिकारियों और सामान्य जनता से वह राज्य प्राप्त होता है (न कि केवल अपने पिता से)। प्रजा की स्वीकृति

१—एन० सी० वन्द्योपाध्याय, हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज पृ० १९२–३
२—एण्टीक्विटीज ऑफ् इण्डिया, पृ० ९७।
३—दे० एच० जिम्मर, आलटिंडिश्चेस् लेवेन, पृ० १६२ आदि ए० वेवर, इण्डिश्वे स्टडियने, १७, ८८; एम० ब्लूमफील्ड, हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद, पृ० ११३।
४—वैदिक इण्डैक्स, पु० २, पृ २११।

(अं० पोपुलर एप्रूवल) प्राप्त करना राजा के उत्तराधिकारी का निर्णय करने में अनिवार्य माना जाता था'।[1] डा० लॉ ने भी वैदिक युग के अनेक वध्रश्च, दिवोदास, पिजवन, सुदास, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, मित्रातिथि, कुरुश्रवण, उपमश्रवा आदि राजाओं के उदाहरण देकर हिन्दू राजतंत्र के इसी स्वरूप का प्रतिपादन किया है[2]।

इस पृष्ठभूमि में महाभारत के इतिहास पक्ष के द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वंशानुसंक्रमित उत्तराधिकार की प्रथा के प्रायः नियमित से रूप में प्रचलित होने पर भी उस काल में जनमत की शक्ति इतनी प्रवल थी कि जनता अपने राजाओं के अपने उत्तराधिकारी के विषय में किए गये निर्णयों को न केवल चुनौती ही दे सकती थी, अपितु उनके विरुद्ध पराम्परागत धर्म के अनुसार अपने मनोनीत व्यक्ति को उस समय के राजा की इच्छा के भी विरुद्ध युवराज निर्णय लेकर अयोग्य अथवा धनधिकारी व्यक्तियों को राजा वनाये जाने से रोक सकती थी। इस विषय में देवापि के जनता द्वारा राज्य-च्युत किए जाने से सम्वन्धित उपाख्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाभारत के ही शब्दों में उसका अध्ययन करने से विद्वान् पाठक उसके तात्पर्य का भलीभाँति विवेचन कर पायेंगे। अतः मूल शब्दों में कथा स्वरूप जैसा हैं वैसा ही प्रस्तुत करना हम उचित समझते हैं। कहा गया है कि धृतराष्ट्र के प्रपितामह राजा प्रतीप सव धर्मों के ज्ञाता थे तथा अपने राज्य का शासन धर्म के अनुसार चलाने के कारण तीनों लोकों में विख्यात थे। इस पराक्रमी नृप-सिंह के देवापि, वाह्लीक और शान्तनु ये तीन पुत्र हुए। ये तीनों देवतुल्य एवं वड़े यशस्वी थे। इनमें देवापि सबसे बड़े थे। ये महान् तेजस्वी, धार्मिक सत्यवादी, पितृभक्त और सभी राजाओं में श्रेष्ठ थे। साधु-सज्जन इनका आदर करते थे। ये पौर और जानपद जनता में सभी आवालवृद्ध व्यक्तियों के स्नेह और सम्मान के पात्र थे; ये वड़े दयाशील, दानी, सत्यवादी थे और प्राणिमात्र के कल्याण में तत्पर रहते थे। ये अपने पिता राजा प्रतीप और विद्वान् व्राह्मणों की आज्ञाओं का सदैव पालन करते थे। दोनों छोटे भाई वाह्लीक और शान्तनु भी इन्हें वहुत प्यार करते थे। इन तीनों महात्मा (महान् अन्तःकरण वाले) भाइयों का भ्रातृप्रेम अति उन्नत कोटि का था। इसके पश्चात् समय वीतने पर वयोवृद्ध राजश्रेष्ठ प्रतीप ने शास्त्रों के अनुसार (देवापि के) अभिषेक के लिए सभी तैयारियाँ पूरी करवाईं। उन्होंने सभी मङ्गलकार्य सम्पन्न कराये। तभी व्राह्मणों, वृद्धों और साथ ही साथ पौर एवं जानपद नागरिकों ने देवापि का अभिषेक करना रोक दिया। देवापि के अभिषेक के रुकवा दिए जाने का समाचार सुनकर राजा प्रतीप का गला आँसुओं से रुँध गया(अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा) और वह अपने प्रिय पुत्र (आत्मजम्) के विषय में शोक से विह्वल हो गया। देवापि ऐसे वदान्य (दयालु एवं दानी), धर्मज्ञ, सत्यवादी और प्रजाओं में भी

१—हि० आ० ध०, ३, २, २९। (कोष्ठक के शब्द मेरे हैं)।

२—एन० एन० लॉ, एस्पेक्ट्स ऑफ् एंश्येन्ट इण्डियन पालिटी, पृ० ९ १०।

अत्यन्त प्रिय थे परन्तु वे चर्म रोग से अतीव पीडित (प्रदूषित:) थे और देवता हीनांग राजा का अभिनन्दन नहीं करते। इसीलिए द्विज-मुख्यों ने नृपश्रेष्ठ प्रतीप को देवापि का अभिषेक नहीं करने दिया। राजा पुत्रशोक से बड़ा व्यथित हुआ। इस प्रकार राजा के रोक दिए जाने पर (निवारितं नृपं दृष्ट्वा) देवापि वन को चला गया[1]।'

इस उपाख्यान से यह स्पष्ट है कि उस काल में जनता को अपने राजा को चुनने का अधिकार ही प्राप्त नहीं था, वह अपने उस अधिकार को क्रियान्वित भी करती थी। हिन्दू राजतंत्र के इस वृत या निर्वाचित स्वरूप को स्वीकार न करने के लिए जिन विद्वानों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि क्योंकि उस युग में अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की तरह निर्वाचन (अं० इलैक्शन) की प्रथा प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं है इसलिए हिन्दू राजतंत्र को निर्वाचित राजतंत्र (अं० इलैक्टिव किंगशिप) कहना ठीक नहीं है, वह केवल शब्दों की जादूगरी के द्वारा लक्ष्यों को छिपाने का प्रयासमात्र ही कहा जा सकता है। वस्तुत: भारत में राजा के प्रजा द्वारा चुने जाने की बात कोई अनौखी नहीं है। अतीव प्राचीन काल से हिन्दू पौराणिक गाथाओं, दन्तकथाओं, जन्तुकथाओं, और बौद्ध-साहित्य के अनेक ग्रन्थों में प्रजा के द्वारा राजा के चुने जाने की ओर संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय लोकमानस से सर्वथा अपरिचित होने का प्रमाण देते हुए भारतीय राजतंत्र में प्राच्य निरंकुशता (अं० ओरियण्टल डैस्पोटिज्म) का जबरदस्ती आरोप करने के लिए मनमाने तर्कों को गढ़ने के लिए प्रवृत्त होने वाले कुछेक लेखकों ने भारतीय जनता की उन भावनाओं और उद्दाम समताओं की ओर दुर्लक्ष्य किया है, जो उनमें धर्म की संप्रभुता के समक्ष राजा को हीन मानने के कारण उद्भूत हुई है[2]। परम्परागत धर्म का पालन न करने वाले राजा पर जनमत का अंकुश सदैव तना रहने के कारण उसके लिए मन-माने ढंग से उत्तराधिकारी का निर्णय कर देना संभव नहीं था। इस तथ्य का समर्थन महाभारत के इतिहास-पक्ष के एक दूसरे उपाख्यान से होता है जिसमें राजा ययाति के द्वारा पूरु को राज्य दिए जाने का वर्णन है। कहा गया है कि नहुष के पुत्र राजा ययाति अपने सबसे बड़े पुत्र यदु से असन्तुष्ट थे और वे अपने पाँचों पुत्रों में सबसे छोटे पूरु को राज्य देना चाहते थे। सभी ब्राह्मणप्रमुख सभी वर्णों ने एकत्रित होकर राजा के इस मन्तव्य का विरोध किया और उन्होंने राजा ययाति को अपने उत्तरा-धिकारी का निर्णय करने में ज्येष्ठाधिकार के सिद्धान्त के आधार पर अपने बड़े पुत्र को ही राज्य देकर नियम के विरुद्ध आचरण न करने का अनुरोध किया। महाभारत के शब्दों में ब्राह्मणों के नेतृत्व में एकत्रित सभी वर्णों ने राजा से कहा 'तुम शुक्र के नाती और देवयानी के पुत्र यदु को अधिकार का अतिक्रमण करके पूरु को राज्य क्यों देना चाहते हो। ज्येष्ठ भाइयों का अतिक्रमण करके सबसे छोटा पुत्र राज्य का

१—उद्योगपर्व, १४९, १४–२६।
२—दे० यही पुस्तक, अ० ४।

अधिकारी कैसे हो सकता है ? राजन् ! हमें तुम्हें चेतावनी देते हैं, तुम धर्म का पालन करो[1]। इस पर राजा ययाति ने सभा के सदस्यों को यह कहकर मनाया कि महर्षि शुक्र के अनुसार पुत्र उसे ही माना जाना चाहिए जो पुत्र की तरह आचरण करता हो। पूरु के अलावा उनके सभी पुत्रों ने उनकी आशाओं और आज्ञाओं का उल्लंघन किया है। अतः पूरु ही आज्ञाकारी विनीत एवं सुबुद्धि होने के कारण राज्य का अधिकारी है। महर्षि शुक्र के वचनों के अनुसार ही निर्णय होने के कारण सभा के सदस्य सन्तुष्ट हो गये और पूरु राजा बना दिए गये। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जनता अपने राजा चुनने के अधिकार का प्रयोग करते हुए प्रायः उत्तराधिकार के निर्णय में तभी हस्तक्षेप करती थी जब कभी कोई राजा परम्परागत धर्म का उल्लंघन करने का प्रयास करता था।

उक्त उपाख्यानों के द्वारा प्रतिपादित हुए जनता के अपना शासक चुनने का अधिकार रखने के ऐतिहासिक तथ्य के विषय में भी अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत बड़ा संशयालु रहा है। महाशय हाप्किंस कहते हैं। कि हो सकता है कि ये घटनाएँ केवल गाथाएँ हों, परन्तु यह बात निश्चित है कि ये गाथाएँ बड़ी शिक्षाप्रद हैं[2]। महाशय हाप्किंस की इस गोलमोल अस्वीकृति को उद्धृत करते हुए भी डा० स्पैलमैन ने इस विषय में यह स्वीकार किया है[3]। कि तथापि यह कहना हमें अभिप्रेत नहीं है कि प्राचीन भारत में जनता अपनी इच्छा के द्वारा शासन को प्रभावित नहीं करती थी। कई बार जनता का प्रभाव पर्याप्त तीव्र होता था। भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन में प्राच्य निरंकुशता के विचार का समर्थन सिद्धान्ततः तो कहीं भी प्राप्त नहीं होता। हमें ज्ञात है कि बौद्ध-संघों में निर्वाचन भी हुआ करता था। निर्वाचन कीं तीन प्रणालियों का उल्लेख हुआ है गुप्त मतदान के द्वारा कान में चुपके से कह देने के द्वारा और खुले मतदान के द्वारा सर्वसम्मत या महाजन सम्मत निर्णय किये जाया करते थे। इन प्रणालियों की विशेषता यह है कि यदि मतदान का परिणाम धर्म के अनुकूल न हो तो अध्यक्ष तीन बार तक मतदान को अन्याय ठहरा सकता था[4]।

उलक जातक की कथा में सभी पक्षि अपने राजा का निर्वाचन करने के लिए एकत्रित होते हैं। मतदान के परिणाम की दो घोषणाओं में उल्लू ही राजा चुना जाता है परन्तु कौआ उसे अस्वीकार कर देता है फिर उसके हसं को राजा चुन लिया

१—कथं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि। आदि ८५, २०।
और, कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति।
एवं सम्वोध्यामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय॥ आदि ८५, २२।

२—ई० डबल्यू० हाप्किंस, जर्नल आफ् अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, भाग १३ पृ० १४४।

३—जे० डबल्यू०स्पैलमैन, पृ० ५४–५।

४—विनयपिटक, चुल्लवग, ४, १४, २६।

जाता है[1]। एक और कथा में कहा गया है कि बोधिसत्त्व एक सुन्दरतम श्रेष्ठ मोर के रूप में अवतरित हुए और सभी सामान्य मोर एकत्रित हुए और उन्होंने उसे अपना राजा चुन लिया[2]।

प्राचीन भारत में जनता में संप्रभुता रहने के कारण जनता को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपना नया राजा चुन ले। किन्तु डा० स्पैलमैन का कहना है कि 'संप्रभुता (अं० सोवरिटी) शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में यूरोप में प्राप्त होता है उसी अर्थ में भारत में नहीं मिल सकता। राजनीतिदर्शन में यह एक नई मान्यता के रूप में प्रचलित हुआ विचार है कि 'संप्रभुता' एक सर्वोच्च सत्ता है जो विधि के द्वारा अनियंत्रित है। भारत में इतनी निरंकुशता नहीं थी कि यहाँ शासकों को चाहे वे राजा हों या जनता, इतनी सर्वोच्च सत्ता और शक्ति सौंप दी जाती। यहाँ धर्म से बढ़कर कोई उन्नत शक्ति नहीं थी। यहाँ यूरोप की तरह राजनीति शास्त्री एवं राजनीतिज्ञ यह कहने का साहस ही नहीं कर सकते थे कि जनता धर्म से भी बड़ी या सबसे बड़ी हैं।'[3] डा० स्पैलमैन का उक्त तर्क कितना छिछला, निराधार और भ्रामक है यह बात कम से कम भारतीय पाठकों के लिए सर्वथा स्पष्ट है। भारतीय राजशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि राज-सत्ता के ऊपर राजविधियों से भी अनियंत्रित धर्म की सत्ता को स्वीकार करने का ही दूसरा स्पष्ट अभिप्राय जनता की सर्वोच्च सत्ता में विश्वास करना है। भारत में धर्म को यूरोप की तरह कोई कोरा अध्यात्म नहीं माना जाता। किसी समाज विशेष की आशाएँ आकाक्षाएं, जीवनपद्धति, परम्पराएँ और नीतियाँ आदि सभी धर्म में आ जाती हैं और इस प्रकार धर्म की कल्पना एक लौकिक कल्पना होने के कारण धर्म के प्रति उत्तरदायी राजा वस्तुतः व्यवहार में लोकजीवन के प्रति ही उत्तरदायी होता है। यह बात इसी परिच्छेद में प्रस्तुत किए गये उदाहरणों से स्पष्ट हो चुकी है कि राजा और उसकी नीतियों के धर्म-विरुद्ध होने पर संप्रभुता सम्पन्न जनता एवं लोकशक्ति ही उसे लोकधर्म का सम्मान और पालन करने के लिए बाध्य करती है। राज्य के सप्तांगों में जनता का स्थान राजा से पहले चाहे न भी रखा गया हो परन्तु व्यवहार रूप में जनता की अतुल और अनन्त शक्ति के सामने राज-शक्ति नगण्य ही है। राजा का निर्वाचन, अभिषेक और नियन्त्रण करने वाली और धर्माधर्म का निर्णय देने वाली जनता में यदि संप्रभुता निहित मानी जाय तो कौन सी ऐसी विप्रतिपत्ति उपस्थित हो जाती है? डा० स्पैलमैन[4] ने १९५३ में सम्पन्न हुए महारानी एलिजाबैथ के राज्याभिषेक के विषय में महाशय लुईब्रौड[5] के द्वारा लिखे गये विवरणों को उद्धृत करते

१—उलूक जातक सं० २७०।
२—माहामोर जातक सं० ४९१।
३—डा० स्पैलमैन पृ० ५६।
४—स्पैलमैन, पृ० ५७।
५—लुई ब्रौड, दि ए० बी० सी० गाइड टु दी कौरोनेशन पृ० ९६–७।

हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार इंगलैण्ड की जनता अभिषेक के अवसर पर आर्यबिशप आफ् कण्टरबरी के द्वारा रानी का नाम क्रमशः तीन बार प्रस्तुत किए जाने पर अपनी स्वीकृति और भक्ति प्रदर्शित करने के लिए तीन बार औपचरित्र हर्षहवाल के द्वारा उसका अनुमोदन करती है परन्तु उस प्रक्रिया को अपने राज्य का उत्तराधिकारी चुनने की संज्ञा नहीं दी जा सकती उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी, उनके मत में, राज्य के उत्तराधिकारी चुनने का जनता का अधिकार केवल इस प्रश्न के अभिषेकोत्सव तक ही सदैव सीमित रहता था[1]। डा० स्पैलमैन के विचार करने के उक्त ढंग से ही यह स्पष्ट है कि वह इंगलैण्ड और यूरोप में विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं के अमिट प्रभावों के आवेश में रहते हुए उसी पूर्वाग्रह के आधार पर हजारों मील दूर नितान्त विभिन्न परिस्थितियों में पनपने वाली और अब से सहस्राब्दियों पहले प्रचलित भारतीय संस्थाओं के विषय में निराधार फतवे देकर विद्वानों की दुनिया में वैज्ञानिक विचारक के रूप में उपस्थित होना चाहते हैं। जबकि हम यह देख चुके हैं कि मूल स्रोतों से प्राप्त होने वाली सामग्री इससे बिल्कुल विपरीत और दूसरा ही चित्र स्पष्ट शब्दों में प्रकट करती है। महाभारत के ही अनेक उद्धरणों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जनता की स्वीकृति केवल औपचारिक नहीं होती थी। महाराज प्रतीप का चाहते हुए भी देवापि को राज्य न दे पाना, महाराज ययाति का गिड़ गिड़ाकर प्रजा से अनुनय करना कि पूरु का राज्याभिषेक कर दिया जाय[2], सम्पूर्ण भारतवर्ष की दिग्विजय करके कर्ण के लौट आने पर दुर्योधन जैसे निरंकुश सम्राट् की पाण्डवों की तरह ही राजसूय यज्ञ कराने की आज्ञा का राजपुरोहित और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा न माना जाना[3], जनता का चौराहों और सभाओं में एकत्रित होकर युधिष्ठिर के राज्य के उत्तराधिकार का समर्थन करना और अन्त में अनेक राजाओं और सभी वर्णों की सात अक्षौहिणी सेना का धर्मराज युधिष्ठिर को उसके उचित राज्याधिकार को वापिस दिलाने के लिए महाभारत युद्ध में एकत्रित होना आदि अनेक उदाहरणों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में जनता राजा के उत्तराधिकारी के चुनाव जैसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों में सक्रिय भाग लेती थी और राजाओं को अपने निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती थी। वह बड़ी सशक्त, संगठित और सुसंचालित राज्यक्रान्तियों को क्रियान्वित कर सकने की क्षमता रखती थी। वह कदापि उदासीन दब्बू या दुर्बल नहीं थी।

प्राचीन भारत के अन्य अनेक ऐतिहासिक उदाहरणों से राजाओं के जनता द्वारा चुने जाने के प्रमाण मिलते हैं। सुराष्ट्र की जनता ने क्षत्रप रुद्रदामन् को अपना

१—स्पैलमैन, पृ० ५७।
२—भवतोऽनुज्ञयाम्येवं पूरु राज्येऽभिषिच्यताम्। आदि, ८५, २९।
३—'न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे'। वन, २५५, १३।

नरेश चुना था[1]। पाल वंश के राज्य के संस्थापक गोपाल को बंगाल की जनता ने राजा बनाया था[2]। राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसके छोटे भाई हर्षवर्धन को राजा चुना गया था[3]। पल्लववंशी परमेश्वर वर्धन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् जनता ने पल्लव-राज्य का उत्तराधिकारी स्वयं चुना[4]। इसके अतिरिक्त साहित्यक-ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में कल्हण द्वारा रचित इतिहास ग्रन्थ राजतंरगिणी के उस उदाहरण को भी प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें एक सामान्य निर्धन व्यक्ति यशस्कर का ब्राह्मणों ने राजा के रूप में वरण किया था। उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि राजतन्त्र का निर्वाचित या वृत स्वरूप भारतीय तत्त्व-दर्शन की अपनी निजी विशेपता है। वैदिक काल से लेकर आधुनिकतम काल तक हिंदू राजतंत्र का स्वरूप निरंकुश न होकर निर्वाचित राजतन्त्र का रहा है। महाभारत का काल अतीव संघर्षमय, सक्रिय और समन्वयात्मक विकास का युग होने के कारण अपनी विशिष्ट सामंजस्यपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं के लिए विख्यात है। अतः 'निर्वाचित राजतंत्र' जैसी उत्तरदायी राजतंत्रीय पद्धति उक्त काल की परिस्थितियों का अनिवार्य तर्कसम्मत परिणाम है[5]। यद्यपि अनेक शताब्दियों तक विस्तृत युग में अपवादों के अनेक उदाहरण मिलना अस्वाभाविक नहीं है तो भी इन अपवादों से सही सामान्य नियम का खण्डन नहीं होता।

स्त्री-जाति का राज्य-विषयक उत्तराधिकार

महाभारत में किसी महिला के किसी जनपद की शासिका होने का ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध नहीं है। परन्तु शान्ति पर्व में राजा को आदेश दिया गया है कि दिग्विजय के प्रसंग में जीते गये राज्यों में प्रदेश-प्रदेश नगर-नगर में अपने सुहृद वर्ग के साथ जा-जाकर यह परास्त एवं दिवंगत राजाओं के भाइयों, पुत्रों अथवा पोत्रों को उनके अपने-अपने राज्यों पर अभिपिक्त करे। जिन दिवगंत राजाओं के उत्तराधिकारी अभी बालक हों या गर्भ में हों, उनकी प्रजा को समझा-बुझाकर सान्त्वना देते हुए शान्त

१—आ गर्भात् प्रभृत्यविहत समुदित-राजलक्ष्मीधारण गुणतः सर्ववर्णै रभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन आ प्राणोच्छ्वासात् पुरुषवधनिवृत्तिकृतसत्यप्रतिज्ञेनान्यत्र संग्रामेषु। ऐपिग्राफिका इण्डीका, पु० ८, प्रतिलिपि ३६, पृ० ४०।

२—मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः। ए० इं०, ४, २४३ पृ० २४८ (गोपाल के विषय में)

३—बीलकृत 'बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ् दी वेस्टर्न वर्ल्ड, १८८४, पु० १, पृ० २१०–६ ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित)।

४—डा० सी० मीनाक्षी 'एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोशल लाइफ अण्डर दि पल्लवाज' १९३८ पृ० ३८। (काणे द्वारा उद्धृत ३, ३, ३१)

५—देखिए यही पुस्तक, अ० ४।

करके और सारी प्रजा का मनोरंजन करते हुए पृथ्वी का पालन करे[1]। जिन राजाओं के कोई पुत्र नहीं हो, उनकी कन्याओं का ही राज्य पर अभिषेक कराये[2]। क्योंकि इस प्रकार उनकी स्त्रियाँ अपनी मनः कामना की पूर्ति होने के कारण शोक त्याग देंगी और प्रसन्न हो जायेंगी और इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य में शान्ति की स्थापना हो सकेगी।[3]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि महाभारत में अभिव्यक्त हिन्दू राजशास्त्र में स्त्रियों को राज्य का उत्तराधिकार दिए जाने के विषय में उस प्रकार के कट्टरपंथी विरोध का सर्वथा अभाव है जो हमें बौद्ध-ग्रन्थों और अन्य समकालीन साहित्य में प्राप्त होता है[4]। डा० आल्टेकर ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि राजशास्त्र के अधिकतर विचारों ने स्त्रियों को राज्य का अधिकार दिए जाने का विरोध इसीलिए किया है क्योंकि स्त्रियों की कुछेक निसर्ग प्रान्त न्यूनताओं के कारण वे अच्छी प्रशासिका सिद्ध नहीं हो सकती[5]। परन्तु विशेष रूप से महाभारतीय परिस्थितियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० आल्टेकर द्वारा निर्दिष्ट शारीरिक न्यूनताओं के अतिरिक्त अन्य कई एक सामाजिक कारणों से भी किसी कन्या के लिए अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करने के बहुत कम अवसर प्राप्त होने की संभावना रहती थी। पुत्र न होने पर राजकुलों से भी नियोग जैसे अपेक्षाकृत गर्हित उपाय के द्वारा पर-पुरुष के द्वारा भी रानियों के पुत्र उत्पन्न कराने की प्रथा उस समय प्रचलित थी। यदि कोई रानी पुत्र को जन्म न दे पाती तो राजा अन्य किसी स्त्री से विवाह करके पुत्रोत्पत्ति कर सकता या करवा सकता था धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर तथा अन्य अनेक श्वेत-केतु आदि की उत्पत्ति के प्रसंगों से उक्त विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वैसे जहाँ तक राजनीति में योगदान का प्रश्न है वहाँ अनेक स्त्री-पात्रों का महाभारत में अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत प्रसंग में इसकी चर्चा करना प्रासंगिक ही है, अतः यही कहना पर्याप्त होगा कि विशेषतया कुन्ती, विदुला और द्रौपदी जैसे पात्रों की राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में जिस प्रकार की क्षमता, प्रभाव और नेतृत्व के गुणों की अभिव्यक्ति महाभारत में हुई है उसके कारण हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय महिला उस काल की राजनीति में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं और उनके द्वारा शासन-कार्य चलाया जाना कोई असम्भव कल्पना

१—महर्षि व्यास का युधिष्ठिर को उपदेश, शान्ति ३३, ४३–४।

२—'कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय।' वही, ३३, ४५।

३—वही, ३३, ४५–४६।

४—दे० मज्झिम निकाय, ३, ११५, '६५ स्त्री का चक्रवर्ती होना अयुक्त और असंभव है'; नारद १३, ३३; 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' आदि। इसके विपरीत दे० रामायण, अयोध्या०, ३७, २३–४ में महर्षि वसिष्ठ द्वारा राम के वनवास से लौटने तक सीता के द्वारा राज्य चलाते रहने का प्रस्ताव।

५—आल्टेकर, पृ० ५६।

नहीं हो सकती। राजमाता सत्यवती का नितान्त दीर्घकाल तक, भीष्म की सहायता से ही सही हस्तिनापुर से कुरुदेश का शासन-संचालन करना इस बात का समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण है[१]।

भ्रातृ-गत राज्य का उत्तराधिकार

महाभारत में स्पष्ट शब्दों में भाइयों, पुत्रों और पौत्रों को दिवगंत राजाओं के सिंहासनों पर अभिषिक्त करने का आदेश दिया गया है[२]। साथ ही इतिहास पक्ष के अनेक उदाहरणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कुछेक परिस्थितियों में राजा के औरस पुत्र न होने पर या फिर औरस पुत्र के होते हुए भी भाई को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाता था। महाराज शान्तनु की इच्छा पूर्ण करने के लिए देवव्रत भीष्म ने उनका विवाह धीवरों के प्रमुख की कन्या सत्यवती से कराया और यह प्रतिज्ञा की कि धीवर-राज के नाती को ही राज्याधिकार देने के लिए वे स्वयं राज्य न ग्रहण करेंगे और न ही विवाह करेंगे और आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। शान्तनु और सत्यवती के दो पुत्र हुए चित्रागंद और विचित्रवीर्य भीष्म ने चित्रागंद को राजा बनाया। गन्धर्वों के साथ युद्ध करते हुए चित्रागंद मारा गया। इसके पश्चात् भीष्म ने विचित्र-वीर्य को राजगद्दी पर बैठाया[३]। वन पर्व में इक्ष्वाकुवंश के राजा परिक्षित् के माण्डूक राजा की कन्या के साथ विवाह करने पर तीन पुत्रों के जन्म की कथा का वर्णन किया गया है। ये तीनों थे शल, बल और दल। कहा जाता है कि राजा परिक्षित् अपने ज्येष्ठ पुत्र शल को राज्य देकर स्वयं तप करने के लिए वन को चला गया। एक बार राजा शल ने शिकार खेलते हुए एक बिंधे हुए हिरण को पकड़ने के लिए ऋषि वासदेव के दोनों तीव्रगामी घोड़ों को (वाम्यौ) थोड़ी देर के लिए उधार माँग लिया परन्तु अपना कार्य कर लेने पर लोकवश उसने घोड़े लौटाने के लिए मना कर दिया। परिणामस्वरूप ऋषि के प्रभाववश राक्षसों ने उसकी हत्या कर दी। इक्ष्वाकुवंशी प्रजा ने शल के मारे जाने का पता लगने पर उसके छोटे भाई दल का राज्याभिषेक कर दिया[४]। वनपर्व में ही हनूमद्-भीम-संवाद में कहा गया है कि राम ने बाली को मारकर उसके छोटे भाई सुग्रीव का राज्याभिषेक किया[५]। रामायण में इसी प्रसंग में हनूमान ने दिवंगत बाली की पत्नी तारा से अनुरोध किया कि वह अपने पुत्र अंगद को राजगद्दी पर बिठायें और इस प्रकार अपने पुत्र को सिंहासन पर देखकर अपने दुःख को भुला दें। यह सुनकर तारा ने शोक विह्वल होकर हनूमान को उत्तर दिया 'मैं अंगद जैसे

१—दे० आदि पर्व, ९५, १००, १०१–१०६।

२—भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे-स्वे राज्येऽभिषिच्यताम्। शान्ति, ३३, ४३।

३—आदि ९५, ४८–५०।

४—वन पर्व १९२; दे० 'ततो विदित्वा नृपतिं निपातितभिक्ष्वाक्वो वै दलभ्यषिंचन्, वही १९२, ५९।

५—स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान्। वन, १४८, २।

सौ पुत्रों की भी अपेक्षा इस रणभूमि में दिवगंत वीर के साथ मर जाना पसन्द करूंगी ; मैं स्वयं इस राज्य का शासन नहीं कर सकती न ही मैं अंगद को यह राज्य दूंगी। इस राज्य के शासन को चलाने का कर्त्तव्य निभाने का उत्तरदायित्व अब अंगद के चाचा सुग्रीव पर आता है। ओ हनूमान् ! तुम यह न समझो कि मैं यह राज्य अंगद को देना चाहूँगी[1]।

इस प्रकार उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि दिवंगत राजा के सन्तान न होने पर और कभी-कभी सन्तान होने पर भी भाई का राज्याभिषेक किया जाता था। महाभारत के प्रमुख चरित्र नायकों अर्थात् पाण्डवों के वैयक्तिक जीवन का अध्ययन करने से यह भी विदित होता है कि यद्यपि ज्येष्ठ भाई को ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी माना जाता था, तो भी भीम और अर्जुन जैसे पराक्रमी और विचक्षण भाई भी राजसत्ता के सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। न केवल महत्त्वपूर्ण विषयों में स्वतन्त्र मन्त्रणाएँ देने के कारण अपितु स्वतन्त्र निर्णय लेने के कारण भी भीम और अर्जुन आदि का महत्त्व पर्याप्त अधिक दिखाई देता है यद्यपि राजगद्दी पर महाराज युधिष्ठिर का ही अभिषेक हुआ था। युधिष्ठिर के जुए में सब कुछ हार जाने पर भीम के वाक्यों से तथा उसी के दुर्योधन द्वारा वैष्णव यज्ञ के लिये दूत द्वारा भेजे गये निमंत्रण के उत्तर से[2], तथा अभिमन्यु के छल द्वारा मारे जाने पर अर्जुन के उत्तर से इस बात का पता लगता है कि छोटे भाई इस काल में राज्य पर अधिष्ठित बड़े भाई की आज्ञाओं का पालन करने के लिये नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से वाध्य होने पर भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र सी स्थिति का उपभोग करते थे। वे राजसत्ता के व्यावहारिक रूप में भागीदार होते थे और उनके पास अपनी निजि सम्पत्ति भी होती थी। आश्रम वासिक पर्व में महाराज युधिष्ठिर ने विदुर द्वारा की गई धृतराष्ट्र की अपने पुत्रों का श्राद्ध-तर्पण आदि करने के लिये की गई धन की मांग को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'मेरे पास जितना कुछ धन है तथा जो कुछ अर्जुन के घर में है उसके स्वामी महाराज धृतराष्ट्र ही अपने आपको समझें[3] क्योंकि स्मरण रहे कि भीम ने इस प्रकार धन दिये जाने का तीव्र विरोध प्रारम्भ में ही प्रकट रूप से किया था, क्योंकि वह अपने धन से शत्रुओं का श्राद्ध किये जाने के विरुद्ध थे। वे केवल भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, भूरिश्रवा, वाह्लीक-राजर्षि और अन्य वीरों का श्राद्ध किये जाने के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि कुन्ती कर्ण का श्राद्ध करे। परन्तु दुर्योधन आदि सम्पूर्ण पृथ्वी का विनाश करा देने वाले शत्रुओं की सदगति की अपेक्षा वे कष्ट से कष्टतर दुर्गति ही परलोक में भी देखना युक्तियुक्त समझते थे। वे चाहते थे कि उन दुष्टों का ही साथ देने वाले तथा पाण्डवों और द्रौपदी को वर्षों तक वन-वन भटकाने वाले

१—रामायण, किष्किधा०, २१ (डा० स्पैलमैन द्वारा उद्धृत पृ० ६२)
२—वन पर्व, २५६, १५-७।
३—आश्रम० १२, ११।

धृतराष्ट्र के साथ कोई दया न की जाय।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय 'संयुक्त परिवार' संस्था का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी पर्याप्त गहन रूप से पड़ा था। हाँ यह मानना पड़ेगा कि जिस 'द्वैराज्य' की कल्पना डा० हौकार्ट ने 'इन्द्रावरुण' आदि के आधार पर की है[2], डा० आल्टेकर ने जिसे स्वीकार किया है[3], दाम्रोदोरस सैकुलस ने पाटल में जिस प्रकार के संयुक्त नेतृत्व का वर्णन किया है[4], तथा महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य ने जिस व्यवस्था की निन्दा की है[5], वह संयुक्त राज्य या द्वैराज्य की शासन प्रणाली या उत्तराधिकार की परम्परा के अस्तित्व का महाभारतकाल के ऐतिहासिक पक्ष के द्वारा समर्थन नहीं होता।

राज्य के उत्तराधिकार पर मन्त्रियों का प्रभाव

प्राचीन भारत में राज्य के उत्तराधिकारी का निर्णय करने और उसका राज्याभिषेक करके उसे राज्य पर अधिष्ठित और अधिपति बनाने में मन्त्रियों का प्रायः बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहता था। सामान्यतया मन्त्रियों की राज्य में स्थिति और उनके प्रभाव के विषय में और विशेषतः महामन्त्री (महाब्राह्मण) और मन्त्रि-परिषद् के विषय में हम पहले भी कह चुके हैं[6]। राज्य के उत्तराधिकार के विषय में सबसे मनोरंजक प्रसंग महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष में महाप्रस्थानिक पर्व में उपलब्ध होता है। हिमालय की ओर महाप्रस्थान करके अन्तिम यात्रा करने का निर्णय कर लेने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने युयुत्सु (एक वेश्या के पुत्र किन्तु बड़े योद्धा और कुशल प्रशासक) को बुलाकर उसे सम्पूर्ण राज्य सौंप दिया और अपने राज्य पर राजा परिक्षित का अभिषेक कर दिया। इसके बाद उन्होंने सुभद्रा से कहा कि यह तुम्हारा पौत्र कुरु देश का राजा होगा और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थ में राज्य करेगा। इस प्रकार परिक्षित को हस्तिनापुर में और यदुवंशी वज्र को इन्द्रप्रस्थ में राजा बनाये रखकर तुम इनके राज्य की रक्षा करना तथा कभी मन में अधर्म न आने देना[7]। महाभारत के इस प्रसंग की तुलना हम कौटिल्य के उस प्रसंग से कर सकते हैं जब राजा की मृत्यु

१—आश्रम०, ११, १६–२५।

२—ए० एम० हौकार्ट, 'किंग्स एण्ड काउंसिलर्स', पृ० १६४।

३—आल्टेकर, पृ० २०–२१।

४—जे० डवल्यू० मैक्क्रिडल, 'इन्वेजन आफ् इण्डिया बाइ अलैग्जैंडर दि ग्रेट', पृ० २३५।

५—अर्थशास्त्र, ८, २।

६—दे० यही पुस्तक अ० ४, ५ 'सप्तांग राज्य', ६ 'राजा की निरंकुशता।

७—ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्या पुत्रे युधिष्ठिरः ॥६
अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम् ॥७ महाप्रस्थानिक, १, ६–७।

हो जाने पर उचित और आत्मवान् (गुणवान्) उत्तराधिकारी न रहने की स्थिति में कौटिल्य ने अमात्य को आदेश दिया है कि वह व्यसनी राजकुमार या राजकन्या या गर्भिणी महारानी को ही सामने प्रस्तुत करके राष्ट्र के सभी महामात्रों को एकत्रित करके कहे कि 'यह आपकी धरोहर है। इसके (राजकुमार के) पिता के पराक्रम और वंश की ओर भी देखें और अपनी ओर भी। यह केवल एक झंडे के समान है, जो सबसे ऊँचा रहता (हुआ फहराता रहता है) वस्तुतः इस राज्य के स्वामी आप ही हैं। आप बतलायें इस विषय में क्या किया जाय इत्यादि[1]। ठीक अर्थशास्त्र की सी परिस्थितियाँ परीक्षित के राज्याभिषेक के समय भी उपस्थित हो गई हैं और हम देखते हैं कि राजा को केवल अभिषिक्त करके और राज्य का भार युयुत्सु को तथा राजा के वैयक्तिक कल्याण का भार सुभद्रा को सौंप दिया जाता है।

सैनिक बल के द्वारा राज्य प्राप्ति

राज्य प्राप्ति का एक उपाय सैनिक शक्ति के द्वारा राज्य हस्तगत कर लेना भी था। पाण्डवों ने कौरवों से अपना राज्य वापिस लेने के लिए अन्त में इसी उपाय का प्रयोग किया। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि उस प्राचीन काल में न केवल राज्य-प्राप्ति के लिए अपितु राज्य की रक्षा और प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए भी शासक का वीर और सैनिक प्रतिभा से सम्पन्न साहसी सेनापति होना आवश्यक था। यही कारण है कि अनेक वैध उत्तराधिकारियों के स्थान पर ऐसे लोगों का भी राज्याभिषेक किया जाता था, जो अनुशासन, विनय, बल, बुद्धि और शूरता की दृष्टि से वैध किन्तु दुर्बल उत्तराधिकारियों की अपेक्षा राज्य संभालने में कहीं अधिक योग्य और समर्थ समझे जाते थे[2]। राजन्य न होने पर भी कर्ण को कलिंग का राज्य प्राप्त होने में सबसे प्रमुख कारण उसकी सैनिक प्रतिभा ही थी। दुर्योधन ने उसे अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी राजन्य बनाने के लिए ही सभी राजकुमारों की अन्तिम सैन्य प्रतियोगिता के अवसर पर ही उसका अंगदेश के राज्य के लिए अभिषेक किया था[3]। यही कर्ण दुर्योधन के द्वारा छल-कपट से जुए में जीत कर पाण्डवों का राज्य हड़प लेने के बाद उसके सम्पूर्ण साम्राज्य का सुदृढ़ स्तम्भ बना। उसी के नेतृत्व में कौरवों की सेना ने दिग्विजय सम्पन्न करके वैष्णव-यज्ञ का अनुष्ठान किया[4]। हमारा यह मत है कि सैनिक बल के आधार पर सशस्त्र युद्ध के द्वारा अथवा युद्ध के बिना भी राज्य-प्राप्ति करने वाले राजाओं को मान्यता दे देना हिन्दू तत्त्वदर्शन के सर्वथा अनुकूल बात थी। आदि पर्व में कहा गया है कि शास्त्रों के अनुसार राज्य की प्राप्ति के लिए योग्यता के रूप में व्यक्ति का सत्कु-

१—द्रष्टव्य—अयं वो निक्षेपः। पितरमस्यावेक्षध्वं सत्त्वाभिजन मात्मनश्च। ध्वजमात्रोऽयं भवन्त एव स्वामिनः। कथं वा क्रियतामिति। अर्थ० ५, ६, ४०–४३।

२—देखिए यही पुस्तक, अ० ६, 'राजा का वरण'।

३—आदि पर्व, १३५–६।

४—वन, २५५–४।

लीन, शूर और श्रेष्ठ सेनापति होना पर्याप्त होता है[1]।

राजा का राज्याभिषेक—

प्राचीन भारत में राजा का अभिषेक नितान्त विधिवत सम्पादित एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान माना जाता था। प्रस्तुत प्रसंग में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन संभव नहीं है, तो भी इस विषय में कुछ कहना नितान्त आवश्यक है। हिन्दू राजा के सिंहासन पर आसीन होने के समय सम्पन्न किए जाने वाले इस मांगलिक एवं कर्मकाण्डीय उत्सव के द्वारा ही राजा की सत्ता को वैधता प्राप्त होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों और गृहसूत्रों के आधार पर राज्याभिषेक की सभी क्रियाओं का विवरण अनेक विद्वान् लेखकों ने प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर अनेक विशिष्ट राजनीतिक मान्यताओं पर मौलिक विचार प्रकट किये गये हैं। उस विवरण का उल्लेख करना हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है, न ही महाभारत में उस प्रकार का विवरण उपलब्ध है।

महाभारत में महाराज युधिष्ठिर के दो राज्याभिषेकों का वर्णन प्राप्त है, जिनमें एक राजसूय यज्ञ के अवसर पर इन्द्रप्रस्थ में तथा दूसरा महाभारत युद्ध की समाप्ति पर विजय प्राप्त हो जाने पर हस्तिनापुर में सम्पन्न हुआ। इस प्रसंग में 'देश-विदेश' से आये हुए राजाओं के द्वारा युधिष्ठिर को भेंट (अर्हणानि) समर्पित किया जाना और उनका सभी पूज्य ऋषियों और ब्राह्मणों के तथा पौर और जानपद जनता के साथ मिलकर उन्हें सम्राट् की उपाधि से विभूषित करना आदि का वर्णन है[2]। दूसरे राज्याभिषेक में श्रीकृष्ण, सात्यकि, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि उत्कृष्ट वीर पुरुषों तथा अन्य विदुर, सुधर्मा, युयुत्सु, संजय, धौम्य, धृतराष्ट्र आदि कुन्ती और गान्धारी आदि पूज्य व्यक्तियों के द्वारा तथा पुरोहित के नेतृत्व में प्रकृति वर्ग के सब लोगों (प्रकृत्यः) के द्वारा युधिष्ठिर का सम्मानपूर्वक सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाया जाना, उनकी द्रौपदी के साथ विधिपूर्वक षड्ग्नि यज्ञ करना[3] तथा सभी के द्वारा पवित्र जलों से राजा का अभिषेक किया जाना आदि मांगलिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है[4]। सभा पर्व में लिखा है कि महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सभी जनपदों के (राष्ट्रेषु) मान्य ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को आमन्त्रित किया गया था। और ये सभी लोग शीघ्रगामी

१—आदि १३६, ३५।

२—सभा, ३३–३५।

३—छः अग्नियाँ हैं, आरम्भणीय, क्षत्र, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय दे० नीलकण्ठी भावदीपिका, सभा, ३५, १६ पर।

४—शान्ति ४०, दे० राज्याभिषेक के पूर्ण विवरण के लिए काणे, ३, ३, ७२–८३; काशीप्रसाद जायसवाल, अ० २४, २५, २६, २७ 'राज्याभिषेक और उसका सांविधायनिक महत्त्व', विल्सन, कर्नल आफ् रायल एशियाटिक् सोसाइटी, पु० ७; राजेन्द्र लाल मित्र, इण्डो एरियन, पु० २। हाप्किंस, पृ० १४६–७।

दूतों के द्वारा निमंत्रण पाकर राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हुए थे[1]। शान्ति पर्व में कहा गया है कि ब्राह्मणों और प्रजावर्ग के लोगों में महाराज युधिष्ठिर और सभी पाण्डवों का अभिनन्दन किया और महाराज युधिष्ठिर ने भी बड़े विनयपूर्ण शब्दों में उसका उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि 'हमारा विश्वास है कि आप लोग निश्चय ही हमें अपने अनुग्रह का पात्र समझते हैं तभी तो ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर आप हमें इस प्रकार गुण-सम्पन्न बना रहे हैं।'[2] इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने सभी पौर और जानपद लोगों को विदा किया और अपने छोटे भाई भीम को युवराज बनाया। महाभारत में अन्य अनेक प्रकार के अभिषेकों का भी उल्लेख है जैसे इसी प्रसंग में युवराज के रूप में भीम का, सेनापति के रूप में पितामह भीष्म (उद्योग पर्व, १५५, २६–३२) तथा द्रोण (द्रोण पर्व, ५, ३९–४३) एवं स्कन्द (शल्य, ४५) का।

डा० हाकार्ट का मत है कि राज्याभिषेक के साथ राजा के विवाह-संस्कार का सभा से ही घनिष्ट सम्बन्ध रहा है[3]। शतपथ ब्राह्मण में रानी के विषय में कहा गया है कि रानी राजा की पत्नी होने के कारण उसकी अर्द्धांगिनी है। इसलिए जब तक उसे रानी की प्राप्ति नहीं होती, उसकी सत्ता नहीं है, वह तब तक पूर्ण ही नहीं है। महाभारत में शायद इसीलिए हम देखते हैं कि चित्रागंद की मृत्यु के बाद विचित्रवीर्य को राजा की प्राप्ति होने पर उसके राज्याभिषेक के समय पितामह भीष्म काशी-नरेश की तीनों कन्याओं को विचित्रवीर्य की रानी बनाने के लिए अपहरण करके ले आये हैं[4]।

'आदर्श राजा'

महाभारतकार ने राजा के समक्ष अत्यन्त समुन्नत आदर्श प्रस्तुत किया है। मैकियावेली उसकी तुलना में कहीं अधिक व्यावहारिक एवं दैनन्दिन राजनीतिक जीवन की अनिवार्य समस्याओं के अनुरूप किन्तु पर्याप्त उदार और उन्नत आदर्श का समर्थक है। राज्य की रक्षा और प्रजा-पालन का आदर्श प्रबन्ध प्रत्येक राजा के लिये सर्वोच्च ध्येय होना चाहिये। इस विषय में महाभारत और 'प्रिंस' में सर्वथा ऐकमत्य मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में भगवान् बृहस्पति के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि 'सभी कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए भली प्रकार पृथ्वी की रक्षा करके तथा सभी नागरिकों (पौरान्) का पालन करते हुए राजा (न केवल इस लोक में अपितु) परलोक में भी सुखपूर्वक समृद्धि प्राप्त करता है। जो राजा अपनी प्रजा का पालन भली प्रकार करता हो, वह तो वस्तुतः स्वयं सभी धर्मों का ज्ञाता माना जाना चाहिये। क्या हुआ यदि उसने तप किया या न भी किया और यज्ञ भी किये या न

१—सभा, २३, ४१–२।
२—शान्ति, ४१, २–३।
३—ए० एम० हौकार्ट, किंगशिप, पृ० १०१–२।
४—आदि, ६५–६९।

किये ।"[1] तात्पर्य यह है कि महाभारतीय काल में तप एवं यज्ञ आदि आध्यात्मिक कार्यों की अपेक्षा, कर्म योग के सिद्धान्तों के अनुसार, अपने प्रजा-पालन रूप कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन करना ही राजा के लिये नितान्त आवश्यक माना जाता था तथा उस काल में भी यह लौकिक दृष्टिकोण अतीव प्राचीन काल से एक श्रेष्ठ परम्परा के रूप में प्रचलित था । कहा गया है कि 'लोकरञ्जन' करना ही राजाओं का सनातन धर्म है। लोकरंजन शब्द का तात्पर्य वस्तुतः सामान्य जनता को प्रसन्न और समृद्ध रखते हुए उन्हीं की इच्छा और आकांक्षाओं के अनुरूप शासन-कार्य का सम्पादन करना है। शान्ति पर्व (५६, ४५–४६) में कहा गया है कि राजा को अपने मन के अनुकूल अपने प्रिय कार्य की अपेक्षा वही कार्य करना चाहिये जिसके द्वारा जनता का हित होता हो, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने प्रिय और अनुकूल आचरण करने की अपेक्षा गर्भ के हित का ही ध्यान रखती है। यहीं आगे चलकर (९०, १–५) कहा गया है कि राजा का अस्तित्व धर्म के लिये ही होता है, कामवश होकर कार्य करने के लिये नहीं (केवल अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये भोग-विलास के लिये नहीं) उसे तो अनन्त कष्ट उठाकर राष्ट्र की रक्षा करनी होती है और अपने कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। सभी प्राणियों की सत्ता और कुशलता का आधार धर्म होता है और धर्म का आधार राजा ही होता है। उद्योग पर्व में राजा की सम्पूर्ण आर्थिक सम्पत्ति को पौर और जानपद अर्थात् नगरों और ग्रामों में निवास करने वाली जनता को ही बतलाया गया है और कहा गया है कि राजा के स्वामित्व में यह सम्पत्ति (अर्थ) उन्हीं के कल्याण के लिये है न कि राजा के अपने भोग करने के लिये।[3] महाभारत में राजा के अपनी प्रजाओं का पितृवत् पालन करने के आदर्श की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। प्रजापति मनु के बतलाये हुए राजा के सात गुणों का एकत्र समावेश करते हुए कहा गया है कि 'राजा पिता, भाई, गुरु, शासक, अग्नि, वैश्रवण और यम के समान सात गुणों से शोभित होता है। जो प्रजाओं पर अनुकंपा रखता है

१—कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् परिपाल्य मेदिनीम् ।
पालयित्वा तथा पौरान् परम सुखमेधते ॥
किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्या ध्वरैरपि ।
सुपालित प्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ शान्ति, ६९, ७२–३ ।

इस प्रसंग में महाशय काणे ने (३, ३, ६१ टिप्पणी में) महारानी विक्टोरिया के १८५७ के विख्यात घोषणा-पत्र के कुछेक वाक्य उद्धृत किये हैं, जिनमें महाभारत की सी उदात्त भावना प्रतिविम्बित होती है। ये वाक्य इस प्रकार हैं, "उनकी समृद्धि में ही हमारी शक्ति निहित होगी, उनकी प्रसन्नता में हमारी सुरक्षा और उनकी कृतज्ञता में ही हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार निहित होगा।"

२—लोक रंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः । शांति ५७, ११ ।

३—पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभागेनः ॥ उद्योग ११८, १३ ।

वह राजा तो लोक का (राष्ट्र का) पिता ही होता है[1]। इस प्रकार के उत्तरदायी राजतन्त्र के परिणामस्वरूप भय और आतंक से रहित एक स्वस्थ राजनीतिक समाज की सृष्टि होना स्वाभाविक है और इसी को राजा के आदर्श शासक होने की कसौटी कहा गया है। शान्ति पर्व के ५७वें अध्याय में राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण वर्ताव के विषय में की गई चर्चा के प्रसंग में कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में लोग इस प्रकार निर्भय होकर विचरण करते हैं, जिस प्रकार बेटे-बेटी अपने पिता के घर में, वही राजा सब राजाओं में श्रेष्ठ है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि वही राजा एक आदर्श और श्रेष्ठ शासक के रूप में प्रशंसनीय माना गया है, जिसके राज्य में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं[3], सर्वहितकारी राज्य की प्रवृत्तियों के अनुसार सार्वजनिक कल्याण की ओर अधिक से अधिक सुव्यवस्था की स्थापना हुई हो। आदर्श राजा की पहचान के विषय में सामान्य जनता के दृष्टिकोण से विचार करते हुए इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि वही राजा सर्वश्रेष्ठ एवं राज्य का शासक होने के योग्य है, जिसके राज्य में नगरों या जनपद में रहने वाले नागरिक (चोरों के भय के कारण) अपने धन को छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्याय को समझ कर उचित आचरण करते हों; अपने-अपने कार्य में संलग्न रहते हों; शरीर में आसक्ति न रखने वाले और जितेन्द्रिय हों; अपने वेश में रहने वाले, शिक्षा देने और ग्रहण करने के योग्य हों; आज्ञाओं का पालन करने वाले और कलह तथा विवाद से दूर रहने वाले हों; वे कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्या से रहित और दानशील हों।"[4] महाभारत की उक्त मान्यता का आधार यही है कि उक्त प्रकार की परिस्थितियाँ उसी राजा के राज्य में प्रतिष्ठित हो सकती हैं जो स्वयं अपने धर्म का उचित पालन करते हुए उक्त परिस्थितियों का निर्माण करने की योग्यता और क्षमता से युक्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में आदर्श राजा के विषय में प्राप्त विपुल और समृद्ध सामग्री में से स्थाली पुलाक न्याय से कुछेक तथ्यों की समीक्षा करने पर भी जो चित्र प्रस्तुत होता है वह अत्यन्त उन्नत और उत्कृष्ट होते हुए इस बात का द्योतक है कि उस सुदूर अतीत काल में ही इस विषय में हिन्दू राजनीतिक तत्त्वदर्शन ने स्पृहणीय उच्च आदर्शों को प्राप्त कर लिया था।

१—पिता भ्राता गुरुः शास्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् मनुराह प्रजापतिः॥
प्रजा हि राजा लोकस्य प्रजानां योऽनुकम्पिता॥ शांति, १३९, १०४–५।
दे० अर्थशास्त्र, २,१।

२—पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥ वही ५७, ३३।

३—दे० यही पुस्तक, अ० ५।

४—शांति, ५७, २५–२७।

सप्तम अध्याय

प्रशासन-व्यवस्था

- प्रशासन-तंत्र का स्वरूप
- सभा
- मन्त्रि-परिषद्
- प्रशासन के विभाग और अधिकारी
- प्रशासनिक इकाइयाँ
- ग्राम-प्रशासन
- नगरों का विकास, नियोजन तथा प्रशासन
- गुप्तचर-व्यवस्था

सप्तम अध्याय

प्रशासन-व्यवस्था

मानव-व्यक्ति, समाज, राज्य एवं राजा आदि के दृष्टिकोण से महाभारत के राजतन्त्र सम्बन्धी तत्त्वदर्शन की मीमांसा करने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक है कि महाभारत में शासन-तन्त्र एवं व्यावहारिक प्रशासन कार्य के स्वरूप के विषय में किन विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि महाभारत का राजधर्म सामान्यतया समन्वयात्मक एवं सैद्धान्तिक जैसा है तो भी अनेक प्रसंगों में व्यावहारिक प्रशासन के विषय में प्राप्त होने वाले संकेतों के अध्ययन से इनमें प्रतिबिम्बित मध्ययुगीन शताब्दियों की प्रशासन पद्धतियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत अध्ययन की पूर्णता और उपादेयता की दृष्टि से प्रशासन-तन्त्र सम्बन्धी इन विचारों का संक्षिप्त दिग्दर्शन अपेक्षित है। इस क्रम में सबसे पहले महाभारतीय प्रशासन-व्यवस्था एवं उसकी महत्त्वपूर्ण प्रमुख संस्थाओं के विषय में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त होगा।

महाभारतीय प्रशासन-तन्त्र का स्वरूप–

स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्त पर आधारित सुविशाल प्रशासन-तन्त्र ही वह शासन-प्रणाली है जिसने हिन्दू समाज और संस्कृति की अखण्डता, स्वाधीनता और वैयक्तिक विशेषता को अति प्राचीनकाल से आज तक सुरक्षित रखा है। भारत में राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ पृथक् पृथक् आत्मनिर्भर सी विशिष्ट इकाइयों की तरह तथा राष्ट्रीय सामुदायिक जन-जीवन और सामुदायिक कर्तृत्व के दो विशिष्ट केन्द्रों की तरह साथ साथ विकसित हुई हैं। और कार्यों की दृष्टि से भी उन्हें हम दो पृथक् व्यवस्थाओं की तरह विकसित होते हुए देखते हैं। इसीलिए राज्य के कार्यों और उत्तरदायित्वों की सीमाएं इतनी सुनिश्चित और सुनिर्धारित दिखाई देती हैं कि राज्य सामाजिक जीवन के व्यापारों में किसी प्रकार का अनुचित हस्तक्षेप न कर सके। प्राचीन भारत में ही यह सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति राज्य का आदर्श मान ली गई थी और साधारणतया राज्य के हस्तक्षेप को जितना कम किया जा सकता है उतना कम करके केवल 'समाज के जीवन और धन की सुरक्षा एवं वृद्धि करने तथा इस कार्य को भली प्रकार पूर्ण करने के लिए अपेक्षित धन का संग्रह करने के लिए कर उगाहने' तक ही नियन्त्रित कर दिया गया था। इस प्रकार सामुदायिक कल्याण के लिए मिलकर कार्य करते हुए राजनीतिक और सामाजिक संगठनों के अपने अपने

सुविचारित क्षेत्र बन गये थे। इस प्रकार ये दोनों व्यवस्थाएँ एक ही राष्ट्र-शरीर के दो अंगों की तरह जनहित के लिए प्रशासनिक, न्यायिक, सार्वजनिक, व्यापारिक अथवा औद्योगिक आदि क्षेत्रों में सहयोग से कार्य करती थीं। प्राचीन भारत की भौगोलिक परिस्थितियों में आज के से भौतिक साधनों, सुविधाओं और अवस्थाओं के अभाव में सुकेन्द्रित सुदृढ़ शासन-तन्त्र की स्थापना करके प्रशासन चलाना सम्भव नहीं था अतः बड़े बड़े साम्राज्यों में भी विकेन्द्रित, स्थानीय स्वयं प्रभुता पर आधारित, स्वशासन की व्यवस्था सभी प्रशासनिक इकाइयों को प्राप्त होनी स्वाभाविक थी। युधिष्ठिर के द्वारा अपने भाइयों की सहायता से सम्पूर्ण राजनीतिक भारत की विजय कर लेने के वाद राजसूय यज्ञ सम्पन्न करके इन्द्रप्रस्थ को राजधानी वनाकर जिस साम्राज्य की स्थापना की गई थी उसे आधुनिक पाश्चात्य मान्यता के अनुसार कदाचित् साम्राज्य भी नहीं कहा जा सकता। आधुनिक सुविधाओं और संचार के साधनों के अभाव में उस काल में इतने वड़े साम्राज्य में एक केन्द्रीय प्रशासन की स्थापना निश्चित रूप से असम्भव रही होगी। परन्तु इस प्रकार के बड़े बड़े साम्राज्यो की स्थापना भारत के सच्चे इतिहास से प्रमाणित होती है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् के साम्राज्यों के विपय में यूनानी लेखकों के उल्लेखों और अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से जो ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध होते हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन कालीन भारत में कृषि-उद्योग, व्यापार-वाणिज्य, सुविधाजनक राजपथों और व्यापार-मार्गों पर बनी धर्मशालाओं, कुओं और उद्यानों और पूर्ण संचार-व्यवस्था, समृद्ध ग्रामों और नगरों से बसा हुआ विशाल भू-भाग आदि सभी साम्राज्य के लिए उपयोगी परिस्थितियों के रहते हुए भी एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सत्ता के सुविस्तृत विकेन्द्रीकरण के द्वारा प्रशासनिक इकाइयों को स्थानीय स्वशासन की प्रायः पूरी छूट मिली हुई थी। भारतीय प्रतिभा ने इस प्रकार विशाल भू-भाग के प्रशासन-कार्य को चलाने के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने के लिए अनेक स्वशासित केन्द्रों से अपनी-अपनी प्राचीन परम्पराओं, स्थानीय कानूनों और व्यवस्थाओं के अनुसार शासन चलाने के नवीन आविष्कार को जन्म दिया था।

पाश्चात्य तन्त्र से तुलना—

प्राचीन भारत की तथा पश्चिम किंवा यूरोप की राजनीति और राजनीतिक तत्त्वदर्शन की तुलना करने पर दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है। पश्चिम में राज्य के उत्तरोत्तर अधिकाधिक हस्तक्षेप और नियंत्रण के द्वारा सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय क्रियाकलाप के सभी प्रमुख विभागों को अपनी सीमाओं में ही समेटने की जोरदार प्रवृत्ति दिखाई देती है, और इस प्रवृत्ति का आदर्श संपूर्ण जीवन के साधनों और प्रक्रियाओं का पूर्ण राष्ट्रीयकरण तथा समाजीकरण कर लेना रहता है। इस प्रकार राज्य आरंभ में समाज के एजेंट की तरह कार्य करना प्रारम्भ करता है और फिर प्रतिनिधि बन बैठता है, समाज अपने स्वाधीन जीवन से वंचित होकर उस राज्य में ही विलीन हो जाता है, जिसे उसने अपने कार्यों और उत्तरदायित्वों को सौंप दिया था। इस प्रकार पश्चिम में राजा या संप्रभुता को धारण करने वाला सत्ताधारी ही

न केवल राज्य का साथ ही समाज का अधिपति (प्रमुख) होता है यहाँ तक कि कहीं कहीं वह 'चर्च' का भी स्वामी हो जाता है। प्राचीन भारत में राजा राज्य का अधिपति था, परन्तु समाज का नहीं। सामाजिक जीवन में उसका परंपरागत स्थान था परन्तु वह सर्वोच्च न था। जनता की दृष्टि में वह राज्य का प्रतिनिधि होने के नाते तथा उसकी सत्ता के प्रायः भावात्मक होने के कारण उनके दैनिक जीवन से साक्षात् रूप में किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं था क्योंकि दैनिक जीवन का प्रशासन सामाजिक संगठनों के द्वारा संचालित होता था। जनता के दैनिक जीवन के सामान्य हितों में और राज्य में आपस में संपर्क में आने के अवसर वहुत कम आते थे।

हम देखते हैं कि भारत में स्थानीय स्वशासन की परम्परा स्वयंभू और स्वयं विकसित होकर राज्य की सहयोगिनी वनकर ही बद्धमूल रही। इसके विपरीत हमें आधुनिक काल की राज्य-व्यवस्था में यह मौलिक अन्तर दिखाई देता है कि इसमें पूर्ण तथा संगठित निकाय के नाते पूर्ण विकसित राज्य अपने अन्दर अपने कार्यों के विकेन्द्रीकरण और परिसीमन के द्वारा स्वशासित केन्द्रों का स्वयं सोच समझकर निर्माण करता है। प्राचीन भारतीय व्यवस्थायें जातीय संस्थाओं, श्रेणियों और स्थानीय निगमों का विकास प्रजातिगत जीवन और संगठन की प्रगतिशील और प्रारंभिक दशाओं में से हुआ है और इसीलिए इनके ऊपर शासन करने या शासन जमा लेने के समय राज्य को उनके साथ प्रायः समानता का सा वर्ताव करने को वाध्य होना पड़ा है। राज्य उनके परम्परा प्राप्त अधिकारों और संविदाओं के अनुसार ही सम्वन्ध वनाये रखने को अपने आचार एवं व्यवहार की संहिता स्वीकार करके चलता आया है।

महाभारत में सभा

भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से सभा और समिति नाम की दो संस्थाएँ थी। वैदिक काल में भी सम्भवतः इनकी परम्परागत प्राचीनता की ओर संकेत करते हुए इन्हें प्रजापति की दुहिता (वेटियाँ) कहा गया था। उस समय के लोग चाहे कितने ही सीधे सादे और भोले भाले रहे हों, यह निर्विवाद सत्य है कि वैदिक कालीन भारतीय अपने राजनीतिक हितों के प्रति वड़े जागरूक थे उदात्त सामाजिक भावना और उग्र एवं सप्राण राजनीतिक चेतना वैदिक कालीन भारतीयों की विशेषताएँ थीं। वैदिककाल की सभा इस प्रकार की जनता की प्रतिनिधि संस्था थी जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन का पूर्णरूपेण नियंत्रण करती थी। अथर्ववेद के सभा और समिति का वर्णन करने वाले मंत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय, प्रमाण और तर्क की शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के सभाओं का झुक जाना असंभव होता था। यही कारण है कि लोग समझा बुझाकर उसे (सभा को) मना लेने तथा उत्कृष्ट वाग्मिता के द्वारा विचार-गोष्ठियों में उसे प्रभावित कर लेने के द्वारा ही सभा का समर्थन प्राप्त करने

का प्रयत्न करते थे[1]। इन समाजों में केवल धार्मिक एवं राजनीतिक विषयों पर सैद्धान्तिक चर्चा की जाती थी अपितु अनेक दैनन्दिन व्यवहार के प्रश्नों, समस्याओं और विवादग्रस्त विषयों पर भी विचार किया जाता था तथा उस काल में राजा या सेनापति आदि तक का भी चुनाव करने के अधिकार से सम्पन्न और एवं जानपद जनता के प्रमुख प्रतिनिधि (राजानः) इन्हीं समाजों में एकत्रित होकर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय किया करते थे[2] और इस प्रकार सभा में एकत्रित होकर जन समुदाय के द्वारा किए गए निर्णय का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था[3]।

महाभारत में सभा शब्द का प्रयोग सभा नाम की परिषद् और सभा भवन दोनों के ही अर्थों में किया गया है। सभा-पर्व में नारद ने धर्मराज युधिष्ठिर की सभा को अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व बतलाते हुए अनेक देव-सभाओं का वर्णन किया है[4] इस प्रसंग में इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर और प्रजापति की सभाओं की शोभा, आकार-प्रकार उनमें सम्पादित सुविधाओं और उनके अलग-अलग सभासदों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। प्रायः सर्वथा मानवीय संस्थाओं और व्यवहारों का सम्बन्ध अपने देवताओं से भी जोड़ देने की प्रवृति सभी समाजों में स्वाभाविकतया सामान्य रूप से पाई जाती है। अतः इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि यह संस्था प्राचीन भारत में स्मरणातीत काल से ही प्रचलित थी। जहाँ तक मानवीय सभाओं का वर्णन का प्रश्न है महाभारत में वृष्णियों की सभा सुधर्मा का सुन्दर उल्लेख प्राप्त होता है[5] तथा मयासुर के द्वारा युधिष्ठिर के लिए निर्माण की गई अलौकिक सुन्दर और विशालराजसभा[6] के अतिरिक्त वनपर्व में विदर्भ-राज की सभा का भी उल्लेख किया गया है[7]। इसके अतिरिक्त विराट् पर्व में विराट् की और उद्योग-पर्व में द्रुपद तथा कुरुओं की सभा के भी उल्लेख सर्वविदित हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या सभा के राजनीतिक स्वरूप का तात्त्विक विवेचन

१—अथर्ववेद, १३, १–२ आदि।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उपमा सशिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥१
विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः ॥२

२—ऋग्वेद, १०, ९७, ६, 'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव'
द्रष्टव्य-जायसवाल २, १२–१७।

३—देखिए–'नरिष्ठा नाम वा असि' पर सायण भाष्य।

४—सभा ६–१२

५—आदि २२२, ११—'ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्'

६—सभा ३, २७—'सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः'

७—वन ५५, ५।

तथा उसके विकास, संगठन, उत्तरदायित्व और कार्य का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना आज सम्भव है। वस्तु-स्थिति यह है कि अपने ज्ञान की वर्तमान अवस्था में हम सभा के विभिन्न रूपों का पूर्ण एवं सर्वथा समीचीन विवेचन प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं है, क्योंकि महाभारत में इस विषय में जो साक्ष्य सामग्री उपलब्ध है वह बड़ी विरल, अव्यवस्थित, रूपरेखात्मक एवं संक्षिप्त ही है। इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति पर विचार व्यक्त करने वाले शतावधि विद्वानों ने वैदिक काल से लेकर परवर्ती प्राचीन काल तक के सभा, समिति, परिषद्, विदथ आदि संस्थाओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए अतीव परस्पर विरुद्ध तथा विविध विचार अभिव्यक्त किए हैं। उदाहरण के लिए जहाँ एक ओर महाशय जिम्मर ने अपना यह मत प्रकट किया है कि प्राचीन भारत में राजा का वरण या निर्वाचन करना सभा का ही कार्य था[1], दूसरी ओर गैल्ड्नर महोदय उक्त मत का खण्डन करते हुए यहाँ तक कहने का साहस करते हैं कि उक्त निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए एक भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है[2]। डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने कहा है कि सम्भवतः सभा एक चुने हुए सदस्यों के द्वारा संगठित एवं समिति के द्वारा प्रदत्त अधिकार के अनुसार कार्य करने वाली स्थायी और अपरिवर्तनशील संस्था थी[3]। इसी प्रसंग में पहले समिति का वर्णन करने के पश्चात् सभा का वर्णन करते हुए उन्होंने सभा को वरिष्ठ सदस्यों की संस्था कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सभा और समिति के स्वरूप को आधुनिक संसदीय शासन-प्रणाली के क्रमशः वरिष्ठ सदन (अं० अपर हाउस) तथा लोक सदन (अं० हाउस आव् कामन्स) की तरह ही चित्रित करने का प्रयास किया है[4]। परन्तु प्राचीन संस्थाओं में आधुनिकतम राजनीतिक विशेपताओं की कल्पना करना कोरी कष्ट-कल्पना ही कहा जायगा। वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि डा० जायसवाल के उक्त विवेचन का अधिकांश उनकी प्रौढ़ एवं उर्वर कल्पना-शक्ति और साहसिक निर्वचन का ही परिणाम है। महाशय मैक्डानल और कीथ के अनुसार उक्त सभाओं में सभी प्रकार की नीतियों पर सर्वसामान्य विचार किया जाता था[5], आवश्यकतानुसार नियमों या कानूनों का निर्धारण किया जाता था तथा न्याय सम्बन्धित विषयों पर निर्णय किए जाते थे। किन्तु मैक्डानल और साथ ही हिलेब्रांट के इस मत में भी बहुत सत्य निहित है कि उक्त संस्थाओं की पृथक् पृथक् विशेषताओं का निरूपण करना अब संभव नहीं है[6]।

१—एच० जिम्मर, आल्टिडिशचेस् लेवन पृ० १७५; दे० उद्योग १४६, २.–२५; शान्ति ६७; रामायण, अयोध्या १–२।

२—के० एफ० गैल्डनर वेदिशे स्टडियन, अ० २, पृ० २०३।

३—जायसवाल, भाग १, पृ० १६।

४—दे० वही अ० २–३।

५—दे० वैदि० इण्डैक्स २, ४३१।

६—हिलेब्राण्ट, वेदिशे माइथोलोजी–२, १३३–५।

हम देखते है कि महाभारतकाल तक आते जाते उक्त दोनों संस्थाओं का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता[1]। ऐसा लगता है कि जर्मनी की अति प्राचीन लोकसंस्था सिपे की सी ही अतिप्राचीन भारत की जनसंख्या जिसमें एकत्रित होकर जनों के सदस्य सार्वजनिक हित के प्रश्नों पर विचार किया करते थे तथा जो सभा, समिति एवं परिषद् आदि नामों से विख्यात थी, अब केवल एक ही नाम से अभिहित होती थी और इसे "सभा" कहते थे[2]। किसी भी प्रकार की जनता की पंचायत, किसी विशेष उद्देश्य से एकत्रित जन-समुदाय, न्यायाधिकरण (उ० अदालत), राजाओं, सामन्तों तथा सेनापतियों की परिषद् या राजदरबार तथा सामाजिक एवं धार्मिक समारोहों तथा आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन के लिए भी होने वाले आयोजनों को भी महाभारत में सभा ही कहा गया है[3]। वैदिक काल से ही चले आये उक्त संस्था के राजनीतिक स्वरूप से मेल खाने वाली राजनीतिक सभाओं के संकेत भीमहाभारत में प्रचुरतया उपलब्ध हैं।

सभा का स्वरूप—

अपने विषय के अनुरूप इसी राजनीतिक सभा का विवेचन प्रशासन के अंग के नाते करना हमें अभिप्रेत है। राजनीतिक वर्गीकरण की दृष्टि से महाभारत में इस सभा या परिषद् के तीन राजनीतिक रूप मिलते हैं। सभा का पहला रूप वह है जिस में धर्म अधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य एवं अधिकृत अनधिकृत तथा नैतिक-अनैतिक आदि महत्त्वपूर्ण विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध लोग एकत्रित होकर निर्णय देते थे। राजा धृतराष्ट्र की ऐसी ही सभा में द्रौपदी ने सभी सभासदों से इस विषय में व्यवस्था देने की प्रार्थना की थी कि क्या युधिष्ठिर को अपने आपको हार जाने के बाद अपनी पत्नी (द्रौपदी) को जूए में दाव पर लगा देने का अधिकार था। और यदि नहीं तो क्या जूए में अनधिकृत रूप से दाव पर लगाई गई होने पर भी उसे जूए में हारी हुई समझा जाना न्यायोचित होगा[4]। यहाँ सभा का यह रूप सर्वोच्च 'जन-न्यायालय' का सा है। दूसरे प्रकार की सभा में राजा, राजा के सम्बन्धी

१—दे० जायसवाल, पृ० २२ 'राष्ट्रीय परिषद् या समिति के वैदिकोत्तर कालीन विघटन पर'।

२—दे० हापकिन्स, पृ० १४८; टैसीटस, 'मोरीस आव् पौपुलिस जर्मनी' अ० २ तथा दे० परिषद् या पर्षद् नाम के लिए वसिष्ठ ३, २०; मनु० १२,३; मौसल पर्व ३, १७।

३—किसी विशाल भवन, आगार, द्यूत–गृह तथा राजदरबार आदि के लिए भी सभा शब्द का ही प्रयोग मिलता है। दे० 'सभा परिषदो मध्ये' विराट् पर्व १८, २ में सभा भवन में होने वाली परिषद् आदि १४३, २४; आ० २२२, १२, वन ६२, ४। उद्योग ८५, १३।

४—सभा ६७, ७।

सामन्तगण एवं प्रमुख सेनापतियों की उपस्थिति में महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विनिमय एवं निर्णय किए जाते थे। इसका स्वरूप कुछ-कुछ फारसी राज दरबार का सा प्रतीत होता है। विराट् की सभा में कौरवों को समझाने के लिए दूत भेजने का निर्णय किया जाना, महाभारत-युद्ध से पहले ही कृष्ण का दूत बनाकर भेजा जाना, युधिष्ठिर और दुर्योधन का ऐसी ही सभाओं में महाभारत युद्ध के लिए सेनापतियों की नियुक्ति करना, और यादव-सभा में भूरिश्रवा पर किए गये प्रहारों के विषय में किए गये वाद-विवाद आदि अनेक उदाहरणों से सभा के इस स्वरूप की पुष्टि होती है। तीसरा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद वह सभा या परिषद् कही जा सकती है जिसमें राजा और उसके अमात्य या मंत्री ही सम्मिलित होते थे और वे प्रशासकीय महत्त्व के या राष्ट्र की भीतरी और बाहरी सुरक्षा एवं समृद्धि से सम्बन्धित मामलों पर मन्त्रणा करते और नीतियों का निर्धारण करते थे। इस परिषद् की सम्पूर्ण कार्यवाही की गोपनीयता पर सर्वत्र बहुत अधिक बल दिया गया है।

इन तीनों रूपों के अतिरिक्त सभा का एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप वह है जब उसमें उपस्थित होकर राजा प्रजा की पुकार सुनता था धर्मासन पर स्वयं विराजमान होकर वह अभियोगों की सुनवाई के पश्चात् सर्वोच्च धर्माधिकारी अथवा न्यायाधीश के नाते अपना निर्णय देता था। आगे चलकर न्याय-व्यवस्था का विवेचन करते हुए इस सभा के विषय में विशेष रूप से विचार किया जायेगा। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि सभा का यह रूप न्यायाधिकरण (उर्दू-अदालत) का सा होता था। प्रस्तुत प्रसंग में सभा के राजनीतिक एवं प्रशासनिक महत्त्व की ही मीमांसा करने के लिए उसके तीन उपर्युक्त रूपों पर ही कुछ विस्तार से विचार करना अपेक्षित है।

सभा के सबसे पहले भेद का "न्यायपालिका संस्था" के रूप में उत्कृष्ट स्वरूप महाभारत के सभा पर्व में तब प्रकट होता है, जब द्रौपदी के द्वारा उठाये गये प्रश्न पर जिसका हम पहले निर्देश कर चुके हैं, कौरव-सभा में विचार प्रारम्भ हुआ[1]। महाराज धृतराष्ट्र स्वयं सभापति के पद पर विराजमान थे। पितामह भीष्म ने इस प्रश्न की वैधानिक जटिलता और कठिनता की ओर संकेत करते हुए निर्णय देने में असमर्थता प्रकट की, और न ही धृतराष्ट्र, विदुर, द्रोण, कृप तथा अन्य किसी व्यक्ति ने कोई निर्णय दिया इसी समय दुर्योधन के ही छोटे भाई विकर्ण ने सभी राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि वे काम एवं क्रोध के वशीभूत न होकर पुण्यशीला द्रौपदी के द्वारा अनेक बार दुहराये गये प्रश्न पर अपना-अपना निष्पक्ष निर्णय दें, उसने स्वयं अपना निर्णय देते हुए कहा कि जुए जैसे राज-व्यसन के वश में होकर पहले अपने आप को तथा भाइयों को भी हार जाने के बाद युधिष्ठिर ने, शकुनि के द्वारा द्रौपदी को दाव पर लगा देने का सुझाव देने पर ही, अज्ञानवश द्रौपदी को भी दाव पर लगाया था, इसलिए द्रौपदी को जूए में जीती हुई नहीं माना जा सकता। विकर्ण के इस

१—सभा-पर्व अ० ६७ आदि।

प्रस्ताव का सारी सभा ने बड़े ऊंचे स्वर से समर्थन किया और उन्होंने विकर्ण की न्यायप्रियता की प्रशंसा करते हुए शकुनि की घोर निन्दा की[१]। अन्त में धृतराष्ट्र ने द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों को दासता से मुक्त करने की घोषणा की। यह निर्णय सभा की उन न्यायालयीय परम्पराओं के अनुरूप ही हुआ जिनके अनुसार यह कहा गया है कि वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न हों, उन्हें वृद्ध नहीं कहना चाहिए जो धर्म की घोषणा न करें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं होता जिसमें छल-कपट की मिलावट हो[२]। वृद्धों की योग्यता का निर्णय उनकी आयु और विद्या के आधार पर किया जाता था[३]। इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि आयु और विद्या के साथ-साथ कुल को भी महत्त्व दिया जाता था[४]। सभा में स्थान पाने वालों को सभ्य या सभासद् कहा जाता था। महाभारत में सभ्य और सभासद् दोनों ही शब्द पर्यायवाची हैं। डा० घोषाल ने जिस प्रकार उच्च प्रकार के सदस्यों को सभासद् बतलाया है और उन्हें राजकीय परिषद् या राज-न्यायाधिकरण के सम्मानित सदस्य माना है तथा सामान्य जन-सभा के सदस्यों का सभ्य कहलाया जाना स्वीकार किया है वैसा कोई निश्चित संकेत महाभारत में उपलब्ध नहीं होता[५]। डा० आल्टेकर के धर्म-सूत्रों के अध्ययन पर आधारित मत के अनुसार भी सर्वोच्च न्यायपालिका या राज-सभा के उपर्युक्त न्यायालयीय स्वरूप के सदस्यों को सभासद् माना गया है[६]। महाभारत में किसी प्रकार की 'प्रमुख' या 'गौण' सदस्यता का निर्णय करने की स्थिति में हम नहीं हैं क्योंकि इसमें सभी सदस्यों के लिए सामान्य रूप से सभासद् शब्द का प्रयोग किया गया है[७]। सदस्य शब्द भी सभासद् का ही पर्यायवाची है[८]। विराट् पर्व में युधिष्ठिर के राजा विराट् के "सभास्तार" होने का उल्लेख मिलता है[९]। नीलकण्ठ ने 'सभास्तार' शब्द की व्याख्या करते हुए इसका तात्पर्य सामान्य सदस्य या सभासद् ही माना है। अतः हाप्किंस के द्वारा इस शब्द का अर्थ 'डाइस-मास्टर' बतलाना मान्य नहीं हो सकता।

१—सभा ६८, २४–२५, 'एतत्सर्वं विचार्याहं न मन्ये विजितामिमाम्।'
'एतत् श्रुत्वा महान् नादः सम्मानादुदतिष्ठत।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम्।'

२—उद्योग ३५, ५८ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः न ते वृद्धा येन वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

३—वही ५–५ 'भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।'

४—वही ६, ५।

५—घोषाल, 'हिन्दू पब्लिक लाइफ', भाग १, पृ० ४८–९।

६—आल्टेकर, पृ० १००।

७—सभा २, ७८, ३।

८—दे० विराट् १८, ३० पर नीलकण्ठीय भारतभावदीप टीका में 'सदस्यं सभासदम्'।

९—विराट् १, २४; १८, २८, दे० वही १६, ९–३३।

जहाँ तक सभा के दूसरे रूप का प्रश्न है, हम प्राय: पाते हैं कि सभा में सामयिक समस्याओं पर विचार-विनिमय तथा निर्णय किया जाता था। इस प्रकार की सभा के विविध उदाहरण महाभारत में उपलब्ध हैं। यादवों की वह सभा जिसमें भूरिश्रवा पर हुए प्रहार के विषय में चर्चा की गई थी[1]। अर्जुन के द्वारा सुभद्रा का अपहरण किये जाने पर सभापाल के द्वारा "सान्नाहिकी" भेरी बजाये जाने पर जहाँ सभी व्यस्क यादव अपने-अपने शस्त्रों से सुसज्जित होकर एकत्रित हुए थे[2] तथा जहाँ अन्त में यादवों के आपसी कलह के कारण नष्ट हो जाने पर अर्जुन ने अमात्यों और शेष प्रजाजनों से अपने साथ यादवों के बच्चों, बूढ़ों और स्त्रियों को हस्तिनापुर ले चलने के विषय में मंत्रणा की थी[3]। यह ऐतिहासिक यादव-सभा जन-सभा के सुन्दर उदाहरण के रूप में उल्लिखित उपलब्ध होती है। इसकी तुलना में अन्य सभाओं के वर्णनों में उनके लोक-संस्था होने की अपेक्षा निरी राज-संस्था होने के ही अधिक संकेत मिलते हैं। इस विषय में हापुकिन्स का कहना है कि 'महाभारतकाल में जनता की सभा धीरे-धीरे केवल सामन्तों का ही समुदाय रह गई थी जनता की सैन्यशक्ति केवल राजा के अधिकार में आ गई थी। ब्राह्मण सभी सार्वजनिक हित के विषयों में प्राय: मौन रहते थे और जनता दमन-ग्रस्त थी। केवल उन प्राचीन गाथाओं में जिनका उल्लेख महाभारत में किया गया है, जनता की शक्ति का कुछ परिचय मिलता है और वह शक्ति भी केवल सार्वजनिक मामलों में है, सैनिक विषयों में नहीं[4]।' उक्त उद्धरण से ही यह बात स्पष्ट है कि हापुकिन्स के उक्त मत का आधार उसकी यह मान्यता है कि महाभारत में विकास के तीन स्तरों (परतों) का समावेश है। इस मान्यता के सर्वथा अप्रामाणिक होने के कारण उसके उक्त विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। महाभारत में प्रतिबिम्बित परिस्थितियों के सर्वेक्षण से सभा के जो रूप प्रकाश में आते हैं उनके मूल में प्रादेशिक एवं व्यवस्थागत प्रभाव ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं, काल-विषयक संदिग्ध एवं काल्पनिक कारणों की कल्पना अनावश्यक और अनुपादेय ही प्रतीत होती है। जहाँ एक ओर अन्धक-वृष्णि-संघ की यादव-सभा में लोकतन्त्रीय तत्त्वों का अपेक्षाकृत आधिक्य मिलता है वहाँ दूसरी ओर अन्य राजसभाओं में राज-तंत्रीय और किसी हद तक सामंतवादी व्यवस्था के से संकेत मिलते हैं और इसीलिए राजसभाओं में प्राय: राजा के सगे सम्बन्धियों, सामन्त राजा, सेनापति और अन्य दरबारी व्यक्ति ही प्रमुखतया एकत्रित होते दिखाई देते हैं। पौर और जानपदों की उपस्थिति के भी उल्लेख किए गये हैं। किन्तु वहाँ उनकी स्थिति गौण सी प्रतीत होती है। इस तथ्य की ऐतिहासिकता सर्वथा निर्विवाद है।

१—मौसल ३, १७।
२—आदि पर्व २१९।
३—मौसल ७, ८ 'तमासनशतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे॥'
४—दे० हापुकिन्स १४८, और आगे।

सभासदों के गुण—

शान्ति पर्व में उल्लिखित सभासदों के आवश्यक गुणों पर विचार करने से सभा की सदस्यता के विषय में उस काल में विद्यमान वस्तु-स्थिति पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि वे ही लोग उनके सभासद् होने चाहिये जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल स्वभाव वाले तथा भली प्रकार से बात कहने में समर्थ हों[1]।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के योग्य एवं सशक्त सभासदों की सभा का राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रभाव नगण्य नहीं माना जा सकता। यूनानी लेखकों के उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि सिकन्दर महान् के आक्रमण के समकालीन भारत में अनेक राज्यों में स्पार्टा के सदृश गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली प्रचलित थी और इन राज्यों में वृद्धों (वरिष्ठों) की एक सभा राज्य का शासन करती थी[2]। श्री वी० कनकस भाई ने प्राचीन भारत के तमिल राज्यों की शासन-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए जनता की प्रतिनिधि रूप महत्त्वपूर्ण पाँच सभाओं का उल्लेख किया है। जनता, पुरोहितों, वैद्यों, ज्योतिषियों तथा मन्त्रियों की ये परिषदें (सभाएँ) राजा की प्रभुता का परिसीमिन एवं नियमन करती थीं और जनता के मौलिक तथा विशेष अधिकारों को संरक्षण प्रदान करती थीं[3]। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उक्त भारतीय सभा की उसी काल के पश्चिमी यूरोप की जन-सभाओं के साथ तुलना करना उचित नहीं होगा, क्योंकि यूरोप की इन सभाओं में वाद-विवाद या प्रवचन की परम्परा तब तक विकसित नहीं हुई थी। उदाहरण के लिए प्राचीन जर्मनी की जन-सभाओं में सामान्य जनता व्याख्यान देने वाले सामन्तों की वक्तृताओं का केवल शस्त्रों की अव्यक्त ध्वनि के द्वारा ही अनुमोदन किया करती थीं[4]। ऐसी वस्तुस्थिति में भारतीय सभा की तुलना करने के लिए पश्चिमी यूरोप की उक्त सभाओं को उद्धृत करने वाले कतिपय यूरोपीय विद्वानों का यह प्रयास समीचीन नहीं कहा जा सकता[5]।

सभा में सभासदों के संरक्षित स्थान—

सभा में उपस्थित होने वाले सभासद अपने पूर्व निश्चित स्थानों पर ही बैठते थे। ये स्थान विविध सभासदों के लिए विभिन्न जगहों पर शायद उनकी प्रतिष्ठा

१—शान्ति ८३, २ 'ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जव समन्विताः।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः॥'
दे० सभा ६०, ५ 'सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्त्तयः।'

२—आर० सी० मजूमदार—'प्रिवी कौंसिल' शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत दाओदोरस का मत।

३—वी० कनकसभाई—'तमिल्स एटीन हंड्रेड ईयर्स एगो' पृ० १०९–११०।

४—टेसीटस—'मोरिबस एट पौपुलिस जर्मनिस', अ० १००, २।

५—दे० जायसवाल, पृ० १९–२९।

और स्थिति के अनुसार संरक्षित किए जाते थे। विराट् पर्व में एक प्रसंग में यह उल्लेख मिलता है कि अज्ञातवास में राजा विराट् के सभा-स्तार के रूप में रखते हुए धर्मराज युधिष्ठिर एक वार भूल से उस स्थान पर वैठ गये जो स्थान राजकुल से सम्वन्धित व्यक्तियों के लिए संरक्षित था[1]। सभा पर्व में उक्त सभाओं के विभिन्न प्रकार के आसनों का सुविस्तृत वर्णन उपलब्ध है। विशेषतः युधिष्ठिर की सभा और हस्तिनापुर की कुरु-सभा के वर्णन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं[2]।

सभा की रक्षा-व्यवस्था—

सभा की रक्षा का पर्याप्त प्रवन्ध करना राज्य का उत्तरदायित्व होता था। सभा पर्व में कहा गया है कि युधिष्ठिर की सभा की रक्षा और देखभाल का कार्य राक्षसराज मय के नेतृत्व में रहने वाले 'किंकर' नाम के आठ हजार राक्षसवंशी लोगों को सौंपा गया था[3]। राक्षसवंश के वलवान् रक्षक सम्भवतः उन दिनों सभा की रक्षा के लिए सामान्यतया नियुक्त किए जाते थे। वे नियत संख्या में उस समय सभा-भवन में उपस्थित रहते थे, जव सभा का अधिवेशन चल रहा होता था। राजा विराट् की सभा में रक्षक के रूप में नियुक्त राक्षस ने ही द्रौपदी का सभा-भवन में पीछा करने वाले तथा उसके केश पकड़कर और धरती पर गिराकर उसे पैर से ठोकर मारने वाले दुष्ट कीचक को वड़ी शीघ्रता से (वातवेगेन) हटाया था। इस राक्षस ने इतने जोर से कीचक पर प्रहार किया कि वह चकराकर वेहोश हो गया और इस प्रकार भूमि पर गिरा जैसे जड़ से कटा हुआ पेड़ गिरा करता है[3]। इसी प्रकार के एक रक्षक की नियुक्ति सभा के प्रवेश द्वार पर होती थी। इसे द्वारपाल या सभापाल कहा जाता था। सभापाल ने ही जाकर यादवों की सभा को अर्जुन के द्वारा सुभद्रा के अपहरण की सूचना दी थी[4]।

सभा के विपय में प्राप्त अनेक उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभा-भवन में बड़े उच्च अनुशासन और शिष्टता के अनुरूप आचरण किया जाता था। राजा, पुरोहित तथा वृद्ध अमात्य आदि के पधारने पर सभासद अपने आसनों से उठते थे। राजा अथवा सभाध्यक्ष या सभाश्रेष्ठ भी सभासदों का वड़ा सम्मान करता था[5]।

१—विराट् ७०, ७ 'अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलङ्कृतः'

द्रष्टव्य—रामायण, अयोध्या०, १, ५० ।

'अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥'

२—सभा ६०, ३—'ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि विभेजिरे ॥'

३—विराट् ४, ११–१२ ।

४—आदि २२०, १०–१५ ।

५—सभा १३, ८ 'युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।'

सभा श्रेष्ठ—

समान्यतया सभा के अधिवेशनों में राजा सभापतित्व करता था। परन्तु राजा की अनुपस्थिति में तथा विशेपतः जब सभा में किन्हीं न्याय सम्बन्धी विषयों पर विचार किया जाता था, तब उसका सभापतित्व कोई अन्य योग्य व्यक्ति भी किया करता था। इस सभापति को 'श्रेष्ठ' कहा जाता था[1]। शान्ति पर्व में श्रीकृष्ण और देवर्षि नारद के संवाद में गण या सभा के श्रेष्ठ (मुख्य) के विशेष गुणों की ओर परोक्ष संकेत उपलब्ध होते हैं[2]। कहा गया है कि श्रेष्ठ को दानी, सहनशील, सरल, कोमल, यथायोग्य आदर सत्कार करने वाला, तथा अपनी मधुर वाणी के द्वारा कड़वी और ओछी बात कहने वालों के भी हृदय, वाणी और मन को शान्त करने वाला होना चाहिए। सामान्य सभासद् के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में जिन लज्जाशीलता, सदाचार, सत्य सरलता और वाग्मिता आदि गुणों की अपेक्षा समझी जाती थी, उन गुणों से युक्त किसी सभासद् को ही सभा-श्रेष्ठ बनाया जाता होगा यह स्वाभाविक है, तो भी सभा-श्रेष्ठ बनने के बाद उसका उत्तरदायित्व सामान्य सभासद की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता था। सभा में धर्म-सम्मत निर्णय ही किये जायें इसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी सभा श्रेष्ठ ही माना जाता था। कहा गया है कि जब किसी धर्मिष्ठ व्यक्ति पर अधर्म का आरोप लगाये जाने पर अधर्म से विंधा हुआ धर्मसभा में उपस्थित होता है तब यदि सभासद् धर्म के उस शल्य को नहीं निकालते तो वे सभासद् ही अधर्म से विंध जाते हैं। ऐसी दशा में धर्म-सम्मत निर्णय करने में असमर्थ एवं अयोग्य सिद्ध होने पर आधा पाप सभा-श्रेष्ठ के सिर पड़ता है तथा एक चौथाई पाप करने वाले पर। इसके अतिरिक्त एक चौथाई पाप के भागी सभा के वे सभासद् होते हैं जो निन्दित की निन्दा नहीं करते और यदि सभा में निन्दनीय की निन्दा की जाय तो पाप का भागी केवल अपराध करने वाला ही होता है, श्रेष्ठ निरपराध (अनैनाः) हो जाता है और सभी सभासद् भी पाप से मुक्त रहते हैं।[3] उक्त उल्लेख से सभा और उसमें होने वाले न्याय-विचार के विषय में श्रेष्ठ की महत्वपूर्ण स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सभा का संगठन—

महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि राज्यों की राजधानियों में सभा के अधिवेशन होते थे। हस्तिनापुर, द्वारका, विराट्नगर जैसे नगरों में ही सभा के संगठन का होना प्रायः पाया जाता है। उद्योग पर्व में विराट् की सभा में किये गये निर्णय के अनुसार द्रुपद के वृद्ध पुरोहित को कुरु-सभा में भेजा गया। यहीं द्वितीय अध्याय में

१—सभा ६८, ८० 'अनैना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।'

२—शान्ति ८१, १९–२४।

३—सभा ६८, ७७–८०; दे० 'अर्द्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दति निन्दितम् ॥'
'एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते'

वलदेव ने कुरु-सभा में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि आदि शूर महारथियों के अतिरिक्त निगमों के प्रधानों (निगम-प्रधानाः), विद्वान् वयोवृद्धों (वहुश्रुताः वृद्धाः) और नगर के वरिष्ठ वृद्धों की उपस्थिति की चर्चा की गई है।[1] इसी प्रकार सुधर्मा नाम की यादव-सभा में अर्जुन के सभी नागरिकों (सर्वाः प्रकृतयः) ब्राह्मणों तथा निगमों के एकत्रित समुदाय से वार्ता करने का उल्लेख मिलता है।[2] द्वारका की संपूर्ण जनसंख्या के सुधर्मा सभा में उपस्थित होने की अविवेकपूर्ण कल्पना कैसे की जा सकती है ? अतः स्पष्ट है कि 'सर्वाः प्रकृतयः', 'नेगमाः', 'ब्राह्मणाः', 'पौरवृद्धाः', 'गणमुख्याः', आदि शब्दों का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि इस काल में जनता के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त राजनीति का व्यावहारिक नियम माना जाता था और ये सभाएँ केवल नरेशों और राजाओं के समुदाय ही नहीं थीं। हाँ यह हो सकता है कि किसी विशेष अभिप्राय से राजा के द्वारा वुलाई गई सभा का रूप वैसा ही प्रतिनिधित्व-पूर्ण न रहता हो। उदाहरण के लिये युधिष्ठिर के द्वारा राजसूय-यज्ञ करने के विषय में मन्त्रणा प्राप्त करने के लिये वुलाई गई सभाओं में केवल एक जगह ही, पौरों के सम्मिलित होने का उल्लेख है अन्यों में उसके सगे-सम्वन्धियों, भाइयों, मन्त्रियों और महर्षियों ने ही अपने निर्णय दिये हैं। उस द्यूत-सभा में भी जिसमें दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिये आमन्त्रित किया था केवल राजकुल से सम्वन्धित व्यक्ति, अन्य राजा लोग तथा सेनापति ही उपस्थित थे।[3]

यह तथ्य वस्तुतः वड़ा ही विस्मयजनक है कि महाभारत कालीन जन-संस्था 'सभा' की तरह पाश्चात्य देशों में भी उस युग में ऐसी संस्थाएँ थीं। मैकियावेली ने 'प्रिंस' में अनेक स्थलों में काउंसिल, सीनेट तथा संसद् जैसी जन-सभाओं का उल्लेख किया है। आठवें अध्याय में नगर के प्रमुख नागरिकों के एकत्रित होकर महत्वपूर्ण जनहित के प्रश्नों पर एकान्त में विचार करने की परम्परा का संकेत प्राप्त होता है।[4] २१ वें अध्याय में एकियन लोगों की सभा में एटोलियन-दूतों के द्वारा रोमनों के मित्र एकियनों को तटस्थ रहने के लिये प्रेरित करने के उद्देश्य से दी गई वक्तृताओं का उल्लेख है। यहीं पर यह भी कहा गया है कि रोमनों के दूत ने एकियनों की सभा में उन्हें रोमनों के समर्थन में शस्त्र ग्रहण करने की प्रेरणा दी।[5] इससे यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन यूरोप में भी सन्धि, तटस्थता और युद्ध जैसे महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय लेने वाली जन-सभाओं की सत्ता अवश्य थी[6]।

१—उद्योग २, ५—७।
२—मौसल ७, ७—९।
३—सभा १३—१५।
४—प्रिंस ८, ६५।
५— ,, २१, १७५।
६— ,, १९।

मैकियावेली ने सेवरेस जैसे प्रतापी और शक्तिशाली पुरुषों के द्वारा चतुरतापूर्वक रोमन सीनेट को प्रसन्न करके उसकी अनुमति प्राप्त करने की चर्चा की है। साथ ही सीनेट और रोम की जनता के मेक्सीमीनस के विरुद्ध षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का भी वर्णन है।[1] सीनेट में राज्य के शासकों और सेनापतियों के कार्य-कलापों के विषय में विचार किये जाने तथा निन्दनीय विषयों की निन्दा या प्रशंसनीय बातों की प्रशंसा किये जाने का वर्णन है। उदाहरण के लिये मैकियावेली ने 'न केवल अपने काल में अपितु मानव स्मृति में एकमात्र अद्वितीय विलक्षण महापुरुष' सेनापति सीपियो के विषय में यह कहा है कि उसकी अत्यधिक क्षमाशीलता के कारण उसके सैनिकों को वह स्वच्छन्दता प्राप्त हो गई जो सैनिक अनुशासन के अनुरूप नहीं होती। इसके लिये फैवियस मेक्सीमस ने सीनेट में उसकी आलोचना की और उसे रोमन सेनाओं को भ्रष्ट करने वाला बतलाया। यहीं सीपियो के किसी समर्थक के द्वारा उस के बचाव के लिये यह तर्क दिया गया कि ऐसे बहुत से व्यक्ति मिल जायेंगे जो बहुत अच्छी प्रकार से यह जानते होंगे कि कैसे स्वयं गलती न की जाय किन्तु ऐसे लोगों का मिलना कठिन है जो दूसरों के द्वारा की गई गलतियों को ठीक कर सकें। उपर्युक्त वर्णन से रोमन सीनेट के जिस स्वरूप का परिचय मिलता है तथा मैकियावेली ने जिस प्रकार उसका उल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली ने इस जनतांत्रिक संस्था को पर्याप्त गौरव और महत्त्व दिया है। महाभारतीय भारतवर्षीय परिस्थितियों में ही नहीं अपितु यूरोपीय देशों में भी शताब्दियों तक इस प्रकार की जनसंस्थाओं ने महत्वपूर्ण राजनीतिक भूमिकाएँ निवाही हैं। मैकियावेली ने इन संस्थाओं को उन शासन संस्थाओं की सेवा दी है जिन पर राजा की स्वाधीनता और सुरक्षा निर्भर करती है।[2]

संसद का उद्गम और महत्त्व—

इस प्रकार शुद्ध प्रशासकीय दृष्टिकोण से सभा अथवा संसद की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हुए मैकियावेली ने इन संस्थाओं की नींव डालने वाले नरेशों की बुद्धिमत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फ्रांस का उदाहरण देते हुए वह कहता है कि 'राज्य की नींव रखने वाले नरेश ने सामान्त वर्ग की महत्त्वाकांक्षा और धृष्टता एवं प्रगल्भता को समझते हुए यह विचार किया कि उन्हें अपना बनाये रखने के लिये उन के मुंह में कुछ थोड़ा सा कौर डालना आवश्यक होगा और दूसरी ओर, सामन्तों के विरुद्ध जनता में सामन्तों के भय के कारण उत्पन्न हुई घृणा एवं तिरस्कार की भावना का विचार करते हुए उसने जनता की रक्षा भी करने का संकल्प किया। किन्तु वह इसे एक मात्र राजा का ही उत्तरदायित्व नहीं बना लेना चाहता था। इसलिये उस

१—प्रिंस १९
२— ,, १७, १३२–३
३—प्रिंस १९, १५८।

निन्दा से बचने के लिये जो उसे जनता का पक्ष लेने के कारण सामन्तों की ओर से तथा उसी प्रकार सामन्तों का पक्ष लेने के कारण जनता से मिलनी सम्भावित थी, उसने एक ऐसी मध्यस्थ संस्था की स्थापना की जो बड़ों को पीटकर सीधा कर सके और साथ ही छोटों का हित भी कर सके एवं राजा को किसी भी प्रकार के अपवाद या बुराई का पात्र न बनना पड़े। इससे और अधिक बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से पूर्ण अथवा इससे श्रेष्ठ राजा और राज्य दोनों की सुरक्षा का स्रोत और नहीं हो सकता था[1]।' उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ महाभारत में सभा के विषय में एक परम्परागत शक्तिशाली शासन-संस्था के दृष्टिकोण से विचार किया गया है वहाँ मैकियावेली ने उपर्युक्त जन-संस्था के विषय में केवल शुद्ध प्रशासकीय दृष्टिकोण से ही विचार किया है परन्तु उसका यह विचार कितना मौलिक, व्यावहारिक एवं रोचक है। कौन जाने हमारे महाभारतीय राजनेताओं ने भी ऐसे ही उदात्त एवं व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सभा का संगठन किया हो।

मन्त्रि-परिषद्

महाभारत में उपलब्ध होने वाले मन्त्रिपरिषद् सम्बन्धी विवरण, अतीव मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारत में हिन्दू राजनीति की सर्वाधिक प्रचलित संस्था अर्थात् राजतन्त्र कभी भी निरंकुश एक-तन्त्र के रूप में नहीं रही। राजा की प्रभुता सदैव सीमित थी। उसे कभी भी अकेले ही मन्त्रणा न करने का कठोर आदेश दिया गया है[2]। सभा पर्व में नारद और युधिष्ठिर के संवाद में नारद ने मन्त्रिपरिषद् की नियुक्ति पर विशेष बल दिया है। नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं "वीर राजा ! क्या तुमने स्वयं अपने ही समान वय और ज्ञान से वृद्ध, शुद्ध चरित्र वाले, तुम्हें ठीक बात समझाने में समर्थ, कुलीन और स्नेही मन्त्रियों की नियुक्ति की है, क्योंकि राजा की विजय और सफलता का मूल मन्त्रियों के द्वारा दी गई मन्त्रणा (मन्त्रमूल:) ही हुआ करती है[3] ? "शान्ति पर्व में मन्त्रियों की मन्त्रणा को ही राष्ट्र की वृद्धि का मूल कहा गया है[4]। महाभारत की इस मान्यता के विषय में हम राज्य के सात अंगों में 'मन्त्रि'-संस्था के ऐतिहासिक और व्यवहारिक महत्त्व का वर्णन कर चुके हैं और कह चुके हैं कि राज्य जैसे महान् तंत्र के संचालन के लिए राजा को अनिवार्य रूप से अनेक सहायकों अर्थात् मन्त्रियों की नियुक्ति करनी आवश्यक होती थी[5]। 'महाभारत के यही विचार प्रायः इसी रूप में अन्य राजनीति-विषयक ग्रन्थों में भी अभिव्यक्त हुए हैं। अर्थशास्त्र में सहायकों के ही सहयोग से राज्य को

१—वही १६, १४६।
२—सभा ५, २१ "कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः"।
३—सभा ५, २७—८।
४—शान्ति ८७, ४८—'मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राजन् राष्ट्रं विवर्धते'।
५—यही पुस्तक अ० ५।

साध्य बतलाते हुए कहा गया है कि मन्त्रियों के बिना राज्य उसी प्रकार नहीं चल सकता जैसे अकेला पहिया नहीं चला करता। अतः मन्त्रियों की नियुक्ति की ही जानी चाहिए और उनका मत सुना जाना चाहिए।[1]

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों में अन्तर--

महाभारत और प्रिंस में मन्त्रि-परिषद के विषय में अभिव्यक्त विचारों में इसके महत्त्व और उपोदयता के विषय में समानता होते हुए भी विषमता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है वह है दोनों ग्रन्थों में अभिव्यक्त भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण की। मैकियावेली ने इस विषय में नरेश की सुरक्षा और राज्य पर उसका आधिपत्य बने रहने के दृष्टिकोण से ही विचार किया है, राज्य के सुप्रबन्ध और वृद्धि के प्रश्न को उसने प्रायः अछूता ही छोड़ दिया है। वह मन्त्रिपरिषद् को राजा के द्वारा राजा की सुरक्षा के लिए नियुक्त संस्था मानता है। महाभारत में हिन्दू-राजनीतिक तत्त्व-दर्शन की मन्त्रि-परिषद् विषयक जिस धारणा की अभिव्यक्ति हुई है उसके अनुसार यह संस्था राष्ट्र की सर्वाङ्गीण प्रगति का मूल है। कहा गया है कि अकेला राजा, राज्य के सात अंगों में सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी, बिना मन्त्रियों के तीन दिन भी राज्य नहीं चला सकता[2]। अतः मन्त्रि-परिषद् राज्य के सात अंगों में से केवल दूसरा अति महत्त्वपूर्ण अंग है। वह न केवल राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक है अपि तु सम्पूर्ण राष्ट्र की वृद्धि और ऐश्वर्य के लिए अनिवार्य है। उसके बिना सम्पूर्ण शासन तन्त्र एक पहिये की गाड़ी की तरह अधूरा और अपंग है। अर्थशास्त्र में भरद्वाज के मत को उद्धृत करते हुए मन्त्रियों के कार्यों का उल्लेख किया गया है कि मन्त्रि-परिषद् में विचार या मन्त्रणा करना, मन्त्रणा से प्रत्याशित फल की प्राप्ति, निश्चित कार्यों का करना (कर्मानुष्ठानम्) आय और व्यय की व्यवस्था, सेना का संग्रह और उसका उचित उपयोग, शत्रु और आटविकों (मारधाड़ करने वाले और सीमाप्रान्तों पर छापा मारने वाले जंगली लोगों आदि) का प्रतिकार करना, राजकुमारों की रक्षा और उनका अभिषेक करना आदि मन्त्रियों के ही अधीन रहता है।[3] मन्त्रियों के बिना उपर्युक्त कर्मों को ठीक ढंग से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता और राजा 'परकटे पंछी' की तरह कर्तृत्वहीन हो जाता है और संकट काल में वह शत्रु के षड्यन्त्रों का ग्रास हो जाता है। यद्यपि भरद्वाज के उक्त मत की समीक्षा करते हुए कौटिल्य ने राजा पर आई आपत्ति (व्यसनम्) को मन्त्रि-व्यसन की अपेक्षा अधिक हानिकर इसलिए माना है क्योंकि राजा ही मन्त्रियों की नियुक्ति करता है और मानों वह सम्पूर्ण जनता का समवेत रूप है तो भी मन्त्रियों के उपर्युक्त

१—अर्थ० १, ७, १५, 'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते' तथा अर्थ० १, ७, १३–१४; दे० शुक्रनीति २, १–४, १२–१३; मनु० ७, ५४–५; रामा०, अयो०, १००, १५–१८।

२—शान्ति १०६, ११ 'न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम्'।

३—अर्थ० ८, १, ८।

उत्तरदायित्वों और कार्य की सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था में मन्त्रियों का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण था। सभा पर्व में देवर्षि नारद ने यह मत व्यक्त किया है कि एक भी मेधावी मन्त्री राज्य की महान् श्रीवृद्धि कर सकता है[1]। महाभारत में राजा की अनुपस्थिति, वन-गमन या मृत्यु होने पर मन्त्रियों के द्वारा ही राज्य की वागडोर संभालने और प्रशासन-कार्य चलाने के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2] अन्य अनेक ऐतिहासिक उद्धरणों और साहित्यिक संकेतों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत में मन्त्रियों के द्वारा राज्य-कार्य संभालना, किसी को सिंहासन पर विठलाना या स्वयं ही राजा तक वन जाना कोई अनौखी या अपरिचित वात नहीं थी[3]।

मन्त्री—

महाभारत में मंत्री, अमात्य और सचिव इन तीनों शव्दों का प्रयोग पर्यायवाची शव्दों की तरह भी किया है और कहीं-कहीं विशेष अर्थों में भी। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अमात्य और सचिव इन दोनों शव्दों का अर्थ 'समीपी या साथी' होता है और मन्त्री शव्द उस व्यक्ति का वोधक है जिसका सम्वन्ध गुप्त मंत्रणा या परामर्श (मंत्र) से हो[4]। कई भारत-विद्याशास्त्रियों ने मन्त्री के स्थान को सर्वोच्च वतलाते हुए उसके पश्चात् अमात्य और सचिव का स्थान उत्तरोत्तर कम महत्त्व का निर्धारित किया है[5]। वस्तुतः इस प्रकार के क्रम का कहीं भी निर्वाह नहीं किया गया है और पर्यायवाची की तरह

१—सभा ५, ३७ 'एकोऽप्यमात्यो मेधावी···प्रापयेन्महतीं श्रियम्'।

२—आदि ४९, अष्टिक १४१–२; वन १०७; वही १०८; वही १२६; महाप्रस्थानिक १, ६ आदि।

३—दे० महावंश ५, २२; ४, ६ प्रथम नन्द के राजा होने से पहले एक सामान्य प्रशासक होने और अमात्य पुणिक के राजा को मार कर अपने पुत्र प्रद्योत का राज्याभिषेक कर देने आदि के विषय में देखिए श्री एच० राय चौधरी कृत 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एन्श्येण्ट इण्डिया' के ५ वें संस्करण का पृ० १४६; अर्थ० ५, ६, २५४–५; रामायण अयो० ७६; दिव्यावदान पृ० ३८४; मनु० ९, ३२०; गौतम ११, १२–१४; वसिष्ठ, १, ३९–४१।

४—दे० व्युत्पत्ति के लिए ऋग्वेद के मंत्र 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन। (ऋ० ४, ४, १) पर यास्क की व्युत्पत्ति-राजा इव अमात्यवान् अभ्यमनवान् स्ववान् वा (निरुक्त ६, १२) को अमात्य संस्था के बीज के रूप में उद्धृत करते हुए म० म० पाण्डुरंग वामन काणे के द्वारा प्रस्तुत व्याख्या (हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र पु० ३, अ० ४, पृ० १०४–५) एवं श्री आर० वसक 'इंडियन हिस्टरीकल क्वार्टरली' पु० १, क्रम संख्या ३, (१९२५) 'प्राचीन भारत में मन्त्रिगण' पृ० ५२३।

५—डा० स्पैलमैन पृ० ७९; म० म० पा० काणे ३, ४, १०४–५।

प्रयुक्त होने वाले इन शब्दों के विषय में उक्त कल्पना करने का कोई आधार ही नहीं उप ब्ध होता।

श्री गौंड ने मन्त्री शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि प्रारम्भ के अपने जन्तर-मन्तर के आधार पर राजा को तान्त्रिक और धार्मिक मन्त्र देने वाले व्यक्ति को मंत्री कहा जाता होगा। परन्तु उन्होंने मंत्र शब्द के जिस तांत्रिक अर्थ को लेकर उसके साथ मंत्री शब्द ा सम्बन्ध बतलाया है उस अर्थ का कोई आंशिक संकेत भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः मंत्र शब्द का प्रयोग प्रायः सभी जगह गुप्त मन्त्रणा या परामर्श के ही अर्थ में हुआ है और यही इस शब्द का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रचलित अर्थ दिखाई देता है[1]।

मन्त्रियों, अमात्यों एवं सचिवों की ही तरह राज्य-कार्य में राजा की सहायता करने वाले अन्य अधिकारियों को महाभारत में सहाय[2] और तीर्थ[3] कहा गया है। इनके विषय में हम यथास्थान आगे विचार करेंगे। प्रस्तुत प्रसंग में मन्त्रि-परिषद् के संगठन, कार्य एवं उत्तरदायित्व आदि प्रश्नों पर विचार करना उचित होगा।

मंत्रि-मण्डल का संगठन

शान्ति पर्व में मंत्रियों के गुणों तथा अन्य विशेषताओं का विवेचन करते हुए पितामह भीष्म ने राजा को उसके राज्य के सुचारु संचालन के लिए सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ऐसा मंत्रि-मण्डल बनाने का उपदेश दिया है जिसमें मंत्रियों की कुल संख्या ४७ होनी चाहिए। कहा गया है कि इन व्यक्तियों में वेद-विद्या के विद्वान्, निर्भीक, शुद्ध और स्नातक चार ब्राह्मण, बलवान् और शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धन-धान्य से सम्पन्न इक्कीस वैश्य, पवित्र आचार-विचार वाले तीन विनयशील शूद्र तथा आठों गुणों से युक्त और पुराण-विद्या का पारंगत एक सूत होना आवश्यक है। महाभारतकार ने सूत वंश के मंत्री की योग्यताओं पर और अधिक प्रकाश डालते हुए कहा है कि उस सूतमंत्री की अवस्था लगभग पचास वर्ष की हो और वह निर्भीक, दोषदृष्टि से रहित, श्रुतियों और स्मृतियों के ज्ञान से सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादी के मामलों का निपटारा करने में समर्थ, लोभ रहित तथा सात प्रकार के भयानक दुर्व्यसनों से सर्वदा दूर रहने वाला हो। उक्त मंत्रिमण्डल के लिए विभिन्न वर्णों के सदस्यों के अनुपात का निर्धारण निश्चित रूप से जनसंख्या के अनुसार उचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से ही किया गया है। यदि हिन्दू राजा एक निरा वैयक्तिक शासक होता या राजतन्त्र केवल उन क्षत्रियों से ही आक्रान्त होता जिनके विषय में यह कहा जाता है कि वे राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति के एकमात्र अधिपति थे तो मंत्रिमण्डल में क्षत्रियों की ही भरमार होती। महाभारत के प्रणेताओं पर ब्राह्मण होने

१—जे० गौंड, 'न्यूमैन' पु० ४, (१९५६) पृ० २५६-७। दे० शान्ति ८३, ३५-४०।

२—शान्ति ५७, २३-२५।

३—शान्ति ६९, ५०; सभा ५, ३८; दे० अर्थशास्त्र १, १२।

के कारण ब्राह्मणवाद के हामी होने का आरोप करने वाले और प्रत्येक युक्तियुक्त व्यवस्था में भी ब्राह्मण-पक्षपात की ही गन्ध का आविष्कार कर नाक भौं चढ़ाने वाले आलोचकों का मुख भी प्रस्तुत मंत्रिमंडल में ब्राह्मणों का इतना स्वल्प प्रतितिधित्व देखते हुए स्वतः मुद्रित हो जाना चाहिए। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दू राजतन्त्र की शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्पराओं में क्षत्रिय नरेशों के आर्य-ब्राह्मण प्रधान मंत्रियों के होने की परम्परा के अनेक सुविदित, पूर्णतया भारतीय, राजशास्त्रीय कारण रहे हैं[1]। परन्तु हाप्किन्स ने लिखा है कि उसका (ब्राह्मण का) प्रभुत्व पहले गुप्त परिषद् में प्रारम्भ हुआ। जैसे जैसे उसका प्रभाव वढ़ा वह राजा के विचारों पर राज्य करने लगा और मान-मनौवल करते हुए सभा पर भी शासन करने लगा। सभा के लोग इसलिए भाषण करते हुए धवराने लगे कि कहीं प्रवीण तार्किक और वाग्मी वक्ता होने के कारण वह (पुरोहित) उनके वक्तव्यों का खण्डन न कर दे। इस प्रकार उसने अन्य वक्ताओं को परास्त करके अपने धार्मिक आधिपत्य के द्वारा राजा को अभिभूत कर लिया[2]। इस प्रकार की मनघढ़न्त व्याख्या के लिए कहीं भी कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है। अतः हाप्किन्स का उक्त मत कोरा काल्पनिक विवेचन ही है। क्योंकि ब्राह्मणों के राजा के मंत्रिमण्डल में प्रधान मंत्री या अन्य मंत्री वनने के प्रमुख कारण सर्वथा सामाजिक एवं राजनीतिक ही होते थे। आध्यात्मिक गुरु होने के नाते भी पुरोहित राजा को मंत्रणा प्रदान करते थे परन्तु उनका यह कार्य आध्यात्मिक परामर्शदाता का सा होता था, उन्हें मंत्री की तरह किसी प्रकार के प्रशासनिक उत्तरदायित्व या अधिकार नहीं दिए जाते थे।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत में मंत्रणा की गोपनीयता पर वहुत अधिक वल दिया गया है और उसे राज्य की सुरक्षा और समृद्धि का मूल माना गया है। सम्भवतः यह विचार करते हुए कि सैंतीस व्यक्तियों के मंत्रिमण्डल में मंत्रणा की गोपनीयता की रक्षा अधिक कठिन है, शान्ति-पर्व में आदेश दिया गया है कि राजा आठ मंत्रियों के वीच ही मन्त्रणा करे[3] अथवा इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि मन्त्रि मंडल की एक अन्तरंग समिति के रूप में आठ मन्त्रियों की एक परिषद् के साथ ही राजा महत्त्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रणा करे। यहाँ यह स्मरणीय है कि वाल्मीकि-रामायण, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र आदि अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी राजा के ८ मन्त्रियों की नियुक्ति करने का उल्लेख मिलता है[4]। इसी आज्ञा का पालन करते हुए

१—यही पुस्तक अ० ४ और ५।

२—हाप्किन्स, ज० अ० ओ० सो०, पु० १३ पृ० १६३।

३—शान्ति ८५, ८ 'अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत्।'

४—रामायण वालकाण्ड ७, २ 'अष्टौ वभूर्वीरस्य तस्यामात्याः'।
दे० उत्तराकान्ड ७२; ३ 'धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥'
मनु० ७, ५४, अर्थ० १, १५, ५३–५५; शुक्र २, ७०–७१।

ऐतिहासिक मराठा-साम्राज्य या हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना करने वाले छत्रपति शिवाजी ने आठ मंत्रियों (अष्टप्रधान) के मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति की थी। महाशय रानाडे के विवरण के अनुसार इन आठ मन्त्रियों के कार्य का विभाजन इस प्रकार से था—

१—मुख्य प्रधान (प्रधान मन्त्री) २—पंत अमात्य (वित्त मन्त्री) ३—पंत-सचिव (साधारण आय व्यय लेखाध्यक्ष और 'आडीटर') ४—सेनापति ('कमान्डर-इन-चीफ') ५—मंत्री (राजा के वैयक्तिक कार्यों का अध्यक्ष) ६—सुमन्त (विदेश मन्त्री) ७—पंडितराव (धार्मिक कार्य-विभाग का संचालक) और ८—न्यायाधीश[1]।

महाभारत में इससे भी छोटी मंत्रिपरिषद् या उसकी अंतरंग समिति का निर्देश करते हुए कहा गया है कि राजा के मन्त्रियों की संख्या कम से कम तीन होनी चाहिए[2] यद्यपि हिन्दू राजतन्त्र में सामान्यतया आठ मन्त्रियों की ही मन्त्रि-परिषद् का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु इस विषय में किसी भी प्रकार की कठोर परिपाटी अपेक्षित एवं अभिमत नहीं दिखाई देती, आवश्यकता के अनुसार मन्त्रियों की कम से कम संख्या तीन हो सकती है और आठ से अधिक भी, यहाँ तक कि समय की आवश्यकता के अनुसार वह ३७ या और अधिक भी हो सकती है[3]।

मंत्रियों की नियुक्ति के लिए अपेक्षित योग्यता

प्राचीन भारतीय साहित्य में मन्त्रियों के गुणों और योग्यता के विषय में बड़ा विशद विवेचन किया गया है। और इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के प्रशासन में मंत्रियों का स्थान अत्यन्त उन्नत और महत्त्वपूर्ण था। महाभारत के अनेक स्थलों में इस विषय की चर्चा की गई है जिसमें प्रायः अन्य सभी प्रामाणिक ग्रन्थों के विचारों का समन्वय हो जाता है[4]। शान्ति-पर्व में कहा गया है कि "राजा उसी को मन्त्री बनाये जो कुलीन सुशिक्षित विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान में पारंगत, सब शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाला, सहन-शील, अपने देश का निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मन का दमन करने वाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाये उसी से सन्तोष करने वाला, स्वामी और उसके मित्र की उन्नति चाहने वाला, देश-काल का ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह में तत्पर, सदा मन को वश में रखने वाला, स्वामी का हितैषी, आलस्य रहित, अपने राज्य में

१—पूर्ण विवरण के लिए दे० हि० आव् ध० शा० ३, ४, १०६।

२—शान्ति ८३, ४७ वही, ५३) 'तस्मात्सर्वगुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युः त्र्यवरा महदीप्सवः॥'

३—दे० रामायण अयोध्या १००, ७१; अर्थ० १६, १५, ५३–८ तथा ३८-४४।

४—मन्त्रियों की योग्यता के विषय में विशेषतः देखिए. शान्ति-पर्व अ० ५६, ८०, ८१, ८३, ८४, ८६, ११८, ११६, १४० आदि; कौटिल्य० १, ६–१५; मनु० ७; याज्ञ० १, ३१२; काम० ४, २५–३०; रामा० बाल० ७, ७–१४; अयोध्या, १००,१५; मेघातिथि मनु० ७, ५४; अग्निपुराण २३६, ११–१५ आदि।

गुप्तचर रखने वाला, संधि और विग्रह के अवसर को समझने में कुशल, राजा के धर्म, अर्थ और काम की उन्नति का उपाय जानने वाला, नगर और ग्राम-वासी जनता का प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा दुर्ग निर्माण कराने की कला में कुशल, अपनी सेना का उत्साह वढ़ाने में प्रवीण, शक्ल-सूरत और चेष्टा देखकर ही मन के यथार्थ भाव को समझ जाने वाला, शत्रुओं पर चढ़ाई करने के अवसर को समझने में विशेष चतुर, हस्ति-शिक्षाओं का तत्त्व जानने वाला, अहंकार रहित, निर्भीक (प्रगल्भम्) उदार, संयमी, बलवान्, उचित कार्य करने वाला, शुद्ध और शुद्ध पुरुषों से युक्त, प्रसन्न मुख, प्रिय-दर्शन, नेता, नीति-कुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओं से सम्पन्न, उद्दण्डता रहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न तथा देश और काल के अनुसार कार्य करने वाला हो, जो राजा ऐसे योग्य पुरुष को मन्त्री बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता, उसका राज्य चन्द्रमा की चाँदनी की तरह चारों ओर फैल जाता है[1]।

'केवल सिंह ही सिंह के समीप रहने के योग्य होते हैं। सिंह के साथ रहने वाला प्राणी जो सिंह नहीं है वह भी सिंह की तरह सफल होता है। परन्तु जो सिंह के से कर्म व फल की कामना करते हुए सिंह होकर भी कुत्तों से घिरा रहता है वह कुत्तों से उपासित होने के कारण कभी सिंह-फल का उपभोग नहीं कर सकता[2]। 'अतः इस बात पर बल दिया गया है कि मन्त्रियों को उपर्युक्त गुणों के आधार पर ही नियुक्त किया जाय। परन्तु मन्त्री का सुहृद होना भी नितान्त आवश्यक है, जिससे उस पर विश्वास किया जा सके और उसे गुप्त मन्त्रणाओं में भागी बनाया जा सके। परन्तु फिर भी क्या राजा को अपने मन्त्रियों एवं सहायकों पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पितामह भीष्म ने शान्ति पर्व के ८० वें अध्याय में राजा को सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम मित्रों में भजमान (परम्परागत वंश-सम्बन्ध से मित्र) और सहज (जन्म से साथ रहने या घनिष्ठ सम्बन्ध होने से मित्र) को ही श्रेष्ठ बतलाते हुए भजमान और सहज कोटि के मित्रों पर ही विश्वास करने का परामर्श दिया है[3]। कहा गया है कि किसी पर भी किया गया अति विश्वास धर्म और अर्थ दोनों का नाश करने वाला होता है परन्तु सभी पर अविश्वास करना मृत्यु से भी वढ़कर है। दूसरों पर किया गया अति विश्वास तो अकाल मृत्यु के समान है क्योंकि अधिक विश्वास करने वाला व्यक्ति विपत्ति में पड़ जाता है और वह जिस पर अति विश्वास करता है उसी की इच्छा पर उसका जीवन निर्भर रहता है[4]। यहीं आगे चलकर विश्वास के योग्य प्रधान मन्त्री के गुणों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि वह

१—शान्ति ११८, ७, १५।
२— „ ११९, ११–१२।
३—शान्ति ८०, ३–४।
४— „ ८०, १०–११।

सुन्दर रूप-रंग और मीठे स्वर वाला हो, क्षमा शील, अनिन्दक, कुलीन और शील सम्पन्न, मेधावी, स्मृतिमान्, दक्ष, स्वभाव से दयालु हो तथा कभी सम्मानित या अपमानित होने पर भी जिसके हृदय में दुर्भाव न उत्पन्न होता हो। वह ऋत्विग्, आचार्य अथवा अत्यन्त प्रशंसित मित्र राजा का अमात्य होकर राजा के साथ रहे और उसका परम आदर किया जाय[1]। वह उत्तम से उत्तम गोपनीय मन्त्र, अर्थ और धर्म की प्रकृतियों को जानने का अधिकारी है और उसमें राजा का वैसा ही विश्वास होना चाहिए जैसे एक पुत्र का पिता पर होता है[2]।

यही कहा गया है कि राजा का प्रधान मन्त्री कीर्ति को प्रधानता देने वाला, मर्यादा का पालन करने वाला, समर्थों से द्वेष न करने वाला, अनर्थ पराङ्मुख, काम या भय अथवा लोभ एवं क्रोध के कारण धर्म को न छोड़ने वाला, कार्य कुशलता और आवश्यकता के अनुरूप बातचीत करने की योग्यता रखने वाला, कुलीन, सहनशील, झूठी आत्म प्रशंसा न करने वाला, शूर, आर्य, विद्वान् तथा कर्तव्याकर्तव्य को समझने में कुशल होना चाहिए।

मन्त्रियों का कार्य-विभाग—

मन्त्रियों की नियुक्ति सभी कार्यों में की जानी चाहिए, उन्हें सर्वथा सम्मानित किया जाय, उन्हें सभी सुख-सुविधाएँ प्रदान की जायें, उनकी सहायता के लिए अच्छे सहायक हों, और उन्हें विधिपूर्वक नियुक्त किया जाय[3]। यहीं यह भी आदेश दिया गया है कि एक कार्य में एक ही व्यक्ति की नियुक्ति की जाय दो या तीन की नहीं[4]। इनकी योग्यता के अनुरूप कार्यों में पूरा अधिकार देकर लगा दिया जाय तो ये बड़े बड़े कार्यों के साधन में तत्पर हो राजा के कल्याण की वृद्धि करते हैं क्योंकि सदा परस्पर होड़ लगाकर कार्य करते हैं और दूसरे से सलाह लेकर अर्थ सिद्धि के विषय में विचार करते हैं[5]। महाभारतकार मन्त्री आदि के रूप में सगे सम्बन्धियों या कुटुम्बियों के नियुक्त किए जाने के पक्षपाती नहीं हैं। पितामह भीष्म ने राजा को उपदेश दिया है कि वह अपने कुटुम्बी जनों (ज्ञातिभ्यः) से सदैव सतर्क रहे, क्योंकि ये लोग उसके अभ्युदय को इसी प्रकार सहन नहीं करेंगे जैसे अधीनस्थ अथवा पड़ोसी राज्य (उपराजा) अपने समीप के राजा की उन्नति नहीं देख सकता। उसके सरल, कोमल स्वभाव वाले, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी होने पर भी उसके विनाश का समर्थन कुटुम्बी के अतिरिक्त दूसरा

१—शान्ति ८०, २१–२३।
२—वही ८०, २४ 'स ते विद्यात् परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः।
विश्वासस्ते भवेत्तत्र यथा पितरि वै तथा॥'
३—शान्ति ८०, २६–२९।
४—'नैव द्वौ न त्रयः कार्याः, न मृष्येरन् परस्परम्। एकार्थे……' वही ८०, २५।
५—वही ८०, ३०–३१।

नहीं कर सकता[1]। सुहृद् और सम्बन्धित होने की अपेक्षा मन्त्री के योग्य और समर्थ होने की ओर अधिक ध्यान देने का आदेश देते हुए महाभारतकार ने कहा है कि उन्हीं श्रेष्ठ व्यक्तियों को मन्त्री बनाना चाहिए जो सम्मानपूर्वक नियुक्त किए जाने पर प्रत्येक कार्य को सफल बनाने में अपनी पूरी शक्ति और योग्यता से लग जाते हैं और जो दुर्भाग्य, संकट, रोग और मृत्यु तक का सामना होने पर भी राजा का साथ न छोड़ेंगे। कहा गया है कि जिसमें विनययुक्त बुद्धि (वैनयिकी बुद्धिः) हो तथा जो तेजस्वी, धीर, क्षमाशील शुद्ध, स्नेही, स्थिर, वीर, प्रौढ़ एवं कार्य भार को सम्भालने में धुरन्धर और निष्कपट हों ऐसे पाँच व्यक्तियों को मन्त्री बनाया जाना चाहिए[2]।

मन्त्रियों के दोष—

इस प्रकार मन्त्रियों के वरणीय गुणों का वर्णन करने के पश्चात् प्रत्येक गुण का आपेक्षिक महत्व बतलाते हुए पितामह भीष्म ने उन दुर्गुणों की ओर भी संकेत किया है, जिनसे दूषित व्यक्ति मंत्रि-पद के अयोग्य माने जाने चाहियें। कहा गया है कि जिसका शत्रुओं के साथ सम्बन्ध हो, जिसकी राज्य के नागरिकों के प्रति आदर बुद्धि न हो, जो अविद्वान्, अशुद्ध, जड़, शत्रुसेवी, डींग मारने वाला, क्रोधी, लोभी हो और सुहृद् न हो वह मंत्र सुनने का अधिकारी नहीं होना चाहिये। साथ ही इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि अनुरक्त, विद्वान्, सम्मानित और पुरस्कृत (संविभक्त) होने पर भी वह व्यक्ति 'मंत्र' सुनने का अधिकारी नहीं हो सकता जो 'आगन्तुक' हो अर्थात् नया आया हुआ हो। इसके अतिरिक्त जिसे थोड़े से भी अनुचित कार्य के कारण दण्डित या अपमानित कर दिया गया हो वह सुहृद् और गुणवान् होते हुए भी मंत्रणा सुनने के योग्य नहीं होता[3]।

मन्त्रियों के साथ व्यवहार के निगम—

महाभारतकार ने यह भी बतलाया है कि अपने मंत्रियों, सहायकों और सेवकों से ठीक कार्य करवा लेने के लिये राजा को स्वयं उनके साथ किस प्रकार का आचरण करना चाहिये। यह आवश्यक है कि अधिकतम लाभ तथा यथोचित श्रेष्ठ परिणामों की उपलब्धि के लिये राजा भी मंत्रियों और सेवकों के साथ व्यवहार करते हुए आचरण के कुछेक नियमों और नीतियों का पालन करे। बृहस्पति के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि 'सदा और सब ओर क्षमाशील ही बने रहने वाले राजा को नीच व्यक्ति भी अपमानित कर देते हैं' महावत हाथी के भी सिर पर ही तो सवार हो जाया करता है।[4] इसलिये राजा को न तो बहुत अधिक कोमल ही होना

१—शान्ति ८०, ३२–३।
२— „ ८४, १८–२१।
३— „ ८४, ३५–४०
४—क्षममाणं नृपं तात नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्यैव शिर एवारुरुक्षति॥ शान्ति, ५६, ३९।

चाहिये और न बहुत अधिक कठोर ही। उसे ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसे वसन्त का तेजस्वी सूर्य होता है जो न तो अधिक ठंडा होता है और न कड़ी धूप से लोगों को पसीने-पसीने ही कर देता है।'[1] कहा गया है कि राजा को अपने पराये का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शास्त्र के द्वारा पहचान करके व्यवहार करना चाहिये। अपने भृत्यों (मन्त्री आदि सेवकों) के साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। उपजीवी लोग अधिक मुँहलगे हो जाने पर स्वामी की अवमानना करने लगते हैं। वे अपनी मर्यादा में स्थिर नहीं रहते और उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने लगते हैं। वे कार्य में नियुक्त किये जाने पर उसमें विकल्प एवं संशय उत्पन्न कर देते हैं, गुप्त बातों को प्रकट कर देते हैं, अनुचित मांग करने लगते हैं और खाऊपीर बन जाते हैं। वह न केवल अधिपति राजा को कोसने लगते हैं उसके प्रति क्रोध में तमतमा उठते हैं, अपितु वे घूस लेते तथा छल-कपट और धोखादेही करते हुए राज्य के कार्य में बाधायें उत्पन्न करने लगते हैं। वे जाली आज्ञाओं के द्वारा राज्य को जर्जर कर डालते हैं। फिर उन्हें अपने राजा का सा वेष पहनने और राजप्रासाद की स्त्री-रक्षिकाओं के प्रति आसक्ति बढ़ाने में भी संकोच नहीं होता। कभी-कभी वे राजा के ही सामने मुँह बना कर जँभाई लेने और थूकने लगते हैं, निर्लज्ज आचरण करते और उसके विषय में उपहासपूर्वक बातचीत करने लगते हैं। परिषद् में बैठ कर 'राजन्! आपके लिए यह दुष्कर है, यह आपका बर्ताव बहुत बुरा है (दुश्चेष्टितम्)' इस प्रकार की बातें, मित्रों की तरह बराबरी का बर्ताव करते हुए, कहने लगते हैं। परिहासशील और कोमल स्वभाव वाले राजा के क्रुद्ध होने पर भी वे हँस देते हैं, उसके द्वारा सम्मानित होने पर भी ये धृष्ट सेवक प्रसन्न नहीं होते, स्वार्थवश परस्पर संघर्ष करने लगने हैं; राजा की गुप्त मंत्रणाओं को प्रकाशित कर देते हैं, उसके दोषों को दूसरों पर प्रकट कर देते हैं और उसकी आज्ञाओं की अवहेलना करते हुए खिलवाड़ सी करने लगते हैं। उन्हें जो अधिकार एवं कार्य सौंपे जाते हैं, उनकी निन्दा करने लगते हैं तथा उन्हें छोड़ भी देते हैं। उन्हें जो वेतन दिया जाता है उससे सन्तुष्ट नहीं रहते और राजकीय धन (राजदेयम्) को हड़पते रहते हैं। वे उस राजा से इस प्रकार खेलना चाहते हैं जैसे बच्चे धागे से बँधे पक्षी से खेला करते हैं। वे सामान्य लोगों से यहाँ तक कहते फिरा करते हैं कि 'राजा तो हमारा गुलाम है'। अन्त में कहा गया है कि राजा के परिहास-शील और कोमल स्वभाव के केवल इतने ही नहीं अनेक और भी दोष होते हैं।[2] अतः राजा को इस विषय में बहुत सावधान होने की आवश्यकता है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि उसे इन गुणों का अत्यन्त तिरस्कार कर देना चाहिये क्योंकि एक पहले श्लोक में ही राजा को स्पष्ट रूप से सावधान किया गया है कि उसका स्वभाव

१—तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः॥ वही, ५६, ४०।

२—शान्ति, ५६, ३८–६१।

तीक्ष्ण और द्वेषी होने से लोगों में उद्वेग उत्पन्न हो जायेगा और व्यसनों में आसक्त राजा का लोग कभी आदर नहीं करेंगे और इस प्रकार वह अपनी लोकप्रियता की रक्षा नहीं कर पायेगा। महाभारतकार का अभिप्राय स्पष्ट रूप से इतना ही है कि शासक को अपने अधीन लोगों से बड़ा सन्तुलित व्यवहार करना चाहिये। न तो उसे अधिक कठोर और तीक्ष्ण होना चाहिये और न ही उसे अत्यधिक क्षमाशील बन जाना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने के परिणामस्वरूप लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

महाभारतकार ने राजा को अपने मंत्रियों और भृत्यों के विषय में इसी प्रकार के अनेक व्यावहारिक उपदेश देते हुए यह बतलाया है कि किस प्रकार के मंत्री या सेवक अपने स्वामी को छोड़ देते हैं और वे शत्रु के हाथ में पड़ कर उसके प्रभावी साधन बन जाते हैं। शान्ति पर्व (१११वें अध्याय) में कहा गया है कि 'जो (भृत्य) असन्तुष्ट हों, अपने स्थान से च्युत कर दिये गये हों, सम्मानपूर्ण स्थिति से उतार दिए गये हों या अपमानित किये गये हों, जो स्वयं राजा द्वारा पुरस्कृत किये जाने पर दूसरों के द्वारा कलंक लगाये जाने के कारण उस आदर से वंचित कर दिये गये हों, जो स्वयं अपने ही कारण से या स्वामी के कारण बुरी दशा को प्राप्त हुए हों (परिक्षीणाः), अति लोभी, क्रोधी और भयभीत हों, अपने स्वामी के द्वारा छले गये हों और उनका सर्वस्व जब्त कर लिया गया हो, जो अभिमानी हों, जिनकी आय छिन गई हो, महत्त्वाकांक्षी हों, सताये गये हों, (संतापिताः) राजा पर आने वाले संकट की प्रतीक्षा करने वाले ऐसे छिपे हुए और कपट भाव रखने वाले सभी व्यक्तियों को शत्रु के ही उपकरण मानना चाहिये।[1]

उद्योग पर्व में चार प्रकार के उन मनुष्यों की ओर निर्देश किया गया है जिनके साथ राजा शक्तिशाली होते हुए भी सम्पर्क रखते हुए सदैव सावधान रहे। कहा गया है कि विद्वान पुरुषों ने स्वल्प बुद्धि वाले, दीर्घसूत्री, क्षिप्रकारी या बहुत शीघ्र अति हर्षित होने वाले, और खुशामदी (चारणैः) लोगों के साथ मंत्रणा करना वर्जित बतलाया है[2] महात्मा विदुर ने महाराज धृतराष्ट्र को इसी विषय पर परामर्श देते हुए स्पष्ट किया है कि जिसके अपनी इच्छा के अनुकूल और दूसरों की इच्छा के प्रतिकूल किए जाने वाले कार्यों को दूसरे लोग तनिक भी नहीं जान पाते उसकी मन्त्रणा के गुप्त रहते हुए तथा कार्य का ठीक-ठीक सम्पादन किए जाने पर उसका कोई कार्य थोड़ा भी नहीं बिगड़ने पाता।[3] परन्तु इसके लिए यह आवश्यक बतलाया गया है कि राजा अपने मंत्रियों को अपने वश में रखे। महाभारत का यह दृढ़ विश्वास है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों समेत अपने मन को वश में किए बिना अमात्यों को वश में रखना चाहता है

१—शान्ति ११२, ७३–७५।
२—उद्योग ३३, ६९ (ब)।
३—वही; ३३, ११९।

या ग्रमात्यों को वश में किए विना शत्रुग्रों को जीतना चाहता है वह ग्रजितेन्द्रिय एवं व्यसनी व्यक्ति (ग्रवशः) सभी प्रकार से हीनता को प्राप्त होता है।[1] इसी प्रसंग में एक व्यावहारिक परामर्श देते हुए कहा गया है कि 'जो व्यक्ति न करने योग्य काम करने (ग्रकार्य करणात्) से या कर्त्तव्य कर्म करने में प्रमाद करने से ग्रथवा ग्रसमय में (ग्रकाले) गुप्त मन्त्रणा के प्रकट हो जाने से डरता हो उसे ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिए जिससे नशा चढ़ जाता हो।[2] इससे यह स्पष्ट है कि महाभारतीय तत्त्वदर्शन के ग्रनुसार न केवल राजा के ही वैयक्तिक चरित्र पर वहुत ग्रधिक वल दिया गया है ग्रपितु मन्त्रियों के वैयक्तिक जीवन ग्रौर चरित्र की शुद्धता को ग्रतीव महत्त्व देते हुए उसे राष्ट्र की रक्षा करने ग्रौर शत्रुग्रों पर विजय पाने के लिए ग्रनिवार्य प्रतिपादित किया गया हैं।[3]

मन्त्रिपरिषद का उत्तरदायी स्वरूप—

यह वात विशेपरूप से ध्यान देने योग्य है कि महाभारतीय काल के राजतंत्र में मंत्रियों के लिए ग्रपेक्षित योग्यताग्रों में इस प्रकार के तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनके द्वारा मन्त्रिपरिषद् का उत्तरदायी ग्रौर प्रतिनिधित्वपरायरण स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। मंत्रियों की नियुक्ति के विपय में उनकी भक्ति की ग्रक्षुण्णता को ध्यान में रखते हुए तथा उन्हें राष्ट्र ग्रौर राज्य के प्रति भक्त वनाये रखने की दृष्टि से यह नियम निर्धारित किया गया है कि मन्त्री के पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति कुलीन ग्रौर ग्रपने ही देश में उत्पन्न हुए होने चाहियें।[4]

इसके ग्रतिरिक्त मन्त्रियों का पौर ग्रौर जानपद जनता के विश्वास का पात्र होना भी ग्रावश्यक माना गया है। यह ग्रनिवार्य है कि ग्रपने धर्मपरायरण ग्राचररण के कररण वह व्यक्ति लोकप्रिय हो। ग्रौर वह ग्रपने देश के नागरिकों के प्रति ग्रपने हृदय में समुचित ग्रादर भाव रखता हो ग्रौर देश के शत्रुग्रों से वह किसी भी प्रकार सम्वन्धित न हो।[5]

ग्रायु—

शान्तिपर्व में मन्त्री के पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की ग्रायु के

१—ग्रविजित्य य ग्रात्मान ममात्यान् विजिगीषते।
ग्रमित्रान् वाऽजितामात्यः सोवशः परिहीयते॥ उद्योग, ३४, ५६

२—वही, ३४, ४३।

३—दे० सभा, ५, २४-२७। तथा

कच्चित् संवृतमंत्रैस्ते ग्रमात्यैः शास्त्र कोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते॥ वही, ५, २५;
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षरणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥ वही, ५, ३७।

४—'ग्रभिजातैः स्वदेशजैः' शान्ति, ८३, १९।

५—दे० वही ८३, ४६ तथा ३८।

विषय में कहा गया है कि उसकी आयु लगभग ५० वर्ष की होनी चाहिए।[१] महाभारत के अनेक स्थानों में मंत्रियों के प्रति किए गये अनेक उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक तत्वदर्शन के एक सिद्धान्त के रूप में नहीं अपितु एक व्यावहारिक नियम के नाते मंत्रियों के रूप में शासक के पदों पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति अवश्य ही प्रायः बड़ी आयु के होते थे। जिसके कारण राज्य का शासन परम्परागत नीतियों के अनुसार और परिपक्व राजनीतिक और राजनयिक अनुभवों के अनुरूप चलना संभव होता था।[२]

मंत्रियों की नियुक्ति

भारतीय राजाओं और उनके परामर्शदाताओं एवं सहयोगी शासकों के विषय में महाभारत में जो विचार प्रतिविम्बित हुए हैं उनसे उस काल की प्रशासनिक प्रवृत्तियों और परम्पराओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मंत्रि-संस्था की उत्पत्ति के विषय में महाभारत में उस प्रकार के कोई सैद्धान्तिक अथवा ऐतिहासिक विवेचन उपलब्ध नहीं हैं जिस प्रकार के राजा और राज्य की उत्पत्ति के विषय में प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्रचुरता से दिए गये हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि राज्य के सफल और प्रभावी प्रशासन के लिए मंत्रियों की नियुक्ति अनिवार्य मानी गई है। राज्य को इसने महान् तंत्र (सुमहद् तन्त्रम्) और इतने विस्तृत क्षेत्र (राज्यं महोदयम्) को देखते हुए किसी एक असहाय व्यक्ति के वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर पूरे राज्य का भाग्य सुरक्षित नहीं रह सकता। महाभारत के प्रणेताओं का यह आग्रह है कि अनिवार्य आवश्यकता के ही आधार पर अपने राज्य में से ही योग्य और समर्थ व्यक्तियों को चुनकर मंत्री-पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। यह मान्यता न केवल भारत में अपितु विश्व के सम्पूर्ण प्राच्य-अंचल में अस्मरणीय काल से इसी रूप में प्रचलित है। डा० स्पैलमैन का मत है कि चीनी परम्परा भी सर्वथा इसी प्रकार की है। चीनी सन्त मो-त्जे ने लिखा है कि जब सम्राट का राज्याभिषेक किया गया तो यह अनुभव हुआ कि वह अकेला राज्य में समान-शासन की स्थापना नहीं कर पायेगा किसी एक व्यक्ति की आँखों और कानों की क्षमता सीमित ही होती है। इसलिये ऐसे शुद्ध चरित्र वाले, बुद्धिमान् और भले व्यक्ति राजा की सहायता करने के लिए चुने गये जिनमें ये गुण राजा की अपेक्षा कम मात्रा में थे।[३] परन्तु इस चीनी परम्परा के अनुसार किया गया यह आग्रह 'कि राजा की

१—दे० 'पंचाशद् वर्ष वयसम्' शब्द पर नीलकण्ठ के भारतभावदीप नामक भाष्य में (शान्ति, ८५, ९ पर) 'पंचाशद्वर्षवयाः सन् इत्येकैकस्य' अर्थात् ५० वर्ष के लगभग आयु का होने का नियम प्रत्येक पर लागू होता है।

२—दे० 'वृद्धाः' सभा, ५, २७–८; 'वृद्धामात्यं पितुर्हितम्' आदि, १७५, ६ तथा १२२, २; रामोपाख्यान में रावण के वृद्ध मंत्री ने सीता को राम को सौंपा 'सुविध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो' वन, २ ९०, ६ आदि।

३—डा० स्पैलमैन द्वारा पृ० ८६ पर लियन-ची-चाओ की पुस्तक 'चाइनीज पोलिटिकल थौट' पृ० १०६ से उद्धत।

अपेक्षा कम गुणों वाले सहायकों की नियुक्ति की गई' महाभारतीय परम्परा को मान्य नहीं है। सभापर्व के पांचवें अध्याय में मंत्रियों के राजा के समान ही गुणवान् (आत्म-समाः) होने पर बल दिया गया है।[1]

यद्यपि महाभारत में सभी वर्णों का प्रतिनिधित्व करने वाले मंत्रियों की नियुक्ति का आदेश दिया गया है जिसके अनुसार ३७ व्यक्तियों की मंत्रिपरिषद में ४ ब्राह्मण, ८ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और एक सूत की नियुक्ति के नियम से उक्त प्रतिनिधित्व का अनुपात भी निश्चित कर दिया गया है। परन्तु महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष से उपलब्ध होने वाली अंशतः अस्पष्ट साक्ष्य सामग्री के आधार पर दृढतापूर्वक यह स्थापना नहीं की जा सकती कि मंत्रियों की संख्या का अनुपात वर्णों के आधार पर इसी प्रकार रखा जाता था। सूत्र-साहित्य और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह पता चलता है कि मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक जीवन पर ब्राह्मण-वर्ण का बड़ा प्रभाव था और मंत्रिपरिषद् पर तो उनका एकाधिपत्य ही था। परन्तु महाभारत और अर्थशास्त्र दोनों ही के अध्ययन के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि इस काल में क्षत्रिय वर्ण का ही राजनीतिक जीवन पर अपेक्षाकृत अधिक आधिपत्य दिखाई देता है। साथ ही ३७ व्यक्तियों के मंत्रिपरिषद् में २१ वैश्य मंत्रियों की नियुक्ति का प्रस्ताव ही यह सूचित करता है कि न केवल जनसंख्या में अधिक होने के कारण अपितु संभवतः अपनी आर्थिक सम्पन्नता और औद्योगिक एवं वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी समृद्ध और सशक्त स्थिति के कारण वैश्य वर्ण का भी प्रशासन के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान और योगदान रहता होगा। यद्यपि अनेक ग्रंथों में शूद्रों के राजा या मंत्री बनाये जाने का विरोध किया गया है परन्तु महाभारत के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों से ही यह बात सिद्ध होती है कि उस काल में तीनों वर्णों के अतिरिक्त शूद्र ही नहीं अन्य अनेक आर्येतर जातियाँ भी यथासम्भव महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रतिष्ठा वहन करतीं थीं। बौद्ध साहित्य में भी शूद्रों के मंत्रि-परिषद् के सदस्य होने का उल्लेख है।[2]

सम्पूर्ण महाभारत में महात्मा विदुर का उल्लेख बड़े सम्मान और गौरव के साथ किया गया है, यद्यपि वह शूद्रा मां की सन्तान थे। ये महाराजा धृतराष्ट्र के भी मन्त्री थे और कुरुओं की पराजय के पश्चात् सम्राट् युधिष्ठिर ने भी इन्हें अपना मन्त्री बनाया[3]। इसी प्रकार युधिष्ठिर ने अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ अन्तिम महाप्रस्थान करने से पहले शिशु राजा परिक्षित् का राज्याभिषेक करके उसका राज्य वीर शिरोमणि युयुत्सु को सौंप दिया जो वर्णतः शूद्र और वेश्यापुत्र थे[4]।

१—कच्चिदात्मसमाः वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधन क्षमाः।
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः॥ सभा, ५, २७।

२—महासुपिनजातक, क्रम संख्या ७७; दे० अग्निपुराण २१८, १८-२०।

३—शान्ति ४१।

४—महा प्रस्थानिक १।

शान्ति-पर्व में मन्त्रियों की नियुक्ति करते हुए यह ध्यान रखने का आदेश दिया गया है कि वे राजा के सम्बन्धी पुरुष हों, आप्त, कुलीन, स्वदेशी, घूस न खाने वाले, व्यभिचार दोष से रहित, सर्वथा परीक्षित, उत्तम जाति के, विद्वान् और कई पीढ़ियों से राजकीय सेवा करने वाले हों[1]। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित होगा कि मन्त्रि-संस्था वंशानुसंक्रमित थी। क्योंकि महाभारतकार ने परिचय, सम्बन्ध और परम्परागत सौहार्द की अपेक्षा मन्त्री के विद्वान् और बुद्धिमान् तथा चरित्रवान् होने पर ही सबसे अधिक बल दिया है। कहा गया है कि 'जो व्यक्ति सुहृद् न हो जो सुहृद् तो हो किन्तु पण्डित न हो, तथा जो सुहृद् और पण्डित तो हो किन्तु इन्द्रियों और मन को जीतने वाला चरित्रवान् न हो (अनात्मवान्) वह परम गोपनीय मन्त्रणा का अधिकारी नहीं है[2]।

मंत्रि परिषद में विचारणीय विषय

मन्त्रियों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किए जाने वाले विषयों के सम्बन्ध में महाभारतकार का यह स्पष्ट मत है कि राजा को अपने मन्त्रियों से मंत्रणा करने से पहले यह निर्णय स्वयं करना चाहिए कि अमुक विषय पर अमुक मन्त्री से मंत्रणा करनी है। अपने कार्य को ही दृष्टि में रखकर (प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः) उसे उनकी प्रधानता और गौणता का निर्णय करना चाहिए[3]। राजा को ध्यान रखना चाहिए कि जो कार्य किसी मन्त्री की रुचि के प्रतिकूल हो उसके विषय में उससे मंत्रणा न की जाय, उदाहरण के लिए अपने किसी धर्मात्मा सहयोगी मित्र या मन्त्री से किसी भी ऐसे विषय की चर्चा नहीं करनी चाहिए जो उसकी धार्मिक वृत्ति के अनुकूल न हो। यद्यपि यह बात ठीक है कि विजिगीषु राजा लोग आवश्यकतानुसार धर्म और अधर्म दोनों के अनुरूप आचरण किया करते हैं[4]।

महाभारतकार ने राजा को अकेले मन्त्रणा न करने और अपने मन्त्रियों से अलग-अलग और सभी से एक साथ भी मन्त्रणा करने का आदेश दिया है। उन्होंने इन मन्त्रणाओं के कार्यान्वित किए जाने के बारे में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह आज के शासकों के लिए भी अनुकरणीय है। उन्होंने कहा है कि मंत्र तत्त्व के अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान रखने वाले विद्वानों का मत है कि शासक को सदैव मन्त्रणा करनी चाहिए और फिर सदैव केवल उसी निर्णय (मंत्र) को कार्यान्वित करना चाहिए जो जनता को अपने अनुकूल बनाने में सबसे अधिक समर्थ जान पड़े[5]।

१—शान्ति ८३, १९–२०।
२—वही, ८१, ३।
३—शान्ति, ८०, ६ तथा ९।
४—यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत्।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ शान्ति, वही, ५।
५—'मन्त्रं प्रजा-संग्रहणे समर्थम्' शान्ति ८३, ५५।

मन्त्रियों लिए विभागों का निर्णय

शान्ति-पर्व में मंत्रियों की पृथक्-पृथक् कार्यों में नियुक्ति के विषय में प्राप्त होने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि राजा जिन लोगों को जिन कार्यों के योग्य समझता था, उन्हें उन्हीं कार्यों में नियुक्त करता था। युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपना राज्याभिषेक सम्पन्न होते ही सबसे पहले किए जाने वाले कार्यों में (उत्तरकार्याणि, ४०, २३) तत्काल अपने मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति की[1]। कहा गया है कि उन्होंने अपने भाई भीमसेन को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया। युधिष्ठिर ने बुद्धिमान् विदुर को राजकार्य के विषय में मन्त्रणा, कार्य निश्चय, और षाड्गुण्य (अर्थात् सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय इन छः नीति सन्वन्धी गुणों के चिन्तन कार्य में प्रीतिपूर्वक नियुक्त किया। उसने सर्वगुण सम्पन्न वयोवृद्ध संजय की नियुक्ति कृताकृत परिज्ञाने (कौन-सा कार्य हुआ और कौनसा नहीं हुआ इसकी जाँच करने) और आय-व्यय-चिन्तन के कार्य में की। इसके अतिरिक्त सेना की गणना (परिमाण) और उसके भोजन तथा वेतन (भक्त वेतनयोः) की व्यवस्था करने तथा उसके काम की देखभाल करने (कर्मणां चान्ववेक्षणे) का कार्य न कुल को सौंपा गया[2]। युधिष्ठिर ने अर्जुन को शत्रु देशों का प्रतिरोध करने और दुष्टों का दमन करने के लिए नियुक्त किया। उसने पुरोहित श्रेष्ठ धौम्य की नियुक्ति ब्राह्मणों से एवं अन्य द्विजोचित कार्यों एवं देवकार्यों से सम्वन्धित मामलों का सदैव संचालन करने के लिए की। सहदेव को सभी अवस्थाओं में राजा की रक्षा करने के लिए समीप रहने का कार्यभार सौंपा गया। इसी प्रकार इन व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य अनेक व्यक्तियों की नियुक्ति उनकी योग्यता के अनुरूप अलग-अलग कार्यों में की गई। यही आगे कहा गया है कि धर्मात्मा धर्मवत्सल युधिष्ठिर ने विदुर, संजय और महामति युयुत्सु से कहा कि 'पुरवासियों और जन-पदवासियों के जो-जो कार्य हों उन्हें राजा की अनुमति लेकर पृथक्-पृथक् बाँटकर पूर्ण किया जाय[3]।'

इस उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजा सम्भवतः अपने वृद्धामात्य से मन्त्रणा करके ही अपने सम्वन्धी एवं विश्वस्त किन्तु योग्य पुरुषों को अपने मंत्री नियुक्त करता था क्योंकि, जैसे कि हम पहले कह चुके हैं, राजा के अकेले ही स्वयं ऐसे महत्त्व-पूर्ण विषयों पर निर्णय कर लेने की परम्परा नहीं थी (नैको मन्त्रयेदर्थान्) सामान्यतया समवेत रूप में सभी मन्त्रियों का यह उत्तरदायित्व था कि वे और एवं जानपद जनता के सभी कार्यों की देखभाल करें और उन्हें सम्पन्न करायें किन्तु इस

१—शान्ति, ४१।

२—वलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्वनेक्षणे ।। शान्ति, ४१, १२।

३—पौर जानपदानां च यानि कर्माणि सर्वशः।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कार्याणि भागशः ।। शान्ति, ४१, १९।

प्रकार के सम्मिलित उत्तरदायित्व के साथ-साथ प्रत्येक पृथक् कार्य को पृथक् मन्त्री के अधिकार में सौंपकर, बाँटकर करने की व्यवस्था भी थी। कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के इस प्रकार के सामूहिक उत्तरदायित्व और पृथक् कार्य विभाग की रूपरेखा नितान्त प्रामाणिक एवं विशाल रूप में प्रस्तुत की है[1]। वहाँ राजा के द्वारा नियुक्त अथवा उसकी सेवा में निरत व्यक्तियों की पर्याप्त विशाल सूची दी गई है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इनमें कौन-कौन से राजपुरुष मन्त्रिपद के समान गौरवशाली थे और उनके लिए अमात्य सम्पद् अथवा मन्त्री के से गुणों एवं योग्यताओं से युक्त होना कहाँ तक आवश्यक था। कौटिल्य ने गुणों के आधार पर मन्त्रियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। सभी आवश्यक गुणों से युक्त मन्त्री को उत्तम, तीन चौथाई गुणों के होने पर उसे मध्यम और आधे गुणों के पाये जाने पर निकृष्ट (मध्यमावरों) कहा गया है[2]। गुप्त पुरुषों के द्वारा इन मन्त्रियों की धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों के करने के लिए अपेक्षित शुद्धता और योग्यता की परीक्षा करके उनकी योग्यता के अनुसार कम या अधिक महत्त्व के कार्यों पर उनकी नियुक्ति किए जाने का परामर्श किया गया है[3]। इस प्रकार कौटिल्य ने अमात्यों के गुणों तथा देश काल और कार्य के अनुसार उन (उत्तम, मध्यम और अवर कोटि के सभी गुणी पुरुषों) की योग्यता का विवेचन करके उन्हें 'अमात्य' पद पर नियुक्त करने का आदेश दिया है। किन्तु साथ ही यह स्पष्ट कर दिया है कि 'मन्त्रि' तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को बनाया जाये जो सर्वथा शुद्ध और उत्तम कोटि के हों[4]।

यदि हम इस विषय में प्राप्त ऐतिहासिक साक्ष्यों का अनुशीलन करें तो महाक्षत्रप रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख से यह स्पष्ट है कि उस काल में मंत्रियों के दो प्रमुख भेद होते थे, मति-सचिव (परामर्शदाता) और कर्म-सचिव (राजकीय व्यवस्था को कार्यान्वित कराने वाले)।[5] इस प्रकार के मंत्रियों, अमात्यों एवं सचिवों तथा अन्य अधिकारियों की पर्याप्त बड़ी संख्या हिन्दू राजा के चारों ओर संगठित रहती थी। इस बात के संकेत महाभारत (सभापर्व) में प्राप्त राजसभाओं के वर्णनों से मिलते हैं। बौद्ध-कालीन साहित्य में भी राजा के परिजन की इस विशाल संख्या

१—अर्थ० १, १२।
२—अर्थ० १, ६।
३—वही, १, १०।
४—विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः॥ अर्थ०, ६, ८, ३३।
५—'महाक्षत्रपस्य मतिसचिव-कर्मसचिवैरमात्यगुण समुद्युक्तैः'...।
एपिग्राफिका इण्डीका, ८, चित्र ६, पृ० ४४, १, १७।
दे० अमरकोश, २, क्षत्रिय वर्ग,
मंत्री धीसचिवोऽमात्योऽन्ये कर्मसचिवास्ततः।

का उल्लेख किया गया है ।[1] यूनानी विद्वान् राजदूत मैगस्थनीज ने मौर्य-काल की पर्याप्त उन्नत एवं विकसित शासन-व्यवस्था का परिचय देते हुए सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्याधिकारियों की विशाल संख्या पर बड़ा आश्चर्य और विस्मय प्रकट किया है। वह कहता है कि ये राजपुरुष दो विशेष श्रेणियों में विभाजित थे। मैगस्थनीज ने एक श्रेणी को राजा के निरीक्षक अधिकारियों (अं० ओवरसीयर्स) की और दूसरी को सभासदों और सहायकों (अं० काउंसिलर्स तथा एसेसर्स) की बतलाया है।[2] प्रस्तुत प्रसंग में हमारा लक्ष्य राजा के द्वारा नियुक्त अधिकारियों के उस वर्ग की ओर है जिन्हें मैगस्थनीज ने सभासदों और सहायकों का वर्ग कहा है, जिसे कौटिल्य सामान्य सचिव या अमात्यों से ऊपर मन्त्रियों के रूप में नियुक्त करने का परामर्श देते हैं, जिन्हें महाक्षत्रप रुद्रदामन् की शासन-व्यवस्था में मति-सचिव कहा गया है और जिस वर्ग का कौटिल्य ने सामान्य सचिवों एवं अमात्यों से ऊपर मंत्रियों के रूप में नियुक्त करने का आदेश दिया है तथा महाभारत में सभापर्व में राजसूय के उपरान्त सम्राट् युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त किये गये मंत्रियों की गणना जिस श्रेणी में आती है। इसी वर्ग के समानान्तर किन्तु इसकी अपेक्षा पद और गौरव की दृष्टि से कुछ कम महत्त्व-पूर्ण दूसरे कर्म-सचिवों, निरीक्षकों अथवा कर्मामात्यों के वर्ग को महाभारत में 'तीर्थ' कहा गया है[3], जिनकी संख्या अठारह बतलाई गई है। इनके विषय में विशेष विवरण अगले परिच्छेद में किया जायगा। परन्तु मंत्रियों के गुणों, उत्तरदायित्व और संख्या आदि के विषय में यहाँ दिये गये विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट कर देना पुनः आवश्यक है कि महाभारतकार मंत्रियों की बहुत बड़ी संख्या न रखकर एक छोटी सी आठ, पाँच, तीन या फिर एक ही मंत्री वाली मंत्रि-परिषद् के पक्षपाती हैं। जहाँ एक ओर राजा को किसी मंत्री की सहायता के बिना अकेले ही कार्यों पर विचार और निर्णय करने का निषेध किया गया है, वहाँ बहुत से मंत्रियों के साथ मंत्रणा करना भी वर्जित ठहराया गया है। इसका मूल कारण यह है कि मंत्रियों की संख्या अधिक होने पर राज्य की सबसे बड़ी हानि, मंत्रणाओं की गोपनीयता संभव न रहने के कारण हो सकती है[4]।

मंत्रणा की गोपनीयता की रक्षा के लिये सावधानी—

मंत्रणा करने के योग्य मंत्रियों की योग्यता और क्षमता आदि के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन करने तथा मंत्रणीय विषयों (अर्थों) तथा मंत्रिपरिषद् की संख्या

१—दिव्यावदान, ४, ३०, ८।
२—मैक् क्रिंडल, एँश्यैण्ट इंडिया एज़ डैस्क्राइब्ड बाइ मैगस्थनीज़ एण्ड एरियन, पृ० ८५—८६।
३—सभा, ५, ३८।
४—'कच्चिन्न बहुभिः सह'।
कच्चिन्नो मंत्रितो मंत्रो न राष्ट्रं परिधावति ।। सभा ५, ३०।

आदि के विषय में आवश्यक सावधानी बरते जाने का उपदेश देने के अतिरिक्त महाभारतकार ने कुछेक अन्य सावधानियों का उल्लेख किया है, जिन पर ध्यान न दिये जाने से मंत्रणा के गुप्त न रहने की आशंका हो सकती है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि 'जहाँ गुप्त विचार किया जाता हो, वहाँ या उसके अगल-बगल, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे भी किसी भी तरह ऐसे व्यक्ति न आने पावें जो बौने, कुबड़े, दुबले, लंगड़े, अन्धे, गूंगे, स्त्री और हीजड़े हों।[1]' इसके अतिरिक्त मंत्रणा की सुरक्षा और सफलता के लिये उचित देश और काल के साथ-साथ निर्दोष एवं स्वस्थ वाणी तथा शरीर की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।' यहीं कहा गया है कि 'महल की ऊपरी मंजिल की छत पर चढ़कर अथवा सूने एवं खुले हुए समतल मैदान में—जहाँ कुश-काश तथा घास-पात बढ़े हुए न हों, ऐसी जगह बैठकर वाणी और शरीर के सारे दोषों का परित्याग करके उचित समय में अथवा समय न निकलने देते हुए (अहीन कालम्) भावी कार्य के सम्बन्ध में गुप्त विचार करना चाहिये (संमंत्रयेत्)।[2] मंत्रणा की उक्त गोपनीयता का फल यह होना चाहिये कि जिन कार्यों के विषय में उक्त मंत्रणा की जाय उन कार्यों के सम्पन्न हो जाने अथवा उनमें प्रायः पूर्णता के निकट होने पर ही दूसरों को उनका पता चले, कहीं कार्यों के आरम्भ से पहिले ही उनके विषय में किसी को राजकीय मंत्रणा का पता न लग जाय[3]।

मंत्रियों के लिए राज-सेवा में आचरण के नियम—

मन्त्री के नाते ही नहीं सामान्यतया किसी भी पद पर नियुक्त राज-सेवक के नाते कार्य करना कितना कठिन है इसी बात पर बल देने के लिए महाभारतकार ने राजसेवक की आजीविका को पापमयी और अगतिक गति कहा है अर्थात् यह बड़ी कष्टमयी होती है और जिसे कहीं भी सहारा नहीं मिलता वे ही इसे ग्रहण करते हैं। यहाँ तक कहा गया है कि जिसका राजाओं के साथ रहना-सहना या मेलझोल हो, उसकी विषधर सर्पों के साथ ही संगति हो गई समझनी चाहिए। क्योंकि राजाओं के अनेक मित्र और अनेक शत्रु होते हैं और राजसेवकों को उन सभी से भय रहता है तथा स्वयं राजा से भी उन्हें घड़ी-घड़ी में खतरा बना रहता है[4]। कहा गया है राजा

१—'न वामनाः कुब्जकृशा न खंजाः।
नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकं च॥'   शान्ति, ८३, ५६।

२—वही, ८३, ५७। दे० कौटिल्य के द्वारा पशुओं, पक्षियों एवं सामान्य कर्मचारियों के द्वारा मंत्रणा के प्रकाशित किये जाने के विषय में कौटिल्य के द्वारा प्रस्तुत मनोरंजक विवेचन; अर्थशास्त्र, १, १०, १४।

३—कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः।
विदुस्ते वीर ! कर्माणि नानवाप्तानि कानिचिद्॥ सभा, ५, ३३।

४—'प्रागेवोक्तस्तु दोषोऽयमा चार्यैर्नृपसे विनाम्।
अगतीकगतिह्येषा पापा राजोपसेविनाम्॥
आशीर्विषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः।
बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च॥' शान्ति, ८२, २४—२५।

के पास रहने वालों से प्रमाद हो ही नहीं यह तो असम्भव है, परन्तु जो अपना भला चाहता हो (भूतिमिच्छता) उसे–किसी भी तरह जानबूझकर प्रमाद नहीं करना चाहिए (८२, २७)। जहाँ तक राजा के आस-पास रहने वाले व्यक्तियों से भय का प्रश्न है, महाभारतकार ने राजा को उपदेश देते हुए कहा है कि यदि कोई मन्त्री राजा के खजाने से धन का अपहरण कर रहा हो और दूसरा कोई उसकी सूचना राजा को दे दे तो चोरी करने वाले मन्त्री अपना भंडाफोड़ करने वाले व्यक्ति को प्राय: मार डाला करते हैं[1]। अत: राजा को उसकी वात एकान्त में सुननी चाहिए और धन का अपहरण करने वाले मंत्रियों से उसकी रक्षा करनी चाहिए। होता प्राय: यह है कि राजकीय कोष को लूटने वाले सब लोग संगठित होकर राजकोष की रक्षा करने वाले व्यक्ति को पीडित करने लगते हैं (समेत्य वाधन्ते) और यदि उसकी रक्षा नहीं की गई तो वह वेचारा वेमौत मारा जाता है। कौटिल्य ने राजकोष का अपहरण करने वाले इन व्यक्तियों की तुलना मछलियों से करते हुए कहा है कि मन्त्रियों के द्वारा चुराये जाने वाले कोष को जानना ठीक उतना ही कठिन है जैसे यह पता लगाना कि जल में रहने वाली मछलियाँ कब और कितना जल पी रही हैं[2]। कहा गया है कि राज-कोष की हानि को न सहन करने के कारण मित्रभाव, भक्ति एवं हित की भावना से प्रेरित होकर जो व्यक्ति सचेत करता है उसी प्रकार राजा को यह वतलाये कि यह उसके कोष का अपहरण हो रहा है तो राजा को अपने उस हितैषी और आत्मीय पुरुष की वात सुननी चाहिए और उसके प्रति नाराज नहीं होना चाहिए। अपितु उसके अपराध को क्षमा करना चाहिए[3]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि राजा ऐसे हितैषी सेवक की वात से कुपित हो जाय तो अहित की भी संभावना रहती है। दूसरी ओर थोड़ी सी असावधानी के कारण यदि कोई अपराध वन गया तो राजा पहले के सभी उपकारों को भुलाकर क्रोधवश अपनी मर्यादा भुलाकर द्वेष करने लग जाय तो जीवन तक की हानि हो सकती है अत: प्रशिक्षित राजसेवक व्यक्ति को महाभारतकार ने राजा के पास उसी प्रकार सावधानी से रहने का आदेश दिया है जिस प्रकार जलती हुई आग के पास मनुष्य सचेत होकर जाता है। राजा प्राण और धन दोनों का स्वामी है। जव वह कुपित हो जाता है तो विषधर सर्प के समान भयंकर हो जाता है अत: 'मैं जीवित नहीं हूँ' ऐसा ही मानते हुए एवं अपनी जान को हथेली पर रखकर सदैव

१—वही, ८२, २—३।

२—मत्स्या यथान्त: सलिले चरन्तो
ज्ञातुं न शक्या: सलिलं पिबन्त:।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता:
ज्ञातुं न शक्या धनमाददाना:॥ अर्थ० २,९, ३७।

३—'अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमान्वित:।
सम्बुबोधयियुर्मित्रं सदश्वमिव सारथि:॥' इत्यादि शान्ति, ८२, १८–२०।

बड़े यत्न से राज्य की सेवा करनी चाहिए[1]। आगे चलकर बतलाया गया है कि मन्त्री को सदा सतर्क रहना चाहिए कि मुंह से कोई बुरी बात न निकल जाय (दुर्व्याहृतात्), कोई बुरा काम न बन जाय, खड़ा होते किसी आसन पर बैठते, चलते, संकेत करते, तथा किसी अंग के द्वारा कोई चेष्टा करते समय असभ्यता अथवा वेअदवी न हो जाये। क्योंकि यदि राजा प्रसन्न कर लिया जाय तो वह देवता की तरह सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध कर देता है और यदि कुपित हो जाय तो जलती हुई आग की भाँति समूल भस्म भी कर सकता है। इस प्रकार उक्त प्रसंग में आचार्य यम के मत को उद्धृत करते हुए मुनि काल वृक्षीय ने कोसल-नरेश को वतलाया है कि वह एक मन्त्री के नाते उन्हें या उनके मित्रों (राजा और राजा के प्रिय व्यक्तियों) को किसी भी प्रकार गर्हित दृष्टि से न देखते हुए उसे उसके ही हित और अहित को समझाने के लिए आपत्तिकाल में बुद्धि द्वारा सहायता देने के लिए (बुद्धि साहाय्यम्) मंत्रणा देना चाहते हैं। मुनिकाल वृक्षीय ने राजा को सावधान करते हुए कहा है कि उन्होंने अपने राज्य को अमात्यों पर ही छोड़कर बड़ी भूल की है[2]। क्योंकि उसके अमात्य ठीक उस लता-समूह की तरह के हैं जो किसी महान् वृक्ष का आश्रय लेकर बढ़ता है, फिर धीरे-धीरे उस वृक्ष को लपेट ही लेता है और उसका अतिक्रमण करके उससे भी ऊँचे तक फैल जाता है, फिर वही सूख-सूख कर भयानक ईंधन बन जाता है, सब दारुण दावानल उसी ईंधन के सहारे उस विशाल वृक्ष को भी जला डालता है[3]। अतः आप उनका शोधन करें। यहीं उक्त प्रकार के उन दुष्ट आमत्यों के द्वारा जो राजा के घर में ही रहकर केवल राज्य का धन ही लूटने वाले तथा प्रजा की भलाई न चाहने वाले थे, कालवृक्षीय जैसे श्रेष्ठ मंत्री के विरुद्ध अभिसंधि एवं द्वेष करने की चर्चा की गई हैं। उक्त विवरण से मंत्रिपरिषद् के व्यावहारिक रूपों एवं उसमें चलने वाली राजनीतिक दुरभिसंधियों और दलवन्दियों का तो पता चलता ही है यह भी ज्ञात होता है कि कभी-कभी मंत्रिगण का सम्पूर्ण राज्य पर राजा से भी अधिक अधिकार तथा उच्छृंखल शासन भी स्थापित हो जाता था तथा राजा की अपनी प्रभुता एवं अधिकार जमाये रखने के लिए किन्हीं श्रेष्ठ मंत्रियों की बौद्धिक सहायता से प्रयत्न एवं संघर्ष करना पड़ता था[4]। ऐसे मंत्रियों के द्वारा दी गई, प्रयत्न-पूर्वक गुप्त रखकर धीरे-धीरे क्रम से सावधानी से कार्यान्वित की गई मन्त्रणाओं के सहारे ही राजा, महाभारत के ही शब्दों में, राजनीति की उस नदी' के पार हो पाता था जिसमें अनेक राजपुरुषों को मगरमच्छ, सिमिंगल-समूह तथा ग्राहों

१—'प्रमादाद्धि स्खलेद् राजा स्खलिते नास्ति जीवितम्।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद् राजानमुपशिक्षितः।' शान्ति, ८२, २८, २९ आदि।

२—'राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन् प्रमाद्यसि।' वही, ८२, ६७।

३—शान्ति, ८२, ४९–५०।

४—अर्थशास्त्र में इस विषय पर विस्तृत विवेचन के लिए देखिए २, ७, ६४; २, ९, ६९; ५, ४, २५१ तथा ५, ५, २५२–३।

के समान वतलाया गया है।[1]

महाभारतकार ने स्पष्ट रूप से यही प्रतिपादित किया है कि राजा की स्थिति उसके मंत्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ होनी चाहिए यहाँ तक कि धार्मिक व्यक्तियों को यह परामर्श दिया गया है कि वे उस राज्य में न रहें जहाँ राजा के अधिकारी राजा के समान हों शासन में प्रभुता रखते हों[2]। विराट्पर्व में अज्ञातवास के लिए विराट्नगर की ओर प्रस्थान करते हुए पाण्डवों और द्रौपदी को राजा के यहाँ रहने के विषय में मंत्रणा देते हुए पुरोहित धौम्य ने विस्तार-पूर्वक वतलाया है कि राजा के प्रति सावधानी से प्रसादपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए, आज्ञा लेकर मिलने जाने, आज्ञा मिलने पर ही तथा अपने योग्य आसन पर ही वैठने, विना पूछे राजा को कोई परामर्श न देने चुप रहने तथा उचित समय पर सच्ची ही स्तुति करने, अन्तःपुर से भिन्नता न करने, राजा को वतलाकर ही छोटे से छोटे कार्य करने तथा सर्वथा मर्यादा का पालन करते रहने आदि के विषय में कारणों समेत उचित परामर्श देते हुए धौम्य ने विशेषतः मंत्रियों के विषय में कहा है कि मंत्री राजा और राजपुत्र दोनों की प्रशंसा करते हुए ही देर तक राजा के यहाँ ठहर सकता है तथा निकाले जाने पर भी निन्दा न करने वाले मन्त्री पुनः पद प्राप्त कर सकता है। कहा गया है कि मन्त्री को ऊँचा हँसना तथा अत्यधिक प्रसन्न होना छोड़कर अत्यन्त धैर्यपूर्वक आचरण करना चाहिए। कहा गया है कि जो मंत्री राजा को यह मन्त्रणा देता है कि राजा प्रजाओं पर हठ पूर्वक दण्ड देकर कठोरता से शासन करे वह अपने पद पर वहुत दिन नहीं रह सकता और उसके प्राण संशय में पड़ जाते हैं। आगे कहा गया है कि मन्त्री को चाहिए कि वह राजा के समान वेष न धारण करे, अत्यधिक समीप न वैठे, मंत्रणा को गोपनीय रखे तथा कार्य में नियुक्त किए जाने पर किसी भी प्रकार के धन का स्पर्श न करे क्योंकि धन का अपहरण करते हुए उसे बन्धन या वध का ही दण्ड मिलता है[3]।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारतकार ने मंत्रियों को वार-वार सावधान किया है कि यदि कोई मंत्री यह चाहता हो कि वह कोई अकार्य न करे, कोई करने योग्य कार्य उससे छुट न जाये तथा मंत्र-भेद न हो तो उसे वह वस्तु कदापि न खानी-पीनी चाहिए जिससे नशा आता हो[4]।

उक्त विवरणों से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि महाभारतकार ने मंत्रियों को खुशामदी वनने या दम्भपूर्ण औपचारिकता का पालन करने के लिए प्रेरित किया

१—दे० 'वहुनक्रझषग्राहां तिमिंगलगणैर्युताम्।' वही, २६।

२—शान्ति, २३८।

३—विराट्, ४, १३–५०।

४—उद्योग, ३४, ४३ आदि; मंत्रियों के लिए इसी प्रकार की शिक्षाओं के लिए दे० वही, ३६; रामायण, आरण्य, ४०, कुणाल, २, अ० ७७; कामसूत्र, पृ० १२७।

है। वास्तविकता यह है कि चाहे उक्त प्रकार का व्यवहार करने से मंत्री के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति तो न हो पाये परन्तु इन नियमों के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति व्यवहार में इतना निपुण होगा कि वह किसी भी ओर कैसे ही राजा के यहाँ सफलतापूर्वक प्रभावी ढंग से कार्य करके अपना सिक्का जमा सकेगा। दूसरी ओर महाभारतकार ने मंत्री के गुणों का वर्णन करते हुए उसका शूर, निर्भीक, संबोधनक्षम और स्पष्टवक्ता तथा सत्यवादी होना अनिवार्य बतलाया है। कौटिल्य ने तो मंत्री को यह आदेश दिया है कि वह मृगया, जूआ, मदिरा और स्त्रियों में आसक्त रहने वाले राजा का अनुगामी बना रहकर उसके समीप रहता हुआ उसे उक्त व्यसनों से छुड़ाने का प्रयत्न करे। राजा की चेष्टाओं और आकार को परख कर व्यवहार करे[1]।

मन्त्रियों के लिए राज-सेवा के अधिनियम—

हम यह पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत कर चुके हैं कि मंत्रियों की योग्यता, व्यवहार-कुशलता और उत्तरदायित्व के विषय में महाभारत में बड़े कठोर मापदण्ड और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। यह नितान्त स्वाभाविक है कि महाभारत में प्रतिबिम्बित मंत्रि-संस्था के विकसित रूप के अनुरूप कुछ सेवा नियम भी अवश्य ही प्रचलित रहे होंगे।

(अ) परीक्षा—

महाभारत में महामंत्री, पुरोहित और युवराज को छोड़कर अन्य सभी अमात्यों, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक, कारागाराधिकारी, द्रव्यसंचयकर्त्ता, कृत्याकृत्य विनियोजक, प्रदेष्टा, नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणाधिकारी, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल, तथा अटवीपाल आदि अधिकारियों की योग्यता, ईमानदारी चरित्र एवं क्षमता आदि की परीक्षा गुप्तचरों के द्वारा किए जाने का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि राजा अपने उक्त १५ अधिकारियों के विषय में जानने के लिए प्रत्येक अधिकारी पर तीन ऐसे गुप्तचरों की नियुक्ति करे जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों[2]। अर्थशास्त्र अमात्यों की परीक्षा के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं भय की दृष्टि से गुप्तचरों के द्वारा छल-पूर्वक परीक्षा (उपधा-परीक्षा) किए जाने का परामर्श दिया गया है[3] और उन्हीं व्यक्तियों के मंत्री बनाये जाने का आदेश दिया गया है जो इन परीक्षाओं में शुद्ध सिद्ध हुए हैं। परन्तु राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काने, फुसलाने बहलाने आदि के द्वारा या महारानी के प्रति किसी को कामुक बनाने आदि की छलभरी परीक्षा-प्रकिया स्वयं कौटिल्य को भी अभिप्रेत नहीं

१—अर्थ० ५, ५, ३–६।

२—कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पंच च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥

३—अर्थ शास्त्र, १, १०।

थी क्योंकि वह दोष रहित व्यक्ति को दूपित करना इसी प्रकार भयंकर मानते हैं जिस प्रकार जल को विप से दूषित करना। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि उस विष की दवा ही न हो सके अर्थात् विगड़ा हुआ अमात्य सुधारा ही न जा सके। कौटिल्य का कथन है कि छलपूर्वक गुप्त उपायों से ठगने के लिए भेद को प्राप्त कराने के लिए, धर्म, अर्थ, काम तथा भय के विपय में भेद को प्राप्त कराई गई धीरमनस्वी पुरुषों की वुद्धि निश्चित अभिप्रेत फल को प्राप्त किए विना फिर कभी विश्राम नहीं लेती[1]। महाभारतकार ने सम्भवतः इसी अर्थशास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस प्रकार की उपधा-परीक्षा का संकेत ही नही किया है।

(ब) मंत्रियों के कार्य का निरीक्षण--

महाभारतकार ने जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नगरों और जनपदों में रहने वाली जनता से सम्बन्धित कार्यों को राजा की अनुमति से पृथक्-पृथक् मंत्रियों में वाँटकर सम्पन्न करवाने का परामर्श दिया है[2]। यद्यपि मंत्रिपरिषद् समवेत रूप से कार्यों के विषय में मंत्रणा करके ही राजकार्यों के विपय में निर्णय लेती थी तो भी किसी विशेष मंत्री को सौंपे गये कार्य विशेष के विपय में पूरी जिम्मेदारी उसी की होती थी। अपने इस उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए मंत्रियों को कठोरता पूर्वक बाध्य किया जाता था[3]। अमात्यों का राजा के पूर्णतया वश में रहना नितान्त आवश्यक माना जाता था[4]। इस प्रकार के केन्द्रीय नियंत्रण में समवेत उत्तरदायित्व का पालन करते हुए भी अपने कार्य-विभाग के लिए मंत्री अलग-अलग उत्तरदायी होते थे। एक वरिष्ठ मंत्री केवल इसीलिए नियुक्त होता था कि वह मंत्रियों के अधीन चलने वाले कार्यों के विषय में यह जानने का उत्तरदायी हो कि कौन सा कार्य हो चुका है और कौन सा कार्य होना शेष है। (कृताकृतपरिज्ञान)।

(स) शुद्ध आचार, लोकप्रियता एवं केन्द्रीय नियंत्रण--

महाभारतकार ने मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए राजकीय सेवाओं में रहने वाले मंत्रियों एवं अन्य अधिकारियों के लिए अनुशासन-हीनता, आलस्य, घूसखोरी और अलोकप्रियता को अक्षम्य अपराध घोषित किया है। यह वात मंत्रियों के लिए अपेक्षित गुणों, सम्भावित दुर्गुणों और आचारसंहिता आदि का विवेचन करने वाले विविध वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारतीय राजतंत्र में उक्त दोपों के दोपी पाये जाने वाले व्यक्तियों के लिए कठोर कारावास तथा मृत्यु-दण्ड तक की व्यवस्था थी[5]। राजा की ही तरह अमात्यों

१—अर्थशास्त्र, १, १०, २६,–३०।
२—शान्ति, ४१, १६।
३—वही, ५६, ४०।
४—उद्योग, ३४, ५६।
५—न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत्।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम्॥ विराट्, ४, ४६।

के लिए भी जितेन्द्रिय होना ग्रावश्यक माना गया है। ग्रमात्यों का जितेन्द्रिय तथा पूर्णतया राज्य के ग्रनुशासन के वश होना भी ग्रनिवार्य है तथा मंत्रियों का भी जनता के प्रति स्नेहभाव रखना ग्रौर उसके युक्त युक्त परिणाम के रूप में जनता में भी राज्य के प्रति प्रेम होना ग्रावश्यक माना गया है[1]। जहाँ मंत्री न्याय ग्रौर धर्म (ईमानदारी) के ग्रनुसार शासन नहीं करते उस राज्य के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'वहाँ सर्वत्र ग्रन्धकार ही ग्रन्धकार होता है, वहाँ राजा तक को क्या होगा इस बात का विश्वास नहीं होता, वहाँ भला ग्रौर बुरा (सदसती) एक समान होता है, वहाँ बुराई करने वाले का नहीं भलाई करने वाले का भी वध हो सकता है। ग्रागे कहा गया है कि ऐसे राज्य की राजनीति उस सीता नाम की नदी के समान है जिसमें नाव भी डूब जाती है (ग्रर्थात् वह मंत्रियों ग्रौर सहायकों को डुबा देगी) वह सभी प्राणियों का विनाश करने वाली फाँसी ही है[2]। यही दोषपूर्ण पतित मंत्रियों से युक्त राज्य के राजा को विषैल साँपों से घिरे हुए कुए के समान बतलाया गया है[3]। इन सभी उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि मंत्री के लिए भी ग्रनुशासनपूर्ण, प्रमाद ग्रौर ग्रालस्य से रहित कर्तव्यपरायण ग्रौर लोकप्रिय व्यवहार करते हुए तथा राजा के ग्रादेशों का पालन करते हुए जीवन बिताना एक ग्रनिवार्य ग्रावश्यकता थी। ग्रन्यथा उसका ग्रौर उसके कारण राज्य के सभी लोगों का जीवन नरक बन जाने की ग्राशंका रहती थी। यद्यपि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रमात्यों के ही नहीं प्रायः प्रशासन के सभी मामलों में राजा ही ग्रन्तिम ग्रौर श्रेष्ठ ग्रधिकार एवं प्रभुत्व से सम्पन्न था तो भी यदि उसके चारों ग्रोर ग्रच्छे मंत्रियों की ग्रपेक्षा बुरे मंत्रियों का मण्डल एकत्रित हो जाता था तो वह सर्वथा प्रभावशून्य ग्रौर प्रजाग्रों के हित की दृष्टि से ग्रसमर्थ हो जाता था। ऐसे राजा के राज्य में न रहना ही बुद्धिमत्ता कही गई है[4]। कौटिल्य ने प्राचीनकाल से ही प्रचलित उक्त दोषों का ग्रौर विशेषतः राजकीय धन के ग्रपहरण एवं भ्रष्टाचार का निराकरण करने के लिए बड़े कठोर उपायों का प्रतिपादन किया है। उसने ग्रनधिकृत रूप से कमाये हुए धन को जप्त कर लेने जुर्माने के द्वारा वसूल कर लेने तथा एक विभाग एवं क्षेत्र से दूसरे में स्थानान्तरण कर देने का ग्रनुमोदन किया है जिससे 'या तो वे राजकीय धन का ग्रपहरण ही न कर सके या जो वे खा गये हों उसे उगल दें[5]।

१—कच्चिज् जितेन्द्रियो राजा कच्चिदस्यान्तरा जिताः।
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद्राज्ञः प्रियाः प्रजाः॥ शान्ति, ८२, ५३,५४।

२—'सीता नाम नदी राजन् प्लवो यस्यां निमज्जति।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम्॥ वही, ४५।

३—'ग्राशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव। वही, ४७।

४—'नेह युक्तं स्थिरं स्थातुं जवेनैवाव्रजेद् बुधः॥ शान्ति ८२, ४४।

५—द्रष्टव्य-ग्रर्थ०, १, १०।

(द) प्रशासन के उच्चस्तर का ध्यान—

महाभारतीय शासन में मन्त्रियों के विषय में प्राप्त होने वाली ऐसी विस्तृत और व्यावहारिक व्यवस्था का विश्लेषण करने से यह बात नितान्त विशद रूप में स्पष्ट हो जाती है कि इस व्यवस्था में प्रशासन के स्तर को पर्याप्त उन्नत बनाये रखने के लिए नितान्त व्यावहारिक, क्रमिक रूप से विकसित एवं परम्परागत शासन-प्रणाली का यथार्थ रूप सामने आता है। शासनतन्त्र की शुद्धता और प्रभाविता को दृष्टि में रखते हुए अनेक प्रभावी उपायों का प्रतिपादन करते हुए सामान्यतया सभी राजसेवकों के लिए आचार के नियमों की पूरी व्यवस्था उनके पालन करने से लाभ और पालन न करने से हानियों की ओर ध्यान दिखाते हुए की गई है। मन्त्रियों के लिए दिए गये विशेष आचार-नियमों के साथ-साथ ये सामान्य नियम भी उनपर राजकीय सेवक होने के नाते लागू होते ही हैं। अतः इन सबका एक साथ पर्यवेक्षण करते हुए हमें यह कहना पड़ता है कि राजा के नीचे सेवा करने वाले मन्त्रियों के लिए उनके धन और जीवन आदि की सुरक्षा के विषय में विशेष नियमों की व्यवस्था कहीं नहीं की गई है। हाँ यह सत्य है कि महाभारतकार ने अपने राजा को अपने मन्त्रियों एवं अमात्यों तथा सहायों को इतना ऊँचा जीवन-स्तर प्रदान करने का आदेश दिया है जो स्वयं उसके अपने जीवन के इतना समकक्ष हो कि केवल छत्र धारण करना तथा सबको आज्ञा देना ही उसके पास विशेष रूप से अधिक रहें[1]। महाभारत में मन्त्रियों के वेतन और भत्ते आदि का सुनिश्चित मान न दिए जाने पर भी उनके लिए जिस प्रकार की प्रतिक्षा और आर्थिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है उसकी पुष्टि कौटिल्य के अपेक्षाकृत स्पष्ट निश्चित तथा प्रमाणिक वर्णन से भली प्रकार होती है[2]। स्मरण रहे कि कौटिल्य ने सभी राजकीय कर्मचारियों के लिए वेतन दिए जाने की व्यवस्था की है। इस उद्देश्य के लिए राज्य की कुल आय का एक चौथाई भाग अलग रखा गया है। कहा गया है कि कार्य करने में समर्थ भृत्य, जितने धन से मिल सकें, उतना ही धन देकर उनकी नियुक्ति करे चाहे फिर चतुर्थांश से अधिक धन भी खर्च करना पड़े। महाशय सलेटोर ने उक्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि कौटिल्य का अभिप्राय यह है कि राजा को राजकीय सेवकों के शारीरिक सुख का ध्यान रखना चाहिए और इसके लिए उन्हें उतना धन देना चाहिए जिसके द्वारा उनमें कार्य को सिद्ध करने के लिए उत्साह की भावना का संचार हो सके। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं होना चाहिए कि राजा धर्म और अर्थ के मार्ग का उल्लंघन करे[3]।' यहीं कौटिल्य ने मन्त्रियों के लिए

१—'सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूति-पुरस्कृतः।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमानाज्ञयाधिकः॥' शान्ति, ५८, २५।

२—अर्थ० ५, ३, १–५।

३—दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत्। कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत। न धर्मार्थौ पीडयेत्॥
अर्थशास्त्र, ५, ३, १–३।

४८००० पण (अष्टचत्वारिंशत्साहस्राः) वार्षिक वेतन के रूप दिए जाने की व्यवस्था की है। यह वेतन की दर प्रतिवर्ष के या प्रतिमाह के हिसाब से दी जानी चाहिए इस विषय में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। डा० एन० एन० ला और प्राध्यापक रंगस्वामी ऐयंगर ने यह माना है कि यह वेतन प्रतिमास के हिसाब से बतलाया गया है जब कि डा० आर० शाम शास्त्री ने कहा है कि यह वार्षिक वेतन दर है। डा० सलेटोर ने भी इसे वार्षिक ही माना है[1]। चाहे यह वेतनराशि मासिक हो चाहे वार्षिक, एक बात स्पष्ट है कि कौटिल्य की शासन-व्यवस्था में मन्त्रियों को सबसे अधिक वेतन दिया जाता था। वेतन के आधार पर मन्त्रियों का यह उच्च सम्मान उसी कोटि का था जिसमें मन्त्रियों के साथ ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी (पटरानी) की गणना की गई है। कौटिल्य ने इतना बड़ा वेतन दिए जाने का कारण बतलाते हुए कहा है कि इतना वेतन प्राप्त होने पर ये आराम से एवं बिन कुपित हुए रह सकते हैं (नानास्वाद्यत्वमकोपकं चैषां भवति)[2]। साथ ही यह ध्यान रखने योग्य है कि मन्त्री आदि श्रेष्ठ व्यक्तियों के बाद राजकीय भृत्यों की दूसरी सम्मानित श्रेणि को केवल २४ हजार पण ही वार्षिक वेतन दिए जाने की व्यवस्था की गई है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अन्य राजकीय अधिकारियों की अपेक्षा मन्त्री और सेनापति का वेतन दुगुना होता था। यह भी हो सकता है कि सेनापति के समकक्ष स्तर दिया गया वेतन केवल प्रधानमन्त्री या महामात्र का ही हो और अन्य सामान्य अमात्यों को इससे कुछ कम दिया जाता हो परन्तु अन्य राजकीय अधिकारियों की अपेक्षा उसका वेतन इतना अधिक होना उनके पद के महत्त्व का द्योतक अवश्य है।

प्रशासन के विभाग और अधिकारि-वर्ग—

राज्य के शासन-तन्त्र का संचालन करने वाले तथा उसके मूर्धन्य घटक होने के नाते प्रभावपूर्ण शासन की व्यवस्था करने वाले अधिकारियों को 'तीर्थ' कहा गया है। सभा पर्व में इनकी संख्या १८ बतलाई गई है और आदेश दिया गया है कि राजा न केवल अपने ही राज्य के तीर्थों अपितु शत्रु के भी इन अधिकारियों के विषय में अपने गुप्तचरों द्वारा सभी सूचनाएँ प्राप्त करते हुए सावधानता पूर्वक व्यवहार करे[3]। भाष्यकार नीलकण्ठ ने इन तीर्थों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—(१) मन्त्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) चमूपति, (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वेशिक, (७) कारागाराधिकारी, (८) द्रव्यसंचयकारी, (९) कृत्याकृत्यविनियोजक, (१०) प्रदेष्टा, (११) नगराध्यक्ष, (१२) कार्यनिर्माणकारी, (१३) धर्माध्यक्ष, (१४) सभाध्यक्ष, (१५) दण्डपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) राष्ट्रान्तपाल तथा (१८) अटवीपाल। कौटिल्य ने इसी प्रसंग में

१—सलेटोर, एँश्यैंट इंडियन पोलिटिकल थौट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० ३४०।

२—अर्थ० ५, ३, ५।

३—सभा, ५, ३८; दे० रामायण अयोध्या०, १००, ३६ तथा नीतिप्रकाशिका १, ५२, मनु० ८, ३।

१८ तीर्थों की गणना करते हुए मन्त्री, पुरोहित, सेनापति तथा युवराज के अतिरिक्त दौवारिक अर्थात् राज्यप्रासाद का प्रबन्ध सर्वोच्च अधिकारी (अं० लार्ड मेयर आफ् दी पैलेस) द्वारपाल[1], आन्तर्वेशिक अर्थात् अन्तःपुर का अध्यक्ष[2], प्रशास्ता अर्थात् मुख्य मजिस्ट्रेट, समाहर्ता अर्थात् लगान उगाहने के लिए मुख्य अधिकारी, सन्निधाता अर्थात् राजकोष का अध्यक्ष, प्रदेष्ट्र, नायक, पौरव्यावहारिक अर्थात् राजधानी में स्थिति न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, कार्मान्तिक अर्थात् राजकीय खानों तथा कारखानों का अध्यक्ष, दण्डपाल अर्थात् सभी प्रकार की सेनाओं का पालक, दुर्गपाल अर्थात् राज्य के सभी दुर्गों का अधीक्षक, अन्तपाल अर्थात् सभी सीमाओं की रक्षा के लिए उत्तरदायी अधिकारी, तथा आटविक अर्थात् वन या वनवासी जातियों के सभी मामलों का अधिकारी—ये अधिकारी बतलाये हैं[3]। विराट् पर्व में गौओं की रक्षा का उत्तरदायित्व सम्हालने वाले अधिकारी को 'गोविकर्तन' कहा गया है।

इन्हीं अधिकारियों के नाम के आधार पर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन, भारत में महाभारतीय काल में शासन-प्रबन्ध विभागों के अनुसार चलाया जाता था। परन्तु प्रत्येक विभागों के विषय में आज्ञाएँ प्रसारित करने से पहले राजा अपने मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति आदि से परामर्श लेता था। आज्ञाओं के पालन न करने या अनुचित रूप से कार्य करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी[4]। सभी विभागों के कार्यों पर दृष्टि रखने के लिए छोटी-छोटी प्रादेशिक इकाइयों में एक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। इसे 'सर्वार्थ चिन्तक' कहा जाता था। कहा गया है कि 'यह अधिकारी उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित होकर कठोरतापूर्वक (घोर रूपः) नक्षत्रों में ग्रह के समान सभी सभासद् आदि अधिकारियों के निकट परिभ्रमण करे और उनके कार्यों

१—कोण, पृ० हि० ध० शा०, ३, ११८ पादटिप्पणी।

२—दे० आश्वमेधिक, २२, २० तथा शल्य २९, ७२ व ९४ में 'स्त्र्यक्ष' या 'कलत्राध्यक्ष'।

मन्त्री पुरोहितश्चैव युवराजश्चमूपतिः।
पंचमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तर्वेशिकस्तथा॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः॥
प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपंचमः॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव च॥

३—अर्थशास्त्र १, १२ इसी की व्याख्या के लिए दे० काणे, वही, पृ० ११८ टिप्पणी।

४—'सप्तांगस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः॥' शान्ति, ५७, ५।

की जाँच-पड़ताल करता रहे। उसका कोई गुप्तचर राष्ट्र में घूमता रहे और विभागों के सभी समाचारों को उसके पास पहुँचाता रहे[१]। इस अधिकार की आवश्यकता और कार्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महाभारतकार ने जो वाक्य कहे हैं वह बड़े मनोरंजक और सूचनाप्रद हैं और आज के पुलिस-विभाग पर कितने सही उतरते हैं। कहा गया है कि 'ये रक्षा के कार्य में नियुक्त किए गये अधिकार प्रायः हिंसक स्वभाव के हो जाते हैं, दूसरों की बुराई चाहने लगते हैं तथा शठतापूर्वक पराये धन का अपहरण करने लग जाते हैं। सर्वार्थचिन्तक अधिकारी ऐसे लोगों से प्रजा की रक्षा करता रहे[२]। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारतकार ने राजा को प्रजा के हित का ध्यान रखने और उसी का पक्ष लेने का आग्रह किया है।

अधिकारियों के गुण—

महाभारत में राज-सेवकों के लिए जिन योग्यताओं और गुणों को अनिवार्य कहा गया है उनका स्तर बहुत ऊँचा है। शान्तिपर्व में उन्हीं लोगों को प्रशासन में अपने सहायक नियुक्त करने का परामर्श दिया गया है जो शूर एवं भक्त हों, जिन्हें शत्रु अपने साथ न मिला सके (असंहार्यान्), जो कुलीन, नीरोग तथा शिष्ट हों और शिष्टों से ही सम्वन्धित हों, जो आत्मसम्मान की रक्षा करते हों तथा दूसरों का अपमान न करते हों, धर्मपरायण, विद्वान्, लोकव्यवहार में निपुण तथा शत्रु की गतिविधियों पर दृष्टि रखने वाले हों जो साधु स्वभाव के तथा पर्वत की तरह अचल हों। राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह उन्हें ऐश्वर्य प्रदान करके अपने समान ही सुख-भोग की सुविधाएँ प्रदान करे[३]। इन अधिकारियों के गुण-दोषों, व्यवहार, वेतन तथा नियुक्ति आदि का विवेचन यहाँ करना केवल पिष्ट-पेषण ही होगा क्योंकि मन्त्रियों के विषय में वर्णन करते हुए पर्याप्त विस्तार के साथ जो कुछ कहा गया है वह इनके विषय में भी सामान्य राज-सेवक के नाते लागू होता ही है। केवल इतना यहाँ कह देना आवश्यक है कि महाभारतकार के अनुसार, राजा को अपने सेवकों की योग्यता और क्षमता का अध्ययन करके ही योग्य एवं उचित कार्यों और विभागों में उनकी नियुक्ति करनी चाहिए। धर्म, अर्थ और काम आदि त्रिवर्ग को ध्यान में रखते हुए उसी व्यक्ति को उस कार्य में लगाया जाये जो उसके योग्य हो। उदाहरण के लिए धार्मिक लोगों को ही धर्म कार्यों में नियुक्त किया जाय[४]। अयोग्यता या प्रमाद होने पर उस विभाग से स्थानान्तरण कर दिए जाने, पृथक किए जाने या पुनः नियुक्त किए जाने के भी अनेक उल्लेख महाभारत में प्राप्त होते हैं[५]।

१—शान्ति, ८७, १०-१२।

२—जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः।
रक्षाभ्याधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ शान्ति, ८७, १३।

३— शान्ति, ५७, २३-२५।

४—'धार्मिकान् धर्मकार्येषु नियुंजीत०।' इत्यादि वन, २५०. ४४-४८।

५—शान्ति, १११ आदि।

मैकियावेली के मंत्रि-संस्था विषयक विचार—

महाभारत में सामान्यतया प्रशासन-तन्त्र और विशेष रूप से मन्त्रियों और अन्य प्रशासकों के विषय में अभिव्यक्त हुए विचारों की प्रौढ़ता और अकृष्टता सब ओर उजागर हो जाती है जब हम यूरोप के चाणक्य मैकियावेली के विचारों से उनकी तुलनात्मक समीक्षा करते हैं। मैकियावेली ने अपने 'प्रिंस' में अपने अरमानों के नरेश के लिए राज्य की प्राप्ति और उस पर आधिपत्य बनाये रखने तथा उसकी वृद्धि को ध्यान में रखते हुए ही अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। महाभारतकार की तरह राज्य की सुरक्षा और समृद्धि के लिए एक आवश्यक संस्था के रूप में मन्त्रिपरिषद् का विवेचन न करते हुए मैकियावेली ने इसकी उपयोगिता का प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेख किया है क्योंकि इसके द्वारा उसका नरेश खुशामदी लोगों के चुंगल में फंसकर नष्ट होने से बच सकता है। परन्तु इसी के आधार पर यह मानना उचित न होगा कि मैकियावेली प्रशासनकार्य में मन्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार नहीं करता या वह क्योंकि महाभारतकार की तरह उसका सांगोपांग विवेचन नहीं करता इसीलिए वह मन्त्रि-परिषद् के महत्त्व की उपेक्षा करता है। मैकियावेली स्वयं यह स्वीकार करता है कि एक सामान्य बुद्धि का नरेश भी मन्त्री की सहायता से अच्छी मन्त्रणा प्राप्त करके अपना शासन चला सकता है वह कहता है, 'जो नरेश स्वयं बुद्धिमान् नहीं है वह कभी अच्छी मन्त्रणा प्राप्त नहीं कर सकता यदि दैवात् उसने अपने सम्पूर्ण कार्य किसी अतीव विचक्षण व्यक्ति को पूर्णतया न सौंप रक्खे हों। इस प्रकार की परिस्थिति में हो सकता है कि उसका शासन सुचारू रूप से चलता रहे[1]।' इससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली राज्य के प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए मंत्रियों के महत्त्व को स्वीकार तो करता है परन्तु वह यह आवश्यक मानता है कि उसके द्वारा प्रतिपादित वैधानिक निरंकुश एकतन्त्र के शासक को बुद्धिमत्ता-पूर्वक अच्छी मन्त्रणा प्राप्त करने के लिए ही मन्त्रियों से सहायता लेनी चाहिए न कि अपना सम्पूर्ण शासन-कार्य उन्हीं को सौंप देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर हो सकता है कि उसका राज्य उसके मन्त्री या मन्त्रियों द्वारा थोड़े ही समय में हथिया लिया जाय। अतः इस प्रकार के खतरे और आशंका से बचने के लिए, वह नरेश को परामर्श देता है कि वह स्वयं अपने बुद्धिकौशल के द्वारा अच्छी मंत्रणा प्राप्त करके ही अपना शासन भली-भाँति चला सकता है और अपना प्रभाव जमा सकता है। वह उन व्यक्तियों के मत को भ्रान्तिपूर्ण कहता है जो यह मानते हैं कि 'अपने बुद्धि-कौशल के द्वारा प्रभाव डालने वाला नरेश स्वयं अपनी योग्यता के कारण नहीं अपितु अच्छे परामर्शदाताओं के रूप में उपलब्ध अपने सहयोगियों के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है। मैकियावेली ने अपनी इसी मान्यता को और अधिक स्पष्ट और जोरदार शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त

१—प्रिंस २३, १८६-८७; इसी की तुलना में देखिए महाभारतकार का यह वचन एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः, इत्यादि।

किया है कि शासक तभी बुद्धिमान माना जाता है जब उसके चारों ओर के लोग योग्य और राजभक्त हों। शासक के तथा उसकी सभ्य के बारे में पहली धारणा उसके चारों ओर मनुष्य का पर्यवेक्षण करने से ही बनती है[1]। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मैकियावेली ने शासनतंत्र के मंत्रिपरिषद् जैसे अनेक अंगों का पर्याप्त विस्तृत विवेचन 'प्रिंस' में नहीं किया है तो भी नरेश की दृष्टि से ही सभी अंगों पर दृष्टिपात करते हुये उसने जितना कुछ संक्षेप में व्यावहारिक नियमों के रूप में लिखा है उससे ही उसको राजकीय प्रशासक की सी चाणाक्षता और राजनमिकता सुचारु रूप से प्रगट होती है[2]। ठीक इसी प्रकार महाभारतकार ने भी राजधर्म की दृष्टि से ही अपने राजनीतिक तत्वदर्शन का विवेचन किया है किन्तु वह इतना विस्तृत और विशद है कि उसके द्वारा सम्पूर्ण राजकीय शासन–तंत्र एवं उसके मंत्रिपरिषद् जैसे महत्त्वपूर्ण अंगों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता गया है[3]। उसकी तुलना में मैकियावेली के द्वारा, परोक्ष रूप से ही क्यों न सही, मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने के विषय में दिए गये 'गुरों' का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं जिनके द्वारा महाभारतकार और मैकियावेली के विचारों में मौलिक रूप से भेद होते हुए भी व्यावहारिक रूप में अद्भुत साम्य के दर्शन होते हैं। मैकियावेली ने अपने नरेश के लिये अपने मंत्रियों एवं परामर्शदाताओं से विचार–विनिमय करके स्वयं ही उचित निर्णय करने के लिए जिस आचार संहिता का प्रतिपादन किया है उसे सूत्र रूप में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है। मैकियावेली का कहना है कि (१) नरेश को सदैव परामर्श लेना चाहिए, (२) नरेश (अपनी सुविधा, आवश्यकता तथा इच्छा के अनुसार) जब वह चाहे तब विचार–विनिमय अथवा मंत्रणा करे, न कि अन्य लोग जब चाहें तब परामर्श देने लग जायें जब तक नरेश स्वयं न पूछे उससे पहले ही स्वयं परामर्श देने की प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया जाये; (३) नरेश को सतत सच्चाई जानने में परायण होना चाहिए, अतः यह आवश्यक है कि वह प्रश्न करने के बाद परामर्शदाता की उन बातों को जो प्रष्टव्य विषय से सम्बन्धित हों, ध्यानपूर्वक सुने; (४) यदि किसी ने भी, कुछ भी सोचकर उससे सच्ची बात नहीं कही, तो यह बात ज्ञात होते ही, उसे चाहिए कि वह उस व्यक्ति को यह अनुभव करा दे कि वह इस बात से बहुत नाराज़ हुआ है। (५) अनुभवहीन नरेश के द्वारा अनेक व्यक्तियों से परामर्श लिये जाने पर समन्वित

१— प्रिंस, २२, १=१।

२—देखिए मैकियावेली के शासन-तंत्र के वर्णन के विषय में सलेटोर द्वारा उद्धृत डा० घोषाल का मत; वही, ६१५ पाद टिप्पणी, 'दूसरे, मैकियावेली में हमें शासन के तंत्र और कार्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता' आदि।

३—सत्यकेतु विद्यालंकार ने (वही पृ० ७८) मंत्रिपरिषद् के विषय में प्राप्त विशद विवेचन का कारण यह बतलाया है कि महाभारत काल तक 'स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासकों का विकास अभी भारत के राज्यों में नहीं हुआ था'।

(अं० यूनाइट्ड) परामर्श प्राप्त नहीं होते और न ही उन परामर्शों में सामञ्जस्य कर पाना नरेश के लिये संभव होगा। क्योंकि प्रत्येक परामर्शदाता अपने ही स्वार्थ का विचार करके परामर्श देगा और राजा के लिये यह कठिन हो जायगा कि वह उन परामर्शों पर किस प्रकार नियंत्रण करे और उन्हें कैसे कार्यान्वित करे।[1]

मैकियावेली का विचार है कि नरेश को अपने बुद्धि-कौशल से ही परामर्श-दाताओं पर नियंत्रण करना चाहिये और उन्हें बाध्य करना चाहिये कि वे अपने स्वार्थ का ही विचार करते हुए परामर्श न दें। यह कार्य केवल परामर्शदाताओं की कर्त्तव्य बुद्धि पर ही नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि 'परामर्शदाता सदा ऐसे ही मिलेंगे। मनुष्य हमेशा आपके साथ सच्चे सिद्ध नहीं होंगे यदि उन्हें सच्चे रहने के लिये बाध्य ही न कर दिया जाय।'

अपने उक्त अनुभव की व्यावहारिक सत्यता पर बल देने के लिये अपनी सहज साहसिक कल्पना प्रवणता से एक राजनीति दार्शनिक की तरह उसे राजनीति के एक अकाट्य नियम का सा रूप देते हुए मैकियावेली ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'अच्छी मंत्रणाएँ चाहे वे किसी से भी प्राप्त हुई हों, नरेश के बुद्धि-कौशल से ही उत्पन्न होती हैं और नरेश की बुद्धि सन्मंत्रणा से उत्पन्न होती हो यह बात ठीक नहीं है।

मंत्रणा की विधि तथा मन्त्रियों से व्यवहार—

मंत्रिपरिषद्[2] के सदस्यों से उक्त आचार-संहिता के अनुसार व्यवहार करते हुए सन्मंत्रणा प्राप्त करने के लिये नरेश को किस पद्धति का अनुसरण करना चाहिये इस विषय में मैकियावेली का कथन है कि 'परिषद् के इन सदस्यों के साथ अलग-अलग और सामूहिक रूप से उसे इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह जितनी स्वतन्त्रतापूर्वक बात कहेगा उतना ही उसका अधिक आदर किया जायगा और उसकी बात अधिक मानी जायगी। महाभारतकार ने भी इसी प्रकार सभी मंत्रियों से पृथक्-पृथक् और फिर समवेत रूप से मंत्रणा करने का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः पृथक्-पृथक् मंत्रणा करते समय नरेश को मंत्रियों की व्यक्तिगत और गोपनीय प्रकार की सम्मतियों को प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। विभिन्न व्यक्तियों से एक ही विषय पर विचार करते समय उसे उनके द्वारा व्यक्त की गई मंत्रणा की सत्यता और व्यावहारिकता तथा उपादेयता आदि की विवेकपूर्ण परीक्षा करने का अधिक अवसर मिलेगा। इसके पश्चात् सामूहिक विचार-विनिमय के

१—प्रिंस, २३, १८६–७।

२—यहाँ मंत्रिपरिषद् शब्द का प्रयोग हमने परामर्शदाताओं (काउन्सिलर्स) की उस परिषद् के लिये किया गया है जिनका संगठन केवल मन्त्रणा प्राप्त करने के लिये ही मैकियावेली को अभिप्रेत है। वह निर्णय करने का अन्तिम अधिकार केवल नरेश को ही देना चाहता है। स्पष्ट है कि महाभारत में मंत्रियों की सांविधानिक स्थिति कहीं अधिक सुरक्षित, स्थायी एवं प्रभावपूर्ण है।

समय मंत्रिपरिषद् में मंत्रणा पर हुए ऊहापोह के द्वारा उसे उस मंत्रणा के विषय में मंत्रियों की व्यक्तिगत सम्मतियों के परिप्रेक्ष्य में सामूहिक सम्मति को समझने और उनके ऐकमत्य एवं सहयोग आदि के विषय में विचार करने का अवसर मिलेगा और सामूहिक विचार-विनिमय के द्वारा ही सच्ची और स्वतन्त्र मंत्रणा के स्वागत एवं समीकरण की नीति अपनाते हुए वह परिषद् पर अपने नियंत्रण और अपने प्रति ईमानदारी और भक्ति की भावना को प्रतिस्पर्धा-पूर्वक बढ़ाने में सफल हो जायगा।

मंत्रणा को कार्यान्वित करने की नीति—

मैकियावेली का कथन है कि नरेश अपने परामर्शदाताओं अर्थात् मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य किसी बाहरी व्यक्ति की न सुने, उनके द्वारा मंत्रणा करने के पश्चात् किये गये निर्णयों का पालन करे और अपने इन निर्णयों पर पूर्णतया दृढ़ रहे। यदि वह अपने परामर्शदाताओं से ही मंत्रणा के पश्चात् अपने विचारपूर्ण निर्णय के पश्चात् निश्चित की हुई अपनी नीतियों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं करेगा तो उसका विनाश निश्चित है। वह लिखता है 'इसके विपरीत आचरण करने वाला नरेश या तो खुशामदी लोगों के द्वारा परास्त कर दिया जाता है या वह अलग-अलग दी गई विभिन्न सम्मतियों से अपने निर्णयों को बदल देने के कारण घृणा, निरादर एवं तिरस्कार का पात्र बन जाता है[1]।'

अपने उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये तथा यह दिखाने के लिये कि उक्त आचार-संहिता का पालन न करने से क्या परिणाम होता है, मैकियावेली ने सम्राट् मैक्सीमिलियन का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सम्राट् के एक मुसाहिब, फ्री लूका, ने उसके बारे में यह सम्मति प्रकट की कि 'सम्राट् कभी किसी से परामर्श नहीं करते, किन्तु इतने पर भी वह कोई कार्य अपनी इच्छानुसार नहीं कर पाते।' इस मुसाहिब की उक्त सम्मति की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए मैकियावेली ने उक्त सम्राट् की कार्यपद्धति पर इस प्रकार विचार प्रकट किये हैं 'सम्राट् अपनी योजनाओं को गुप्त रखता है, वह किसी को अपनी योजना नहीं बतलाता, न ही किसी से उन पर परामर्श लेता है, किन्तु कार्यान्वित होते ही वे प्रकट और ज्ञात हो जाती हैं और उसके चारों ओर के लोग उसमें बाधा डाल देते हैं और उस (सम्राट्) को नम्र और दब्बू होने के कारण अपनी योजनाएँ बदलनी पड़ती हैं या उनका दिशान्तरण स्वीकार करना होता है। अतः वह एक दिन जो निर्णय लेता है दूसरे दिन उसे बदल देता है और कभी किसी को यह पता नहीं लगता कि उसकी इच्छा क्या है और वह क्या चाहता है। उसके निर्णयों पर किसी को भरोसा नहीं होता।'[2] यह कहना अनावश्यक न होगा कि मैकियावेली शासक की विश्वसनीयता और उसके शासितों

१—प्रिंस, २३, १८६।
२—प्रिंस, २३, १८६।

द्वारा उस पर किये जाने वाले विश्वास को अन्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है और स्वभावतः उनके अविश्वास को अत्यन्त भयंकर ।[1]

मंत्रियों की नियुक्ति—

मैकियावेली का यह मत है कि योग्य और राजभक्त व्यक्तियों को ही मंत्रियों के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिये । राजसेवकों के चयन पर २२ वें अध्याय में विचार करते हुए वह यहाँ तक कहता है कि यदि 'राजपुरुष अयोग्य हैं और राजभक्त नहीं हैं तो नरेश के विषय में अच्छी धारणा नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को सेवकों के रूप में चुनते हुए उसने सबसे पहली भूल स्वयं की है । यदि नरेश अपनी विवेचन शक्ति से अच्छे बुरे की पहचान करके योग्य और राजभक्त मंत्रियों की नियुक्ति करता है और उसे उन्हें राजभक्त भी बनाये रखना आता है तो वह निश्चित रूप से बुद्धिमान् माना जायगा क्योंकि राजसेवकों का अच्छा या बुरा होना शासक की अपनी विवेचना-शक्ति (अं० डिस्क्रिमिनेशन) के अनुरूप ही होता है । मैकियावेली ने अपने काल के एक शासक सायना-नरेश पाण्डोल्फो पेट्रसी का उदाहरण देते हुए अपनी उक्त मान्यता की पुष्टि की है और कहा है कि उसने मैसूर एंटोनियो दा वेनाफ्रो की मंत्री के रूप में नियुक्ति करके अपनी निपुणता के लिये प्रतिष्ठा एवं ख्याति अर्जित की है ।

मैकियावेली ने नरेश के उक्त बुद्धि नैपुण्य को तीन प्रकार का बतलाया है । एक तो नरेश का स्वयं ही ठीक-ठीक समझने की बुद्धि रखना दूसरे, किसी वस्तु के विषय में दुसरों के समझ लेने और उनके द्वारा समझाये जाने पर नरेश के द्वारा भी उसका आकलन कर लेना और तीसरे, न तो अपने आप ही समझना और न दूसरों के समझने पर समझ सकना । इन तीनों प्रकारों में मैकियावेली ने पहली बुद्धि को वस्तुतः प्रशंसनीय एवं अति सुन्दर बतलाया है । दूसरे प्रकार की बुद्धि को भी वह 'अच्छी' कहता है किन्तु तीसरी को सर्वथा व्यर्थ एवं निरुपयोगी मानता है[2] । किसी कार्य या कथन परामर्श के अच्छे और बुरे को पहचानने के लिए अपेक्षित इस गुण-दोष-विवेचन-शक्ति को सबसे श्रेष्ठ बतलाते हुए मैकियावेली ने नरेश के लिए आवश्यक अन्य नेतृत्व आदि गुणों से भी इसे कहीं अधिक महत्त्व दिया है । वह कहता है कि शक्ति होने पर चाहे 'उसमें स्वयं नेतृत्व शक्ति न भी हो तो भी वह सेवकों के गुणों और दोषों की विवेचना कर सकता है । वह भली बात की प्रशंसा और बुरी सलाह या कार्य को ठीक करके ऐसी अवस्था उत्पन्न कर सकता है कि सेवक उसे धोखा देने की आशा ही नही कर सकता और इसलिए उसे 'सेवक' को ईमानदार बनाये रखा जा सकता है[3] ।

१—यही पुस्तक, अध्याय ६, परिच्छेद··· 'शासक के गुण' ।

२—प्रिंस, २२, १८१ ।

३—वही, २२ १८२ ।

अच्छे मंत्री के गुण—

मैकियावेली ने राजपुरुषों एवं मंत्रियों के रूप में नियुक्त राज-सेवकों की परीक्षा के लिए जो कसौटी बतलाई है उससे राजपुरुषों के उत्तम लक्षणों एवं गुणों पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही साथ राज-सेवकों की कर्त्तव्य-निष्ठा का भी नियमन होता है। इस कसौटी में उसने सेवक के अपने तुच्छ स्वार्थ को सर्वथा भुलाकर अपने राज्य एवं राजा के ही हित का चिन्तन करने और उसी के लिए सचेष्ट रहने पर बल दिया है। मैकियावेली का कथन है जब आप किसी सेवक को आपके हितों की अपेक्षा अपने हितों की ही अधिक चिन्ता करते हुए देखते हैं और वह प्रत्येक बात में भीतर ही भीतर अपने ही लाभ के लिए सचेष्ट रहता है तो समझ लेना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति कभी अच्छा सेवक नहीं बन सकता न आप उस पर कभी भरोसा कर सकेंगे'। यही मंत्रियों के उत्तम लक्षण और व्यवहार गुण की ओर संकेत करते हुए वह कहता है कि 'क्योंकि जिसके हाथ में दूसरे का राज्य हो उसे अपने विषय में कभी नहीं सोचना चाहिए, अपितु सदैव अपने नरेश के विषय में सोचना चाहिए और उन मामलों की ओर कभी कोई ध्यान नहीं देना चाहिए जिनसे अपना नरेश सम्बन्धित नहीं है'[1]। उक्त कसौटी की सत्यता एवं उपादेयता के विषय में मैकियावेली का विश्वास इतना दृढ़ है कि वह यह कहता है कि यह कसौटी कभी गलत नहीं बैठती'।

मंत्रियों के वेतन और सुविधाएँ—

मैकियावेली ने मंत्रियों के लिए उनकी योग्यता, प्रतिष्ठा और गौरव के अनुसार उन्हें सम्मान और समृद्धि से अलंकृत किए जाने की सिफारिश की है। उसने नरेश को आदेश दिया है कि अपने मंत्रियों का विश्वास-पात्र बनने तथा उन्हें विश्वसनीय बनाये रखने के लिए वह विवेकपूर्ण ढंग से उन्हें सम्मान दे, समृद्ध बनाये, अनुग्रह-पूर्वक व्यवहार करे तथा प्रतिष्ठा और कार्यों के तत्त्वावधान एवं श्रेय में सहभागी बनाता रहे[2]। इस विषय में मैकियावेली की दूरदृष्टि और चाणाक्षता का परिचय उसके अपने शब्दों से और अधिक अच्छी तरह प्राप्त हो सकता है। वह कहता है उसे (मंत्रियों) यह अनुभव हो जाये कि वह अकेला अपनी स्थिति नहीं बनाये रख सकता उसे इतना सम्मान और धन मिले कि उसे उससे अधिक की इच्छा ही न रहे। उसकी इतनी परवाह की जाय कि वह परिवर्तन से डरे'। मैकियावेली का यह ध्रुव मत है कि इस प्रकार व्यवहार न किए जाने पर नरेश और सेवक दोनों की दृष्टि से ही भयावह दुष्परिणामों की आशंका रहा करती है क्योंकि उस स्थिति में वह एक दूसरे पर भरोसा नहीं कर सकते।

मंत्रियों का कूटनीतिक प्रयोग—

मैकियावेली ने विश्व के सभी राष्ट्रों को जिनके विषय में कोई लेखा विद्यमान

१—प्रिंस, २२, १८१

२—प्रिंस, २२, १८२।

है प्रशासन प्रणाली के आधार पर दो श्रेणियों में विभाजित करते हुए लिखा है कि पहली श्रेणि उन राज्यों की है जिनमें नरेश अपनी अनुकम्पा और अनुज्ञा से मंत्रियों के रूप में राज्य का शासनकार्य चलाने वाले सेवक-मण्डल की सहायता से शासन करता है और दूसरी श्रेणि के राज्यों में नरेश और ऐसे सामन्तों के द्वारा जो नरेश की कृपा से नहीं अपितु वंश-परम्परा के गौरव से ही वह आधिकार वहन करते हैं—शासन चलाया जाता है। मैकियावेली का विचार है कि नरेश के लिए स्थायित्व और सुशासन की दृष्टि से उन नये अधिकृत राज्यों पर आधिपत्य जमाये रखना कहीं अधिक सरल होता है जिनका शासन मंत्रियों की सहायता से चलाया जाता है। मैकियावेली ने इसका वकारण तलाते हुए कहा है कि प्रथम श्रेणि के राज्यों के लोग अपने नरेश को अधिक मानते हैं क्योंकि सम्पूर्ण देश में ऐसा कोई नहीं होता जो उससे श्रेष्ठ माना जाय। यदि वे अन्य किसी के प्रति आज्ञापालन की वृत्ति धारण भी करते हैं तो केवल एक मंत्री या अधिकारी के नाते ही और इसीलिए उनमें उसके प्रति कोई विशेष स्नेह नहीं होता। नरेश अपने राज्य को विभिन्न प्रान्तों में बाँटकर अपने विभिन्न शासकों को वहाँ भेजता है और जैसा उचित समझता है उन्हें स्थानान्तरित और परिवर्तित करता रहता है[1]। इसके विरुद्ध दूसरी श्रेणि के राज्यों में राजा के चारों ओर रहने वाले सामन्तों के भी अपने प्रशासकीय प्रभाव, लोकप्रियता एवं विशेषाधिकार होते हैं जिन विशेषाधिकारों का अपहरण कोई सम्राट बिना अपने विनाश का आह्वान किए नहीं कर सकता। क्योंकि ये सामन्त असन्तुष्ट एवं विद्रोही होने पर राज्य के आक्रान्ता के लिए प्रदेश के द्वार खोल सकते हैं और स्वयं अपनी प्रजा के साथ आक्रान्ता के प्रवल सहायक वन सकते है इसके विपरीत 'मंत्री लोग नरेश के दास या वेतन-भोगी होने के कारण बड़ी कठिनाई से ही भ्रष्ट किए जा सकते हैं और यदि भ्रष्ट हो भी जायें तो भी उनसे बहुत थोड़े लाभ की आशा की जा सकती है क्योंकि यथानिर्दिष्ट कारणों से वे जनता को अपने साथ नहीं लगा सकते'[2]। इस प्रकार मंत्रियों की सापेक्ष स्वामिभक्ति और जनता में स्थापित सीमित लोकप्रियता और नेतृत्व का विचार करते हुए मैकियावेली उन्हें राज्य की सुरक्षा और अखण्डता के लिए सामान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी मानता है।

मैकियावेली अच्छे प्रशासन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए नरेश को अच्छे प्रशासकों की नियुक्ति करने का परामर्श देता है। वैलेण्टीनो के ड्यूक के द्वारा रोम-नाकी विजय और वहाँ पर सुशासन की स्थापना की प्रशंसा करने के प्रसंग में वह

१—प्रिंस, ४, २९–३०। महाभारतकार ने उक्त मत के विपरीत मंत्रियों को पूर्ण-तया सन्तुष्ट और समर्थ रखने का आदेश देते हुए ऐसे ही मंत्रियों को राज्य के स्वामी होने का मूल कारण बतलाया है।
'सन्तुष्ट पुष्ट सचिवः बाह्यमूलः स प्रार्थिवः' शान्ति, ९४, ३ तथा ५७, २३।

२—प्रिंस, ४, ३१।

लिखता है कि ड्यूक से पहले के दुर्बल शासकों ने अपनी प्रजाओं पर शासन करने की अपेक्षा उन्हें लूटा ही कहीं अधिक था और उनके कारण ही जनता संगठित होने की अपेक्षा विघटित ही अधिक हो गई थी और इसलिए देशभर में लूटमार, झगड़े और हर तरह की हिंसा व्याप्त थी और ऐसी परिस्थितियों में शान्ति की स्थापना करने के लिए और शासन-सत्ता के प्रति आज्ञापालन का भाव फिर से उत्पन्न करने के लिए वहाँ एक अच्छे शासक की नियुक्ति की आवश्यकता समझते हुए ड्यूक ने एक अत्यन्त तीव्र, उग्र और क्रूर व्यक्ति रेमिरो द ओर्को को पूर्ण अधिकार सौंपकर वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। इस व्यक्ति ने परम सफलता के साथ थोड़े से ही समय में शान्ति और एकता स्थापित कर दी। इसके पश्चात् डयूक ने विचार किया कि इस प्रकार का अत्यधिक शासनाधिकार उचित न होगा क्योंकि इसके कारण वह मंत्री निरंकुश वन जायगा और इसलिए उसने एक नितान्त उत्कृष्टतम अध्यक्ष के तत्त्वावधान में एक न्यायालय की स्थापना की जिसमें सभी राज्यों के अपने वकील रहते थे। और क्योंकि वह जानता था कि अतीतकाल की प्रशासनिक कठोरता के कारण स्वयं उस (ड्यूक) के प्रति भी घृणा उत्पन्न हो चुकी थी और इसलिए जनता के हृदयों में अपने प्रति स्वच्छता लाने और उनके हृदयों को अपने वश में करने के लिए उसने यह प्रदर्शित करना चाहा कि यदि गतकाल में कोई क्रूर व्यवहार किया भी गया है तो वह उसके कारण नहीं हुआ अपितु उसके द्वारा नियुक्त मंत्री के स्वभाव की कठोरता के ही कारण हुआ। उसने इसी वहाने रैमिरो को पकड़ कर एक दिन प्रातःकाल उसका वध करा दिया और उसके शव के साथ एक लकड़ी का टुकड़ा और खूनी चाकू भी रखवाकर उसे सैसेना में पिआजा पर डलवा दिया। इस दृश्य की वर्बरता ने जनता में तुरन्त सन्तोष और विस्मय की सृष्टि कर दी। पूर्वोक्त प्रसंग का विवरण प्रस्तुत करते हुए मैकियावेली सुशासन की आवश्यकता पर बल देते हुए यह प्रतिपादन करना चाहता है कि नरेश अपने क्रूर और तीव्र अथवा अन्य प्रकार के मंत्रियों के द्वारा शान्ति, अनुशासन और एकता की स्थापना करते हुए जनहित का सम्पादन कर सकता है। परन्तु उसे यह करते हुए मंत्रियों को अत्यधिक शासनाधिकार नहीं सौंप देने चाहिये और न्यायाधिकरण आदि की स्थापना के द्वारा उनकी निरंकुशता का नियमन कर देना चाहिए। इसी प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि मैकियावेली ने अपने नरेश को यह परामर्श दिया है कि वह जनता के हृदय में अपने प्रति घृणा या निरादर की भावना तनिक भी न आने दे अपितु ऐसा प्रबन्ध करे कि घृणा या निरादर का पात्र उसके मंत्री या अधिकारी को वनना पड़े और वह स्वयं बच जाये। इसके लिए मैकियावेली ने जिस हृदयहीन चाणाक्षता की प्रशंसा और मंत्री के वध तक का अनुमोदन किया है उसके विषय में यहाँ कुछ न कहना ही ठीक है। क्योंकि हम यह पहले ही कह चुके हैं कि मैकियावेली ने नरेश के लिए इसी नीति का निर्धारण किया है कि वह उदारता न्याय के कार्य तो स्वयं अपने हाथ से करे किन्तु क्रूरता और कठोरता का कूटनीतिक अपेक्षित प्रयोग करना यदि अपनी

तथा राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक ही हो तो वह मंत्रियों या अन्य अधिकारियों के द्वारा ही कराये।[1] यह विचार महाभारत की उस नीति के विपरीत है जिसमें राजा को दुष्टों पर सबसे पहले प्रहार करने का आदेश दिया गया है ('स्वयं प्रहर्ता दुष्टानाम्')।

प्रशासनिक इकाइयाँ

महाभारत काल के भारतवर्ष का राजनीतिक मानचित्र एक स्वतन्त्र समीक्षात्मक राजनीतिक-भौगोलिक अध्ययन का विषय हो सकता है। किन्तु यहाँ प्रशासन-तंत्र की दृष्टि से उसका केवल संक्षिप्त सर्वेक्षण अपेक्षित है। जहाँ तक महाभारतीय काल के राजनीतिक भारत की प्रशासनिक इकाइयों का प्रश्न है, युधिष्ठिर के भाइयों एवं कर्ण के द्वारा की हुई दिग्विजयों के प्रसंगों के तथा महाभारत-युद्ध में भाग लेने के लिए आने वाली सेनाओं के वर्णनों में इनके नाम मिलते हैं। इनमें अनेक राजाओं के अतिरिक्त अनेक राज्यों, जनपदों, नगरों, ग्रामों, ग्रामसमूहों, राष्ट्रों, गणों और जनजातियों का उल्लेख हुआ है। प्रमुख रूप से दिशाओं के आधार पर इन सबके नामों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) पूर्व में पूर्वी मगध, विदेह, असम, प्रागज्योतिष, अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र, आंध्र, मेकल और उत्कल।

(२) मध्य देश में—पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारुष, दशार्ण, काशी, पूर्वीकोशल, पश्चिमी मगध, शूरसेन, वत्स, कोशल।

(३) पश्चिम में—भोज, अन्धक, वृष्णि, सात्वक, माधव, दशार्ह, आहुक, कुकुर और यादव, सिन्धुसौवीर, शाकत, मालव और क्षुद्रक।

(४) उत्तर-पश्चिम में—केकय, अभिसार, पंचनक, गान्धार, त्रिगर्त, मद्र, कम्बोज वाह्लीक, अम्वष्ठ, शिवि, खश, किरात, पुलिंद और हंसपाद।

(५) मध्यभारत में—यादव, अवन्ति, महिष्क, विदर्भ, तिषध और कुन्तल।

(६) दक्षिण में—आन्ध्रक, कुक्कुर, पाण्ड्य, चोल, केरल और कांची।

ऊपर लिखे राज्यों या जनपदों के नामों के अतिरिक्त अन्य अनेक राज्यों और जातियों के नाम भी महाभारत में मिलते हैं जैसे अश्वानक, चिच्छिल, चूलिक, रेचक व विकुञ्ज आदि। इन्हीं नामों में कुछेक नामों का परिचय अन्य प्राचीन साहित्य से भी मिलता है। पञ्चाल, मत्स्य, काशी, कोशल, मगध, अवन्ति, वत्स, कम्बोज, गान्धार और अङ्ग आदि का उल्लेख बौद्ध-साहित्य के सोलह महाजनपदों में किया गया है। केकय और अभिसार उत्तर-पश्चिम भारत के प्रसिद्ध राज्य थे; सिकन्दर की सेना के साथ उनके युद्ध भी हुए थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी व कौटलीय अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में प्रायः इन सभी राज्यों व जनपदों का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः इन सभी का सुनियोजित भौगोलिक दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन एक पृथक् प्रबन्ध का विषय हो

१—यही पुस्तक, ६

सकता है। यहाँ हम उस पहलू पर अधिक वल न देते हुए केवल यही वतलाना चाहेंगे कि इन सभी राज्यों में, चाहे वहाँ गणतंत्रीय शासन-प्रणाली रही हो या राजतंत्रीय, प्रशासन की व्यवस्था किस प्रकार चलती थी। प्रशासन की दृष्टि से सवसे छोटी इकाई एक ग्राम थी।

ग्राम-प्रशासन

शान्ति पर्व में कहा गया है—'एक गाँव का, दस गाँवों का, वीस गाँवों का, सौ गाँवों का तथा हजार गाँवों का अलग-अलग एक-एक अधिपति वनाया जाय[1]। एक गाँव के शासक को 'ग्रामिक', दस गाँवों के शासक को 'दशिक', वीस गाँवों के शासक को 'विंशाधिप', सौ गाँवों के शासक को 'शतपाल', और हजार गाँवों के शासक को सहस्रापति कहा जाता था। ग्रामिक का कार्य ग्रामसम्वधी सव कार्यों को सम्पन्न करना और ग्राम के दोषों का निवारण करना माना जाता था। उसका यह भी कार्य था कि वह ग्रामविषयक सव मामलों की सूचना 'दशिक' के पास भेजता रहे। दशिक विंशाधिप को सूचनाएँ भेजता था और विंशाधिप शतपाल को, शतपाल सहस्रपति को और सहस्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र के राजा को[2]। हम यह देखते हैं कि इस प्रकार प्रशासन की दशमलव-प्रणाली के द्वारा सवसे छोटी इकाई का सम्वन्ध राष्ट्र की सर्वोच्च शासक-सत्ता से जुड़ा हुआ था।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि 'ग्रामिक' की नियुक्ति राज्य के द्वारा की जाती थी। यह पद प्रायः वंशानुसंक्रमित रहता था। यह अधिकारी ग्राम की सुरक्षा के लिए रक्षापुरुषों को उचित निर्देश देता था, ग्राम के न्याय-सम्बन्धी मामलों का निपटारा करता था और राज्य को कर वसूल करके देता था। सभा पर्व में ग्राम के पाँच अन्य अधिकारियों का भी वर्णन है जो शायद ग्रामिक को सहायता देते होंगे[3]। इनके नाम नीलकण्ठ ने ये वतलाये हैं। (१) ग्रामाध्यक्ष, (२) संगृहीता, (३) मध्यस्थ, (४) लेखक और (५) साक्षी। महाभारत में ग्रामिक, दशिक और विंशाधिप के भरण-पोषण के विषय में कहा गया है कि ग्रामिक ग्राम की आय अथवा उपज में से ही अपने निश्चित

१—ग्रामस्याधिपतिः कार्यः दसग्राम्यसाथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत्॥ शान्ति, ८७, ३।

२—'ग्रामीयान् ग्राम दोषाँश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत्॥
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः॥' शान्ति, ८७, २–८।

३—कच्चित् शूराः कृतप्रज्ञाः पंचपंचस्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव॥ सभा, ५, ८०, रामा० २, ३१, १६।

अंश (भोज्यानि) से अपना भरण-पोषण करे। उसी में से नियत वेतन देकर वह 'दशपाल' का भरण-पोषण करे। इसी प्रकार दस ग्रामों के अधिपति को बीस ग्रामों के पालक का भरण-पोषण करना उचित है। सम्मानित शतपाल एक ग्राम की पूरी आय को काम में ला सकता है। वह गाँव बहुत बड़ी बस्ती वाला, मनुष्यों से भरपूर और धन-धान्य से सम्पन्न होना चाहिए। सहस्रपति अधिकारी राजा के अनेक अधिकारियों के द्वारा प्रशासित एक शाखानगर (कस्बे) की आय पाने का अधिकारी है। उस कस्बे से प्राप्त होने वाली अन्न और सुवर्ण की आय को वह 'राष्ट्रिय' से मिलकर उपभोग करे। राष्ट्रिय से मिलकर (राष्ट्रिय संगतः) उपभोग करने का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सहस्रपति भी अपने राष्ट्र (प्रान्त) के राष्ट्रिय (गवर्नर या राज्यपाल) को उचित भाग देकर ही अपने कस्बे की आय का उपभोग करे[1]।

इन अधिपतियों के अधिकार में सौंपे गये युद्ध सम्बन्धी तथा गाँवों के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों की देखभाल के लिए किसी सतर्क (अतन्द्रिसः) धर्मज्ञ मन्त्री की नियुक्ति की जानी चाहिए[2]। अथवा प्रत्येक नगर में एक 'सर्वार्थचिन्तक' अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए। कहा गया है कि यह सर्वार्थचिन्तक अधिकारी अपने गुप्तचरों के द्वारा राज्य के विभिन्न अधिकारियों के बर्ताव के विषय में पता लगाये और उनके दुष्कृत्यों से जनता की रक्षा करे[3]।

ग्रामों की रक्षा के लिये सैनिकों के एक गुल्म की नियुक्ति का आदेश भी दिया गया है[4]। सभा पर्व में प्रत्येक नगर की रक्षा के लिए सैनिकों की नियुक्ति का वर्णन है[5]। इसके अतिरिक्त अनेक सार्वजनिक हित के कार्यों को सम्पन्न कराकर ग्रामों के लिए उचित सुविधाएँ जुटाने की ओर भी राज्य के अधिकारी सचेष्ट रहते थे। सभा पर्व में जलाशयों की मरम्मत और रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य बतलाया गया है[6]।

१—'यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्।
दशयस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥
ग्रामं ग्राम शताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम्॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत॥
शाखानगर मर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः।
धान्यहैरण्य भोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसंगतः॥' शान्ति, ८७, ६–९।

२—तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यद्।
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् पश्येदतन्द्रिसः॥ वही, ८७, ९।

३—शान्ति, ८७, ११–१२। दे० मनु० ७, १२१–१२२।

४—शान्ति, ६९, ६ आदि।

५—सभा, ५, ८२; शान्ति, २७९, २५–२६; मनु०, १०, १२६, ११, ६४।

६—सभा, ५, ७७।

महाभारत के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में राज्य की समृद्धि, सुरक्षा और प्रादेशिक अखण्डता के लिए ग्रामों का बहुत अधिक महत्त्व था। छोटी-छोटी बस्तियों से, जिन्हें पल्ली या घोष कहा जाता था[1], ग्रामों का विकास होता था, ग्रामों से प्राकारों से घिरे हुए शाखानगरों (कस्बों) की रक्षा होती थी और ये कस्बे चारों ओर ग्रामों से घिरे होते थे। और पुर या नगर की रक्षा के लिए अनेक शाखानगर बसे होते थे। प्रान्तों (प्रदेशों) की सुरक्षा के लिये उन्हें ग्रामों से बसाया जाता था (ग्रामवत् च कृताः प्रान्ताः)[2]।

नगर–प्रशासन

कस्बों और नगरों के विकास का श्रेय उस काल के व्यापारिक एवं औद्योगिक संगठनों को है। उस समय के व्यापार-वाणिज्य सम्बन्धी संगठन की मुख्य विशेषताओं में नगरों के निर्माण के अतिरिक्त (२) उद्योगों एवं हस्तकलाओं का विकास और उनके द्वारा निर्वाह करने वाले कारीगरों का श्रेणियों के रूप में संगठन, (३) आन्तरिक और वाह्य व्यापार का विकास विशेष उल्लेखनीय हैं। महाभारत में श्रेणियों और सार्थ आदि व्यापारिक संस्थाओं के विषय में अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। वनपर्व में काफिले (सार्थ) बनाकर बनजारों की तरह व्यापार करने वाले एक बड़े संगठन का उल्लेख है। वन में दमयन्ती के एक बड़े व्यापारी-दल (महासार्थ) को देखा। यह महासार्थ चेदि राज्य की ओर जा रहा था। इस महासार्थ में प्रमुख व्यापारी (सार्थस्य नेता), अन्य सहयोगी व्यापारी, अनेक सेवक तथा हाथी, घोड़े, रथ आदि सम्मिलित थे। सार्थ के नेता को 'सार्थवाह' कहा जाता था और वह सार्थ का प्रभुता-सम्पन्न अध्यक्ष माना जाता था।[3] ये सार्थों और श्रेणियों के संगठन अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे थे और इनके कार्यों और व्यवहारों का संचालन इनके परम्परागत विधियों के अनुरूप ही होता था।[4] इन संस्थानों के इस प्रकार के विकसित स्वरूप की पृष्ठभूमि में ग्रामों के अतिरिक्त उद्योग एवं व्यापार तथा वाणिज्य के केन्द्रों के नाते अपनी अलग विशेषताओं के साथ नगरों का विकास सर्वथा स्वाभाविक था। इस प्रकार के अनेक नगरों के नाम महाभारत में मिलते हैं जिनका उल्लेख उस काल के अनेक जनपदों की अपनी अपनी राजधानी के रूप में प्रायः किया गया है। द्वारका, हस्तिनापुर, लंका, इन्द्रप्रस्थ, विराट्नगर आदि नगरों के अनेक वर्णनों से महाभारतकाल के नगरों और उनके प्रशासन के विषय में अनेक रोचक बातों का पता चलता है।

(अ) नगर-निवेश—

शान्तिपर्व में पितामह भीष्म का आदेश है कि नगर को राजा स्वयं अपने मार्ग-

---

१—शान्ति, ३२६, २०।
२—सभा, ५, ८१; शान्ति ६६, ३५; १७५, २५; २७८, २६।
३—'सार्थस्य नेता प्रभुसार्थवाहः' वन ६१, १२०।
४—'जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः ।।' शान्ति, ३६, १६।

दर्शन के अनुसार बसाये[1]। नगर छः वर्गों में बसाया जाता था[2]। इसके चारों ओर ऊँची दीवारें (शैलादभ्युच्छ्रयवता प्राकारेण) होती थी। इन दीवारों पर निरीक्षण के लिए स्तूप या बुर्ज (मीनार या बुर्ज) बनाये जाते थे। प्राकार में नगर से यातायात के लिए तथा प्रतिरक्षा के उद्देश्य से बहुत बड़े-बड़े तोरण-द्वार बनाये जाते थे[3]। प्राकार और विशेषतया द्वारों की रक्षा के लिए पर्याप्त विस्तृत और गम्भीर खाईयाँ चारों ओर बनाई जाती थीं जिसपर द्वारों के सामने पुल बंधे रहते थे। इन खाइयों में मगरमच्छ पले रहते थे। नगरों की रक्षा के लिये मिट्टी के ऊँचे-ऊँचे परकोटे (चयः) भी बनाये जाते थे[4]। शान्तिपर्व में नगरों की रक्षा के लिए यन्त्रों की स्थापना का भी उल्लेख है[5]। इन सभी साधनों से यह स्पष्ट है कि नगर के निर्माण-काल में वे सभी प्रबन्ध यथासम्भव जुटाये जाते थे जिनकी आवश्यकता शत्रु के द्वारा नगर पर घेरा डाल देने के पश्चात् पड़ सकती है। नगर की सुरक्षा को ध्यान में रखकर किए जाने वाले सैनिक महत्त्व के विशेष प्रबन्धों का वर्णन हम आगे (९ वें अध्याय में) करेंगे। प्राकार की दीवारों पर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ बनी होती थीं। पट्कोण राजधानी के इन प्राकारों तोरणों और अट्टालिकाओं के अत्यन्त दृढ़ होने को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सम्भवतः ये पत्थरों और चूने से बनाई जाती होंगी।[6] वनपर्व में ऊँचे और दृढ़ प्राकार के बाद नगर की रक्षा के लिए शूलों से जड़े तख्तों की दीवार का भी वर्णन किया गया है[7]। आदिपर्व में सोपानों का भी वर्णन किया गया है[8]। नगर में सभी आमोद-प्रमोद और वैभव-विलास की सामग्रियों से युक्त प्रासाद का निर्माण किया जाता था। इसमें अनेक 'कक्ष्या' होती थीं। तीसरी कक्ष्या के बाद अन्तःपुर होता था। यहाँ खेलने के लिए उद्यान (आक्रीडम्) और स्त्रियों के लिए पृथक् उपवन (प्रमदवनम्) होते थे। न केवल प्रासाद के अपितु नगर के द्वारों से भी बाहर जाने वाले और प्रवेश करने वाले लोग 'मुद्रा' मुहर लगा प्रवेश-पत्र या मुद्रा का चिह्न होने पर ही आ-जा सकते थे।[9]

१—शान्ति, ६९, ६४ आदि।

२—आश्रमवासिक, ५, १६; रामायण में चार वर्गों का विधान है, २, ४८, १९। नगरवास्तु और प्रासाद के निर्माण के विषय में दे० अग्निपुराण, १०४। १०५; वृहत्संहिता, ५३; तथा अर्थशास्त्र के सम्बद्ध अंश।

३—'स वर्धमान हारेण निर्ययौ गजसाह्वयात्।' १६, ३।

४—'चयाट्टालकशोभिता।' वन १६०, ३९।

५—शान्ति, ८६, ४ आदि तथा ६८, १४ तथा आश्रम, ५।

६—पुरं च ते शुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम्।
अट्टाहात्मकसंबाधं षट्पदं सर्वयोदिशम्॥ आश्रमवासिक, ५, १६।

७—वन, १५, ६ 'उपशल्य'।

८—आदि, १८५, २०।

९—वन, १५, १९ 'अमुद्रः'।

क्योंकि नगर और प्रासाद के द्वारों पर द्वारपाल (द्वाः स्थ) रखे जाते थे। प्रवेश करने वाले लोग आज्ञा मिलने पर ही प्रवेश कर सकते थे। राजा से मिलने के लिए आये हुए व्यक्ति द्वारपाल के द्वारा अपने आने की सूचना (निवेदयस्व) राजा को देने के पश्चात् अनुज्ञा मिलने पर ही राजा को मिल सकते थे[1]। नगरों के मार्ग और गलियाँ (प्रतोली) खूब चौड़ी बनाई जाती थीं[2]। सड़कों के कंकड़-पत्थरों को कूटकर उन्हें सुगम बनाया जाता था। मार्गों और गलियों में प्रकाश का प्रबन्ध होता था और सड़कों पर पानी का छिड़काव कराया जाता था। चारों ओर फूलों की शोभा से रमणीय और अगर की धूप से सुगन्धित वातावरण रहता था[3]। यहीं इन्द्रप्रस्थ का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने उसे 'हृष्ट एवं पुष्ट नागरिकों से युक्त और व्यापारियों (वणिग्भिः) से सुशोभित कहा है[4]। नगर के चारों ओर बहुत सी सामान्य भूमि पड़ी रहती थी। तथा नगर के चारों ओर अनेक उपवन शोभा देते थे।

नग की बस्ती का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया गया हैं। राजप्रासाद को ही लें। राजप्रासाद में राजा के लिए पृथक आवास-स्थान होता था। पुरोहित, मंत्रिगण तथा सैनिक अधिकारियों के पृथक् पृथक् आवासों के अतिरिक्त सभा-भवन, न्यायालय, मदिरालय और द्यूतशाला आदि बनी होती थीं।[5] राजा के द्वारा बनवाई हुई नृत्यशाला में दिन में लड़कियाँ नाचना-गाना सीखती थीं और रात को अपने-अपने घर चली जाती थीं[6]। छोटे छोटे व्यापारियों के लिए तथा स्वर्णकारों के लिए दूकानें तथा अन्य कारीगरों के लिए कारखाने भी बनाये जाते थे। आदिपर्व में पाश्चात्य देश के राजा द्रुपद के प्रासादों को कैलास की तरह शुभ्र और गगनचुम्बी तथा सोने की जालियों से सुशोभित और बहुमूल्य पत्थरों के फर्शों (मणिकुट्टिम) से अलंकृत तथा सातमंजिल के मकानों वाला (विमानेषु) बतलाया गया है[7]।

नगर की शासन-व्यवस्था—

नगर का शासन चलाने का उत्तरदायित्व स्वयं सर्वोच्च शासक का होता था। अन्य अनेक कर लगाने और कर–संग्रह करने वाले अधिकारी, सैनिकों के गुल्म और गुप्तचर आदि नगर के शासन-कार्य में राजा की सहायता करते थे। पौर और जानपद

१—'निवेदयस्व मां द्वाः स्थ राज्ञे० वन १३३, १३।

२—आश्रमवासिक, ५, १६।

३—'संमृष्टसिक्त पंथानं पुष्प प्रकर शोभितम्' आदि, २२१, ३६ 'इन्द्रप्रस्थ नगर का वर्णन'।

४—'हृष्टपुष्टजनोपेतं वणिग्भिरुपशोभितम्' वही, २२१, ३७।

५—हाप्किंस, पृ० १७६।

६—विराट्, २२, ३।

७—आदि, १८५, २० आदि; दे० सभा, ३३ और ३४ में युधिष्ठिर के प्रासादों का वर्णन।

जनता की सभा व्यवस्थापन, संचालन और न्यायपालन आदि के कार्यों में उसे उचित परामर्श देती थी। राजा अपने नागरिकों के प्रति बड़ी श्रद्धा और प्रेम की भावना रखता था। नागरिकों से अपने वन जाने की अनुमति माँगते हुए धृतराष्ट्र ने जिस प्रकार जनता को सम्बोधित किया है; जिस प्रकार हाथ जोड़कर क्षमाप्रार्थना करते हुए उनके सहयोग और प्रेम की अभ्यर्जना की है तथा युधिष्ठिर को उनके हाथों में धरोहर (न्यासः) कहा है और उन्हें राजा युधिष्ठिर के हाथ में न्यास बतलाया है[1] उससे यह भली प्रकार प्रमाणित होता है कि राजा और नागरिकों का आपसी सम्बन्ध केवल शासक और शासित का सा ही नहीं था। नागरिकों के प्रतिनिधि के रूप में धृतराष्ट्र से नागरिकों की अनुमति निवेदित करते हुए विद्वान ब्राह्मण साम्ब ने कहा है कि 'राजन् आप ठीक कहते हैं, आपके वंश और हम लोगों का सदा से सुहृद्भाव रहा है। इस वंश का कोई भी प्रजापालक राजा कभी भी प्रजाओं का अप्रिय नहीं रहा। आप लोग पिता और भाई की तरह हमारा पालन करते हैं। यहाँ तक दुर्योधन ने भी हमारे साथ कभी कोई अनुचित आचरण नहीं किया[2]।' शासक और शासितों का यह मैत्रीभाव न केवल भारतीय सीमित राजतन्त्र की परम्पराओं के अनुरूप है अपितु राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से भी यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

गुप्तचर व्यवस्था—

प्राचीन भारतीय प्रशासन-तन्त्र में गुप्तचर-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में पर्याप्त विकसित हो चुकी थी।

राजा को अपने राष्ट्र के नगरों और जनपदों में अपने शत्रु, मित्र और उदासीन (तटस्थ) व्यक्तियों के विषय में कौन क्या कुछ करना चाहता है? (चिकीर्षितम्) इसका सदैव पूरा-पूरा ज्ञान अपने गुप्तचररूपी नेत्रों के द्वारा देखते हुए प्राप्त करना चाहिये[3]। यह कहते हुए पितामह भीष्म ने शान्तिपर्व में राजा को आदेश दिया है कि राष्ट्र के भीतरी और बाहरी, नगरों से सम्बन्धित और ग्रामसम्बन्धी, सभी समाचारों को भली प्रकार जानकर उसके अनुसार ही कोई प्रशासन सम्बन्धी कदम उठाना चाहिये[4]। राजा को गुप्तचरों से मिलने का कार्य स्वयं करना चाहिये क्योंकि इन्हीं पर सब कुछ प्रतिष्ठित एवं आधारित होता है[5]। कहा गया है कि गुप्तचर संस्था राज्य

१—अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां युधिष्ठिरः॥
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया। आश्रमवासिक, ६, १३–१४।

२—आश्रवमेधिक, १०।

३—शान्ति, ८६, २१; सभा, ५, २५।

४—वही, ८६, १६।

५—वही, ८६, २०।

की 'मूल' है और (राज्य) का वल होती है 'गुप्त मंत्रणा'[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतकार ने राज्य में वड़े व्यापक और प्रभावी गुप्तचर-संगठन की आवश्यकता पर बल दिया है।

भारत में गुप्तचर संस्था का इतिहास बड़ा पुराना है। ऋग्वेद में वरुण के गुप्तचरों का उल्लेख है[2]। अथर्ववेद में सोम के और वरुण के हजारों नेत्रों वाले गुप्तचरों की चर्चा की गई है[3]। मनु ने राजा के गुप्तचरों की पहुँच के वायु की गति के समान होने का वर्णन किया है[4]। इतना ही नहीं यूनानी लेखकों के उल्लेखों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत के शासन-तंत्र के एक अतीव महत्त्वपूर्ण विभाग के नाते गुप्तचर-विभाग का संगठन किया जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य की राज-संसद में यूनानी राजदूत के पद पर अधिष्ठित मैगस्थनीज ने उनकी संख्या, योग्यता और प्रतिष्ठा के आधार पर उन्हें एक पृथक् सामाजिक इकाई मानकर लिखा है कि 'छात्र वर्ग निरीक्षकों का है, जिन्हें यह निरीक्षण करने का कार्य सौंपा गया है कि 'राज्य में क्या हो रहा है ?' ये अपने इस कर्तव्य के अनुसार निरीक्षण करते हुए गुप्त रूप से सभी सूचनाएँ राजा तक पहुँचाते हैं। कुछेक की नियुक्ति नगर की देख-भाल करने के लिये है और कुछेक को सेना के निरीक्षण का कर्त्तव्य सौंपा गया है। नगर के निरीक्षण करने वाले गुप्तचर अधिकारी नगर के सभासदों की सहायता से और शिविर के गुप्तचर अपने सेना में नियत किये गये सहयोगियों की सहायता से कार्य करते हैं। योग्यतम और अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया जाता है[5]।'

संगठन और कार्य—

महाभारतकार ने शत्रु-राष्ट्र के अठारहों तीर्थों और स्वराष्ट्र के युवराज, मंत्री और पुरोहित को छोड़कर शेप पन्द्रह तीर्थों की गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति करने का आदेश दिया है। एक ही कार्य के लिये तीन-तीन गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और ये तीनों भी आपस में एक दूसरे को नहीं जानते थे। इस प्रकार एक ही विपय में एक दूसरे को न जानने वाले तीन गुप्तचरों के द्वारा

१—राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते। वही, ८३, ५०।

२—ऋग्वेद, १, २५, १३।

३—अथर्व, ५, ६, ३; १८, १, ९; ४, १६, ४।

४—मनु० ९, ३०६।

५—जे० डवल्यू० मैक्किंडल, 'एँश्यैंट इंडिया ऐज डैस्क्राइव्ड वाइ मैगस्थनीज एण्ड एरियन', पृ० ८५—८६। दे० 'हो सकता है कि इन निरीक्षक अधिकारियों में वे प्रशासक भी सम्मिलित हों जिन्हें सचिव या अर्थशास्त्र में अध्यक्ष कहा गया है किन्तु इन वाक्यों से एक सुसंगठित गुप्तचर-विभाग का अवश्य संकेत मिलता है।' स्पैलमैन, पृ० १३७।

भेजे गये प्रतिवेदनों की तुलनात्मक परीक्षा करके वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाता था[1]। ये गुप्तचर इस वात का ध्यान रखते थे कि राज्य की प्रकृतियों के रूप में विख्यात सात अधिकारी अर्थात्, दुर्गाध्यक्ष, वलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी पर कहीं शत्रु-राष्ट्र के अवांछनीय व्यक्तियों ने अपने दूतों के द्वारा प्रभाव तो नहीं जमा लिया है क्योंकि इन अधिकारियों के शत्रु से मिल जाने या भक्ति-हीन होकर विरुद्ध कार्य करने अथवा गुप्त मंत्रणाओं को प्रकाशित कर देने से राष्ट्र की वड़ी हानि होने की सम्भावना रहती थी। यहाँ इस वात का भी संकेत मिलता है कि ये गुप्तचर कभी-कभी दोनों ओर भी मिल ज'ते थे और परराष्ट्र के अधिकारियों से वनावटी मित्रता स्थापित करके धन आदि का लोभ देकर गुप्त सूचनाएँ प्राप्त कर लेते थे। इनमें से कई ऐसी प्रतिष्ठा वना लेते थे कि कोई उन पर शंका ही न कर सके (अपरिशंकिताः)।[2]

गुप्तचरों के सारे राष्ट्र में प्रच्छन्न रूप से फैले हुए जाल के द्वारा राजा अपने अन्तरंगों से वाहरी लोगों की रक्षा और वाहरी लोगों से अपने अन्तरंगों की रक्षा और इसी प्रकार वाहरी व्यक्तियों की वाहर वालों से और आत्मीय जनों की आत्मीयों से रक्षा करने में सचेष्ट रहता था। उक्त सभी तत्वों से राजा को अपनी रक्षा करनी होती थी क्योंकि इन सवका मूल तो अपना निजी सुरक्षित व्यक्तित्व ही है[3]। राजा पता लगाता था कि उसमें कौनसी बुराइयाँ हैं, किस तरह की आसक्ति है, कौनसी ऐसी बुराई है जो अव तक दूर नहीं हुई और किस कारण से उस पर दोष आता है। अपने विश्वासपात्र (अनुमतैः) गुप्तचरों (गुप्तैः चारैः) को सारे राज्य में घूमते हुए वह यह पता लगाता था कि कल तक उसका जैसा व्यवहार रहा है उसकी लोग प्रशंसा करते हैं या नहीं। यदि उन्हें उसके किसी विशेष व्यवहार का पता चलेगा तो वह उन्हें अच्छा लगेगा या नहीं। राष्ट्र में और गाँव में विशेष रूप से उसका यश लोगों को रुचिकर भी है कि नहीं। इस प्रकार जो राष्ट्र के धार्मिक, धैर्यशील तथा संग्राम में पीठ न दिखाने वाले शूरवीर नागरिक हों, जो राज्य में रहकर जीविका चलाते हों या राज्य पर ही जीविका के लिये आश्रित हों, जो मंत्रिवर्ग में से हों या मध्यस्थ हों, जो राजा की प्रशंसा करते हों अथवा जो निन्दा करते हों उन सभी के विषय में भली प्रकार गुप्तचरों के द्वारा सूचनाएँ प्राप्त करके सावधानीपूर्वक सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था[1]।

राजा की तरह अन्य मन्त्री आदि अधिकारी भी गुप्तचरों की सहायता से शासन-तन्त्र को चलाने की व्यवस्था करते थे। एक हजार ग्रामों के मण्डल पर नियुक्त सर्वार्थचिन्तक अधिकारी के द्वारा अपने गुप्तचरों के द्वारा सभी अधीनस्थ शासना-

१—त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्ति तीर्थानि चारकैः ॥ सभा, ५, ३८।
सभी तीर्थों के नामों के लिये दे० यही पुस्तक, अ० ७, परिच्छेद २।

२—सभा, ५, २३–२४।

३—शान्ति, ८९, ११–१६।

धिकारियों के आचरण पर दृष्टि रखने का उल्लेख किया गया है।[१]

महाभारतकार ने राजा को इन्द्र, यम और वरुण की तरह व्यवहार करने के लिये 'सदैव जागरूक (अप्रमत्तः) होने तथा पराई और अपनी बुराइयों पर दृष्टि रखने की प्रेरणा दी है। वह ऐसा प्रवन्ध भी करे कि शत्रु उसकी बुराइयों को न देख पाये परन्तु वह शत्रु की बुराइयों (छिद्रेषु) (अं०, लूपहोल्स) पता लगाकर तुरन्त कार्यवाही कर सके[२]। इससे यह स्पष्ट है कि गुप्तचर संस्था का उद्देश्य पराई सूचनाओं को प्राप्त करना और अपनी सूचनाओं को पराये हाथों में जाने से रोकना भी है क्योंकि महाभारत के द्रोणपर्व से यह पता लगता है कि राष्ट्र की तरह सेनाओं में भी दोनों पक्षों में गुप्तचर छिपे रहते थे जो छोटी से छोटी खवरों, अच्छाइयों-बुराइयों तथा भावी योजनाओं को अपने पक्ष तक पहुंचाते थे। अर्जुन के जयद्रथ को दूसरे दिन सायंकाल तक मार डालने अथवा स्वयं चिता में जल जाने की साहसपूर्ण प्रतिज्ञा विना कृष्ण से मन्त्रणा किये ही कर लेने पर कृष्ण ने अपने गुप्तचरों से ही यह पता लगाया था कि किस प्रकार जयद्रथ अपने गुप्तचरों से यह समाचार प्राप्त करते ही घवराकर घर भाग जाने की वात सोचने लगा और उसने अपनी रक्षा का प्रवन्ध करने के लिये राजा दुर्योधन और अन्य सभी महारथियों से प्रार्थना की तथा दूसरे दिन उसकी रक्षा के लिये द्रोणाचार्य ने किस व्यूह की रचना करने का निर्णय किया तथा उस व्यूह में कौनसे छः महारथी होंगे जिनसे अर्जुन को युद्ध करना पड़ेगा तथा इस व्यूह में जयद्रथ कहाँ होगा आदि-आदि[३]।

महाभारतकार के मन में (शान्ति, अ० ९१) राजा को अपनी गुप्तचर-व्यवस्था का संगठन इस प्रकार करना चाहिये कि उसकी उपमा युक्तियुक्त रूप से 'सहस्राक्ष' अर्थात् हजारों आँखों वाले इन्द्र से की जाय। कहा गया है कि राजा क्षमा, विवेक, धैर्य और वुद्धि की शिक्षा ग्रहण करे अच्छे-बुरे के विषय में उसकी जिज्ञासा वनी रहे। वह सम्पूर्ण जनता का संग्रह करना, दान देना और मधुर वोलना सीखे और नगरों तथा ग्रामों में रहने वाली दोनों ही प्रकार की जनता को सुख पहुंचाता हुआ रक्षा करे। यह रक्षा का कार्य वह व्यक्ति नहीं कर सकता जो दक्ष नहीं है क्योंकि यह राज्य के शासन चलाने का भार वहुत बड़ा और दुर्वह है। वुद्धिमान्, शूरवीर और दण्डनीति को जानने वाला ही रक्षा का भार सम्हाल सकता है, दण्ड देने में हिचकने वाला, नपुंसक और वुद्धिहीन व्यक्ति नहीं। अतः स्वदेश और परदेश में अपने धर्म को नष्ट न होने देने के उद्देश्य से अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म की सफलता के लिये राजा को चाहिये कि वह तपस्वियों और आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों की विचारधारा की भी परीक्षा करवाता और करता रहे। इस कार्य को वह जिन व्यक्तियों के द्वारा करवाये वे बड़े

१—वही, ८७, ११।
२—शान्ति, ९१, ५५।
३—देखिये द्रोण-पर्व, अ० ७४ और ७५।

ही गुणवान् होने चाहियें। महाभारतकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वे रूपवान् तथा अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हों; वे कार्यकुशल और राजभक्त हों तथा वड़े विद्वान् और वहुश्रुत व्यक्ति हों[1]।

इस प्रकार संक्षेप में ही प्रस्तुत किए गये विवरण से हम देखते हैं कि महाभारत में गुप्तचर-व्यवस्था के वारे में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे उस व्यवस्था के उद्देश्य, संगठन तथा कार्यों के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु ये गुप्तचर अपना कार्य किस प्रकार करते थे और किन अच्छे-वुरे साधनों और नीतियों को अपनाकर अपने अच्छे-वुरे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते थे इस विषय पर हमें महाभारत में उस प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं होती जैसी अर्थशास्त्र में है[2]। तो भी जैसे भी सामान्य संकेत उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर गुप्तचरों की कार्य-प्रणाली के विषय में जो सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है उससे स्पष्ट होता है कि इस विभाग की कार्य-प्रणाली पर्याप्त कुशलता पूर्वक विकसित की गई होगी[3]। सम्पूर्ण देश में, दुर्ग अर्थात् राजधानी में तथा शत्रुओं और मित्रों की सेवाओं में उनकी वर्तमान स्थिति, वृद्धि अथवा क्षय का पता लगाने की आवश्यकता पर वनपर्व में विशेष रूप से वल दिया गया है। और राजा के बुद्धि, मंत्र, पराक्रम, विग्रह तथा प्रग्रह के साथ ही साथ गुप्तचर व्यवस्था के भी दक्षतापूर्वक निर्वाह करने को ही सफलता का मूल माना गया है (दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम्) इससे यह स्पष्ट है कि यह कार्य वड़ी जटिल तथा विशुद्ध पद्धतियों के द्वारा किया जाता होगा[4]। अन्यथा राजा और राजा के विरुद्ध किए जाने वाले षड्यंत्रों और नागरिकों के द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों से रक्षा करने के लिए उनमें भेद उत्पन्न करा देना और शत्रु, मित्र तथा मध्यस्थों पर यथोचित दृष्टि रखना कदापि सम्भव न हुआ होता[5]।

गुप्तचरों की नियुक्ति—

शान्तिपर्व के ६९ वें अध्याय में 'गुप्तचरों की नियुक्ति कैसे की जाय ?' (कथं चारं प्रयुञ्जीत ?) इस विषय का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'जिन लोगों की अच्छी तरह परीक्षा कर ली गई हो, जो वुद्धिमान् होने पर भी देखने में, गूंगे, अंधे और वहरे से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और थकान सहने की शक्ति रखते हों

१—शान्ति, ९१, ४५–५०।

२—दे० अर्थशास्त्र; १, ११; १८; १, १३; २२-२३, १, १२, २१ आदि; ४, ४, २११; ५, १, २३८-४०; १३, १, ३९५ आदि; इसी विषय पर देखिए काणे, ३ १३१।

३—दे० उद्योग; ३४, ३२ व ३४।

४—वन १५०, ३७, ३८ आदि तथा ४२ व ४३।

५—शान्ति ५८, ७, १० आदि।

ऐसे विद्वान् पुरुषों को गुप्तचर नियुक्त किया जाय[1]। महाभारतकार ने परीक्षित गुप्तचरों को सेना की टुकड़ियो में, किलों में, राज्य की सीमाओं पर, नगर के उपवनों तथा राजाधानी के उद्यानों में नियुक्त करने का सुझाव दिया है। कहा गया है कि सभी संस्थानों, पुरों और नगरों में राजा के प्रासाद में भी उनकी नियुक्ति की जाय। सभी मन्त्रियों और नाना प्रकार के मित्रों तथा पुत्रों पर भी गुप्तचर नियुक्त किए जायें। अपने नगर और ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी नियुक्ति इस प्रकार से की जाय कि गुप्तचर आपस में एक दूसरे को जान न पायें। राजा अपने इन्हीं गुप्तचरों के द्वारा बाजारों, विहार और सैर-सपाटे के लिए उपयुक्त स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुओं के समुदायों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुए गुप्तचरों का पता लगायें। इस प्रकार बुद्धिमान् राजा के शत्रु के गुप्तचरों की टोह लेने से बड़े हित का साधन होता है[2]। आदि पर्व में भली प्रकार से परीक्षा किये गये गुप्तचरों को उद्यानों, विहारों, देवताओं के मन्दिरों, मदिरालयों, गलियों और सभी अर्थात् अठारहों तीर्थों, चौराहों, कुओं, पर्वतों, और वनों और नदियों तथा सभी प्रकार के जनसमुदायों आदि में नियुक्त करने का परामर्श दिया गया है।[3] यहीं प्रायः बार-बार महाभारत में कहे गये गूंगे, अन्धे तथा बहरे दिखने वाले गुप्तचरों के अतिरिक्त पाषण्डो और तपस्वियों के रूप में गुप्तचरों के परराष्ट्रों में नियुक्त किए जाने का परामर्श दिया गया है[4]। इस विषय में नीति-निर्धारण करते हुए कणिक ने बतलाया है कि शंकित और अशंकित सभी व्यक्तियों पर शङ्का की दृष्टि रखी जानी चाहिए क्योंकि यदि जिस पर शंका भी न हो उसकी ओर से खतरा आता है तो वह जड़ से ही नष्ट कर देता है। कहा गया है कि इसी प्रकार अविस्वस्त व्यक्ति पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए और न ही विश्स्वत पर अतिविश्वास करना उचित है क्योंकि विश्वास होने पर यदि विश्वासनीय से ही भय आ उपस्थित हो तो वह भी समूल नष्ट कर देता है[5]।

यद्यपि मैकियावेली ने 'प्रिंस' में महाभारतकार की तरह गुप्तचर-व्यवस्था के विषय में पृथक् और स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तो भी वह अपने नरेश को जिस प्रकार की प्रशासनिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का सजग सूत्रधार बनने का आदेश देता है, उसमें परोक्ष रूप से एक अत्यन्त विकसित एवं उच्चकोटि की गुप्तचर-व्यवस्था के

१—प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्ध वधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान्, क्षुत् पिपासा श्रमक्षमान्॥ शान्ति, ६९, ८।
२—वही ६९, ६-७, ९-१३।
३—आदि १४०, ६३-६४।
४—'पाषण्डान् तापसादींश्च परराष्ट्रेषु नियोजयेत्। आदि १४०, ६३
तुलनीय-उद्योग १९२, ६२ तथा मनु० ९, ३६४।
५—आदि १४०, ६१-६२।

संकेत मिलते हैं। मैकियावेली ने अपने नरेश को राजकीय शक्ति का कठोरता-पूर्वक प्रयोग करने[1] तथा वास्तविक प्रशासन-कार्य में निःसंकोच होकर दृढ़-निश्चिय से कार्य करने का आदेश देते हुए भी जिन दो प्रमुख प्रशासनिक तत्वों की ओर उन्मुख किया है वे हैं (१) जनता को प्रचार एवं व्यवहार से शान्ति और सुख की ओर उन्मुख करके उनकी घृणा और निरादर का पात्र न बनते हुए शासन करना[2] और (२) सिंह की तरह पराक्रम करना और शौर्य का प्रदर्शन करते हुए भी लोमड़ी की तरह चालाक और जागरूक बने रहना; अन्यथा वह उन जालों अर्थात् षड्यंत्रों से अपनी रक्षा नहीं कर पायेगा, जो उसके विरुद्ध लगाये जायेंगे[3]। तीसरे अध्याय में ही वह नरेश को सावधान करते हुए कहता है कि 'उपद्रवों की उत्पत्ति और प्रतिकार में ठीक वैसी ही बात होती है जैसी विषम ज्वर में वैद्य लोग बताते हैं। विकार की प्रारंभिक दशा में उपचार करना बहुत सरल किन्तु निदान करना बड़ा कठिन होता है। परन्तु समय बीतते-बीतते प्रारंभ में ही निदान न किए गये तथा न ही उपचार के द्वारा ठीक किए गये विकार का पहचानना तो नितान्त सरल किन्तु प्रतिकार करना अतीव कठिन हो जाता है।[4]' इससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली ने शासक को दूरदर्शिता पूर्वक सावधानी और जागरूक वृत्ति से अपने राज्य की सभी समस्याओं के विषय में यथा समय पूरी जानकारी प्राप्त करते रहने की आवश्यकता पर बल दिया है। मैकियावेली जैसे 'कुटिल-तंत्र में महाभारतकार के आपद्धर्म के शासन की तरह गुप्तचर-विभाग की कुशलता और कार्यक्षमता पर राज्य का अधिकाधिक निर्भर रहना न केवल स्वाभाविकतया आवश्यक अपितु अनिवार्य हो जाता है।

१—प्रिंस, ५; १७।

२—वही, १९।

३—वही, १८, १३७-८।

४—प्रिंस, ३, १५।

अष्टम अध्याय

कर–व्यवस्था

- कर-व्यवस्था
- कोश-संचय
- भू-स्वामित्व
- राजकोष का प्रबन्ध
- विधि एवं न्याय-व्यवस्था
- आपद्धर्म एवं दण्डनीति
- व्यवहार एवं दण्ड-व्यवस्था
- प्रशासन की नीतियाँ और आदर्श —एक ऐतिहासिक पक्ष

अष्टम अध्याय

कर-व्यवस्था

कर-व्यवस्था का उद्गम और विकास—

महाभारत में कर को 'बलि' कहा गया है। ऋग्वेद में प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्रारंभ में देवताओं को दी गई आहुति को बलि कहते थे। हो सकता है कि देवताओं को दी गई इस बलि के साथ यह भावना भी जुड़ी हो कि देवता भी तृप्त और प्रसन्न होकर अनुकम्पा करें और यजमान व्यक्तियों की रक्षा करें[1]। इसी युग से राजा को दी जाने वाली स्वयंप्रेरणा से समर्पित भेंट को भी बलि कहा जाने लगा। राजाओं को ही नहीं ऋत्विजों को भी इस प्रकार की भेंट देकर उनकी अनुकम्पा का पात्र बनने के अनेक कारण अन्य अनेक समाजों की तरह प्रजामूलक वैदिक समाज में अवश्य ही रहे होंगे। इस प्रकार प्राचीन भारत में अपने आप समर्पित की जाने वाली यह भेंट (बलि) ही कालान्तर में एक आर्थिक उत्तरदायित्व का रूप धारण करके कर-व्यवस्था की नींव बन गई। विजित जातियों के द्वारा विजेता राजा को दी गई भेंट (नजराना) भी जो प्रायः पशुधन और कृषि की उपज के रूप में होती थी। वैदिकयुग में इस प्रकार की बलि या कर के राजाओं द्वारा उगाहे जाने के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते। परन्तु प्राचीन भारतीय काल में 'बलि' के साथ स्वेच्छा से दी गई भेंट का तथा बाद में प्रथमतः उपहार का सा अभिप्राय इसके साथ जुड़ गया और फिर साथ ही साथ अंश रूप में इस शब्द के साथ प्रजाओं के द्वारा अनिवार्य रूप से चुकाये जाने वाले उस भाग का भी अभिप्राय जुड़ा रहा जो प्रायः कृषि की उपज के भाग के रूप में देय होता था।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रजा के द्वारा यह बलि देने या अनिवार्यरूप से चुकाये जाने का आधार राजा की दिव्यता का सिद्धान्त नहीं हो सकता। राजा की दिव्यता के समान दिव्यता का दावा तो उनके व्यक्तियों के द्वारा प्राचीन भारत में किया जाता था। अतः हमें यह मानना पडेगा कि कर-व्यवस्था का मूलभूत सिद्धान्त जो अन्य सभी मतों की अपेक्षा अधिक प्रबल और युक्तियुक्त है, यह है कि राजा इसी लिए कर का अधिकारी है क्योंकि वह प्रजा का पालन करता है। प्रजाओं का ही

१—ऋग्वेद, १, ७०, ९; ५, १, १०; ७, १००, ९; राजा के बलि के अर्थ में ऋग०, ७, ६, ५; १०, १७३, ६; (वैदिक इण्डैक्स पृ० ६२ से उद्धृत)

पालन करने के लिए (तासामेवाभिगुप्तये) राजा प्रजाओं से 'वलि' ग्रहण करता है। इस मत की चाहे अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती हो तो भी इसका मौलिक-यत्त्व 'रक्षा' ही है। जो राजा रक्षा नहीं करता (अरक्षितारम्) वह त्याज्य है और ऐसा रक्षा न करने वाला, प्रजाओं के धन का अपहरण करने वाला, प्रजाहितों को विनाशक और नेतृत्व करने में अयोग्य एवं क्रूर राजा 'राज-कलि' (साक्षात् उग्र-कलियुग) होने के कारण प्रजाओं के द्वारा संगठित होकर (संहत्य) मार डालने योग्य है[1]।

विनिमय का सिद्धान्त अनुपपन्न—

हाप्किंस ने उक्त कर-व्यवस्था की व्याख्या करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह व्यवस्था कोरी वस्तुविनिमय की सी लेन-देन की प्रणाली पर आधारित थी। इतनी सामग्री के लिए इतनी रक्षा इस विनिमय की भावना से राजा प्रजाओं की रक्षा करता था। आपत्ति-काल में वह और अधिक की माँग करता था क्योंकि उसकाल में रक्षा का कार्य और अधिक कठिन होता था[2]। हाप्किंस के इस मत में युक्ति का चमत्कार भले ही किसी अंश में दिखाई दे, वस्तुस्थिति से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें विनिमय के विचार पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। आज तक उपलब्ध ग्रन्थों के किसी भी साक्ष्य से इस बात की सत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती कि रक्षा के वदले में सम्पत्ति का इस प्रकार का विनिमय कभी प्रचलित था। क्षत्रिय के द्वारा की जाने वाली रक्षा उसका पवित्र कर्तव्यमात्र थी। उसके इच्छानुसार खरीदे और वेचे जाने का प्रश्न नहीं उठता। यदि कर-व्यवस्था केवल इस प्रकार के विनिमय पर ही आधारित होती तो इसका सीधा तात्पर्य यही होता कि राजा अपनी प्रजा की उतनी ही रक्षा करता जितना धन उसे कर के रूप में प्राप्त होता। किसी भी धर्मशास्त्रकार का यह मन्तव्य नहीं हो सकता। क्या इसका अभिप्राय फिर यह नहीं हुआ होता कि अन्धे, गूँगे, रोगी, विक्षिप्त तथा अन्य अनेक ऐसे व्यक्ति, जिन्हें सामान्य लोगों की अपेक्षा राज्य के संरक्षण की कहीं अधिक आवश्यकता एवं अपेक्षा होती है, अपनी अयोग्यता के ही कारण अनुपाततः और अधिक कर देने के लिए वाध्य होते। परन्तु किसी धर्मशास्त्र में ऐसी नीति का समर्थन नही किया गया है[3]।

इसके विपरीत शान्तिपर्व में कहा गया है कि आपत्तियों के आने पर द्रव्य-समुदाय को भी बलि चढ़ाकर जिस प्रकार राजा राष्ट्र की रक्षा करता है उसी प्रकार राष्ट्र को भी राजा की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार राष्ट्र के सर्वोच्च हित के साधन के लिए राज्य की और राज्य की सुरक्षा के लिए राष्ट्र की ओर से पारस्परिक

१—दे० अनुशासन, ६१, ३२ और ३३; 'अरक्षितारं हर्तारं०—' 'सः···निहन्तव्यः'।
२—हाप्किंस, पृ० ७८–७९।
३—द्रष्टव्य डा० स्पैलमैन, पृ० १७९–१८०।

सहयोग और सहकार्य एक अनिवार्य आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति के लिए ही सनातन काल से कर-व्यवस्था की परम्परा पड़ी है[1]।

कोश-संचय—

राज्य और राष्ट्र दोनों की रक्षा के लिए महाभारतकार ने कोश-संचय का बहुत अधिक महत्त्व बतलाया है। अपने कोश के लिए निरन्तर द्रव्य-संचय करने, उसे बढ़ाते रहने और उसकी रक्षा करने के लिए सतत प्रयत्न करने पर बल देते हुए कहा गया है कि कोश के क्षीण होने से राजा का बल क्षीण हो जाता है[2]। कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य निर्जल स्थानों में भी उन्हें खोदकर उनसे जल निकाल लेता है उसी प्रकार राजा संकटकाल में प्रजा से कोश-संचय करे और अच्छा समय आने पर उस धन के द्वारा प्रजाओं पर अनुग्रह करे[3]। यही कहा गया है कि राज्य की जड़ है सेना और कोश। इनमें भी कोश ही सेना (बल) का मूल है। और फिर वही सम्पूर्ण धर्मों की रक्षा का मूल है और फिर धर्म ही प्रजा की रक्षा का मूल है[4]।

इस प्रकार कर-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्त के रूप में महाभारत में कोश की उस अनिवार्य आवश्यकता को रखा गया है जो राज्य के धर्म के अनुसार राष्ट्र का पालन और संवर्धन करने के कार्य के लिए तथा राज्य जैसे महान्तंत्र को अच्छे और बुरे कालों में सुरक्षित और सबल रखने के लिए प्रजा के ही सर्वोच्चहित की दृष्टि से आवश्यक है। कर-सिद्धान्त का अपेक्षाकृत और मूर्त और व्यावहारिक रूप महाभारत के इन शब्दों में प्राप्त होता है राजा अपने सहायकों के साथ या बिना सहायकों के ही जीते हुए या अपने राज्य के मिलाये जाने वाले राष्ट्र में पहुँचकर (राष्ट्रमागम्य) कहे, मैं आपका राजा हूँ और मैं सदा आप लोगों की रक्षा करूँगा, आप मुझे धर्म के अनुसार कर (धर्मवलिम्) दें अथवा मेरे साथ युद्ध करें। उसके ऐसा कहने पर यदि वे उस नरेश का अपने राजा के रूप में वरण कर ले तो सबकी कुशल हो अन्यथा यदि वे विरोध करें तो उनका सभी उपायों से नियंत्रण किया

१—परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः॥
राजा राष्ट्रं यथापत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत्॥ शान्ति १३०, ३०–३१।

२—दे० 'कोशस्योपार्जनरतिः; शान्ति ५७, १२; 'कोशस्य तथैव च विवर्धनम्, वही ५८, ६; कोशश्च सततं रक्ष्यैः, वही, ११९, १६–१७।

३—राज्ञः कोश क्षयादेव जायते वलसंक्षयः आदि। वही० १३०, १२–१३ इसी विषय में दे० वही, १३०, १४, २; १३२, ५, १३३, १, ४, ५, आदि।

४—राज्ञः कोशवलं मूलं कोशमूलं पुनर्वलम्।
तन् मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः॥ वही, १३०, ३५।

जाय (सर्वोपायैः नियन्तव्याः)[1]। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारतकाल से राजा और प्रजा दोनों की दृष्टि से कर-व्यवस्था एक अनिवार्य धार्मिक परम्परा के अनुसार वैध रूप में स्वीकृत हो चुकी थी।

पाश्चात्य मतों की समीक्षा—

इस महाभारतीय विचारधारा के प्रकाश में प्राचीन भारतीय कर-व्यवस्था के विषय में अनेक प्राच्यविद्याविशारदों के द्वारा प्रस्तुत मतों की समीक्षा करना अप्रासंगिक न होगा। हाप्किंस के 'विनिमय-सिद्धान्त' की ही तरह कुछेक विद्वानों ने प्राचीन भारतीय कर-व्यवस्था के विषय में यह कहा है कि राजा अपने रक्षा करने के उत्तरदायित्व और कार्य के 'वेतन' या 'भृति' के रूप में प्रजा से कर लेता था[2]। यह मत भी आपाततः भारतीय परम्परा के अनुकूल दिखाई देते हुए भी अंशतः ही ठीक माना जा सकता है। क्योंकि किसी सेवक या भृत्य को उसकी नौकरी या सेवा को मजदूरी के रूप में जिस प्रकार निश्चित धन दिया जाता है और यदि वह अपना कार्य ठीक पूर्ण न करे तो उसे अपने वेतन या मजदूरी से वंचित होना पड़ता है, ठीक वैसी ही व्यावहारिक स्थिति राजा और प्रजा के सम्बन्धों में कहीं भी प्रतीत नहीं होती। महाभारत में राज्य और राजा के प्रति जिस दृष्टिकोण का अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया गया है उसकी भावना के अनुरूप भी यह 'वेतन-मत' नहीं ठहरता। यद्यपि सामान्यतया बोधायन धर्मसूत्र, अग्निपुराण, नारद-स्मृति, महाभारत और विशेषतः अर्थशास्त्र में यह संकेत मिलते हैं कि राजा अपने वेतन के रूप में उपज का छठा भाग प्राप्त करता था। बौद्धसाहित्य में तो इस प्रकार के अनुबन्ध को नितान्त स्पष्ट स्वरूप ही मिलता है[3] परन्तु महाभारतीय परिस्थितियों को देखते हुए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रजा के द्वारा कर राजा के वेतन के रूप में दिया जाता था या राजा की स्थिति सिद्धान्त रूप में भी एक वेतनभोगी सेवक की सी थी। दूसरे यदि अर्थशास्त्र के उस उद्धरण पर भी ध्यान दें जिसमें कौटिल्य ने राजा को आदेश दिया है कि वह युद्ध छिड़ने से पहिले अपनी सेना को एकत्र करके इस प्रकार सम्बोधन करे 'मैं भी आपके समान ही वेतनभोगी हूँ, मैं आपके साथ ही साथ आपकी सहायता से ही इस राज्य पर शासन करता हूँ आप मेरे द्वारा निर्दिष्ट शत्रु को करें'। राजा के उक्त वाक्य उस भारतीय परम्परा के पूर्णतया अनुकूल हैं जिसमें राजा को पूर्ण वैनयिकी वृत्ति और सेवा-भाव के साथ शासन चलाने का विधान किया गया है। हम डा० स्पैल्मैन की उस कोरी कल्पना से सहमत नहीं हैं जिसमें यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि 'हो सकता है कि राजा के द्वारा कहे

१—शान्ति, ९५, २–४।

२—दे० हाप्किंस, पृ० १८०; तुलनीय, पा० वा० काणे, हि० आ० ध०, पु० ३, पृ० २७–२८।

३—दे० अग्निपुराण, २२३, ४; नारद, १८, ४८; अर्थशास्त्र, १, १३–२५; महाभारत के उद्धरणों के लिए यही पुस्तक, अ० ३, तथा दीर्घनिकाय, ३, ९०।

गये उक्त वाक्य केवल उसके प्रचारात्मक हथकण्डे (अं० प्रौपैगण्डा टेकनीक) ही हों क्योंकि आजकल भी सैनिक नेता सामान्य सैनिकों को इस प्रकार समझाने और विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए बड़े से बड़े और छोटे से छोटे सभी योद्धाओं का महत्त्व समान है।' वास्तविक स्थिति यह है कि जहाँ महाशय काणे आदि विद्वानों ने उक्त 'वेतन-मत' का प्रतिपादन करने के लिए अति-उत्सुकता दिखाने का प्रयास किया है वहाँ महाशय स्पैल्मैन ने उसका खण्डन करने के लिए अनुचित कल्पना-विलास और अयुक्त असहिष्णुता का परिचय दिया है। डा० स्पैल्मैन की यह वृत्ति उस समय और अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है जब वे कर-व्यवस्था के विषय में प्रसिद्ध तीसरे सिद्धान्त 'अनुवन्ध सिद्धान्त' का आमूलचूल खण्डन करने पर तुल जाते हैं यद्यपि आज तक अनेक पूर्वी और पश्चिमी मूर्धन्य भारतविद्या-शास्त्रियों ने उसका समर्थन किया है।

'रक्षा' सिद्धान्त—

राजा जनता के धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक हितों की रक्षा का उत्तर-दायित्त्व वहन करता है और उसके इस संरक्षण या सेवा के लिए ही प्रजा उसे कर देती है और उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। राजा केवल राजा होने के कारण ही कर का अधिकारी नहीं है। मात्स्यन्याय की परिस्थितियों का निराकरण करने के लिए नियुक्त राजा को अधर्म का आचरण करने वालों को दण्ड देने के लिए ही जनता ने कर देना स्वीकार किया है। अपने रक्षा के उत्तरदायित्त्व का पालन न करने पर अपने वचन का पालन करने में अयोग्य अथवा असमर्थ होने पर, वह उस भृति का वेतन अधिकारी ही नहीं रहता जो प्रजा के द्वारा उसे कर या वलि के रूप में दी जाती है। महाभारत के अनेक वाक्यों में निरंकुश तथा अयोग्य एवं असमर्थ राजा के प्रति व्यक्त की गई घृणा, तिरस्कार, आक्रोश और उसे संगठित होकर न केवल पदच्युत कर देने अपितु मार डालने तक का विधान इस भावना का समर्थन करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है[1]। परन्तु डा० स्पैल्मैन ने महाशय मैसन—आर्सेल, एन० वन्द्योपाध्याय, पा० वा० काणे, काशीप्रसाद जायसवाल, एन० के० सेन, डी० आर० भण्डारकर, एन० सी० बनर्जी तथा छे० गांगुली आदि मनीषियों के उक्त मत का समर्थन करने वाले विचारों का केवल यह कहकर खण्डन करना चाहा है कि उक्त विचारों का समर्थन जिन उद्धरणों के आधार पर किया जा सकता है वे प्रायः इतने गोलमोल शब्दों वाले, अस्पष्ट और असंगत रूप से अनूदित हैं कि उन्हें सुपुष्ट साक्ष्य नहीं माना जा सकता। डा० स्पैल्मैन का एक ओर अनेक ऐसे ही उद्धरणों को प्रमाण मानकर प्राचीन मान्य-ताओं और तथ्यों का प्रतिपादन करते चले जाना और दूसरी ओर अनेक अधिकारी विद्वानों के द्वारा प्रमाण के रूप में स्वीकृत साक्ष्यों को ठीक न मानना अपने आप में

१—दे० यही पुस्तक, अ० ३।

एक असंगत और अतर्क सम्मत चेष्टा है[1]। वास्तविकता यह है कि न केवल महाभारत में ही अपितु प्रायः सम्पूर्ण तत्कालीन और परवर्ती धर्मशास्त्र-साहित्य में इसी बात पर बल दिया गया है कि राजा धर्म के अनुसार प्रजाओं का पालन करने के लिए ही 'बलि' या कर लेता है। अपने इस कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ होने पर वह राजकोष से उन लोगों की क्षतिपूर्ति करे जिनकी वह रक्षा नहीं कर सका। वह स्वयं पिता की तरह आचरण करते हुए अपनी प्रजाओं को सन्तान मानकर पालन न कर पाने पर अधर्म और पाप का भागी होता है[2]।

कर-संचय की नीति—

राजा को हल्के और सहनीय कर ही लगाने चाहियें। उसकी नीति कठोर और भारी कर लगाने की नहीं होनी चाहिए उद्योग पर्व में आलंकारिक भाषा में उक्त नीति का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—'जो व्यक्ति वनस्पति से कच्चे फल तोड़ लेता है उसे न तो उन फलों से रस ही प्राप्त होता है और उस वनस्पति का बीज भी नष्ट हो जाता है। और जो समय पर पके हुए फल को चुनता है वह उस फल से रस तो प्राप्त करता ही है फल के बीज से फिर और फल भी उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार भौंरा फूलों की रक्षा करते हुए ही उनसे मधु (पुष्परस) ग्रहण करता है उसी प्रकार विशेष पीड़ा न देते हुए (अविहिंसयो) मनुष्यों से द्रव्यों का संचय करना चाहिए। माली की तरह फूलों को चुनना चाहिए कोयले बनाने वाले की तरह जड़ से नहीं काट डालना चाहिए[3]। शान्ति पर्व में कहा गया है राष्ट्र से मधु की तरह कर लेना चाहिए जैसे भौंरा पौधे से धीरे-धीरे फूल व पौधे का रस लेता है। बछड़े की तरह दूध लेना चाहिए, स्तनों को नहीं कुचल डालना चाहिए। कोमलता के साथ ही धीरे-धीरे जोंक की तरह राष्ट्र का पान करना चाहिए (पिबेद् राष्ट्रम्)। कर इसी प्रकार वसूल करना चाहिए जैसे बाघिन अपने बच्चों को ले जाती है (व्याघ्रीव च हरेत पुत्रान्) किन्तु न तो उन्हें

१—दे० डा० स्पैल्मैन पृ० १८१। तथा यहाँ भी उल्लिखित, पी० मैसन-आसेल, एँश्यैंण्ट इण्डिया एण्ड इंडियन सिविलाइजेशन, पृ० ९२–९३; वद्योपाध्याय, हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज्, पृ० १९३–४, २८०–२; काणे, ३, २७ आदि ३६–३९ प्रकृति; जायसवाल, हिन्दू पौलिटी, भाग २, पृ० १३५–६; सेन, हिन्दू पोलिटिकल थौर, ६०–६१; भण्डाकर, सम आस्पैक्ट्स आफ् एँश्यैंट हिन्दू पालिटी, १५६, १६७; बनर्जी, पौलिटिक्स एण्ड पौलिटिकल हिस्टरी इन दी महाभारत, तृतीय, इण्डियन हिस्टरीकल क्वार्टर्ली, पु० ·, ३, १९२५, पृ० ४९४; जो गांगुली प्रिंसीपिल्स आफ् हिन्दू टैक्सेशन, वही; १, नं० ४, १९२५; पृ० ७००–२।

२—दे० रामा०, अरण्य, ६, ५१७; वसिष्ठ, १, ४२; गौतम. १०, २८; बौधायन ध० सू०, १, १०, १८, १। अग्नि० २२८, ११ याज्ञवल्क्य, १, ३३५–७, मनु० ७, १२९।

३—उद्योग, ३३, १५–१८।

काटती ही है और न उन्हें पीड़ा पहुँचाती है[1]।

महाभारतकार ने राजा को कर-संग्रह करने में तीक्ष्ण उपायों को न अपनाने का परामर्श दिया है। कहा गया है कि 'जैसे तीक्ष्ण दाँतों वाला चूहा सोये हुए मनुष्य के पैर में इतनी कोमलता से काटता है कि वह केवल पैर को थोड़ा-सा कम्पित ही करता है, उसे पीड़ा का ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायों से ही राष्ट्र से कर ले[2]।'

यहाँ कहा गया है कि कर की दर को बहुत धीरे-धीरे बढ़ाकर वसूल करना चाहिए। उसके बाद समयानुसार फिर उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः और अधिक कर ग्रहण करना चाहिए (८८, ७)। जैसे बछड़ों को पहले-पहल बोझ ढोने का अभ्यास कराने वाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है और धीरे-धीरे लगातार उन पर थोड़ा-थोड़ा और अधिक भार लादता ही रहता है, उसी प्रकार प्रजा पर भी पहले कर का भार कम रखे (८८, ८)। यदि उनको एक साथ नाथकर उन पर भारी भार लादना चाहे तो उन्हें काबू में लाना कठिन हो जायगा; अतः उचित ढंग से ही उन्हें प्रयत्नपूर्वक भार ढोने के उपयोग में लाना चाहिए। ऐसा करने से वे पूरा भार वहन करने के योग्य हो जायेंगे (८८, ९)। सभी पुरुषों को एक साथ वश में करने का प्रयास (सर्वसमारम्भः) बड़ा दुष्कर होता है अतः मुख्य-मुख्य लोगों को ही पहले सान्त्वना देकर वश में करते हुए अन्य सामान्य लोगों का कर-संग्रह के लिए उपयोग करना चाहिए (भोक्तव्य इतरो जनः, वही, १०) इस प्रकार उन परस्पर विचार करने वाले मनुष्यों में भेद डलवाकर राजा सान्त्वना देते-देते ही सुख-सुख से बिना किसी यत्न के सबका उपभोग करे (वही, ११)।

उपर्युक्त कथनों का अभिप्राय दमनात्मक शोषण को नीति से कदापि नहीं है। महाभारतकार ने यह स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि जनता पर परिस्थिति और समय के प्रतिकूल (अर्थात् अस्थान और अकाल में) कर का बोझ नहीं डाला जाना चाहिए। अपितु कर-व्यवस्था का संचालन चार प्रकार से किया जाना चाहिए— (१) आनुपूर्वी से अर्थात् एक के बाद एक धीरे-धीरे क्रम से, (२) सान्त्वना के साथ अर्थात् लोगों को भड़कने न देते हुए, (३) काल के अनुसार और (४) विधि (वैध कानून) के अनुसार। ये ही कर-संग्रह के उपाय हैं, कोई छल-कपट सिखाना अभिप्रेत नहीं है, ठीक उपायों का आश्रय न लेते हुए जनता का दमन करने वाले प्रजा में कोप और रोष का निर्माण कर

१—शान्ति, ८९, ४–५, दे० मनु, ७, १२९।
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सपट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥
अर्थात् जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा रस, दूध, मधु का पान करते हैं उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लिया जाना चाहिए'।

२—'अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत्।' शान्ति ८८, ६।

डालते हैं। जैसे मनमाने तौर से घोड़ों का दमन (भार ढोने का अभ्यास) कराने वाले लोग उन्हें बिगाड़ देते हैं[1]।

महाभारतकार ने कर-संग्रह की दृष्टि से व्यापारी-वर्ग के महत्त्व को पहचानते हुए राजा को व्यापारियों के साथ नितान्त मृदु तथा कोमल व्यवहार करने का परामर्श दिया है। उनकी उपेक्षा न की जाय; उनके हानि-लाभ का ध्यान रखते हुए, उन्हें सान्त्वना देकर सब प्रकार से रक्षा करते हुए, उन्हें धन की सहायता देकर उनकी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर उनके लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटाते रहने और उनके प्रिय कार्य करने का आदेश दिया गया है[2]। कहा गया है कि व्यापारी राष्ट्र के वाणिज्य-व्यवसाय तथा कृषि की उन्नति करते हैं और उन्हें तथा उनके द्वारा मिलने वाला फल सदैव के लिए उपभोग की वस्तु रहता है। इसलिये कुशल शासक को वैश्यों पर यत्नपूर्वक प्रीतिभाव बनाये रखना चाहिए और बड़ी सावधानी से दयालुता का व्यवहार करते हुए उन पर हलके कर लगाने चाहिए[3]। महाभारतकार के उक्त दृष्टिकोण से हापकिंस के उस अनधिकृत और अप्रामाणिक मत का खण्डन होता है, जिसके अनुसार वैश्यों के प्रति राजाओं के व्यवहार को क्रूरतापूर्ण शोषणपरक और अपमान जनक बतलाया गया है[4]। साथ ही इस महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक दृष्टिकोण से वह गुत्थी भी सुलझ जाती है जो महाभारतीय राजा के ३७ व्यक्तियों के मंत्रिमण्डल में २१ वैश्यों के बहुसंख्यक प्रतिनिधित्व के वास्तविक अभिप्राय को न समझ पाने के कारण उलझी प्रतीत होती है। महाभारतकार ने क्षत्रिय राजा को वैश्यों के प्रति जिस प्रकार की नीति अपनाने का उपदेश दिया है उसे देखते हुए पूर्वोक्त गुत्थी स्वयं सुलझी सी ही लगती है। कहा गया है कि 'हे युधिष्ठिर! व्यापारियों, व्यवसायियों और कृषि करने वालों (गोमिषु) के लिए सभी क्षेत्रों और कालों में (सर्वत्र) हितकारी आचरण करना राजा से लिए सुकर भी होता है और सुलभ भी। इसके समान और कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है[5]। वस्तुतः यही कारण है कि महाभारतकार ने राजा को यह आदेश दिया है कि

१—न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि॥
उपायान् प्रब्रवीम्येतान् न ते माया विवक्षिता।
अनुपायेन दमयन् प्रकोपयति वाजिनः॥ शान्ति, ८८, १२-३।

२—शान्ति ८७, ३६–३७।

३—अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा॥
तस्माद् गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद् विचक्षणः।
दयावानप्रमत्तश्च करान् संप्रणयन् मृदून्॥ शान्ति ८७, ३८–१।

४—दे० हापकिंस, पृ०.........

५—सर्वत्र क्षेत्रचरणं सुलभं नाम गोमिषु।
न ह्यतः सदृशं किंचिद् वरमस्ति युधिष्ठिर। शान्ति, ८७, ४०।

वह अपने ही संग्रह करने वाले अधिकारियों से भी जनता की रक्षा करे क्योंकि उनमें से कितने ही हिंसक, पापकाम, पराये धन का अपहरण करने वाले और शठ होते हैं[1]। अतः महाभारतकार का कथन है कि व्यपारियों पर कर लगाते समय माल की खरीद और बिक्री, मँगाने का खर्च, उसमें काम करने वाले नौकरों का वेतन, बचत और योग-क्षेत्र के निर्वाह की ओर दृष्टि रखकर ही कर लगाये[2]। माल की उत्पत्ति (तैयारी), उसकी खपत (दानवृत्ति) और शिल्प (कारीगरी) की उत्तम, मध्यम और अधम आदि श्रेणि का बार-बार निरीक्षण करने के बाद ही शिल्प पर निर्धारित किए गये कर को शिल्पियों से लिया जाय। राजा को चाहिए कि वह (हैसियत के अनुसार) भारी और हलका कर (उच्चावचाः कराः) प्रजाओं से दिलवाये। लोगों पर उतना ही कर लगाया जाय जिसके कारण वह पीडित न हों (यथा यथा न सीदेरन्)। उनके लाभ और श्रम (फलं कर्म च) का भली प्रकार विचार किया जाना चाहिए। लाभ और श्रम के निष्प्रयोजन हो जाने पर तो कोई व्यक्ति कार्य करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। उक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि महाभारत की कर-व्यवस्था में कर्ता के योगक्षेत्र और उसके कर्म में प्रवृत्त होने के उत्साह को जिस प्रकार से किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे उसी प्रकार से कर लगाने का नियम बनाया गया है। कहा गया है कि शासक को कर लगाने से पहले इस बात का भली प्रकार विचार करके देख लेना चाहिए (संवीक्ष्य) कि कृषि और वाणिज्य आदि कर्म के लाभ का भाग कर्त्ता और राज्य दोनों को प्राप्त हो। महाभारतकार ने राजा को सावधान करते हुए कहा है कि राजा को लोभ के द्वारों को भली प्रकार बन्द करके (ईहाद्वाराणि संरुध्य), लोकप्रिय बने रहना चाहिए (संप्रीत-दर्शनः) वह तृष्णा के कारण कहीं दूसरों की जड़ों को काटते हुए अपनी भी जड़ों को न काट डाले, क्योंकि जनता लोगों का अतीव खून चूसने वाले (अतिखादितम्) शोषक के नाते बदनाम (परिख्यातम्) राजा के जानी दुश्मन बन जाती है (प्रद्विषन्ति)। और जिससे सभी लोग अतीव द्वेष करते हैं उसका कल्याण कहाँ? जो लोकप्रिय नहीं उसे लाभ कैसे होगा (नाप्रियो लभते फलम्)।

इस प्रकार की नीति न अपनाने से होने वाली हानियों पर बड़े सरल शब्दों में प्रकाश डालते हुए पितामह भीष्म कहते हैं:— अतः जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई हो, वह शासक बछड़े की तरह प्रजा का ध्यान रखते हुए राष्ट्र धेनु से धीरे-धीरे कर-संग्रह करे (वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रम्) अतः जिस गाय का दूध अधिक नहीं दुहा जाता उसका बछड़ा उसके बचे हुए दूध को पीकर पुष्ट और बलवान् बनकर भारी भार ढोने का कष्ट सहन कर लेता है। परन्तु जिस गाय का अधिक दूध दुह लिया गया हो उसका बछड़ा (दुर्बल होने के कारण) उतना परिश्रम नहीं कर सकता (न कर्म कुरुते)। इसी

१—वही, ८७, १२

२—विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छयम्।
योगक्षेत्र च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्॥ वही, ८७, १३।

प्रकार अत्यधिक कर लगाने के द्वारा दरिद्र बनाया हुआ राष्ट्र महान् कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। इसलिए जो शासक स्वयं रक्षा-कार्य में निरन्तर तत्पर रहकर समूचे राष्ट्र पर अनुग्रह करता है और उससे ही प्राप्त हुई आय से निर्वाह करता है, वह कहीं अधिक विपुल सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। शासक का कर्तव्य है कि वह अपने देश में जनता के पास इकट्ठे धन को (निर्यातं धनम्) आपत्तिकाल को दृष्टि में रखते हुए निरन्तर बढ़ाने का प्रयत्न करे और अपनी जनता के कोश को सम्पन्न होने दे। मानों वह कोश उसके अपने घर में ही रखा हो ऐसा विचार परे (८७, २४)। राज्य पर साक्षात् और परोक्ष रूप में राज्य पर आश्रित (संश्रितोपाश्रितान्) सभी नगरों और ग्रामों के निवासियों को, जो थोड़ी सम्पत्ति वाले हों, राज्य की ओर से यथाशक्ति अनुकम्पा (सहायता) प्राप्त होनी चाहिए[1]।

महाभारतकार ने जनता के मध्यम वर्ग पर ही करों के लिए निर्भर रहने का राज्य को परामर्श दिया है। कहा गया है कि मध्यम वर्ग से सुखपूर्वक कर वसूल करना चाहिए (भोक्तव्यो मध्यमो जनः) किन्तु यह करते समय मध्यम वर्ग के अतिरिक्त उत्तम और अधम अर्थात् सुखी और दरिद्र होने के कारण दुःखी (सुखित दुःखितौ) इन दोनों वर्गों को मध्यम वर्ग से अलग कर लेना चाहिए (वाह्यं जनं भेदत्यिवा) जिससे कि नितान्त सम्पन्न और नितान्त अभावग्रस्त लोग राज्य के प्रति कुपित नहीं होते हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि उक्त प्रकार की करनीति महाभारतीय शासन-व्यवस्था के बड़े विकसित स्वरूप की द्योतक है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यापार, व्यवसाय और वाणिज्य एवं कृषि के क्षेत्र में विकसित समाज में राज्य उन लोगों के कोप को जागृत करने का खतरा मोल नहीं ले सकता जो अपनी पूंजी के कारण बड़े साधन सम्पन्न हैं। पूंजी पतियों की धनसम्पत्ति के कोप की अपेक्षा अभावग्रस्त बहुसंख्यक जनता का कोप कहीं अधिक भयानक है इसलिए राज्य को आदेश दिया गया है कि वह उन्हें यथाशक्ति आर्थिक सहायता देकर सन्तुष्ट रखे। धनवानों के प्रति महाभारतकार का दृष्टिकोण प्रशासनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भले ही आधुनिक प्रगतिवादी तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से वह प्रशंसनीय न हो। कहा गया है कि राजा देश के धनी व्यक्तियों का सदैव पान, भोजन, तथा वस्त्र, आदि के द्वारा आदर सत्कार करे और उनसे विनय-पूर्वक यह कहे कि 'आप लोग मुझ पर और मेरी इन प्रजाओं पर भी अनुग्रह-दृष्टि बनाये रखे। क्योंकि धनी लोग राज्य के बड़े महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं (अंग महत्) इसमें सन्देह नहीं है कि सम्पत्ति के स्वामी पुरुष सभी प्राणियों में प्रमुख हुआ करते हैं। प्रजा की रक्षा करने में विद्वान्, शूरवीर, धनी, स्वामी, धर्मनिष्ठ, तपस्वी, सत्य-वादी और बुद्धिमान् लोगों का ही बड़ा महत्त्व होता है[2]। यद्यपि महाभारत में राष्ट्र

१—शान्ति, ८७, २१–२४

२—प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ शान्ति. ८८, ३१।

की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर निर्धनों से भी धन लेने का आदेश दिया है सम्मानित ब्राह्मणों (ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य) आदि को छोड़कर अन्य व्यक्तियों बलपूर्वक धन-संग्रह करने तथा इस प्रकार दुष्ट पुरुषों से लेकर सज्जन पुरुषों में बाँटने तथा इस प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रभाव से पवित्र होकर तथा निंदित आचरण करने में भी आपत्तिकुल में राजा को दोषी नहीं माना गया है[1]। यह भी कहा गया है कि न तो शुद्ध आचार-विचार से रहने वाले (शुद्ध शौचेन) और न नृशंस व्यक्ति के द्वारा ही कोश-संचय किया जा सकता है इसलिए मध्यम मार्ग का आश्रय लेकर ही सफलता मिल सकती है, तो भी महाभारतकार ने आपत्तिकाल में भी धनसंग्रह करने का जो मार्ग बतलाया है वह इस बात का सूचक है कि राजा को सदैव प्रजा की घृणा एवं निन्दा का पात्र बनने से बचना चाहिए। कहा गया है कि 'राजा पहले धन लेने की आवश्यकता बतलाकर फिर अपने राज्य में सभी जगह दौरा करे और राष्ट्र पर आने वाले भय की ओर सबका ध्यान आकर्षित करे। वह लोगों से कहे सज्जनों ! अपने देश पर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रु-दल के आक्रमण का महान् भय उपस्थित हुआ है। जैसे बाँस में फलका लगना बास के विनाश का ही कारण होता है उसी प्रकार मेरे शत्रु बहुत से लुटेरों को साथ लेकर अपने ही विनाश के लिए हमारे इस राष्ट्र को सताना चाहते हैं। इस घोर आपत्ति और दारुण भय के समय में आप लोगों की रक्षा के लिए आप लोगों से (ऋण के रूप में) धन की याचना कर रहा हूँ। जब यह भय दूर हो जायगा उस समय में आपको सारा धन लौटा दूंगा। शत्रु यहाँ आकर बलपूर्वक जो धन लूट ले जायेंगे उसे वे कभी वापिस नहीं करेंगे। शत्रुओं का आक्रमण होने पर सबसे पहले आपकी स्त्रियों पर संकट आयगा उनके साथ ही आपका सारा धन नष्ट हो जायगा। स्त्री और पुत्रों की रक्षा के लिए ही तो धनसंग्रह की आवश्यकता होती है। जैसे पुत्रों के अभ्युदय से पिता को प्रसन्नता होती है मैं आप लोगों की बढ़ती हुई समृद्धि की शक्ति से (प्रभावेण) आनन्दित होता हूँ। इस समय राष्ट्र पर आये संकट को टालने के लिए में आपसे आपकी शक्ति के अनुसार ही धनसंग्रह करूँगा। जैसे बलवान् बैल दुर्गम स्थानों में भी बोझ ढोकर पहुँचाते हैं उसी प्रकार आपको भी देश पर आई हुई इस विपत्ति के समय तो कुछ भार उठाना ही चाहिए। किसी विपत्ति के समय धन को अधिक प्रिय नही समझ लेना चाहिए। इस प्रकार स्नेहयुक्त और अनुनय पूर्ण वचनों से समझा बुझाकर ही समय की गति-विधि को पहचानने वाला राजा उपयुक्त उपायों का आश्रय लेते हुए अपने सैनिकों या सेवकों को प्रजाओं से धनसंग्रह करने के लिए भेजे'[2]।

संकटकाल में कर-नीति—

संकट काल के उपस्थित होने पर आपद्-धर्म का विवेचन करते हुए महाभारत-

१—शान्ति, १३२, ३—६।
२—शान्ति, ८७, २६—३४।

कार ने धन-संग्रह करने के लिए उचित और अनुचित सभी उपायों का सहारा लेने का परामर्श दिया है। उनका कहना है कि धन का संग्रह और त्याग ये दोनों एक साथ एक व्यक्ति में होने सम्भव नहीं हैं। वन में रहने वाले त्यागी महात्मा कभी धनाढ्य (धन वृद्धान्) नहीं देखे गये। अतः यदि कोश-संग्रह के मार्ग में बाधक बनने वाले व्यक्तियों को मारकर भी सफलता प्राप्त करनी पड़े तो उससे नहीं हिचकिचाना चाहिए। यज्ञ के लिए महान् यूप (स्तम्भ) काटते समय और उसे लाते समय आस-पास के और मार्ग को रोकने वाले अन्य पेड़ों को काटना ही पड़ता है और वह यज्ञ-स्तम्भ गिरकर भी अनेक वृक्षों को नष्ट कर डालता है अतः यह उपमा धर्म के तत्त्व को ठीक प्रकाशित करती है क्योंकि लोग पृथ्वी की सभी सम्पत्ति को बटोर कर अपना घर ही भर लेना चाहते हैं। अतः आपत्तिकाल में उक्त मार्ग के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। परन्तु महाभारत-कार ने यहाँ शासक को यह कह कर सावधान किया है कि 'राजा के लिए राज्य की रक्षा के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस आपद्धर्म की चर्चा की है वह आपत्तिकाल में ही आचरण में लाने योग्य है, अन्यथा नहीं[1]। करनीति की उक्त आचारसंहिता का पालन न करने से राज्य को बड़ी हानि उठानी पड़ सकती है यह बतलाते हुए महाभारतकार ने राजा को सावधान किया है कि वह इतने कठोर उपायों को न बरते कि जिससे उद्विग्न होकर व्यापारी तथा अन्य वर्ग उसके राज्य को ही छोड़कर चले जायें[2]।

कुछ विद्वानों ने महाभारत में प्रतिपादित आपद्धर्म की व्यावहारिक सत्यता और भारतवर्ष की विशेष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ओर ध्यान न देते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि 'भारतीय राजा का कर-नीति सम्बन्धी यह दृष्टिकोण कठिनता से ही कर-व्यवस्था के 'अनुबन्धीय या वैतनिक सिद्धान्तों' के साथ मेल खाता है'[3]। वास्तविकता यह है कि महाभारतकार ने उक्त प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से त्याज्य नितान्त कठोर उपायों को व्यवहार में लाने का परामर्श केवल तभी दिया है जब सैद्धान्तिक शुद्ध आचरण से राज्य की रक्षा सम्भव ही न हो[4] यह सिद्धान्त और व्यवहार का कालानुकूल सन्तुलन महाभारतीय तत्त्वदर्शन की विशेषता है। इसके द्वारा उसके सैद्धान्तिक तत्वदर्शन का खण्डन नहीं होता।

कोश-संचय के अन्य स्रोत—

महाभारतीयकाल के राजा के उपर्युक्त आय के स्रोतों के अतिरिक्त कुछ अन्य

१—शान्ति, १३०, ४०–५०।

२—वही, ८९, २३–४; वही, ८७, ३६।
दे० कर-व्यवस्था के विषय महाभारत के से ही विचारों के लिए, मनु० ७, १३९; १०, ११८; अर्थ०, ७, ५ तथा १३, १ एवं ५, २।

३—दे० स्पैल्मैन, पृ० १८४ पादटिप्पणी। हाप्किंस, पृ० ७८ में आगे।

४—शान्ति, १३०, ४७–५०।

महत्त्वपूर्ण स्रोतों का उल्लेख किए बिना अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए सामान्य प्रजा के अतिरिक्त राजा उन राजाओं और सामन्तों से भी कर वसूल करता था जो उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे या प्रस्तुत युद्ध में परास्त होकर अधीनता स्वीकार करने के लिए वाध्य होते थे। ये अधीन राजा एवं सामन्त बँधी हुई वार्षिक धन-राशि देने के अतिरिक्त किसी महान् यज्ञ-समारोह के अवसर पर भवन-निर्माण प्रस्तुत होने पर या किसी वड़े युद्ध के छिड़ने की आशंका होने पर अतिरिक्त धन-धान्य वलि के रूप में देकर सम्राट् के कोश की कमी के कारण उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने में स्वेच्छा से बाध्य होकर सहायता देते थे[1]।

सभापर्व में ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, वनवासियों तथा अन्य सभी छोटे-बड़े वर्गों के लोगों द्वारा राजा के लिए भेंट दिए जाने का (प्रीत्यर्थम्) वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि जनता के वे वर्ग जो सामान्यतया कर से मुक्त थे, वे भी राजा को सन्तुष्ट करने के लिए उपहार दिया करते थे और यह प्रथा भी वहुत प्राचीन काल से चली आई थी।

दस्युओं और अधार्मिक व्यक्तियों से भी राजा उनकी सम्पत्ति हस्तगत करके वहुत सा धन वसूल करता था।[2]

संयुक्त परिवार की व्यवस्था होने के कारण राजा अपने सगे-सम्वन्धियों के धन पर भी प्रभुत्व रखता था। आश्वमेधिक पर्व में धृतराष्ट्र के द्वारा अपने पुत्रों और अन्य योद्धाओं का तपर्ण करने के लिए धन की याचना किए जाने पर युधिष्ठिर ने न केवल अपनी अपितु अपने भाइयों की भी वैयक्तिक सम्पत्ति को उक्त कार्य के लिए देने की तत्परता दिखाई है[3]। हो सकता है कि उक्त संदर्भ में राजकीय कोश के अतिरिक्त उस व्यक्तिक एवं घरेलू सम्पत्ति की ओर संकेत किया गया हो जो ऐतिहासिक रुद्रदामन् जैसे राजाओं के पास भी होती थी और जिसके व्यय से रुद्रदामन् ने सुन्दर नाम की झील की मरम्मत कराई थी।[4]

विष्टि—

व्यापारियों और शिल्पियों से उनके माल और शिल्प पर लगाये गये कर, वलि का शुल्क के अतिरिक्त राज्य अनेक समर्थ व्यक्तियों को धन के अभाव में श्रम के रूप में कर देने के लिए वाध्य कर सकता था तथा करता था। श्रम के रूप में लिए जाने वाले इस कर को 'विष्टि' कहते थे। यह विष्टि राज्य की एक प्रमुख शक्ति-स्रोत था और इसे राजकीय सेना के आठ अंगों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसकी आधुनिक युग में चीन जैसे समाजवादी एवं भारत जैसे लोकतंत्रों के द्वारा अपनी

१—वनपर्व, २५५, १६; मिलाइए विराट् १८, २६ 'वलिभृतः पृथ्वीपालाः'।
२—शान्ति, १३६, १-११, १६५, ५-७; दे० मनु, ११, ११, गौतम १८, २४ आदि।
३—यन्ममास्ति धनं किंचिदर्जुनस्य च वेश्मनि। आश्वमेधिक, १२, ११।
४—देखिए यही पुस्तक, अ० ७, परिच्छेद २।

जनता के द्वारा कराये जाने वाले 'श्रम-दान' से तुलना कर सकते हैं। किन्तु इस युग में निश्चित रूप से इसका स्वरूप राजकीय बेगार का सा रहा होगा[1]।

महाभारत में राजा को सभी प्रकार से राजकीय कोश को तथा अपने आपको भी सम्पन्न बनाये रखने की नीति का समर्थन किया गया है। बार-बार अनेक उक्तियों और युक्तियों के द्वारा इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है और यहाँ तक कहा गया है कि 'जिस राजा के पास धन का भण्डार नहीं है उसकी साधारण मनुष्य भी अवहेलना करते हैं, उससे थोड़ा लेकर ही सन्तुष्ट नहीं होते, और न उसका कार्य करने में कोई उत्साह ही दिखाते हैं। राजा अपनी समृद्धि के कारण बड़े भारी आदर-सम्मान का पात्र बन जाता है। जैसे कपड़ा नारी के गुप्त अंगों को छिपाये रहता है उसी प्रकार समृद्धि राजा के सभी दोषों को ढक लेती है[2]। और तो और इस राजा के द्वारा पहले तिरस्कृत और पीडित किए गये लोग भी इसकी बढ़ती हुई समृद्धि को देखकर जलते हुए भी इसी की सेवा में ऐसे लगे रहते हैं जैसे कुत्ते अपने घातक चाण्डाल की ही सेवा करते रहते हैं[3]।

भू स्वामित्व और भूमि-कर—

यद्यपि राजा भूमि का दान कर सकता था और वह भूमि का स्वामी कहलाता था, परन्तु व्यवहार में भूमि का स्वामित्व परम्परागत अधिकार के नियमों के अनुसार निर्धारित होता था। उत्तराधिकार और दायाधिकार के मामले बड़ी सावधानी से निरीक्षण करने के बाद निपटाये जाते थे। जहाँ ब्राह्मण को भूमि का दान करना पुण्य माना जाता था, वहाँ ब्राह्मण को भूमि से वंचित करना महापाप माना जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि राजा के सर्वस्वामित्व का सिद्धान्त व्यवहार में स्वत्व के अधिकार के रूप में भी प्रयुक्त होता हो यह संदिग्ध ही है। भूमि पर कोई लगान नहीं लगाया जाता था। सभी प्रकार के करों का आधार वार्षिक आय ही है, जिसका एक भाग कर के रूप में देना पड़ता था परन्तु यह कहीं भी नहीं प्रतीत होता कि इस प्रकार का कर भूमि के लगान के रूप में वसूल किया जाता हो[4]।

यदि मैगस्थनीज के उन मतों को, जो परवर्ती यूनानी लेखकों ने उद्धृत किये हैं, ठीक माना जाय तो हमें यह मानना पड़ेगा कि किसान भूमि को पट्टे पर (किराये या लगान पर) जोतते थे और यह लगान राजकीय कोष में जाता था तथा इसके

१—शांति, ५९, ४१; ७६, ५; १२१, ४४ आदि
देo हाप्किंस, पृ० ८९ पादटिप्पणी।

२—श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम्।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः॥ शांति, १३३, ६–७।

३—शान्ति, १३३, ८

४—ई० डवल्यू० हाप्किंस, जे ए ओ एस, पु० १३, पृ० ८८।

अतिरिक्त फसल का चौथा भाग कर के रूप में राजा को देना पड़ता था[1]। वस्तुतः प्राचीन भारत (३०० ई० पू०) में इतनी कठोर कर-व्यवस्था का न तो कोई उचित आधार ही है और न प्रमाण ही। महाभारतकार ने राजा को केवल छठा भाग ही वैध कर के रूप में लेने का अधिकार दिया है[2]। केवल संकट काल में ही एक चौथाई भाग कर के रूप में लिया जा सकता है। इससे पहिले पितामह भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रारम्भ में प्रजा ने राजा को वचन दिया कि हम आपके कोश की वृद्धि के लिये पशुओं की वृद्धि का तथा सुवर्ण का पचासवाँ भाग और अनाज की उपज का दसवाँ भाग कर के रूप में देंगे[3]। यहाँ यह स्पष्ट है कि कर का निर्धारण सम्पत्ति के सम्पूर्ण मूल्य के आधार पर न होकर केवल आय अथवा लाभ पर ही है। शान्तिपर्व में एक सुभाषित के द्वारा स्वामित्व के विषय में अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है। कहा गया है कि 'गाय उसी की है जिसे उसका दूध प्राप्त होता है वही उसका स्वामी है[4]।

हाप्किंस ने महाभारत में अभिव्यक्त भू-स्वामित्व विषयक विचारों की संगति यूनानी लेखकों के उल्लेखों के साथ करने के लिये यह कल्पना की है कि हो सकता है कि यूनानियों को जिस व्यवस्था का पता चला वह कहीं किसी छोटे मोटे प्रदेश में रही हो, या फिर इस व्यवस्था का यह अन्तर प्रादेशिक प्रभावों के कारण न होकर कालगत प्रभावों का द्योतक हो अर्थात् महाभारत में अभिव्यक्त स्थिति सामान्यतया आदर्श व्यवस्था की द्योतक हो और व्यवहार में कालान्तर में वही व्यवस्था हो गई हो जिसका परिचय यूनानियों को लगभग ३०० ई० पू० में हुआ था। हम इन सभी कल्पनाओं से इसलिये सहमत नहीं हैं क्योंकि ये कोरी कल्पनायें ही हैं और महाभारत के द्वारा अभिव्यक्त यथार्थ परिस्थितियों को और आदर्श मानने का कोई प्रमाणिक आधार नहीं प्रतीत होता।

कोश का जनहित में उपयोग—

महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष से उस सिद्धान्त की पुष्टि होती है जिसे मनु ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार इन्द्र चार मास तक प्रचुर वर्षा करता

१—हाप्किंस के द्वारा पृ० ८८ पर उद्धत एरियन का वचन यह है कि 'वे राजा या स्वशासित नगरों को कर देते हैं'। यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि वे कितना कर देते थे। स्ट्रैबो केवल इतना कहता है कि वे भूमि को पट्टे पर देते हैं और फसल का एक चौथाई भाग कर के रूप में देना होता है। दाइओदोरस, २, ४०; एरियन, ११; स्ट्रैबो, १५, पृ० ७०३।

२—आददीत वलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥ शान्ति, ६९, २५।

३—शान्ति, ६७, २३–२४।

४—शान्ति, १७४, ३२।

है उसी प्रकार राजा को भी इन्द्र की तरह अपने राज्य पर अनुकम्पा करनी चाहिये जिस प्रकार सूर्य अप्रत्यक्ष रूप से अपनी किरणों (करैः) आठ मास तक जल ग्रहण करता है उसी प्रकार सूर्य की तरह राजा भी धीरे-धीरे अपने राज्य से कर-संचित करे।[1] हम देखते हैं कि महाभारत के राजा बड़े बड़े यज्ञों का आयोजन करते हैं और उनकी समाप्ति पर ऋत्विजों और ब्राह्मणों को ही नहीं उसमें भाग लेने वाले अन्य सभी लोगों को हजारों और लाखों की सम्पत्ति दान में देते हैं। जनमेजय ने नागयज्ञ की समाप्ति पर विपुल धन-राशि का दान किया है।[2] राजा हरिश्चन्द्र के दान की गाथा बड़ी रोमांचकारी है, कहा गया है कि उसने उससे माँगने आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रार्थना का पंच गुना धन दान में दिया[3]। महाराज युधिष्ठिर से उसके राज्य की कुशलक्षेम पूछते हुए नारद ने विद्वान् ब्राह्मणों के सत्कार किये जाने तथा उनके भोजन और दान के द्वारा सेवित होकर राज्य की कृषि आदि की वृद्धि कराने आदि का उल्लेख है। उद्योग पर्व में एक अन्य सन्दर्भ में दान को स्वर्ग का सोपान वतलाया गया है। अनुशासन पर्व में उस राजा को भ्रूण हत्या का अपराधी वतलाया गया है जिसके राज्य में विद्वान् ब्राह्मण भूख से सन्तप्त रहते हों। महाभारत में अन्य सभी धर्मशास्त्रों की तरह ब्राह्मणों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य के द्वारा या अन्य किसी समर्थ स्रोत के द्वारा वहन किये जाने का विधान किया गया है[4]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्य वर्णों की तुलना में अपनी विशेष स्थिति के कारण यदि सभी ब्राह्मण नहीं तो कम से कम विद्वान् ऋषि-मुनि तथा आचार्य-गण राज्य की ओर से अनेक प्रकार की सहायता और सत्कार पाते थे[5]। उक्त तथ्यों के प्रकाश में यूनानी लेखकों का यह कहना सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में उस काल में ब्राह्मण राज-कर से सर्वथा मुक्त थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य अनेक लोग न केवल राज-कर से मुक्ति पाते थे अपितु राज्य से यथायोग्य सहायता पाने के वैध अधिकारी समझे जाते थे। निर्धन और अनाथ व्यक्ति, विधवाएँ, रोगी और विपन्न व्यक्ति तथा विशेषतः गर्भिणी और सामान्यतया सभी स्त्रियाँ चिकित्सा और भरण-पोषण के लिये राज्य पर निर्भर रहती थीं। महाभारत में संविभाग के

१—मनु० ९, ३०४–५। उक्त उपमाओं से न केवल राजा की व्यावहारिक दिव्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है अपितु प्राचीन भारतीय कर-व्यवस्था में राजा की कर नीति और उसके वित्तीय उत्तरदायित्व तथा अन्ततः उसकी वस्तु-स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

२—आदि, ५८, १५९।

३—सभा, १२।

४—दे अनुशासनपर्व तथा मनु (४, २५१) के अतिरिक्त भी याज्ञ० १, ३१४, १००, १३०; बृहस्पति, १७, २–३; गौतम, ९, ६३; विष्णु, ६२, १; ब्राह्मणों के कर्तव्य, उत्तरदायित्व और वृत्ति आदि के विषय में देखिये यही पुस्तक अ० ४।

५—दे० स्पैलमैन, पृ० १८७।

सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय सम्पत्ति का सभी अभावग्रस्त वर्गों में उचित संविभाग कर के उपयोग किये जाने की भावना पर बल दिया गया है[1]। महाशय स्पैलमैन ने उक्त व्यवस्था से प्रभावित होकर अपने उद्‌गारों को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है 'सार्वजनिक कल्याण और वित्तीय सहायता की दृष्टि से हम प्राचीन भारत की मानवीयता से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसके कुछेक पहलुओं में यह प्राचीन भारतीय मानवीयता हमारी अपनी आज की सभ्यता से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है[2]।' 'प्राचीन भारत के शास्त्रीय वचनों में जिन बातों का विधान किया है वह आधुनिक युग के 'सर्वहितकारी राज्य' (अं० वेल्फेयर स्टेट) की अनेक विशेषताओं के समान है।'[3]

राजकोश का प्रबन्धः—

महाभारत में कोश को राज्य का मूल माना गया है और राज्य के सात अंगों में इसे······तथा चार प्रमुख अंगों (राज्ये कोशे बले पुरे) में इसे द्वितीया स्थान पर रखा गया है। शान्तिपर्व में अपने और पराये राष्ट्रों से (स्वराष्ट्रान् परराष्ट्राच्च) धन-संचय करने और उसकी यथावत् रक्षा और निरन्तर वृद्धि करने का उपदेश दिया गया है।[4]

कोश के प्रबन्ध की दृष्टि से राजा को आदेश दिया गया है कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल अपने गणक और लेखकों के द्वारा प्रस्तुत आय-व्यय के लेखे का निरीक्षण करे। ब्राह्मणों तथा अन्य सुपात्र व्यक्तियों को दान देने, शासन के अधिकारियों के सम्मान और सहायता के लिए धन देने, सेना के वेतन और राशन का प्रबन्ध करने, तथा चोरों का पता न लगने या उनके पकड़े जाने पर भी चुराई गई सम्पत्ति न मिल पाने की दशा में राज्य की ओर से क्षति पूर्ति करने आदि में वह अपने राज्य की कर-व्यवस्था और अपराधियों पर किए गये धन-दण्ड से प्राप्त हुई आय का केवल एक चौथाई आधा या तीन चौथाई ही व्यय करे। वह आपत्काल के लिए कम से कम एक चौथाई, आधा या हो सके तो तीन चौथाई तक भी बचाये। कहा गया है कि राजा भूख से पीड़ित होने पर भी कोश तथा अन्य संचित साधनों को राज्य से दूर न होने दे[5]। इस विषय में महामायावी शम्बरासुर के मत को उद्धृत करते हुए महाभारतकार ने लिखा है कि कोश की निरन्तर वृद्धि के लिए इस प्रकार बचत करनी चाहिए जिस

१—शान्ति, अ० ७७; दे० कृपणानाथ वृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषाम्॥ वही, ७७, १८।

२—डा० स्पैल्मैन, पृ० १८७—८८।

३—वही, पृ० १८९।

४—शान्ति १३३, १–३।

५—कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम्।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा॥ शान्ति, १३०, ३२

प्रकार मनुष्य अपने भोजन के लिए संचित अन्न में से भी बीज को बचाकर रखते हैं।[1]

विधि एवं न्याय—

महाभारत में वर्णित राजतन्त्र के स्वरूप का सर्वांगीण अध्ययन करने के लिए इस काल की विधि एवं न्याय की व्यवस्था से सम्बन्धित संस्थाओं की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। आधुनिक राजनीतिक पारिभाषिक शब्दावली में जिसे विधि या कानून कहा जाता है उसका समावेश प्राचीन भारत में 'धर्म' में ही हो जाता था। धर्म में ही आर्य जीवन के सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों का नियमन करने वाले सभी सिद्धान्त समाविष्ट थे। धर्म के विषय में विवेचन करते हुए हम पहले (तीसरे अध्याय में) कह चुके हैं कि भारतीय धर्म का जो स्वरूप महाभारत में दिखाई देता है वह वेदों, शास्त्रों, परम्पराओं और आप्तवचनों पर आधारित है। विधि या कानून के विषय में भी महाभारतकार ने कहीं भी नये विधि का निर्माण करने का दावा नहीं किया है अपितु सर्वत्र समयाचारिक या परम्पराप्राप्त धर्म का ही निर्देश किया गया है।[2] मानव ही नहीं प्राणिमात्र का धारण पोषण करने वाले इसी धर्म के अनुसार न्याय-पूर्वक शासन करना राजा का कर्तव्य है।[3]

महाभारत में साक्षात् और परोक्ष रूप में प्रतिबिम्बित विधि तथा न्याय-व्यवस्था आदि से सम्बन्धित विचारों का क्रमिक अध्ययन अभी उस प्रकार नहीं हो पाया है जिस प्रकार जातक साहित्य तथा अर्थशास्त्र आदि के आधार पर अध्ययन किया गया है[4]। इस विषय में हाप्किंस का कहना है कि 'महाभारत में राजा के सैनिक कार्यों का ही चित्रण है उसके सार्वजनिक प्रशासनिक कार्यों का नहीं, और इसलिए न्यायालयों तथा अन्य कानून बनाने से सम्बन्धित मामलों में वस्तुतः 'राजा कितना सक्रिय था ?'

१—बीजं भक्तेन संपाद्यमिति धर्मविदो विदुः।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम्॥ शान्ति, १३३, ३३।

२—कच्चिदधर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तते॥ सभा, ५, ९८;

३—भागवत् न्याय्यमाहैतत् यथावद् धर्म निश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते इयं विधिर्मया।
राजभिर्यद यथा कार्यं पुरावैतेन्न सशयः। यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थं चेत्।
वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो! सभा, ६, २–४।
दे० कर्णपर्व, ६९, ५९ धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। दे० यही पुस्तक अ० ३।

४—दे० रतीलाल, एन० मेहता, क्राइम एंड पनिश्मेंट इन दी जातकाज, इंडियन हिस्टरिकल क्वार्टली, १२, ३, १९३६। अर्थशास्त्र और मनुस्मृति पर दे० सलेटोर, पृ० ४५९–४७३।

इस विषय में हम बहुत थोड़ी सी वातों का निर्धारण करने की स्थिति में है।[1] उक्त विद्वान् की यह सम्मति केवल आंशिक रूप में ही सत्य है। महाभारत में आर्यों के राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक जीवन के विषय में जितने भी तथ्य उपलब्ध हैं और उनके आधार कानून, अपराध एवं दण्ड व्यवस्था आदि से सम्बन्धित जितनी विपुल सामग्री प्राप्य है वह एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का स्रोत बनने के लिए सर्वथा पर्याप्त है। प्रस्तुत निवन्ध में ग्रन्थ-विस्तार के भय से केवल उसका दिग्दर्शनमात्र संभव है।

महाभारत में वर्णित विधि एवं न्याय से सम्बन्धित विचारों के महत्त्व के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि महाभारतीय विचारधारा में न्याय ही धर्म का वह पहलू है जो वस्तुतः राज्य के अस्तित्व और जन-जीवन की रक्षा का मूल मंत्र है। भारतीय राजनीतिक-तत्त्वदर्शन एवं संस्थाओं के विकास में इन विधि एवं न्याय सम्बन्धी मान्यताओं को जो श्रेय प्राप्त है उसको देखते हुए उनके गुण-दोषों एवं सफलता-विफलताओं का मूल्यांकन करने के लिए परवर्ती रोमन मान्यताओं या आधुनिक पाश्चात्य धारणाओं को मापदण्ड बनाना ठीक न होगा, यद्यपि यह माना जाता है कि प्राचीन भारत में न्याय-सम्बन्धी मान्यताओं के प्रवर्तक भारतीय आर्य और पाश्चात्यों के पूर्वज आर्य शायद एक ही वंश के थे। भारत में कानून और व्यवस्था के प्रश्न के विषय में शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना कहीं अधिक तर्कसंगत होने के कारण अपेक्षित है, क्योंकि भारतीयों के अतिरिक्त आर्य जाति की किसी और शाखा के लोग संसार को ऐसी स्वर्णिम मान्यता देने में असमर्थ रहे हैं जो भारतीयों ने 'धर्म' के रूप में दी है और जिससे प्राचीन भारत में न्याय सम्बन्धी विचार प्रवाहित हुए हैं।[2] विधि (कानून) तथा न्याय के सम्बन्ध में जो मूलभूत सिद्धान्त वेदों और धर्मशास्त्रों में निहित हैं उनके सुदीर्घ, विस्तृत एवं विविध क्रमिक विकास के क्षेत्रों का अनुशीलन तथा विधि एवं न्याय की मान्यताओं और संस्थाओं का विस्तार-पूर्वक विवरण देना अपने प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से विषयान्तर हो जायगा।[3] अतः यहाँ हम 'राज्य' की स्थिति को सुस्थिर बनाने वाली राजनीतिक संस्थाओं में विधि एवं न्याय की संस्था के महत्त्वपूर्ण योगदान को दृष्टि में रखते हुए ही उसके प्रमुख पक्षों पर विचार करेंगे।[4]

विधि का राजनीतिक पक्ष, इसका स्वरूप, उद्देश्य और कार्य—

प्रश्न यह है कि क्या विधि एवं न्याय को राजनीतिक संस्था मानकर उन पर

१—हार्प्किंस, पृ० १३१।

२—डा० भास्कर आनन्द सलेटोर, एँश्यैण्ट इंडियन पोलिटिकल थाट एण्ड इंस्टीट्यूशन्स, भाग ५, अ० ६, पृ० ४५६।

३—उक्त विषयों में दे० महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे, हिंस्टरी आफ् धर्मशास्त्र, जिसकी मान्यताओं को हमने पहले भी पर्याप्त प्रचुरता से उद्धृत किया है।

४—उक्त विचारों को प्रस्तुत करने की शैली के लिये मैंने डा० भा० आ० सलेटोर का अनुकरण किया है।

विचार करना युक्तियुक्त होगा। हम प्राचीन भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन में राज-संस्था के उदय और विकास पर विचार करते हुए रक्षामूलक सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए यह कह चुके हैं कि लोक का धारण (भरण-पोषण) करने वाली यह रक्षा दण्ड-व्यवस्था के बिना असम्भव है।[1] धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करने वाली राजशक्ति के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि 'दण्ड' के शासन को लागू किया जाय वहाँ यह देखना भी अनिवार्य है कि ये शासनादेश धर्म या न्याय की सीमाओं का अतिक्रमण न करते हों। यही विधि (कानून) या धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पक्ष है। जहाँ एक ओर यह राज्य का सुदृढ़ समर्थक है वहाँ दूसरी ओर यह राज्य की प्रभुता की सीमाओं का नियन्त्रण और निर्धारण भी करता है। समाज में मत्स्य-न्याय की परिस्थितियों को दूर करके मानव-जीवन की उन सामान्य और स्वाभाविक परिस्थितियों का निर्माण करना ही राज्य, राजा, दण्ड-व्यवस्था और दाण्डिकों (न्यायाधीश) का कर्त्तव्य हैं जिनमें समाज के सभी लोग धर्म के अनुसार एक दूसरे की रक्षा करते हुए सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। धर्म का यह शासन और सार्वजनिक सुरक्षा महाभारतीय न्याय-व्यवस्था का सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है।[2] अन्य मानवीय संस्थाओं में राज-संस्था को केवल इसीलिए श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि वह समाज को उसके परम्परागत एवं शास्त्रीय विधियों (धर्मों) का पालन करने के लिए प्रेरित एवं बाध्य करता था[3]। अतः उसके द्वारा स्वयं उनका उल्लंघन करना निसर्गत सर्वथा अवैध था। राज्य के द्वारा समाज के नष्ट होते हुए शाश्वत धर्मों की फिर से प्रतिष्ठा और प्रवर्तन किया जाता था। राज्य वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था (वर्णाश्रमधर्म) जैसी सामाजिक संस्थाओं की रक्षा करना था।[4]

विधि एवं राज्य

इस प्रकार राज्य का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित एवं सीमित था। यदि समाज के कतिपय विधियों (कानूनों) का परिवर्तन, संशोधन या परिवर्धन करने की आवश्यकता होती थी, तो कोई विद्वान् मनीषी ऋषिमुनि ही वैसा प्रस्ताव समाज के सामने रखकर नयी मर्यादा का निर्धारण कर सकते थे, तभी वह समाज के द्वारा स्वीकृत और राज्य के द्वारा कार्यान्वित किया जाता था।[5] मानव जीवन का एक बहुत बड़ा भाग राज्य

१—यही पुस्तक, अ० ६, 'दण्ड'; दे० यही पुस्तक अ० ३ 'राज्य की उत्पत्ति एवं विकास'।

२—नवै राज्यं न राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ शान्ति, ५६, १४।

३—सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोक श्रेष्ठं सनातनम्। शान्ति, ६४, ३०।

४—नष्टा धर्माः शतधा शाश्ववतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः। शान्ति, वही, २६।

५—ऋषि अणीमाण्डव्य ऋषि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु के द्वारा प्राचीन विधियों के स्थान में नये विधियों के निर्माण की चर्चा हम आगे करेंगे, यही पुस्तक।

के प्रभाव क्षेत्र से विल्कुल बाहर ही था। चारों आश्रमों में से केवल एक गृहस्थाश्रम से राज्य का सीधा सम्बन्ध था अन्य तीन आश्रमों का राज्य से प्रायः सीधा कोई सरोकार ही न था। सामाजिक व्यवस्था राज्य के द्वारा निर्मित्त या व्यवस्थापित होने की अपेक्षा प्रत्युत अपने विधान के अनुसार ही राज्य को कार्य करने के लिए बाध्य करती थी :

सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिए सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तिशः उनके घटकों का अपने-अपने क्षेत्रों में दूसरी संस्थाओं और व्यक्तियों के हित और विकास को हानि न पहुंचाते हुए, अपने अपने कर्त्तव्यों (स्वधर्म) का पालन आवश्यक है। तभी सम्पूर्ण समाज सामाजिक और आर्थिक सुव्यवस्था, सुरक्षा और प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। महाभारतकार ने मनु आदि धर्मशास्त्रकारों की तरह इस स्वधर्म के सिद्धान्त पर वहुत अधिक वल दिया है। प्राचीन भारत के संविधानशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि सामाजिक व्यवस्था और सुरक्षा को वनाये रखा जाये या उसे नष्ट भ्रष्ट कर डालने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी दिशा में स्वच्छन्द आचरण करने की छूट दे दी जाय। मानव स्वभाव की अधोगामिनी प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं को भी दृष्टि में रखते हुए मानवजगत् को निरन्तर अवनति के गर्त की ओर अग्रसर होने से वचाने के लिए इन धर्मशास्त्रियों ने स्वधर्म और और वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करके राज्य के लिए यह नियम वनाया था कि वह अपनी भौतिक शक्तियों और सामर्थ्य के द्वारा उक्त धर्म को कठोरतापूर्वक पालन कराये।[1]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट अनुमेय है कि समाज से धर्म का पालन कराने के लिये राजसत्ता भी अपने स्वधर्म का न्यायपूर्वक पालन करे। अतः यह कहना आवश्यक है कि सांविधानिक दृष्टि से भारतीय विधि एवं न्याय-व्यवस्था में उन निरंकुश प्रवृत्तियों के लिये कोई अवकाश ही नहीं है जिन्हें प्रायः 'प्राच्य निरंकुशवाद' (अं० ओरियण्टल डैस्पोटिज्म') का नाम दिया जाता है। सिद्धान्तः धर्म न केवल राजसत्ता से ही, समाज और जनता से भी—सभी से ऊँचा माना गया है। भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन इसी सर्वोच्च सत्ता, भावात्मक दिव्य प्रभुता, अथवा स्वाभाविक विश्वजनीन व्यवस्था के द्वारा निर्धारित तथा उसी से सम्मत विधियों एवं आचार संहिताओं में सनातन आस्था और श्रद्धा प्रकट की गई है।[2] शान्तिपर्व में समाज में व्याप्त मात्स्य-न्याय की अवस्थापूर्ण एवं दुर्भाग्यभरी परिस्थितियों का निराकरण करने के लिए तथा मानव जीवन के पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि का मार्ग मानवमात्र के

१—जे० गांगुली, फिलासफी आफ् धर्म, द्वितीय, इंडियन हिस्टरिकल क्वार्टर्ली, पु० २, अनुक्रमांक ४, १९२६, पृ० ८११–१२। दे० यही पुस्तक स्वधर्म सम्वन्धी मान्यताओं के विषय में यही पुस्तक, अ० २।

२—दे० धर्म और राज्य के परस्पर सम्वन्ध के विषय में यही पुस्तक, अ० ३।

लिए प्रशस्त करने के लिए ब्रह्मा के द्वारा एक लाख अध्यायों वाले महान् संविधान ग्रन्थ का निर्माण किए जाने की चर्चा की गई है तथा इन्हीं के मानव समाज के हित के लिए संक्षिप्त करके दंडनीति के नये संस्करण के रूप में प्रस्तुत किये जाने तथा इन्हीं के अनुसार शासन करने के लिए अर्थात् कदापि स्वच्छन्दता का आचरण न करते हुए (स्ववशो न कदाचन) इन्हीं का पालन करने और कराने के लिए राजसत्ता के वचनवद्ध होने का वर्णन किया गया है।[1] 'प्रजाओं पर राग और द्वेष के वश होकर धर्म के विपरीत शासन करने वाले (विधर्माणम्) वेन के ब्रह्मवादी ऋषियों के द्वारा मार डाले जाने के उपाख्यान से विधि की सत्ता के राजा से भी ऊपर होने का प्रमाण मिलता है। यह स्थिति पाश्चात्य जगत् की उन राजसत्ताओं की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि 'राजा गलती कर ही नहीं सकता' (अं० 'किंग कैन डू नो रौंग') और इसलिये इङ्गलैण्ड जैसे देशों में भी उसे राज्य के सामान्य न्यायालयों में दण्ड पाने के लिये उपस्थित नहीं किया जा सकता।[2] भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन में राजा न केवल स्वयं धर्म के विरुद्ध आचरण करने पर दण्ड का अधिकारी है, अपितु धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले अन्य समाजविरोधी तत्त्वों को उचित दण्ड देने में असफल या असमर्थ रहने पर न केवल उस अपराध या पाप का करने वाला ही अपितु उसकी ही तरह राजा भी अंशतः उस पाप के लिए उत्तरदायी और दण्ड का भागी है। इसीलिए चोरी हो जाने पर चोरों का पता लगाने एवं उन्हें पकड़ने तथा चोरी गये धन को वापिस लाने में शासनतन्त्र के सफल न होने पर राजा को उक्त चोरी के लिए अंशतः उत्तरदायी मानते हुए राजकोष से उसकी क्षतिपूर्ति का विधान किया गया है।[3] आज के सुसभ्य और सुसंस्कृत माने जाने वाले और वैध शासन के लिए विश्व के प्रसिद्ध आधुनिक राष्ट्रों में भी इस प्रकार की मानवीयता के पूर्ण एवं उन्नत दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था के दर्शन नहीं होते।

ऐतिहासिक विकास

भारतीय न्याय-व्यवस्था का इतिहास अतीव प्राचीन है। वैदिक काल में राजा

१—शान्ति, ५९, ३० आदि मानवीय कानून के दिव्य स्रोतों से उत्पन्न होने की धारणा सर्वसामान्य है। परमेश्वर के द्वारा निर्दिष्ट नियम और विधि, अंशतः मानवीय विधि भी माने जाते हैं। यद्यपि पाखण्ड और ईश्वरनिन्दा ईश्वर के विरुद्ध अपराध हैं किन्तु इन्हें आज भी अनेक देशों में राज्य के विरुद्ध अपराध माना जाता है।

२—दे० स्पैलमैंन, पृ० १०१ टिप्पणी।
एम गार्सिया, क्रिमिनल ला एण्ड प्रौसीजर, ८वां संस्करण, लन्दन, १९४६, पृ० ११।

३—शान्ति, ७५, १०।

ही न्यायाधीश के नाते अपने जनता के लिए नितान्त कल्याणकारी कर्त्तव्य का पालन स्वयं करता था। सम्भवतः दण्ड-व्यवस्था में राजा के इस अतिशय महत्त्व के कारण ही उस काल में दण्ड विधान का वैसा विकास नहीं हुआ जैसा परवर्ती काल में धर्म-सूत्रों में दिखाई देता है। दोनों प्रकार के विधि और न्याय-व्यवस्था की ओर किए गए संकेतों से यह भी पता लगता है कि उस काल में भी न्यायालय सम्बन्धी मान्यताओं का कुछ विकास हो चला था। परन्तु वैदिक साहित्य में न्यायालय किसी पृथक संस्था का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि दण्डविधान और पुनर्विचार (अपील) से सम्बन्धित न्याय-व्यवस्था स्वयं राजा के द्वारा ही सम्पादित होती थी। न्याय-व्यवस्था राजा का ही एकाधिकार थी। न्याय-व्यवस्था में उसका साथ देने के लिए 'सभा' जैसी कोई संस्था नहीं थी।

राजा दो प्रकार के अभियोगों पर विचार करता था, दण्ड सम्बन्धी (फौजदारी) और व्यवहार सम्बन्धी (दीवानी)। दण्ड-व्यवस्था इतनी कठोर थी कि ठगी या धोखे जैसे अपराधों के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता था। ऐसे ही अन्य घोर अपराधों में भ्रूण-हत्या, वीर-हत्या और ब्राह्मण-हत्या आदि होते थे। व्यवस्था वड़ी सरल थी। अन्य कोई न्यायाधीश न होने के कारण राजा की आज्ञा के अनुसार ही उक्त अपराधों के अपराधियों को तथा चोरी करने वालों के अपराधों का पता लगने और उनके अपराधी प्रमाणित हो जाने पर, मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। व्यवहार-सम्वन्धी (अं०सिविल) अभियोग भी वड़े सरल ही होते थे। सम्पत्ति के बटवारे से सम्बन्ध रखने वाले विवाद चलसम्पत्ति-सम्वन्धी तथा भूमि की प्राप्ति तथा विक्रय के मामले तथा ऋण और श्रम से सम्बन्धित प्रश्न ही प्रमुखतया प्राचीन साहित्य में संकेतित मिलते हैं[1]।

अधिकृत साक्ष्य के आधार पर महाशय सलेटोर का यह कथन है कि 'यह विश्वास करना तर्कसंगत होगा कि वैदिक भारतीय लोग न्याय-व्यवस्था से सम्बन्धित वादी (अं० प्लेन्टिफ्, उ० मुद्दई), प्रतिवादी (अं० डिफैण्डैण्ट, उ० मुद्दाअलेह) तथा अभियोनक अं० प्रोसीक्यूटर) आदि की मान्यताओं से परिचित थे। क्योंकि वैदिक साहित्य में प्राप्त होने वाले इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त किए गये क्रमशः 'प्रश्निन्' 'अभि-प्रश्निन्' और प्रश्न विवाक शब्दों से यह सिद्ध होता है। ये नाम पुरुषमेध अथवा

१—दे० सलेटोर, पृ० ४६० तथा यहीं उद्धृत वैदिक इण्डैक्स, २, २१३; ऋग्० १, २२, १८; १६४, ४३, ५०; ३, ३, १; १७, १; ६०, ६; ६३, ७; अथर्व०, ११, ७,१७; १२, ५, ७; १४, १, ५१; वाजसनेयी संहिता, १०, २६; १५, ७; २०, ६; २० ६, तैत्तरीय सं०, ३, ५, २, २; दे० वैदिक इण्डैक्स, १, ३६०—३६२; वैबर, इण्डियन लिटरेचर, ७२—७३; पंचविंष ब्राह्मण, १४, ६, ८; 'छान्दोग्य उप०, ६, १६;

अश्वमेध की वलि किए जाने वाले के अन्त में दी गई वलियों की सूची में आये हैं[1]। विवादग्रस्त प्रश्न पर निर्णय की माँग करने वाले व्यक्ति के इस प्रकार की प्रार्थना करने को 'प्रश्नमेति' कहा गया है[2]। ऐतरेय ब्राह्मण में अभियोग के निर्णय का स्पष्ट उल्लेख है[3]। गवाह को 'ज्ञातृ' कहा जाता था[4]। मध्यस्था को 'मध्याशी' कहते थे[5]। विवादों में संशय का निराकरण करने के लिए मध्यस्थ या पंच के द्वारा 'प्रतिप्रश्न' किए जाने के उल्लेख मिलते हैं[6]। यजुर्वेद में ग्रामों के विवादों को सुनकर निर्णय देने वाले न्यायाधिकारी को 'ग्रामवादिन्' कहा गया है जिससे यह सिद्ध होता कि इस काल में ग्रामों के स्तर पर भी, सम्भवतः आत्मनिर्भर न्यायव्यवस्था का विकास हो चुका था[7]।

मनुस्मृति के काल तक आते-आते विधि एवं न्यायालय संबंधी मान्यताओं के पर्याप्त विकसित होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। मनुस्मृति में राज्य को आदेश दिया गया है कि वह बड़े विनीत वेष में ब्राह्मणों और अन्य शिष्ट विद्वानों के साथ न्यायालय में प्रवेश करे या उसकी अनुपस्थिति में तीन विद्वान् शिष्टों के सहयोग से कोई एक ब्राह्मण न्यायाधीश जनता के विवादों का निर्णय करे[8]। मनु ने राजा के स्वयं जनता कार्यों (अं० केस) पर विचार करते-करते थक जाने पर (कार्येक्षणे खिन्नः) अपने धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन एवं बुद्धिमान अमात्यमुख्य को न्यायालय के कार्य में नियुक्त

१—महाशय का० आ० सलेटोर, पृ० ४६०; दे० इसी विषय पर यहीं उद्धृत, वाजसनेयी संहिता, ३०, १०; तैत्त० ब्रा०, ३, ४, ६, १; वैदिक इण्डैक्स, १, ३९३; दे० सलेटोर पृ० ६५१ पादटिप्पणी क्रमांक, ७१७।

२—वैदिक इण्डैक्स, २, ४१–४२; तथा पृ० ४२ की टिप्पणी।

३—ऐ० ब्रा०, १०, ८, ८; वैदिक इण्डैक्स, २, ४२। ह्टिने, अथर्ववेद का अनुवाद पृ० ५९७।

४—अथर्ववेद, ६, ३२, ३; ८, ८. २१; कीथ, सांख्यायन आरण्यक, पृ० ६६ टिप्पणी (४) जिम्मर पृ० १८१; वैदिक इण्डैक्स १, २९०। सलेटोर, पृ० ४६०, ज्ञातृ शब्द का अर्थ जिम्मर ने गवाह माना है रौथ इसे जमानती का पर्याय मानते हैं, ह्विटने और ब्लूमफील्ड ने दोनों ही अर्थों को नही माना है। कीथ और मैकडोनल जिम्मर से सहमत हैं।

५—ऋग्वेद, १०, ९७, १२, अथर्व, ४, ९, ४, बाजसनेयी संहिता, १२, ८६; जिम्मर पृ० १८०, दे० सलेटोर पृ० ४६० पर लैनमैन, विटने का मत तथा वैदिक इण्डैक्स, २, १२७ टि० (४) तथा १२७–१२८ पर प्राध्यापक गैल्डनर का मत।

६—सलेटोर पृ०, ४६१।

७—तैत्तरीय सं०, २, ३, १, ३, वैदिक इण्डेक्स, १, २४८ पर उद्धृत।

८—मनु० ८, १; ८, ९–१०।

किए जाने का समर्थन किया है[1]। इससे यह स्पष्ट है कि इस काल तक न्याय-व्यवस्था राजा के एकाधिकार का विषय न रही थी, दण्ड और व्यवहार से सम्वन्धित मामलों तथा पुनर्विचार के कार्यों में भी योग्य एवं विद्वान् न्यायाधीशों एवं प्रमुख मन्त्रियों की नियुक्ति होने लगी थी। मनु ने १८ प्रकार के दण्डविधान का उल्लेख किया है[2]। ये शीर्षक हैं, ऋण, निक्षेप, स्वामी न होने पर भी सम्पत्ति को वेच देना, साझेदारी से धनोपार्जन, दिए हुए को छीन लेना, वेतन न देना, किए गये करार (अनुवन्ध) का तोड़ देना (संविदः व्यतिक्रमः) क्रय-विक्रय में पलट जाना, स्वामी और पशुपालन का विवाद, सीमा-विवाद, गाली-गलौज आदि वाणी की कठोरता, मार पीट (दण्ड-पारुष्य) चोरी, जवरदस्ती धन हर लेना (साहसम्), स्त्री का अपहरण या परपुरुषसंपर्क (स्त्रीसंग्रहणम्) पति-पत्नी के सम्वन्ध (स्त्रीपुंधर्मः) सम्पत्ति का वटवारा जुआ और पशुपक्षियों की वाजी लगाकर लड़ाई करना[2]। इन सभी विवादों के प्रकारों तथा मनुस्मृति में दिए गये साक्षियों की योग्यता आदि से सम्वन्धित विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल तक भारतीय न्याय-व्यवस्था एक पारस्परिक सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी[3]। परन्तु मनुस्मृति में भी राजसभा के उस महाभारतीय वैधानिक रूप की ओर कहीं संकेत नहीं है जव वह एक न्यायालय की तरह विवाद-ग्रस्त विपयों पर विचार करती थी[4]। अव यह कहना कठिन है कि मनु की न्यायसभा से महाभारत की राजसभा पूर्ववर्ती है या परवर्ती। इस प्रश्न के विवेचन के विस्तार को न वढ़ाते हुए हम यही कहेंगे कि महाभारतीय न्याय-व्यवस्था में हमें भारतीय न्याय-व्यवस्था के उस और अधिक पूर्ण और विकसित रूप की पृष्ठभूमि मिलती है जो आगे जाकर अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है। महाभारतीय न्याय-व्यवस्था सम्वन्धी मान्यताएँ निश्चितरूप से अर्थशास्त्रीय मान्यताओं से पूर्वतर्ती हैं यह तथ्य हमारे द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विवेचन से ही स्पष्ट हो जायगा।

महाभारतीय विधि एवं न्याय-व्यवस्था पर हम संक्षेप से निम्नलिखित शीर्षकों के द्वारा विचार कर सकते हैं:—(१) विधि के स्रोत एवं क्रमिक विकास, (२) दण्डनीति (३) कार्य-पद्धति, (४) दण्ड के प्रकार।

विधि एवं न्याय-व्यवस्था के स्रोत—

विधि एवं न्याय-व्यवस्था के राजनीतिक स्वरूप एवं महत्त्व पर विचार करते हुए हम इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में कह चुके हैं कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था

१—वही, ७, १४१।

२—वही, ८, ३–७।

३—देखिये मनु० अ० ८ तथा महामहोपाध्याय काणे, वही पुस्तक ३, पृ० २६८ पर अन्य स्थलों पर की गई अधिकृत व्याख्या। विशेप रूप से देखिए मनु०८, २१६, २२२ तथा २४१।

४—दे० वही पुस्तक अ० ७, १।

के रूप में यह व्यवस्था भारत में अतिप्राचीन काल से प्रचलित हैं और भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन में इसे धर्म के अन्तर्गत माना गया है। इस संस्था की सर्वथा लौकिकता में तो कोई संदेह हो ही नहीं सकता परन्तु प्रायः इसी प्रकार की अन्य अति प्राचीन साश्वत मानवीय संस्थाओं की तरह सम्भवतः इसकी प्राचीनता और फलतः निहित पवित्रता के आधार पर या इसके महत्त्व की प्रतिष्ठा और अनुल्लंघनीयता की प्रस्थापना करने के लिये इसे भी भगवान् प्रजापति के द्वारा रचित माना गया है। मानवीय संस्थाओं की दिव्य उत्पत्ति में विश्वास न केवल भारत में ही अपितु सम्पूर्ण विश्व की संस्कृतियों में किया गया हैं। समाज की उस दशा का वर्णन करते हुए जब वह राजनीतिक एवं साँविधानिक दृष्टि से सुगठित नहीं हुआ था शान्तिपर्व में कहा गया है कि 'न तो राज्य ही था और न राजा ही न दण्ड (कानून) ही था और न उसके अनुसार अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था करने वाला दण्डाधिकारी ही (दाण्डिकः); सभी लोग (प्रजाः सर्वा) आपस में मिलकर धर्म के अनुसार एक दूसरे की (धर्मेण······ परस्परम्) रक्षा करते थे।[1] इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत का यह 'धर्म' यूरोपीय मान्यता के 'नैसर्गिक कानून' (अं० नैचुरल ला) के समान उस समय तक सामाजिक जीवन का नियमन करता जब तक जीवन की जटिल परिस्थितियों और मानव-हृदय की काम, क्रोध, मोह तथा लोभ आदि दुर्बलताओं ने उस स्वाभाविक व्यवस्था को अस्तव्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर डाला। तब मत्स्य-न्याय की उन भयंकर परिस्थितियों में एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रजापति ने एक लाख अध्यायों वाले दण्डनीति के विशाल ग्रन्थ[2] का प्रणयन किया जो कालान्तर में मनुष्य जाति के कल्याण के लिए भगवान् शिव के द्वारा संक्षिप्त किया गया और इसी दण्ड विधान के अनुसार प्रजाओं का शासन, और पालन करने के लिए दाण्डिक के रूप में राजपद की सृष्टि की गई[3]। शान्ति पर्व में ही आगे चलकर राज्य की उत्पत्ति के विषय में किए गए युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए पितामह भीष्म ने बतलाया है हमने यह सुना है कि पहले जब राजा व राज्य न थे (अराजकः) तब प्रजा नष्ट होने लगी जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार सबल दुर्बलों को लूटने लगे फिर उन्होंने एक होकर (समेत्य) कुछ नियम बनाये (समयान् चक्रुः) अथवा अनुबन्ध किए। 'हम लोगों में से जो भी निष्ठुर बोलने वाले, भयानक दण्ड देने वाले (दण्डपरुषः) परस्त्रीगामी तथा पराये धन का अपहरण करने वाले हों ऐसे सब लोग त्याज्य माने जायें

१—शान्तिपर्व, ५६, १४।

२—ततोऽध्यायसहस्राणा शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्। शान्ति ५९, २९; दे० वनपर्व, १८३, ६३, ससर्ज धर्मतंत्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः।

३—दे० यही पुस्तक, अ० ६ परिच्छेद १।
राज्य की दिव्य उत्पत्ति तथा अनुबन्ध मूलक उत्पत्ति के विषय में विस्तृत विचार विमिर्श के हेतु देखिए। यहीं० पृ० अ० ३।

अर्थात् उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय'। कहा गया है कि 'सभी वर्णों में विश्वास निर्माण करने के लिए इस प्रकार के सामान्य (अविशेषत:) नियम बनाकर वह सब लोग उसी नियम अथवा प्रतिज्ञा के अनुसार (समयेन) व्यवहार करते रहें'[१]। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवन्ध भी उक्त विवरण से विधि (कानून) की उत्पत्ति के स्रोतों की दृष्टि से यह वात सवसे पहले स्पष्ट हो जाती है कि अति प्राचीनकाल में ही सामूहिक सामाजिक सत्ता ने ही आपस में ही वचनवद्ध होकर कुछ नियमों का निर्धारण और पालन करते हुए[२] तथा उनका पालन न करने वालों को वहिष्कार के रूप में दण्डित करते हुए विधि के प्रारम्भिक रूप को जन्म दिया[३]। समाज के राजनीतिक दृष्टि से संगठित होने से पहिले अर्थात् राजा एवं राज्य की सत्ता के उत्पन्न होने से पहिले ही विधि के समूह रूप में समाज द्वारा स्वीकृत उक्त प्रारम्भिक रूप का अस्तित्व इस प्रकार सिद्ध हो जाता है। दूसरे, राजा का मूलरूप में विधि के निर्माण से कोई सम्वन्ध नहीं है। अपितु महाभारतीय विचारधारा के अनुसार वह विधि के अधीन होकर ही निष्पक्ष शासन करते हुए समाज की रक्षा करने के लिए वाध्य है। तीसरे, राजा का उत्तरदायित्व समाज के कानूनों का पालन कराना मात्र है और चौथे, इसी विधि की सत्ता राजा के जीवन का भी नियन्त्रण करती है। वह भी स्वधर्म का उल्लंघन नहीं कर सकता। वह विधि से ऊँचा नहीं है। अपितु वह विधि के हाथों में एक सशक्त साधन है जिसके द्वारा मानव स्वभाव की अधोगामी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखते हुए वह (विधि) समाज का नियमन करता है।

(२) प्राचीन भारत का दण्ड-विधान और दण्ड-व्यवस्था और उसके मूलभूत धर्म या विधि के उद्भव और विकास के क्षेत्र में ऋषियों का योगदान अति महत्त्वपूर्ण है। ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा जाता है। वेदों और शास्त्रों का सम्पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान ऋषियों के माध्यम से ही प्रत्यक्ष हुआ है। महाभारत में अनेक स्थलों पर वेदों और शास्त्रों के प्रामाण्य की घोषणा की गई है और उन्हें धर्म का स्रोत मानते हुए राजा और उसके अधिकारियों के लिए ही नहीं सम्पूर्ण समाज के लिए उनका अध्ययन और ज्ञान आवश्यक माना है[४]। 'धर्म के निर्णय के लिए वेदों और शास्त्रों के उस विद्वान्

१—शान्तिपर्व, ६७, १७—१९।

२—शान्ति ६७, १७–२१। तथा ५९, १४ 'धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः'।

३—शान्ति, ३६, ३० में उन व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है जो किसी गण या ग्राम के द्वारा दोषी ठहराये गये हों (गणग्रामभिशप्तानाम्)। यहाँ ऐसे लोगों का अन्न ग्रहण करना योग्य नहीं है, यह कहा गया है।

४—कुलीनान् सचिवान् कृत्वा वेदविद्या समन्वितान्।
प्रशाधि पृथिवीं राजन् प्रजा धर्मेण पालयन्॥ शान्ति, १४२, ३०;
ब्राह्मण आदि वर्णों के लिए शास्त्रज्ञान की आवश्यकता के विषय में देखिए, यही पुस्तक, अ० ४, सभासदों और मन्त्रियों तथा अधिकारियों के लिए, यही पुस्तक अ० ७।

या धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करने वाले तीन व्यक्ति जो भी कहें वही निर्णय सामने आये हुए विवाद के विषय में (कार्यं उत्पन्ने) प्रमाण (धर्मः) माना जाय' यह कहते हुए महाभारतकार ने वेदों तथा धर्मशास्त्रों के विधि सम्बन्धी महत्त्व को स्वीकार किया है[1]। शान्तिपर्व के १४२ वें अध्याय में महाभारतकार ने राजा को सावधान करते हुए कहा है कि वह शास्त्रों के दोष ही देखने वाले, अर्थशास्त्रों के ज्ञान को समीचीन न मानने वाले, अपरिपक्वमति, अकुशल और अयुक्ति संगत होने के कारण शास्त्रनिन्दा करने वाले तथा अर्थशास्त्रों की विषमता को प्रसिद्ध करते हुए शास्त्रों की प्रामाणिकता पर डाका डालने वाले तथा अपनी जीविका के स्वार्थ से एवं चारों ओर अपना व अपनी विद्या का यश फैलाने के लिए मूलविद्या की निन्दा करने वाले पापियों और धर्मद्रोहियों से दूर रहे। कहा गया है कि ऐसे व्यक्तियों को विद्या का व्यापार करने वाले (विद्यावणिजः) तथा राक्षसों के समान परद्रोही समझा जाय। उनकी बहाने बाजी से सत्पुरुषों द्वारा प्रतिपादित एवं आचरित धर्म नष्ट हो जायगा[2]। महाभारतकार का यह मत है कि राजा सत्यज्ञान सम्पन्न सज्जनों के ही ज्ञान को सोच समझकर ग्रहण करे[3] क्योंकि कितने ही लोग तो यथार्थ ज्ञानी (अमिथ्याज्ञानिनः) होते हैं और कुछ लोग निरे (मिथ्याविज्ञानिनः)। यही आगे चलकर महाभारतकार ने शास्त्रवचन के साथ-साथ तर्क (बुद्धि) को भी समानरूप से प्रमाण मानते हुए उसकी पुष्टि के लिए बृहस्पति के मत को उद्धृत किया है[4]। और साथ ही शुक्राचार्य के मतों को भी उद्धृत करते हुए कहा है कि 'वेद शास्त्रों से अनुमोदित, तर्कयुक्त बुद्धि के द्वारा जो बात कही जाती है, उसी शास्त्र की प्रशंसा होती है और वही बात लोगों के मन में ठीक बैठती है (साधु मन्यते)। अज्ञात विषय के ज्ञान के लिए केवल तर्क को ही श्रेष्ठ मानना भी नासमझी है[5]। अतः न केवल शास्त्र और न केवल बुद्धि ही धर्म का निर्णय करने में प्रमाण मानी जाय। दोनों के यथायोग्य बुद्धिसम्मत सामंजस्य को ही महत्त्व दिया जाय। इसीलिए राजशास्त्र के प्रणेता विद्वान् पुरुषों के नामों का स्मरण महाभारतकार ने बड़े आदर और पूजाभाव से किया है विशालाक्ष, बृहस्पति, शुक्र, इन्द्र, मनु, भरद्वाज तथा गौरशिरा आदि ब्रह्मवादी ऋषियों के मतों को प्रमाण मानने की प्रेरणा महाभारत में स्पष्ट शब्दों में दी गई है[6]।

१—शान्ति ३६, २० दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा वेदपाठकाः।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्म संशये ॥

२—वही, १४१, ११–१६।

३—वही, १४२, १०।

४—शान्ति, १४२, १७।

५—शान्ति, १४२, २१–२२।

६—विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥
भरद्वाजश्च भगवान् तथा गौरशिरा मुनिः।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ शान्ति, ५८, १-३

महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष से भी यह स्पष्ट है कि परम्परा प्राप्त भारतीय विधि-व्यवस्था में अनेक ऋषियों ने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और परिवर्धन करके नई मर्यादाओं की स्थापना की आदिपर्व में दीर्घतमा नाम के अन्धे ऋषि ने अपनी पत्नी प्रद्वेषी के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर अपने अनुभव को कानून के रूप में प्रकट करते हुए नियम बनाया कि 'आज से लेकर मैंने लोक में यह मर्यादा स्थापित कर दी है कि आजीवन नारी का एक ही पति होगा। उसके जीते रहने पर या मर जाने पर भी नारी को दूसरे पुरुष को पति के रूप में प्राप्त करने का अधिकार न होगा। यदि कोई नारी पर-पुरुष के सम्पर्क में आयेगी तो वह पतिता मानी जायेगी"[1]। यही १०८वें अध्याय में ऋषि अणी माण्डव्य ने अपने बचपन के किए गये छोटे से अपराध के लिए भीषण दण्ड पाने पर, धर्म के उत्तर से असहमति और उद्वेग प्रकट करते हुए नियम बनाया कि बच्चों को १४ वर्ष की आयु तक किए गये पापपूर्ण कार्यों को अपराध नहीं माना जायगा। परन्तु १४ वर्ष की आयु के पश्चात् किए गये दुष्कर्म को दोष माना जाया करेगा[2]। इसी प्रसंग में उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु के द्वारा बनाये गये कानून का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। यह मनोरंजक गाथा महाराज पाण्डु ने कुन्ती को नियोग से सन्तान उत्पन्न करने के लिए समझाते हुए प्रसंगवश सुनाई है[3]। कहा गया है कि एक बार श्वेतकेतु की माता का हाथ पकड़कर एक ब्राह्मण उसे अपनी वासना की तृप्ति के लिए जबरदस्ती ले जाने लगा। श्वेतकेतु अपनी मां के इस अपमान को सहन न कर सके और उन्होंने अपने पिता उद्दालक से शिकायत की। ऋषि उद्दालक ने परम्परागत विधि का हवाला देते हुए ब्राह्मण की उक्त चेष्टा को वैध बताया और उक्त प्रसंग में अपनी असमर्थता प्रकट की। परन्तु श्वेतकेतु ने बहुपति प्रथा की समर्थक परम्परा के अनुसार प्रचलित कानून (धर्म) के विरुद्ध अपने निर्णय की घोषणा करते हुए एक पति-प्रथा का कठोरता से पालन किए जाने का नियम निर्धारित किया। उन्होंने नारी और पुरुष के सम्बन्धों के विषय में नई मर्यादा स्थिर की[4]। श्वेतकेतु ने पति और पत्नी के दाम्पत्य-जीवन में एक दूसरे के प्रति अचल निष्ठा और व्रत का होना अनिवार्य बनाना उचित समझा। पहले स्त्रियाँ किसी से पर्दा न रखती थीं (अनावृताः) और जैसे चाहें जिस किसी के साथ विहार कर सकती थी और स्वतन्त्र थीं[5]। परन्तु उक्त व्यवस्था के विरुद्ध श्वेतकेतु ने कहा कि 'अपने पति का अतिक्रमण करके परपुरुष के साथ रमण करने वाली नारी को भ्रूणहत्या का सा

१—आदि, १०४, ३४–३५।

२—आ चतुर्दशकाद् वर्षाद् न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेव दोष एव भविष्यति ॥ आदि १०८, ९।

३—आदि०, १२२।

४—ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे।
चकार चैव मर्यादामित्रां स्त्रीपुरुषोर्भुवि ॥ आदि, १०५, १७।

५—आदि, १२२, ४।

दुखकारी घोर पातक लगेगा अर्थात् उसका वह कार्य भ्रूणहत्या के समान अपराध माना जायगा। इसी प्रकार कुमारावस्था से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली पतिव्रता पत्नी का अतिक्रमण करके परनारी से सम्बन्ध रखने वाले पति को भी उतना ही अपराधी और पातकी माना जायगा[1]। उक्त उपाख्यानों से यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि आवश्यकता होने पर ऋषियों के द्वारा पहले कानूनों में परिवर्तन संशोधन तथा परिवर्धन भी किया जाता था। ऋषि लोग पहले कानूनों की त्रुटियों और दोषों को दूर करते थे और नई परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार नये नियमों का निर्धारण भी करते थे दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ने दैत्यों में अति प्रचलित मदिरापान के व्यसन की निन्दा करते हुए नये मद्यनिषेध के विधि का प्रतिपादन किया[2]। उन्होंने निश्चित किया 'आज से जो मन्दवुद्धि ब्राह्मण अज्ञानवश सुरा-पान करेगा, वह धर्म भ्रष्ट और इह लोक परलोक में गर्हित माना जायगा तथा वह ब्रह्महत्या का अपराधी होगा[3]। इस प्रकार ऋषियों तथा साधु-सन्तों के द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं को कानूनी पद देकर स्वीकार किए जाने के अनेक उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। उक्त परम्परा का दार्शनिक आधार भीष्म पर्व में भगवान् कृष्ण के इस वाक्य में मिलता है। कहा गया है श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करता है उसी प्रकार अन्य लोग भी किया करते हैं। उसके मत के अनुसार जो कुछ 'प्रमाण' मान लिया जाता है जनता उसी के अनुरूप आचरण करती है[1]।

परम्परागत 'धर्म' (कानून)

महाभारतकार ने भी देश और कुल के परम्परागत 'धर्मों' को राज्य द्वारा स्वीकृति प्रदान करते हुए उन्हीं के अनुसार प्रजाओं का पालन करने का राजा को आदेश दिया है। शान्तिपर्व में पितामह भीष्म कहते हैं, 'हे वीर युधिष्ठिर, जो राजा देशधर्मों और कुलधर्मों का पालन करता है वह सम्पूर्ण आश्रमों का भी रक्षक होता है[4]।' उदाहरण वन पर्व में द्रौपदी के द्वारा सत्यभामा के प्रति कहे गये वाक्यों में उपलब्ध होता है। द्रौपदी ने वतलाया है कि किसलिए पाँचों पाण्डव उससे इतने सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। वह कहती है 'मेरी सास (कुन्ती) ने पहले से ही कुटम्बों में चले आये जिन भिक्षा, वलि, श्राद्ध आदि तथा पर्वों पर स्थालीपाक एवं माननीय और आदरणीय पुरुषों का आदर-सत्कार आदि धर्म वतलाए है और अन्य जितने

१—वही, १२२, १७–१८।
२—वही ७६, ६६–६७।
३—दे० मनु० ८, ४१,
जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुल धर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥
४—देशधर्मांश्च कौन्तय कुलधर्मास्तुपैव च।
पालयन् पुरुपव्याघ्र! राजा सर्वाश्रमान् [illegible] ॥ शां०, ९९, २९।

कुछ मुझे ज्ञात हैं उनके अनुसार ही मैं रात दिन विना आलस्य के (अतन्द्रिता) आचरण करती हूँ।'[1] कुटुम्बों में सनातन काल से चली आई इन परम्पराओं या कुल–धर्म को किसी भी मूल्य पर नष्ट न होने देने का विचार महाभारत में वार–वार अभिव्यक्त किया गया है।[2] भीष्मपर्व में कृष्ण के प्रति कहे गये अर्जुन के वाक्यों में कुल धर्मों को शाश्वत और सनातन तथा सदा ही रक्षा करने योग्य वतलाया गया है। युद्ध की विभीषिकाओं पर प्रकाश डालते हुए अर्जुन ने अपने ही कुटुम्बियों का वध करके कुल का नाश कर डालना वड़ा अनिष्टकर वतलाया है; क्योंकि 'कुल के नष्ट होने पर सनातन काल से चले आये कुल–धर्म नष्ट हो जायेंगे और धर्म के नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुल अधर्म–ग्रस्त हो जायेगा।[3]

आप्त-पुरुषों का अनुसरण

प्राचीन भारत में परम्परा के प्रति अतिशय आदर की भावना ने धर्म या कानून के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण तत्कालीन जनता में बना दिया था अतः यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आप्त या साधु-पुरुषों के आचरण का अनुसरण भी धर्म मान कर किया जाता। कई एक प्रसंगों में तो महाभारतीय संस्कृति, सौन्दर्यवोध और विवेक के द्वारा सामान्यतया निन्दित परम्पराओं को भी केवल इसीलिए मान्यता प्राप्त हो जाती थी कि वैसी प्रथा चली आई होती थी। आदि-पर्व में शल्य के द्वारा अपनी बहन माद्री का विवाह पाण्डु से करने के लिए शुल्क के रूप में वहुत सा धन माँगे जाने पर भीष्म ने उसे सावधान करते हुए स्मरण दिलाया कि उसकी यह माँग ठीक नहीं है क्योंकि साधु पुरुषों के आचरणों और मतों से द्वारा स्थापित मर्यादा इसके विरुद्ध है।[4] परन्तु शल्य ने उक्त परम्परा को अपना कुलधर्म वतलाते हुए सर्वथा प्रमाण एवं पालनीय (प्रमाणं परमं च तत्) सिद्ध किया।[5] इसी प्रकार द्रौपदी के पिता महाराज द्रुपद और उसके भाई धृष्ट-द्युम्न के द्वारा पाँचों पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह की वैधता के विषय में आशंका प्रकट किए जाने पर युधिष्ठिर ने पुराणों से एक तपस्विनी जटिला गौतमी का उदाहरण दिया है। उसने सात ऋषियों को पति के रूप में स्वीकार किया था।[6] यहीं युधिष्ठिर ने उक्त वहुपतिप्रथा को उत्तर कुरु प्रदेश में उस काल में

१—ये च धर्माः कुटुम्वेषु······दिवारात्रमतन्द्रिता० आदि, वन० २३३।
    दे० कुलचारं चलक्षये, आदि, १०३, ७।

२—युधिष्ठिर— भवन्ति भेदा जातीनां कलहाश्च वृकोदर।
    प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥ वन, २४२, ३।

३—कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
    धर्मे नष्टे कुल कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ आदि भीष्म, २५, ४०–४३।

४—विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता। आदि, ११३,१३।

५—आदि, ११३, ११।

६—आदि, १९६, १४।

भी प्रचलित बतलाया है।[१] व्यास ने यही कहा है कि क्योंकि इस धर्म का आचरण किया जाता रहा है, यह सनातन है और कुन्ती की आज्ञा होने के कारण इसके वैध (धर्म) होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

इसी प्रकार के अनेक प्रसंगों और उदाहरणों का विवेचन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाभारतीय काल में राज्य के द्वारा उक्त प्रकार के परम्परागत एवं आप्त पुरुषों के वचन या आचरण के द्वारा समर्थित विधियों को स्वीकृत एवं सम्मानित एवं कार्यान्वित किया जाता था। प्रत्येक जाति, कुल, संस्था (श्रेणी आदि) तथा प्रदेशों में उनके अपने–अपने विशेष संगठन एवं व्यवस्था तथा विशेष परिस्थितियों के अनुसार कुछेक नियमों और मर्यादाओं का विकास हुआ था।[२] यही नियम और मर्यादाएँ कालान्तर में परम्परागत 'धर्म' या कानूनों के रूप में परिवर्तित हो गईं। अतः यह स्पष्ट है कि स्वाभाविकतया इन कानूनों के स्रोतों के अतिप्राचीन, अज्ञातप्राय और परम्परात्मक स्वरूप के कारण हीं इन्हें सनातन कहा जाने लगा होगा।

आपद्धर्म एवं दण्डनीति

अकाल या दुर्भिक्ष के कारण अथवा शत्रु के आक्रमण के कारण उत्पन्न परिस्थितियों में, अपना, कुल का या राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित होने पर सामान्य परम्पराओं और धर्मों के विरुद्ध किया गया अनिवार्य आचरण अवैध होते भी आपद्-धर्म के रूप में स्वीकृत और सम्मानित किया जाता था। कहा गया है कि 'अपने धर्म को त्याग देना, दूसरे के धर्म का आचरण करना, यक्ष के अधिकारी को यज्ञ कराना, अभक्ष्य-भक्षण करना, शरणागत का त्याग करना, भरण-पोषण करने योग्य व्यक्तियों का भरण-पोषण न करना, रसों को वेचना, पशुपक्षियों को मारना, शक्ति रहते हुए भी अग्न्याधान आदि कर्मों को न करना, नित्य देने योग्य दान न करना, दक्षिणा न देना और ब्राह्मणों के धन का अपहरण ये सभी कर्म अकार्य हैं'।[३] यही कहा गया है कि 'जो पुत्र पिता से झगड़ा करता है, जो शिष्य गुरु की शय्या पर सोता है, जो पति ऋतुकाल में भी अपनी पत्नी के साथ समागम नहीं करता वह पुरुष अधार्मिक होता है।[४] परन्तु महाभारतकार का कहना है कि अनेक परिस्थितियों और कारणों के उपस्थित होने पर ऊपर संक्षेप से बतलाये गये इन्हीं कर्मों के करने पर भी पुरुष को दोषी नहीं माना जा सकता। अतः कुछ कर्मों के करने से जिस प्रकार मनुष्य प्रायश्चित्त का भागी होता है उसी प्रकार कुछ के न करने पर भी दोषी होता है। (वही, १५–१६) यहाँ इस प्रसंग के कुछेक मनोरञ्जक उदाहरण

१—वही, १९६, २०। दे० कर्णपर्व, अ० ४४—४५।

२—दे० कर्ण-पर्व में शल्य के द्वारा अंगप्रदेश के तथा कर्ण के द्वारा मद्र–देश के विशेष परम्परागत आचारों और परम्पराओं का वर्णन कर्णपर्व, अ० ४४–४५।

३—शान्ति, ३४, १०–१३।

४—वही, ३४, १४।

उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। कहा गया है कि 'यदि वेद–वेदान्तों का विद्वान् ब्राह्मण भी युद्धस्थल में हथियार लेकर दूसरों की हत्या करने के लिए उतारू हो जाये तो स्वयं भी उसको मार डालने की चेष्टा करे। इससे ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगता।[१] आगे कहा गया है कि आपत्तिकाल में गुरु के लिए कभी चोरी करने वाला पुरुष यदि स्वार्थ के वश होकर बार-बार वही कार्य नहीं करता, ब्राह्मण के धन का अपहरण नहीं करता और स्वयं उस धन को नहीं खाता तो वह दोषी (चोरी के पाप का भागी) नहीं है।[२] इसी प्रकार यद्यपि हम जानते हैं कि प्राचीन भारतीय परम्परा में सत्य बोलने और झूठ न बोलने पर बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था और यूनानी लेखकों ने 'भारतीय कभी झूठ नहीं बोलते' इस प्रकार का उल्लेख करते हुए सत्य बोलना भारतीयों की जातीय विशेषता बतलाई है', परन्तु महाभारतकार ने आपद्धर्म के रूप में झूठ बोलना पाप नहीं माना है। वे कहते हैं, 'अपने या दूसरे के प्राण बचाने के गुरु के लिए, एकान्त में अपनी पत्नी के पास विनोद करते समय अथवा विवाह के प्रसंग में यदि झूठ बोल दिया जाय तो पाप नहीं लगता अपितु आवश्यकता पड़े तो ऐसे प्रसंगों में झूठ बोलना कर्त्तव्य है।'[३] 'व्यभिचारिणी स्त्री का तिरस्कार किया जाए तो वह दोष की बात नहीं है'[४]। इस प्रकार के अन्य असंख्य विचारों से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं कानून के विषय में महाभारतकार की मान्यताएँ रूढ़िवादी न होकर नितान्त मानवीय एवं व्यावहारिक हैं। कठोर राजदण्ड का समर्थन करते हुए भी महाभारतकार ने अनेक पापकर्मों के लिए प्रायश्चित का विधान किया है[५]। आपद्-धर्म पर्व में अध्ययन करने के तथा इसी पर्व में आत्मरक्षा के लिए कुत्ते की टाँग की चोरी करने वाले महर्षि विश्वामित्र के विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये उपाख्यान आदि के अनुशीलन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कानून के विषय में भारतीय विचार-धारा के पर्याप्त रूढ़िवादी और परम्परावलम्वी होते हुए भी, नई परिस्थितियों और सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहते हुए उसमें सदैव अपेक्षित परिवर्तन और संशोधन किए जाते रहते थे और कानून का पालन उस प्रकार विचारहीनता से नहीं कराया जाता था जिसके कारण कानून को 'अन्धा' कहा जाता है।

१—प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्मा भवेत् ॥
शान्ति, ३४, १७ तथा 'अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद् यो हन्यादाततायिनम् न तेन ब्रह्महा स स्यात् मन्युस्तन्मन्युमृच्छति'। अर्थात् क्रोध का सामना करने के लिये क्रोध उचित है। वही, १९।

२—शान्ति, ३४, २३–२४।

३—प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद् विवाह करणेषु च ॥ शान्ति, ३४, २५।

४—वही, ३४, ३०।

५—दे० वही, अ० ३५–३६।

दण्डनीति—

दण्ड शब्द का प्रयोग महाभारत में अनेक अर्थों में हुआ है। राजकीय प्रभुता का प्रतीक 'राजदण्ड', जिसे छत्र के साथ ही साथ राजा एक चिन्ह के रूप में धारण करता था, भी दण्ड ही कहलाता है। इसके अतिरिक्त विधि एवं धर्म के अनुकूल आचरण करने के लिये जनता को वाध्य करने के लिये अपराधियों को 'दण्ड' देने का शासनाधिकार भी दण्ड ही कहलाता है। आज भी हम उस संहिता को जिसके अनुसार आज शासन चलाया जाता है 'भारतीय दण्ड-विधान' (अं०, इंडियन पीनल कोड) कहते हैं। महाभारत में दण्ड शब्द का प्रयोग सेना, युद्ध, जुर्माना या पुरस्कार देने वाली कानूनी धारा, आज्ञप्ति, अधिनियम या अदालती फैसला आदि अर्थों में भी किया गया है। तात्पर्य यह है कि दण्ड शब्द में भारतीय तत्वदर्शन की 'सार्वभौम सत्ता' के भाव का मूर्त रूप है। यह शब्द भी धर्म, ब्रह्म, वेद आदि अन्य आर्य नामों की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। न केवल सार्वभौम सत्ता के किसी एक पक्ष को ही अपितु उसके अनेक सम्वद्ध तत्वों का समावेश इसमें किया गया है। दण्ड के साक्षात् अवतार के रूप में राज-संस्था की उत्पत्ति और विकास से सम्बन्धित मान्यताओं पर हम पहले विचार कर चुके हैं।[1] इसके सैनिक पक्ष से सम्वन्धित विचारों का संकलन अगले अध्याय में प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ केवल हमें 'दण्ड' की विधि एवं न्याय सम्वन्धी व्याख्याओं पर ही ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

महाभारतीय मान्यताओं के दण्ड सम्वन्धी विचारों का मूल मानव-स्वभाव के विषय में निर्धारित और स्वीकृत विचारों में निहित है।[2] कहा गया है कि प्रारम्भ में लोग वड़े धर्म परायण और शुद्ध एवं पवित्र आचरण वाले थे परन्तु बाद में उन पर काम आदि दोषों का प्रभाव इतने प्रवल वेग से हुआ कि दण्ड के भय के विना किसी भी प्रकार की व्यवस्था का बने रहना असंभव हो गया। चारों ओर मत्स्य-न्याय की सी परिस्थितियाँ आ उपस्थित हुईं।[3] 'मनुष्यों का स्वभाव से ही शुद्ध होना दुर्लभ है, सारा संसार दण्ड से विवश होकर ही रास्ते पर चलता है। दण्ड के भय से डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालन (कर्म एवं योग) में प्रवृत्त होता है'। 'धर्म और अर्थ की रक्षा के लिये ही दण्ड का विधान हुआ है'। चारों वर्गों की प्रसन्नता और समृद्धि ही इसका लक्ष्य है और श्रेयस्कर नीति पर समाज को चलाने के लिये स्वयं विधाता ने दण्ड का प्रणयन किया है।[4] आदिपर्व की एक गाथा के द्वारा उक्त समाजशास्त्रीय तथ्य पर

१—'राजशक्ति का न्याय आधार'।

२—मानव स्वभाव-सम्वन्धी महाभारतीय विचारों के लिये दे० यही पुस्तक, अ० २।

३—यही पुस्तक, अ० ३, 'राज्य की उत्पत्ति'।

४—सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते॥

(शेष पृष्ठ ३६०)

बड़ी मनोरंजक शैली में प्रकाश डाला गया हैं। कहा गया है कि चेदि प्रदेश के राजा पुरुवंशी वसु वड़े धार्मिक और तपस्वी थे, उनके राज्य में सभी वर्ण अपने-अपने कर्तव्यों की मर्यादाओं का पालन बड़े मनोयोग से करते थे। सामान्य जनता धर्मशील और सज्जन पुरुष सर्वथा सन्तुष्ट थे। कोई हंसी-मजाक में भी झूठ नहीं बोलता था। पिता और गुरु आदि के हित में लगे हुए पुत्र अविभक्त रूप से मेल से रहते थे। वह देश बड़ा रमणीय, पशुओं और धन-धान्य से भरा हुआ, सभी भौतिक सुविधाओं से पूर्ण, सौम्य, भली प्रकार प्रतिरक्षा के योग्य था। सारा देश समृद्ध (अर्थवान्) था तथा धन और रत्नों से भरा हुआ था। धरती (वसुधा) सोना (वसु) उगलती थी। राज्य की श्रेष्ठ परिस्थितियों से प्रसन्न होकर भगवान् इन्द्र ने राजा को अभीष्ट-दान देने के उद्देश्य से शिष्टों का प्रतिपालन करने वाली (शिष्टानां प्रतिपालिनी) बांस की लाठी प्रदान की। राजा ने एक वर्ष बाद उसी लाठी (दण्ड) को भूमि में गाड़कर इन्द्र-उत्सव मनाया।[1]

दण्ड का उद्देश्य—

इस प्रकार दण्ड के उद्भव, विकास और लक्ष्य तथा स्थिति के विषय में उक्त गाथा से जो संकेत मिलते हैं उनकी और अधिक स्पष्ट रूप से पुष्टि आगे १२१वें और १२२वें अध्यायों में की गई है। यहाँ कहा गया है कि दण्ड के न रहने पर प्रजा में वर्ण संकरता फैलने लगी, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य का विवेक ही न रह गया और हिंसा और लूटमार चारों ओर फैल गई।'[2] 'जैसे कुत्ते मांस के टुकड़े के लिये आपस में छीना-झपटी और नोच-खसोट करते हैं, उसी तरह मनुष्य भी परस्पर लूट-मार करने लगे, बलवान् दुर्वलों की हत्या करने लगे, कोई मर्यादा न रही चारों ओर उच्छृंखलता (निर्मर्यादम्) फैल गई।[3] ऐसी स्थिति में भगवान् शिव के अवतार के रूप

(पृष्ठ ३५९ का शेष)

चातुर्वर्ण्यं प्रमोदाय सुनीतिनयमाय च।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥

शान्ति, १५, ३४–३५। १२२, १९–२१

दे० मनु०, १४–२४ तक; रामायण, अयोध्या०, ६७; शान्ति १५, ३० और ६७, १६ में मत्स्य न्याय पर उल्लेख।

१—आदिपर्व, ६३। महाराष्ट्र में अभी तक वर्ष की समाप्ति पर ऐसा उत्सव मनाने का रिवाज है परन्तु सामान्यतया लुप्त हुए इस धार्मिक उत्सव का अध्ययन श्री जे० ज़े० मेयर ने अपनी पुस्तक 'त्रिलोगी देट वैजिटेशन्स माक्ते' (लीप जिग, १९३७) में किया है।

२—शान्ति, १२२, १९–२०।

३—परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम्।
अबलान् बलिनो घ्नन्ति निर्मर्यादमवर्तत ॥ वही, १२२, २१।

में दण्ड प्रकट हुआ उसके द्वारा धर्म का आचरण प्रवृत्त होते देखकर नीति के ही साक्षात् स्वरूप वाली देवी सरस्वती ने दण्ड-नीति की रचना की जो तीनों लोकों में व्याप्त है।[1] कहा गया है कि यही दण्ड आनुपूर्वी से महादेव से विष्णु, अंगिरा, इन्द्र और मरीचि, भृगु, ऋषिगण, लोकपाल, राजा क्षुप के द्वारा अन्त में मनु को प्राप्त हुआ। मनु ने सूक्ष्म धर्म और अर्थ की रक्षा के लिये इसे अपने पुत्रों को सौंप दिया। यहाँ दण्ड के व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'धर्म के अनुसार न्याय-अन्याय का विचार करके ही दण्ड' का विधान करना चाहिये। मनमानी नहीं करनी चाहिये। दुष्टों का दमन करना ही दण्ड का उद्देश्य है। दण्ड के तौर पर स्वर्ण मुद्राएँ लेकर खजाना भरना इसका उद्देश्य नहीं वह तो केवल आनुसंगिक गौण कर्म है।[2]

कहा गया है कि 'किसी छोटे से अपराध पर शरीर का अंग-भंग करा देना, वध करा देना, तरह-तरह की यातनाएँ देना, देह त्याग के लिये विवश कर देना या देश निकाला देना कदापि उचित नहीं है।[3] 'परन्तु जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन नहीं करता, वह चाहे माता-पिता, भाई, पत्नी तथा पुरोहित कोई' भी क्यों न हो, वह राजा के लिये अदण्डनीय नहीं है, ऐसा होने पर राजा सभी को दण्ड दे सकता है, चाहे वह कोई भी हो।'[4]

अन्यायी शासक प्रजा द्वारा वध्य—

महाभारतकार ने राजा आंगरिष्ठ और ऋषि कामन्दक के ऐतिहासिक संवाद का उल्लेख करते हुए वतलाया है कि जब राजा दुष्टों और दुराचारियों का दमन नहीं करता तव उससे प्रजा इस प्रकार उद्विग्न हो उठती है जैसे लोग घर में रहने वाले साँप से। उस दशा में प्रजा, साधु एवं ब्राह्मण उसका साथ नहीं देते (नानुवर्तन्ते)। फिर उसका जीवन खतरे में पड़ जाता है (संशयमाप्नोति) और वह अन्त में प्रजा के द्वारा वध्य हो जाता है (वध्यत्वमाप्नोति)।[5] कहा गया है कि दण्ड ही समस्त प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही उनकी सव ओर से रक्षा करता है, सबके सो जाने पर दण्ड ही जागता रहता है, अतः विद्वानों ने दण्ड को 'धर्म' (राजधर्म) माना है।[6]

१—शान्ति, १२२, २४–२५।
२—वही १२२, ३६–३९।
३—विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण च यहच्छया।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं वाह्यतः क्रिया॥ वही, १२२, ४०।
४—वही, १२१, ६० तथा १२२, २४–२५।
५—शान्ति, १२३, १५–१८।
६—दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति वण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ शान्ति, १२३, २।

जन-शक्ति का न्याय-व्यवस्था पर नियन्त्रण—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजा न केवल सार्वभौम सत्ता का स्वामी होने के नाते अपितु दण्ड-धारी और न्यायाधीश होने के नाते भी बड़ी सम्माननीय और उन्नत स्थिति और पद का उपभोग करता था परन्तु वह भी स्वेच्छाचार या पक्षपात के वश होकर या अधर्म-पूर्वक अपराध को देखते हुए अनुचित दण्ड देने पर या दुष्टों और अपराधियों को भी दण्डित न करने पर न केवल खतरें में पड़ जाता था अपितु 'वध्य' बन जाता था।

विशुद्ध न्याय ही राज्य की नींव—

विशुद्ध न्याय पर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है (तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्)[1]। दण्ड का विधान दुष्टों के दमन के लिये है निश्चित रूप से अपना धन बढ़ाने के लिये नहीं है जो शिष्ट या सज्जन पुरुषों को भी पीड़ित करें उनका वध ही उनके लिये उचित दण्ड है। 'जो लोग राष्ट्र को हानि पहुँचाकर अपने लिये धन इकट्ठा करते हैं वे मुर्दे में पड़े हुए कीड़ों की तरह हैं उनका तभी मारा जाना निश्चित है'।[2]

राजा की न्याय-व्यवस्था पर अमानवीय दिव्य तत्त्वों की दृष्टि—

महाभारतकार ने राजा को सावधान किया है कि 'सूर्यपुत्र मनु ने प्रजा की रक्षा के लिए ही अपने पुत्रों के हाथ में दण्ड सौंपा था, वही दण्ड क्रमशः उत्तरोत्तर अधिकारियों के हाथ में आकर (आनुपूर्व्याच्च) प्रजा का पालन करता हुआ जागता रहता है। यही नहीं, क्रमशः भगवान् इन्द्र, अग्नि, वरुण और प्रजापति उस दण्ड के यथोचित प्रयोग के लिए सदैव जाग्रत रहते हैं[3]। आगे चलकर कहा गया है कि न केवल देवता ही अपितु देवताओं से अधिकार लेकर ब्राह्मण लोग लोक-रक्षा के लिए सदैव जाग्रत रहते हैं[4]। इसके अनन्तर ब्राह्मणों से दण्ड धारण का अधिकार पाकर क्षत्रिय लोग धर्म के अनुसार लोकों की रक्षा करते हैं। इन क्षत्रियों से ही यह चराचर जगत् सुरक्षित रहता है[5]। इसके बाद राजा को सावधान किया गया है कि 'इस लोक में जनता जागती है और जनता में दण्ड जागता है यही प्रजापति के समान तेजस्वी दण्ड सबको मर्यादा के अन्दर रखता है[6]।

मूल्यांकन—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाभारतीय दण्ड-नीति की मान्यताएँ न

१—वही, ६९, २९–३०।

२—शान्ति, १३५, २०–२१।

३—वही १२३, ४२—४३।

४—देवेभ्यो ब्राह्मणालोके जाग्रतीत्युपधारय। वही, १३२, ४९।

५—वही, ५०।

६—प्रजा जागर्ति लोकेऽस्मिन् दण्डो जागर्ति तासु च।
सर्वं संक्षिपते दण्डः पितामह समप्रभः॥ वही, ५१।

केवल सीमित राजतंत्र की विचारधारा के अनुकूल हैं, उनमें कोरी भावुकता, अध्यात्म-प्रधान रुढिवादिता, लोक-परलोक विषयक कर्मफल के भय और आस्तिक भावनाओं की अपेक्षा राजनीतिक तत्त्वदर्शन के विकास की परिणामभूत परिपक्व राजनीतिक मान्यताओं और उत्तरदायित्वों तथा उनकी अवहेलना करने के भयानक परिणामों के प्रति मूलभूत सजग सावधानता के दर्शन होते हैं। महाभारतीय समाज-व्यवस्था पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्राचीन भारत की जनता को कोरी भावुक, अध्यात्मप्रधान और रुढिवादी तथा कर्म और प्रारब्ध आदि में अत्यधिक विश्वास करने वाली समझना या सिद्ध करना एक बड़ी भूल है। महाभारत के समाज-शास्त्रीय अध्ययन से उक्त मत की पुष्टि नहीं होती। महाभारत में एक सबल विकास-शील और समर्थ समाज के दर्शन होते हैं। इस पृष्ठभूमि में ही हम यह सफलता-पूर्वक समझ सकते हैं कि महाभारतीय दण्डव्यवस्था में इतनी मानवीयता के दर्शन क्यों होते हैं। यद्यपि यह मानना ही होगा कि इन्द्र आदि देवताओं के दण्ड के भय से भी तथा पाप के अवश्यंभावी परिणाम, परलोक के बिगड़ने के डर से भी भारतीय शासक अन्याय और अधर्म से डरते होंगे। परन्तु यह मानना बड़ी भारी भूल होगी कि महाभारतकाल तक भारतीय न्याय-व्यवस्था अपनी पूर्णतया लौकिक नींव पर अधिष्ठित नहीं हुई थी।

जनजीवन का प्रभाव ही न्यायव्यवस्था की मानवीयता का मूल—

राजसत्ता का वैध एवं न्याय आधार केवल धर्म के अनुसार पृथ्वी का पालन ही था। शान्तिपर्व में महर्षि वामदेव के द्वारा राजा वसुमना को यह उपदेश दिया गया है कि राजा धर्म का ही अनुसरण करे। धर्म (अ०लॉ) ही सबसे बड़ा है, उससे बड़ा कोई नहीं है। जो राजा धर्म पर दृष्टि न रखते हुए (अधर्मदृष्टिः) बलपूर्वक शासन करता है (बलादेव प्रवर्तते) उसे शीघ्र ही धर्म और अर्थ इन दोनों पुरुषार्थों से हीन होना पड़ता है[१]। ऐसा दुष्ट और पापिष्ठ मंत्रियों की सहायता से धर्म की हत्या करने वाला (धर्मंहा) राजा परिवार समेत जनता के द्वारा वध करने योग्य (लोकस्य वध्यः) होने के कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[२]। पूर्णतया धर्म के अनुसार शासन चलाने पर ही राज्य में 'सत्ययुग' तीन चौथाई अंशों में धर्म के शासन की स्थापना करने पर राज्य में 'त्रेता', दण्डनीति की केवल आधी ही विधियों का पालन और उनके लागू करने पर 'द्वापर' और धर्म की अवहेलना किए जाने पर कष्टों, यातनाओं और संघर्षों का भयंकर युग 'कलियुग' राष्ट्र में आता है। राजा ही राष्ट्र में धर्म के शासन की स्थापना के अनुपात में अच्छे या बुरे युग की सृष्टि करने के लिए उत्तरदायी है[२]। कहा गया है कि जिस प्रकार यमदेव सभी प्राणियों पर समानरूप से शासन करते हैं उसी प्रकार राजा को भी बिना किसी भेद-भाव के समस्त प्रजाओं

१—शान्ति, ६२, ६–६। देखिए वही, ६८, ३।

२—शान्ति, ७०, ६–१८।

पर विधिपूर्वक शासन करना चाहिए[1]। राजा को अपने प्रिय व्यक्तियों को भी उनके वाणी और कर्म से किए गये अपराधों को क्षमा नहीं करना चाहिए[2], यही राजा का धर्म है। महाभारत में इस प्रकार के निग्रह (दुष्टों को दण्ड देने) के साथ ही राजा को अनुग्रह करने का भी उपदेश दिया गया है (निग्रहानुग्रहौ स्यातां प्रतिष्ठितौ)। शान्ति-पर्व के १४३ वें अध्याय में राजा को नितान्त उग्र और तीक्ष्ण होकर शासन करने का उपदेश देते हुए जहाँ यह कहा गया है कि 'अवध्य पुरुष का वध करने में जो दोष माना गया है वही वध्य का वध न करने में भी हैं'[3]। (२४–२६), वहाँ यह भी कहा गया है कि राजधर्म के अनुसार केवल उग्रभाव अथवा केवल मृदुभाव की प्रशंसा नहीं की जाती। इन दोनों में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहिए। इसीलिए उग्र होकर मृदु होना चाहिए (उग्रो भूत्वा मृदुर्भव)। अशिष्ट (दुष्ट) लोगों के दमन (निग्रह) और शिष्ट एवं सज्जन पुरुषों के पालन में निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए। (३२–३४)। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महाभारतीय न्याय-व्यवस्था और दण्डविधान में कठोर दण्ड और करुणापूर्ण दया दोनों के विवेकपूर्ण सामंजस्य के साथ प्रयोग किए जाने की व्यवस्था है। और इस प्रकार महाभारतकार का लक्ष्य सच्चे 'न्याय' की प्रतिष्ठा की ओर है।

न्याय-व्यवस्था का स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक रूप—

यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्राचीन भारत की परिस्थितियों पर विचार करते हुए यह मानना पड़ेगा कि महाभारतीय काल में भारतीय न्याय-व्यवस्था नितान्त स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक ढंग से विकसित हो रही थी। उसका जो रूप महाभारत में प्राप्त है वह अर्थशास्त्र में वर्णित न्याय-व्यवस्था से पहले का होते हुए भी धर्म सूत्रों और मनुस्मृति से कहीं अधिक विकसित है।

न्यायालयों की व्यवस्था और कार्य-प्रणाली—

सुसमृद्ध सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की नींव न्याय पर आधारित है।[4] महाभारतकार ने राजा को आदेश दिया है कि वह अपने दैनिक समय-विभाग में सबसे पहले प्रातःकाल में धर्म अर्थात् न्याय से सम्बन्धित कार्यों को देखे।[5] प्रायः राजधानी में दण्ड-विभाग और पुनर्विचार से सम्बन्धित पौर-कार्यों (अं० पब्लिक केसज़) को राजा स्वयं देखता था। इस प्रकार वह सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में कार्य करता था।

१—शान्ति, ६१, ४४।
२—वही, ३५।
३—मिलाइये उद्योग पर्व, ८२, १८,
यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन।
स वध्यस्यावधे दृष्टः इति धर्मविदोविदुः॥
४—तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्। शान्ति, ६९, २८।
५—धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्। वन; ३३; ४०.

परन्तु महाभारतकार ने राजा को न्यायपूर्वक प्रजाओं का पालन करने और अपराधियों के अभियोगों के पेश किए जाने पर (व्यवहारे प्रदर्शित) किसी से भी पक्षपात न करने का उपदेश देते हुए यह भी वतलाया है कि वह सर्वार्थदर्शी विद्वान् पुरुषों को न्यायाधीश के नाते वादी-प्रतिवादी की वातें सुनने के लिए (श्रोतुम्) (व्यवहारेषु) मुकदमों में नियुक्त करे।[1] इससे यह स्पष्ट है कि वह अन्य न्यायाधीशों के निरीक्षण में अन्य न्यायालयों की भी व्यवस्था करता था। शान्तिपर्व के ८७ वें अध्याय में कहा गया है कि दस, वीस, सौ और हजार ग्रामों पर नियुक्त क्रमशः दशपाल विंशपाल, शतपाल और सहस्रपाल अधिकारियों के युद्ध सम्बन्धी (संग्राम कृत्यम्) तथा ग्रामों के प्रवन्ध सम्बन्धी कार्यों (ग्रामकृत्यम्) को देखने के लिए एक धर्मज्ञ सचिव की नियुक्ति की जाय[2]। यहीं कहा गया है कि 'अथवा प्रत्येक नगर में एक सर्वार्थ-चिन्तक अधिकारी नियुक्त किया जाय, जो न्यायसभा के सदस्यों (सभासदः) के व्यवहार की देखभाल करे। उसके गुप्तचर जनपद में घूमकर उसे यथार्थ स्थिति से अवगत करायें तथा वह उन रक्षाधिकारियों से प्रजा की रक्षा करे, जो हिंसक, पापशील, पराये धन का अपहरण करने वाले या शठ हों। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक नगर में नियुक्त किया जाने वाला उच्च प्रभुता एवं अधिकार वाला (उच्चैः स्थाने घोर रूपः) नक्षत्रों में ग्रह के समान यह अधिकारी चल-न्यायालय की तरह कार्य करता था और नीचे के अधिकारियों के द्वारा मानव सुलभ दुर्वलताओं के कारण न्याय के विपरीत किए जाने पर यह उन विषयों पर पुर्नविचार करने और दण्डनीय अधिकारियों को दण्ड देकर और उनमें किये गये निर्णयों तथा कार्यों के रद किये जाने की आशा देकर जनता की रक्षा करता था।[3] क्योंकि आजकल के स्वतन्त्र भारत के प्रायः छोटे न्यायालयों की तरह महाभारतकाल के न्यायालयों में भी न्याय-व्यवस्था के विषय में प्रचलित प्रसिद्ध दोष प्रायः वैसे ही पाये जाते थे। मानवीय स्वभाव कहाँ बदलता है? सभापर्व में कहा गया है कि 'राजन्! कहीं ऐसा तो नहीं होता है कि शास्त्रकुशल विद्वानों का संग न करने वाले तुम्हारे मूर्ख मंत्रियों के द्वारा कोई विशुद्ध अन्तःकरण वाला श्रेष्ठ पुरुष (आर्यः) भी चोरी का आरोप लगाकर सर्वस्व अपहरण के द्वारा लूट लिया जाता हो (क्षारितः चौरकर्मणि) और फिर अधिक धन के लोभ से उस पवित्र व्यक्ति को भी प्राणदण्ड दे दिया जाता हो?[4] इसी प्रकार के अधिकारियों के भ्रष्टाचार का दूसरा उदाहरण अगले श्लोक में उपलब्ध होता है। पूछा गया है कि 'राजन् नरश्रेष्ठ! (तुम्हारे राज्य में) कोई ऐसा चोर जो चोरी करते समय उसे पहचानने वाले व्यक्तियों के द्वारा देख लिया गया हो और फिर चोरी के माल-सहित रक्षकों द्वारा पकड़ लिया गया हो, धन के

१—शान्ति, ६९, २७–२८।
२—वही, ८७, ९।
३—शान्ति, ८७, ९–११।
४—सभापर्व, ५, १०५। यहीं दे० वही, १०६, १०७ आदि।

लोभ से छोड़ तो नहीं दिया जाता ?'[1] उक्त दण्ड-विधान सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त एक व्यवहार विषयक मनोरंजन मुकदमे का संकेत अगले पद में प्राप्त होता है। नारद ने इस विषय में युधिष्ठिर से अन्तिम प्रश्न करते हुए पूछा है कि 'कहीं तुम्हारे मंत्री चुगली करने वाले लोगों के वहकावे में आकर विवेकशून्य हो किसी धनी या दरिद्र के थोड़े समय में ही अचानक पैदा हुए अधिक धन को मिथ्या दृष्टि से तो नहीं देखते।[2] इस प्रकार के सभी अन्य पौर-कार्यों में भी उचित न्याय की व्यवस्था का प्रवन्ध करना राजा का कर्तव्य माना जाता था, यह वात उक्त विवरण से स्पष्ट है। राजा उन न्यायाधिकारियों को, जो न्याय-व्यवस्था में लोभ या क्रोध अथवा राग या द्वेष के कारण अन्याय्य निर्णय देते थे, कठोर दण्ड देता था। वह अपने गुप्तचरों के द्वारा भी न्याय-व्यवस्था की वस्तुस्थिति से अपने आपको अवगत रखता था।[3]

संगठन—

नगरों, उपनगरों और ग्रामों तक राज्य के अधिकारियों के द्वारा न्याय-व्यवस्था और दण्ड-विधान का संगठन अवाध गति से निरन्तर चलता रहता था। ग्राम में तैनात किये जाने वाले पाँच अधिकारियों में एक 'साक्षी' भी है।[4] परम्परा के अनुसार ग्राम का ग्रामणी (मुखिया) भी वहुत सा न्यायसम्बन्धी उत्तरदायित्त्व वहन करता था। शान्तिपर्व में विद्वान्, शूरवीर और दृढ़प्रतिज्ञ कायव्य के ग्रामणी चुने जाने का उल्लेख है[5]। उसे ग्रामणी चुनने वाले दस्युग्राम के लोगों के वाक्यों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि 'ग्रामणी' का पद न्याय और प्रशासन दोनों ही दृष्टियों से वड़ा महत्त्वपूर्ण होता था। कहा गया है कि तुम हम सव लोगों के सम्मत अर्थात् एकमत से स्वीकृत मुख्य एवं ग्रामणी वनो। तुम जैसे जैसे कहोगे हम वैसे ही आज्ञापालन करेंगे। तुम न्याय के अनुसार (यथान्यायं) माता-पिता की तरह हमारा पालन करो।[6]

इस प्रकार प्राचीन खाते में ग्रामों के स्तर से उपनगरों, नगरों और राजधानियों तक संगठन की गई न्याय-व्यवस्था का अन्तिम और सर्वोच्च केन्द्र स्वयं राजा ही होता था। महाभारतकार ने इस वात पर वहुत अधिक वल देते हुए यह आदर्श रखा है कि सम्पूर्ण देश का (पृथिव्याः) एक मात्र राजा ही सर्वोच्य धर्माधिकारी हो और प्रजा के

१—दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ! ॥ सभा. ५, १०६ ।

२—वही, ५, १०३ ।

३—वही ५, ८० । दे० इसी श्लोक पर नीलकण्ठी टीका ।

४—शान्ति, १३५ ।

५—मुहूर्तकालदेशज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव सम्मतः ॥
यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ।
पालयास्मान् यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ शान्ति, १३५, ११-१२ ।

लिए माता-पिता के समान हो, वह सभी के लिए एक सा हो (समः) और वह किसी के लिए भी किसी प्रकार की शंका किए जाने योग्य न हो अर्थात् सभी का विश्वास पात्र और श्रद्धाभाजन हो (अनभिशंक्यः)[1] शान्तिपर्व प्रिय और अप्रिय के प्रति समान भाव रखते हुए, किसी के प्रति पक्षपात न करते हुए और किसी से भी द्वेष न रखते हुए, दण्ड की यथोचित न्याय-व्यवस्था भली प्रकार करने के द्वारा ठीक रीति से प्रजा का पालन करने वाले राजा को साक्षात् धर्म माना गया है।[2] उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उक्त न्याय-सम्बन्धी उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए राजा अनेक अधिकारियों की नियुक्ति करता था। महाभारतकार ने राजा को प्रेरणा दी है कि कार्य-साधन के उपाय को जानने वाला राजा अपने कार्यों में उन व्यक्तियों की नियुक्ति करे जो विद्वान्, मृदुशील, शूर तथा अपेक्षाकृत अधिक बलशाली हों।[3] एक व्यक्ति की अपेक्षा न्यायालयों में कभी-कभी वेदों और शास्त्रों के दस विद्वानों तथा तीन धार्मिक पण्डितों के मत के अनुसार भी धर्म-निर्णय किया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत में न्याय-सभा या 'जूरी' की संस्था का विकास हो चुका था। महाभारतकार ने बड़े आलंकारिक शब्दों में इस बात का उल्लेख किया है कि अपने इन अधिकारियों के प्रति राजा का बर्ताव कैसा होना चाहिए। कहा गया है कि अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप उचित पदों पर नियुक्त किए गये या उचित कामों में लगाये गये उक्त अधिकारियों पर दृष्टि रखते हुए राजा को उनके अनुकूल इसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए (अनुवर्तेत) जैसे विस्तृत तारों वाली वीणा सातों स्वरों का अनुसरण करती है। यहीं कहा गया है कि धर्मों में बाधा न आने देते हुए (धर्माणामविरोधेन) सबका प्रिय करे। सबको 'यह मेरा है' यह समझने वाला राजा पर्वत की तरह अविचल बना रहता है। अपनी विस्तृत किरणों का आश्रय लेने वाले सूर्य की तरह सुदृढ़ उद्योग का अविलम्बन करते हुए प्रिय और अप्रिय सभी के साथ तुल्य व्यवहार रखकर धर्म की ही रक्षा करें[4]।

न्यायाधीशों के नाते धर्म (न्याय) की रक्षा करने के लिए नियुक्त किए जाने वाले अधिकारियों की आवश्यक योग्यता, सामर्थ्य और गुणों के विषय में महाभारतकार का कहना है कि 'जो लोग कुल, स्वभाव और देश के धर्मों अर्थात् इन सभी से सम्बन्धित तत्त्वों को जानते हों, मधुर भाषी हों, युवावस्था में जिनका जीवन निर्दोष रहा हो, जो हित-साधन में तत्पर (परोपकारी) और घबराहट या परेशानी से रहित हों, जो निर्लोभ, सुशिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मों में निष्ठा रखने वाले तथा धर्म और अर्थ

१—सभा, ५, ५६।
२—सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रिय समात्मना।
प्रजा रक्षति यः सम्यग् धर्म एव स केवलः॥ शान्ति, १२१, ११।
३—शान्ति, १२०, २३।
४—वही ३६, २०–६।

की रक्षा करने वाले हों उन्हें समस्त कार्यों में नियुक्त किया जाय ।[1] महाभारतकार के मत से न्यायाधीशों की नियुक्ति करके ही राजा को संन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, उसे चाहिए कि वह इस प्रकार कार्यों के प्रारम्भ (आगतिम्) और गति का निरीक्षण करते हुए सदैव सावधान और सन्तुष्ट रहकर और अपने गुप्तचरों के द्वारा राष्ट्र की सभी बातों पर दृष्टि रखकर अध्यवसायी होकर (युक्तः) कार्य करे। कहा गया है कि जो अपने आप नागरिकों के कार्यों का निरीक्षण करे (स्वयं कृत्यान्विवेक्षितुः) और आत्मविश्वास का धनी हो तथा जिसकी प्रसन्नता और क्रोध कभी निष्फल न जाते हों, उस राजा के लिए वसुन्धरा धन देने वाली वन जाती है। कहा गया है कि राजधर्म का सच्चा ज्ञाता वही व्यक्ति है, जिसका अनुग्रह प्रकट रूप से होता है और जिसका निग्रह अर्थात् दण्ड देना भी यथार्थ होता है, तथा जो अपनी तथा अपने राष्ट्र की सुरक्षा सफलतापूर्वक करता है तथा गुप्तचर आदि सेवकों को अनुचर ही मानकर स्वयं अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण राष्ट्र का निरीक्षण करता है ।

व्यवहार एवं दण्ड-व्यवस्था

व्यवहार

महाभारतीय न्याय-व्यवस्था में 'धर्म' के ही अर्थ में दण्ड शब्द का भी प्रयोग होता था। इसी दण्ड को व्यवहार भी कहा गया है। धर्म के अवहार (लोप) को जिसके द्वारा रोका जाय वही व्यवहार (वि+अवहार) कहा गया है[2] ।

व्यवहार के भेदों के विषय में यहीं किए विवरण से महाभारत की व्यवहार सम्बन्धी मान्यताओं और उसके भेदों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ इन विचारों को विद्वान् पाठकों के अनुशीलन के लिए ज्यों के त्यों उद्धृत करना ठीक रहेगा। कहा गया है कि 'स्वामी अथवा विचारक न्यायाधीश के विश्वास के अनुसार जो व्यवहार उत्पन्न होता है वह (वादी प्रतिवादी द्वारा उठाये हुए विवाद से उत्पन्न व्यवहार की अपेक्षा) भिन्न है, क्योंकि यह हितकर देखा गया है इसीलिए इसे 'भर्तृ-प्रत्यय लक्षण' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, दूसरे, वेद मूलक (वेदात्मा) व्यवहार को 'वेद प्रत्यय' कहा जाता है और तीसरे शास्त्रों के अनुकूल किए जाने न्याय-सम्बन्धी विचार या व्यवहार को 'मौल' कहा गया है[3] । यहीं इन तीनों व्यवहारों को प्रमाणभूत मानते हुए उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। महाभारतकार के उक्त मत से एक अतीव महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि इस काल तक 'भर्तृप्रत्ययलक्षण' व्यवहार अर्थात् मुकद्दमों के निर्णयों के रूप में दी गई राजसभाओं को वैधता प्राप्त हो चुकी

१—शान्ति, १२०, २७–२८ ।

२—धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते ।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्ववहितात्मनः ।
इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते ॥ शान्ति, १२१, ८-९ ।

३—शान्ति, १२१, ५०–५२ ।

थी। व्यवहार का आधार केवल वेदशास्त्र या परम्परा ही न होकर राजा के द्वारा अपने विश्वास के अनुसार दिए गये निर्णय भी उसी प्रकार प्रामाणिक और वैध माने जाते थे। न्याय-व्यवस्था के विकास की दृष्टि से यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे महाभारतीय न्याय-व्यवस्था के अपेक्षाकृत अधिक विकास होने का संकेत मिलता है।

महाभारतीय न्याय-व्यवस्था के विवेचन के प्रसंग में उसकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालने के लिए महाभारत में उपलब्ध न्याय-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली पर विचार करना कम मनोरंजन न होगा। आधुनिक भाषा में जिसे न्यायालय कहा जाता है उसी अर्थ में महाभारत में 'सभा' शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। सभा को परिषद् तथा संसद भी कहा जाता था। धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिए जब वादी और प्रतिवादी का मामला सभा के सभासदों या सभ्यों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था[2]। सभा में निश्छल एवं प्रामाणिक धर्म के अनुसार निर्णय देने वाले 'वृद्ध'-जनों का इतना महत्त्व था कि उनके बिना सभा न्यायालय के रूप में निर्णय देने योग्य ही नहीं समझी जाती थी[3]। निरपराध या अदण्डनीय व्यक्तियों को सभा में बुलाया जाना बुरा समझा जाता था[4]। परन्तु राजा या सभासद् चाहें तो प्रत्येक व्यक्ति को सभा में उपस्थित होना पड़ता था[5]। वादी और प्रतिवादी को क्रमशः अर्थी और प्रत्यर्थी कहा जाता था। जब कोई वादी न्याय के लिए न्यायालय (सभा) में निवेदन करता था तो उसे 'प्रश्न कहना' (प्रश्नमेनं प्रभाषताम्) कहा जाता था[6]। उस प्रश्न पर सभासदों के द्वारा निर्णय दिए जाने को 'प्रश्न का विवेचन या विवचन कहा जाता था। कहा गया है कि धर्म से सम्बन्धित प्रश्न पर सत्य के अनुसार निर्णय देने वाले काम, क्रोध या बल के वशीभूत न होने वाले धार्मिक (धर्मदर्शी) आर्य सभासद् जलती हुई आग की तरह सुलगते हुए पीडित वादी-पक्ष के कष्ट को सत्य धर्म के द्वारा शान्त किया करते हैं[7]। अन्यथा उन्हें असत्य का फल भोगना पड़ता है (६४)। यहाँ महाभारतकार ने महातेजस्वी कश्यप के वाक्यों में राजा प्रह्लाद को दिए गए उपदेश की चर्चा करते हुए कहा है कि जानते हुए भी न्याय-सम्बन्धी प्रश्नों में निर्णय न देने वाला (जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान्) व्यक्ति दण्ड

१—सभापर्व ६७–७१; द्रौपदी के कुरु-सभा में बुलाये जाने का प्रसंग।

२—विद्धोधमोऽद्युर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृतन्ति विद्धास्त्र सभासदः। वही, ६८, ७८।

३—न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते येन वदन्ति धर्मम्।
सो धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यत्छलेनाभ्युपेतम्॥ उद्योग, ३५, ५८।

४—सभा, ६६, ७, क्लिश्यमानामनर्हतीम्।

५—सभ्यास्त्वयी राजपुत्र्याह्वयन्ति···। वही, ६७, १४।

६—वही, ६७, १२; ६८, ५६ आदि।

७—सभा, ६८, ६०–६४।

का भागी होता है[1]। इसी प्रकार असत्य निर्णय देना भी पाप कहा गया है[2]। गवाह को 'साक्षी' कहा जाता था। कहा गया है कि साक्षात् देखने, सुनने या जानने के कारण ही उसे साक्षी कहा जाता है। इसीलिए जो साक्षी सत्य बोलता है वस वही धर्म और अर्थ से हीन नहीं होता[3]। सभासद् धर्म के सूक्ष्मतम पक्षों पर विचार करते हुए अपना मत बनाते थे और फिर अपना-अपना उत्तर देते हुए अपने-अपने पक्ष का प्रतिपादन करते थे। द्रौपदी के 'राजा युधिष्ठिर जब अपने आपको दाव पर लगा चुके थे तब उसके बाद उन्हें उसे (द्रौपदी) को दाव पर लगाने का अधिकार ही नहीं रह गया था, फिर अवैध रूप से दाव पर लगाई जाने के कारण उसके जुए में हारे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दुर्योधन के छोटे भाई विकर्ण ने सभा के सभासदों को आह्वान किया कि 'वे बतायें कि किसका कौन सा पथ है। मैं जो न्याय मानता हूँ' वह अवश्य कहूँगा। विकर्ण ने यहाँ कहा है कि राजा युधिष्ठिर ने व्यसनग्रस्त होने के कारण धर्म का परित्याग करते हुए चालाकी से जुआरियों के द्वारा चुनौती देकर बुला लिए जाने पर द्रौपदी को दाव पर लगाया है। युधिष्ठिर का द्रौपदी पर एकाधिकार न होने के कारण और वह सभी पाण्डवों की सामान्य अनिंद्य पत्नी होने के कारण तथा पहले अपने आपको हार जाने के बाद युधिष्ठिर द्वारा दाव लगाया जाने के कारण, और द्रौपदी को दाव पर लगाने का प्रस्ताव भी शकुनि के द्वारा रखा जाने के आधार पर सब पहलुओं पर विचार करके मैं इसे (द्रौपदी को) जूए में जीती हुई नहीं मानता। इस प्रकार के इन अभियोगों को विवाद कहते थे[4]। यहीं ६८ वें अध्याय में प्रह्लाद के सामने लाये गये एक विवाद का उदाहरण बना मनोरंजक है। स्वयं प्रह्लाद के पुत्र विरोचन और महर्षि अंगिरा के पुत्र सुधन्वा में एक कन्या के विषय में उसे वरण करने के लिए 'कौन श्रेष्ठ है ? यह विवाद हो गया। प्राणों की बाजी लग गई। विवाद प्रह्लाद के सामने लाया गया और कश्यप की प्रेरणा से उन्होंने सत्य निर्णय देते हुए अपने पुत्र की अपेक्षा सुधन्वा को ही श्रेष्ठ घोषित किया और कहा कि हे विरोचन ! ये सुधन्वा तुम्हारे प्राणों का स्वामी है। कहा गया है कि इस सत्य-धर्म के अनुसार किए गये निर्णय के प्रसन्न होकर सुधन्वा ने कहा 'क्योंकि पुत्र के स्नेह को छोड़कर आपने धर्म की सत्य व्यवस्था दी है इसलिए में आपके पुत्र को स्वाधीन

१—वही, ६८, ७४।

२—वही, ६८, ३७; दे० अविवेकेन वाक्यस्य नरकः, वहीं ६८ १२।

३—समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात्।
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ वही, ८५

४—सभा, ६८, २०–२४; द्रौपदी विषयक इस अभियोग में उपर्युक्त व्यवस्था के अतिरिक्त भीष्म, कर्ण, विदुर, दुर्योधन, द्रोण आदि के द्वारा दी गई व्यवस्थाओं तथा धृतराष्ट्र के अन्तिम निर्णय का अनुशीलन कानून के विद्यार्थी के लिए अतीव मनोरंजक होगा।

करता हूँ यह सौ वर्ष जिए'। इस प्रकार के निर्णयों के उदाहरण रहते हुए भी महाभारतकार का यह मत है कि 'धर्म की गति बड़ी कठिन है। विद्वान् महात्मा भी लोक में इसे समझने में असमर्थ रहते हैं। बलवान् व्यक्ति धर्म का निर्णय करते समय (धर्मवेलायाम्) जिस प्रकार धर्म समझते हैं वही धर्म माना जाता है दुर्बल व्यक्ति के द्वारा कहा गया धर्म भी अधर्म कह दिया जाता है। यही कार्य (मुक़दमें) के बड़े होने के अनुसार प्रश्नों के सूक्ष्म और गहन होने का भी उल्लेख है[1]।

ऊपर किए गये विवेचन से महाभारत में न्यायालयों की कार्यवाही और विचार विनिमय आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं। इनके अतिरिक्त न्यायालय में दिव्य परीक्षा की विधि महाभारतीय काल की विशेषता दिखाई देती है। मातरिश्वा आदि देवताओं को साक्षी करके या जल-स्पर्श करके, या शपथ खाकर वादी, प्रतिवादी या साक्षी अपने-अपने बयान देते थे। 'यदि मैं पाप करूं तो देवता मेरे प्राण ले-लें' 'आकाश गिर पड़े' 'मुझे सत्य की सौगन्ध' आदि वाक्यों से अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए लोग प्रायः न्याय-सभा में झूठ नहीं बोलते थे। तो भी साक्षियों के द्वारा धोखा दिए जाने के संकेत मिलते हैं। यही कारण है कि कुछेक विशेष व्यक्तियों को साक्षी न बनाये जाने का विधान किया गया है। साक्षी बनने के अयोग्य व्यक्तियों में हस्तरेखा आदि देखकर फल बताने वाले ज्योतिषी, (सामुद्रिकं) पहले चोरी करके व्यापार करने वाला व्यक्ति (चोरपूर्वं वणिजम्), जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक इन सातों की गणना की गई है।[2]

काम, क्रोध, लोभ आदि के वशीभूत झूठा निर्णय देने वाले व्यक्ति को 'दुर्विवक्ता' कहा गया है[3]। महाभारतीय न्याय-व्यवस्था में कहीं भी वादी या प्रतिवादी के पक्ष को लेकर न्यायालय में उपस्थित होने वाले पेशेवर वकीलों के होने के संकेत नहीं मिलते[4]। डा० स्पैलमैन ने दीक्षितार और जायसवाल के मत से असहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में 'जूरी' के द्वारा निर्णय दिए जाने का प्रचलन नहीं था।[5]

शान्तिपर्व में राजा को आदेश दिया गया है कि वह न्याय-व्यवस्था को उत्तरो-

---

१—सभा ६६, १४–१६।

२—शपथों के लिए दे० वन, २९१, २३; २५२, ४३; १२, १३० आदि अनुशासन, ९३, १ ६ आदि।

३—दे० उद्योग, ३५, ३१–३४ तक दुर्विवक्ता की दयनीय स्थिति का चित्रण।

४—दे० डा० स्पैलमैन, पृ० १२७–८; ए० एल० बाशम, दा वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० ११७।

५—स्पैलमैन, पृ० १२८; इस विषय में दे० वी० आर० दीक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० २४६–७; काशीप्रसाद जायसवाल। हिन्दू पालिटी, भाग १, पृ० ५४।

त्तर अधिकाधिक व्यापक क्षेत्रों में पूर्णतया लागू करे ।[1] कहा गया है कि 'बलवानों के बलात्कार से पीड़ित हो अत्यन्त दीनभाव से पुकार मचाते हुए अनाथ मनुष्यों को आश्रय देने वाला और उनका संरक्षक राजा ही होता है ।[2] इससे स्पष्ट है कि राज्य पीड़ित व्यक्तियों के संरक्षक के रूप में न्याय का संरक्षण प्रदान करता था ।

यदि किसी अभियोग में कोई गवाह या पैरवी करने वाला न होता था तो राज्य की ओर से अपेक्षित सुविधाएँ जुटाई जाती थीं । कहा गया है कि 'किसी अभियोग में उभयपक्ष के द्वारा दो प्रकार की बातें प्रस्तुत किए जाने पर यथार्थता का निर्णय करने के लिए साक्षी का बल श्रेष्ठ माना गया है किन्तु जहाँ कोई साक्षी न हो (असाक्षिकम्) पैरवी करने वाला मालिक-मुख्तार न हो (अनाथम्) उसकी छानबीन स्वयं राज्य को ही विशेष रूप से करनी चाहिये (परीक्ष्यं तद् विशेषतः) । और अपराधियों को अपराध के अनुरूप दण्ड देना चाहिये ।[3]

केवल अपराधियों को ही दण्ड दिया जाय इस बात की ओर महाभारतकार ने बहुत ध्यान दिलाया है कहा गया है कि 'दूसरे के अपराध का दण्ड दूसरों को कभी नहीं देना चाहिए । शास्त्रों और परम्परा के अनुसार विचार करके (आगमानुवरमं कृत्वा) यदि अपराध सिद्ध होता हो तो अपराधी को कैद किया जाय (बध्नीयति) अन्यथा तत्काल छोड़ दिया जाय (मोक्षयति) ।

महाभारतीय न्याय-व्यवस्था में जैसा कि हम कह चुके हैं, राजा को ही सर्वोच्च न्यायाधीश की स्थिति प्राप्त है । इसीलिए कहा गया है कि 'वैसे गुप्तचरों से मिलने मन्त्रियों से मंत्रणा करने तथा कोप की जाँच-पड़ताल करने का कार्य भी राजा को करना चाहिए परन्तु उसे विशेष रूप से दण्ड-विधान का कार्य स्वयं अपने हाथ से करना चाहिए क्योंकि इसी पर सारा राज्य प्रतिष्ठित होता है ।[4] महाभारतकार ने राजा के इस उत्तरदायित्व पर इतना बल दिया है कि वह चाहते हैं कि उसकी राजधानी उसकी इस न्यायनिष्ठा के कारण 'व्यवहार' के लिए भी प्रसिद्ध हो जाय, वहाँ सभी प्रकार से शान्ति का राज्य हो और कहीं से किसी अन्याय या उपद्रव का भय न हो ।[5]

दण्ड-व्यवस्था—

प्राचीन भारतीय दण्ड-विधान में न्याय-व्यवस्था करने, न्यायालयों के निर्णयों को कार्यान्वित करने और अपराधियों को दण्ड देने का उत्तरदायित्व राज्य का था ।

१—व्यवहारं च वर्धयेत् । शान्ति, ८६, ११ ।
२—नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् । शान्ति, १८ ।
३—शान्ति, ८५, १९, २० ।
४—चरन् मंत्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ।। वही, ८५, २० ।
५—प्रसिद्ध व्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् । वही, ८५, ८ ।

जहाँ राज्य के द्वारा धार्मिक व्यक्तियों का आदर-सम्मान, (पूजयेद् धार्मिकान्) प्रजाओं की रक्षा तथा कृपण, अनाथ वृद्ध और विधवा आदि की जीविका तथा योग–क्षेम का प्रवन्ध, आश्रमों और गुरुकुलों के लिए यथासम्भव वस्त्र, बर्तन और भोजन आदि सामग्री की व्यवस्था आदि कार्य किए जाते थे, वहाँ दूसरी ओर 'धर्म' (कानून) का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना भी राज्य का उतना ही महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व था।[1] महाभारतकार का कहना है कि 'अपराधियों को अपराध के अनुरूप दण्ड दिया जाय, यदि अपराधी धनी हों तो उन्हें सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाय, और निर्धन हो तो उन्हें वन्दी वनाकर कारागार में डाल दिया जाय। इसके अतिरिक्त जो अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति हों। (दुर्वृत्तान्, अं० वैड करैक्टर्स) उन्हें मार-पीटकर राह पर लाने का प्रयत्न किया जाय। इसके विपरीत शिष्टाचारी और श्रेष्ठ पुरुषों को सान्त्वना देते हुए सुख-सुविधा की वस्तुएँ उनके लिए जुटाकार संरक्षण प्रदान किया जाय।'[2]

महाभारतकार का कहना है कि ठीक–ठीक दण्ड-व्यवस्था करने वाला राजा अपने कर्त्तव्य (सनातन धर्म) का पालन करता है किन्तु बिना विचार किए या स्वेच्छा-पूर्वक दण्ड देने वाला राजा इस लोक में ही अपयश का भागी और परलोक में नरक-गामी होता है।[3]

महाभारतकार ने वहुत कठोर दण्ड देने की तथा दूसरों के धन का अपहरण करने की नीति को वड़ी भयानक एवं घातक वतलाया है[4] और जनता में विश्वास उत्पन्न करने तथा जिनका अपराध सिद्ध हो जाय (विज्ञानदोषेषु) उन्हीं को दण्ड देने का विधान किया है, साथ ही राजा के दयाशील और क्षमाशील होने की तथा कभी भी कठोर भाषा का प्रयोग न करने की नीति की प्रशंसा की गई है[5], तो भी महाभारत के सम्वद्ध अंशों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि दण्ड-व्यवस्था पर्याप्त कठोर थी। शान्तिपर्व में तथा अन्य स्थलों पर अनेक वाक्यों से इसका विस्तृत विवरण प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए किसी ग्राम या किसी के घर में आग लगाने वाले, चोरी

१—शान्ति, ८५, १८, २२, २३, २४, २५ आदि; दे० राजाशास्तः दुरात्मनाम्, उद्योग, ३५, ७१ आदि तथा यही पुस्तक, अ० ६।

२—अपराधानुरूपं च दंडं पापेषु धारयेत्।
वियोजयेद् धनैः श्रद्धानधनान बन्धनैः॥
विनयेच्चचापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः।
सान्त्वेनोयप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत्॥ शान्ति, ८५, २१-२२।

३—शान्ति, ८५, २३–२४।

४—'महच्च दण्डपारुष्यं अर्थदूषणमेव च'। उद्योग, ३३, ९२; 'परवित्तेषु गृद्धन्नं परितप्यसे, वही ३३, १४।

५—दे० उद्योग, ३३, १०५; वही, ३३, १४ तथा ५८।

करने वाले या व्यभिचार के द्वारा वर्णसंकरता फैलाने वाले तथा राजा की हत्या करने का षड्यंत्र करने वाले अपराधी या अपराधियों को अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर मारे जाने का दण्ड (चित्रोवध:) दिया जाता था[1]। शान्ति पर्व के २३ वें अध्याय में राजर्षि सुद्युम्न के द्वारा उग्र रूप से दण्ड धारण करने के कारण प्राचेतस दक्ष के समान सिद्धि प्राप्त करने का उल्लेख किया है। महाभारत के शंख-लिखित के उपाख्यान में अभिव्यक्त इतिहास पक्ष से यह सिद्ध होता है कि छोटे-छोटे फलों की चोरी जैसे अपराधों के लिए कितने कठोर दण्डों की व्यवस्था थी। कहा गया है कि एक वार ऋषि लिखित अपने सगे भाई शंख के आश्रम में आये। शंख वहाँ नहीं थे। उनकी अनुपस्थिति में लिखित ने शंख के आश्रम के पेड़ों से कुछ पके हुए फल गिराकर खा लिए। इस पर वड़े भाई शंख बिगड़ उठे और उन्होंने अपने उस मुस्कराते हुए छोटे भाई पर स्वयं ही फल लेकर इस प्रकार खा लेने के लिए चोरी का दोष लगाया और उससे कहा कि वह राजा सुद्युम्न के यहाँ जाकर स्वयं अपना यह 'जो वस्तु विधिवत् नहीं दी गई उसे स्वयं ले लेने का अपराध (अदत्तादानम्) निवेदन करे और चोरी का दण्ड पाकर आये। कहा गया है कि द्वारपालों से महर्षि लिखित के इस प्रकार उपस्थित होने की बात सुनकर राजा अपने मन्त्रियों समेत पैदल ही उनके स्वागत के लिए गये और उनके आने का कारण पूछने पर जब उन्होंने महर्षि से स्वयं ही चोरी का दण्ड देने की प्रार्थना सुनी तो उन्होंने वड़े विनय से निवेदन किया, 'यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं तो उसे क्षमा करके आपको लौट जाने की आज्ञा देने का भी अधिकार (अनुज्ञायामपि तथा हेतु:) है ही। आप शुद्ध आचरण वाले और महाव्रती हैं मैं आपका अपराध क्षमा करके आपको जाने की आज्ञा देता हूँ आप कोई अन्य सेवा बतायें'। परन्तु ब्रह्मर्षि लिखित ने दण्ड को ही वर के रूप में माँगा। कहा गया है कि तब उस राजा ने महात्मा लिखित के दोनों हाथ कटवा दिए और यह दण्ड पाकर वह लौटकर अपने वड़े भाई के पास गये और उससे अपनी दुर्बुद्धि के लिए दण्ड पाने की घटना सुनाते हुए क्षमा माँगी। इस पर उसे क्षमा करते हुए महर्षि शंख ने कहा कि अपने जगद् विख्यात पवित्र निर्मल और निष्कलंक कुल की परम्परा के विरुद्ध आचरण करते हुए लिखित ने धर्म का उल्लंघन किया था अत: उसी का यह प्रायश्चित किया गया। वस्तुत: वह अपने छोटे भाई से न तो क्रुद्ध ही थे और न उनका कोई अपराध ही था[2]। इस गाथा में अभिव्यक्त विधि शंख लिखित-उपाख्यान (शान्ति २३, १८–३८) आदि कथाओं से अभिव्यक्त विधि, न्याय तथा दण्ड-विधान सम्बन्धी मान्यताओं का सार यही है कि शाश्वत कानून की परम्पराओं का प्रमादवश भी उल्लंघन न होने देने के लिए इस प्रकार के दण्ड की व्यवस्था उस काल में अनिवार्य मानी जाती थी, जो सम्बन्धित अपराध का उचित प्रायश्चित मानी जा सके।

१—राज्ञोवधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत्।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरिकस्य च ॥ शान्ति, ८५, २२।
२—शान्ति, २३, १८–३८।

न केवल अपराधियों को ही, अपितु उन्हें आश्रय देने वाले या छिपाने वाले व्यक्तियों को भी भयंकर दण्ड दिया जाता था। एक राजा ने अणीमाण्डव्य ऋषि को इसीलिए सूली पर चढ़वा दिया क्योंकि उसके आश्रम में दस्युओं का गिरोह छिपा मिला[1]। उक्त गाथा इस प्रकार कही गई है कि कुछ डाकुओं का पीछा करते-करते रक्षक पुरुष (रक्षिणः) जब उक्त ऋषि के पास पहुँचे और उन्होंने उससे पूछा कि बतलाओ डाकू किस रास्ते से गये हैं ?' तो वह अच्छा बुरा कुछ न कहते हुए चुप रहा। किन्तु बाद में उसके आश्रम की छानबीन करने पर (विचिन्वानाः) डाकू और चोरी का धन ऋषि के आश्रम में ही छिपे मिले। रक्षियों को उक्त काण्ड से ऋषि पर शंका हो गई और वे उसे भी डाकुओं के दल के साथ ही उसे भी बांधकर राजा के सामने लाये। राजा ने आज्ञा दी (अनु+अशात्) कि इसे भी चोरों के साथ ही मृत्युदण्ड दिया जाय[1]। उपर्युक्त अभियोग की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि रक्षियों की शंका और राजा की दण्डाज्ञा निराधार नही थी। समाज विरोधी तत्त्वों को आश्रय देने की सम्भावना को रोकने के लिए ही उक्त कठोर दण्ड दिया गया था। उक्त तथ्यों के प्रकाश में हम डा० स्पैल्मैन के उस निष्कर्ष से असहमति प्रकट करते हैं जो उन्होंने उक्त अभियोग के आधार पर निकाला है और कहा है कि 'अधिक जाँच पड़ताल किए विना ही यों ही वेचारे ऋषि को दण्ड दे दिया गया। यद्यपि सिद्धान्तरूप से पक्षपातरहित होकर, सावधानी से जाँच-पड़ताल करने के बाद और केवल निश्चित अपराध प्रमाणित होने पर ही दण्ड दिए जाने की व्यवस्था की गई है, उपाख्यानों से तो यही संकेत मिलता है कि इन पहलुओं का प्रायः अभाव ही रहता था।' वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के साहसिक निष्कर्षों का कोई अधिकृत आधार नहीं है, यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सभी देशों और कालों की तरह महाभारतीय काल में भी मानवीय दुर्वलताओं के परिणामस्वरूप ऐसी घटनाएँ होती होगी जिनमें दण्ड-व्यवस्था के शाश्वत सिद्धान्तों के विरुद्ध भी निर्णय और राजाज्ञाएँ दे दी जाती होंगी। परन्तु इस प्रकार के अपवादों को नियम की संज्ञा देना सरासर अन्याय ही कहा जायगा। क्योंकि प्राचीन भारत में इस प्रकार अन्याय करने वाला राजा अपने निजी अस्तित्व को संशय में डालकर ही इस प्रकार का निरंकुश आचरण कर सकते थे।

प्रशासन को नीतियाँ और आदर्श एक ऐतिहासिक पक्ष

महाभारतकार की प्रशासक सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करने के प्रसंग में प्रशासन की नीतियों और आदर्शों का मैकियावेली के चिन्तन के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से अपेक्षित है। प्राचीन भारत की तथा पुनर्जागरण काल के इटली की परिस्थितियों में प्रशासन-कला का जो स्वरूप विकसित हुआ उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओं के साम्य और वैषम्य पर संक्षेप में सांकेतित शैली में

१—आदिपर्व, १०७।
२—डा० स्पैलशन, पृ० ११९।

विचार करने पर ही हम उसे भलीभाँति परख सकते हैं। यद्यपि राज्य की उत्पत्ति, राज्य के कार्य और उद्देश्य, राजा के गुण, योग्यता, उत्तरदायित्व तथा कार्य एवं आदर्श तथा दण्डनीति आदि के विषय में विवेचन प्रस्तुत करते समय हम उन दृष्टियों से विचार करते हुए परोक्ष रूप में प्रशासन के मौलिक सिद्धान्तों की चर्चा कर चुके हैं, परन्तु शासन-सत्ता के शुद्ध दृष्टिकोण से उसकी प्रशासन-सम्बन्धी परम्पराओं और नीतियों पर विचार करना परम आवश्यक है। प्रश्न यह है कि जिन उच्च आदर्शों और सिद्धान्तों पर राजनीतिक तत्त्वदर्शन की प्रतिष्ठा की गई थी क्या वास्तविक प्रशासन कार्य में उन्हें व्यवहार में परिणत किया जाता था? महाभारतकार और मैकियावेली के इसी व्यावहारिक प्रशासन पक्ष पर तुलनात्मक प्रकाश डालना यहाँ अभिप्रेत है क्योंकि कोरे सिद्धान्तों और आदर्शों की अधिक चर्चा पूर्णतया अनपेक्षित और अनावश्यक सिद्ध होगी।[1]

शासन-सत्ता की नीति—

महाभारतकाल में ऐसी प्रशासन-नीति का समर्थन किया गया है जिसमें आदर्श और यथार्थ का समन्वय और सामञ्जस्य हो। महाभारतकार ने आदर्श नीतियों का प्रतिपादन भी किया है तथा साथ ही अन्य उपयुक्त स्थलों, व्यावहारिक नीतियों का भी। महाभारतकार के मतानुसार व्यक्ति और राज्य की सुरक्षा और समृद्धि के लिये समाज में अराजकता और मत्स्य-न्याय की परिस्थितियों को दूर करते हुए धर्म के शासन की स्थापना करते हुए समाज के सभी घटकों को स्वधर्म का पालन करने के लिये प्रेरित तथा बाध्य करना तथा स्वयं भी स्वधर्म का पालन करते हुए अपराधियों और दुष्टों का दमन करना प्रशासन का उत्तरदायित्व है।[2] इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये महाभारतकार का सबसे पहला और प्रमुख प्रशासन सूत्र यह है कि—

(१) शासक को निरा मृदु और क्षमाशील नहीं होना चाहिये। शान्तिपर्व में अनेक वाक्यों में अनेक प्रकार से इसी तथ्य पर बल दिया गया है परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि उसे इतना तीक्ष्ण भी नहीं होना चाहिये कि उसकी जनता उद्विग्न हो उठे। शासक मृदु होने से लोग उसकी आज्ञाओं और विधियों का उल्लंघन करने लगते हैं तथा कठोर व्यवहार से शासन लोकप्रिय नहीं रहता। अतः आवश्यकतानुसार कोमलता और कठोरता का अवलम्बन किया जाय।[3] इसी प्रकार यहीं यह भी

१—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से महाभारतीय प्रशासनिक मान्यताओं पर विशेष विचार करने के लिये दे० क्रमशः शान्ति, ६६, ३, ७६, १४, ११३, १७–२०, ५६, ४४–४६, ५७, ३३–३७, ८७, २४, ९२, ११–२१, अनुशासन ६१, २२–३१ आदि।

२—दे० यही पुस्तक, अ० ३।

३—मृदुर्वि राजा सततं लंघ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्योद्विजते लोकः तस्मादुभयमाश्रय॥ शान्ति, ५६, २१।

कहा गया है कि शासक को वहुत अत्यधिक क्षमाशील और सहनशील भी नहीं होना चाहिये। वृहस्पति के मत को उद्धृत करते हुए महाभारतकार का कहना है कि अत्यधिक सहनशील व्यक्ति हाथी की तरह लोगों को अपने सिर पर सवार होने की प्रेरणा देता है। अतः राजा को पसना के सूर्य की तरह सुहावना (श्रीमान्) न तो वहुत ठंडा और न ही वहुत गरमी देने वाला (न शीतो न च धमंदः) होना चाहिये।[1]

महाभारतकार के द्वारा प्रतिपादित प्रशासन-नीति की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें शासक को सदैव उत्थानशील और जागरूक रहने का आदेश दिया गया है। कहा गया है कि उत्थान (पुरुषार्थ) के विना केवल भाग्य शासकों का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। यद्यपि प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही सफलता के सामान्य कारण माने जाते हैं ता भी पुरुषार्थ ही प्रधान है।[2] आगे चलकर यहीं कहा गया है कि राज्य सभी को ललचाने वाली उपभोग की वस्तु है, अतः स्पष्ट नीति के द्वारा ही इसकी रक्षा संभव है।[3] अपने ऊपर संयम और वश न रखने वाले इसे नहीं सम्हाल सकते (धार्यते नाकृतात्यभिः, शान्ति, ५८, २१) शुक्राचार्य का मत है कि पुरुषार्थ से शून्य और विरोध से डरने वाले शास्त्रों को भूमि निगल जाती है।[4] दण्ड धारण करना, उग्रता और प्रजाओं की रक्षा करना और भयभीत लोगों को अभयदान देना यही क्षत्रिय का परम्परागत धर्म है।[5] इस विषय में शायद महाभारतीय नीति का यथार्थ व्यावहारिक रूप दुर्योधन के उन शब्दों में मिलता है जिनमें कहा गया है कि वृहस्पति ने सामान्य लोगों के व्यवहार से राजा के व्यवहार को भिन्न वतलाया है इसलिये राजा को सदैव किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए स्वार्थ का चिन्तन करना चाहिये।[6] दुर्योधन के धृतराष्ट्र को अपने युधिष्ठिर से द्वेष करने का कारण समझाते हुए आगे कहा है कि क्षत्रिय की वृत्ति का आधार वस्तुतः सफलता और विजय है। यह विजय धर्म है या अधर्म यह विचार करना ठीक नहीं जो अपनी अजीविका (वृत्ति) हो उसमें धर्म और अधर्म का प्रश्न ही क्या (स्ववृत्तौ का परीक्षणा वही, ७)। वह कहता है कि समृद्धि का मूल है असन्तोष, और वह असन्तुष्ट ही रहना चाहता है अपनी समृद्धि और समुत्थान के लिये जो यत्न करता है वही सबसे श्रेष्ठ नीति का पालन करता है।

महाभारत की उक्त दोनों प्रशासन नीतियाँ आश्चर्यजनक रूप से मैकियावेली

१—शान्ति, ५६, ३७–४०। मिलाइये, वही १०३, ३३ और १०४, ३३। क्षमा के विषय में, उद्योग, ३३।

२—शान्ति, ५६, १४–१५, ५८, १३–१८, १३९, ८२, दैवं क्लीबा उपासते।

३—राज्यां सर्वाभिषं नित्यमाजवेनेह धार्यते। वही, ५८, २२।

४—वही, ५७, ३ तथा मिलाइये २३, १५।

५—आदि, ११, १७–१७।

६—लोकवृत्ताद् राज्यवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थचिन्त्यः सदैव हि॥ सभा० ५५, ६।

की मान्यताओं के सदृश हैं। मैकियावेली ने सामान्य तथा सभी शासकों को और विशेषतः उन नये नरेशों को, जो किसी राज्य पर आधिपत्य जमा लेने के बाद उस पर अधिष्ठित रहना चाहते हैं, यह आदेश दिया है कि वह शासन-प्रभुता एवं शक्ति का उचित सुनियोजित प्रयोग कठोरता और साहस के साथ करें।[1] मैकियावेली ने सम्पूर्ण इटली को एक राष्ट्र के रूप में एक ही नरेश के आधिपत्य में देखने की अपनी आकांक्षा से प्रेरित होकर जिस विजिगीषु नरेश की कल्पना की थी और जिसके लिये आचार-संहिता के रूप में उसने प्रिंस की रचना की, उसने उसे आदेश दिया है कि वह नये राज्यों को अधिगम करने के पश्चात् विशेष रूप से कठोर नीति का पालन करे।

साथ ही मैकियावेली ने महाभारतकार की तरह राज्य-प्राप्ति के दोनों कारणों अर्थात् भाग्य और योग्यता में से योग्यता पर ही अधिक बल देते हुए कहा है कि जो व्यक्ति भाग्य पर कम से कम भरोसा करता है अधिक से अधिक प्रबल होकर अधिष्ठित हो जाता है।[2] इस प्रकार राज्य में अधिष्ठित होने को शासक की योग्यता के अनुपात के अनुसार ही न्यूनाधिक सरल या कठिन मानते हुए मैकियावेली ने शासकीय योग्यता की दृष्टि से यह सुझाव दिया है कि विजेता को अपनी सुरक्षा के लिये क्रूरता का ठीक उपयोग करना आना चाहिये। शक्ति का क्रूरता-पूर्वक प्रयोग जितना आवश्यक हो एक ही बार कर डालना चाहिये किन्तु उसे बाद में और अधिक मात्रा में जारी नहीं रखना चाहिये, यदि उसके द्वारा जनता का हित न होता हो। इस प्रकार तो, नर या नारायण की कृपा से, राज्य की सुरक्षा होती है। किन्तु इसके विपरीत जो क्रूरताएँ प्रारम्भ में कम परन्तु समय के साथ घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जाती हैं उनसे निश्चित ही विनाश होता है।[3] मैकियावेली का यह विश्वास है कि सूक्ष्म परीक्षा के पश्चात् जितनी क्षतियाँ पहुँचानी आवश्यक हों उन्हें सभी को एक साथ कार्यान्वित कर दिया जाय जिससे कि वे कम देर तक और कम अनुभव हों और जनता में कम रोष निर्माण करें। इसकी तुलना में जो लाभ पहुँचाने हों उन्हें धीरे-धीरे दिया जाय जिससे कि उन का आस्वाद कहीं अधिक देर तक रहे।[4] इससे यह स्पष्ट है कि मैकियावेली ने भी महाभारतकार की उसी नीति का समर्थन किया है जिसके अनुसार राजा उग्र होकर फिर मृदु बने रहने का (तीक्ष्णो भूत्वा मृदुर्भव) उपदेश दिया गया है।[5]

परन्तु इस विषय में हर्बर्ट बटरफील्ड का कहना है कि मैकियावेली ने अपने नये नरेश के लिए जिन नीतियों का उपदेश दिया है उनमें असामान्य एवं उग्र उपायों की प्रधानता है। उसका कहना है कि मैकियावेली का समकालीन जिसियार्डिनी भी

१—प्रिंस, अ० ३।
२—प्रिंस, ५।
३—वही, अ० ८।
४—प्रिंस, ८, ६८।
५—दे० यही पुस्तक, ७, दण्डनीति पर।

उसकी क्रूरतापूर्ण नीति से असहमत था और शायद, जैसा कि वर्ड महाशय का कथन है, इसीलिए मैकियावेली के मित्रों ने भी प्रिंस की प्रशंसा में कोई अधिक रुचि नहीं दिखाई प्रतीत होती। हो सकता है कि यह क्रूरता पुनर्जागरणकाल के इटली के निरंकुश शासकों के गले में भी नहीं उतर पाई। तथा स्वयं मैकियावेली ने भी यह स्वीकार किया है कि उसने राज्य की सुरक्षा और वृद्धि के लिये जिन उपायों का निर्देश किया है उन्हें लोग अमानवीय और असंभव समझते हैं, (डिस्कोर्सेज, ३, २७)[1] वास्तविकता यह है कि इटली की जिन परिस्थितयों को दृष्टि में रखकर उसकी एकता और स्वाधीनता की रक्षा के लिए एक राष्ट्रीय शासन की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए मैकियावेली ने जिन उपायों का निर्देश किया है उन्हें क्रूर और कठोर कहकर मैकियावेली की निन्दा करना ठीक नहीं। राष्ट्रहित और जनहित को ध्यान में रखते हुए ही मैकियावेली ने तथा कथित उग्र उपायों के द्वारा सामाजिक संगठन और सदाचार की नींव रखने के लिए एक व्यावहारिक नीति का समर्थन किया है। महाभारत में भी, प्रशासन-नीति के व्यावहारिक स्वरूप का, जिसका वर्णन हम आपद्धर्म के प्रसंग में यहीं आगे करेंगे, जो प्रतिपादन किया गया है वह कोई अधिक भिन्न नहीं है।

महाभारतकार की प्रशासन-नीति की तीसरी विशेषता है निग्रह और अनुग्रह की सन्तुलित दण्ड-व्यवस्था। घमंडी, कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान न रखने वाले और कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को, चाहे वह अपना गुरू (आचार्य, पूज्य या बड़ा) ही क्यों न हो, दण्ड देने के सनातन विधान का पालन करना शासक के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है[2]। कहा गया है कि राज्य का उच्छेद करने में लगे हुए पहले अपकार करने में प्रवृत्त हुए व्यक्तियों को तथा जनता के हित के साथ द्वेष रखने वाले समाज विरोधी तत्त्वों को सर्वथा नष्ट कर दिया जाय[3]। स्वधर्म का पालन करने वाले दुष्टों का इस प्रकार दमन करने के साथ शिष्ट और सदाचारी व्यक्तियों की रक्षा भी की जाय। इस प्रकार निग्रह और अनुग्रह का सन्तुलित व्यवहार राजा के लिए परम धर्म है[4]। कहा गया है कि जो शासक न तो उपकार कर सकता है और न ही अपकार वह उपेक्षा के योग्य हो जाता है[5]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतीय प्रशासन-नीति में विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनों पक्षों पर ही उचित बल दिया गया है। मानव स्वभाव की मूलभूत देवी और आसुरी प्रवृत्तियों को ध्यान

१—हर्बर्ट बटरफील्ड, स्टेट क्राफ्ट आफ् मैकियावेली, पृ० ९६–७।
२—शान्ति, ५७, ७।
३—वही, ६९, १७।
४—दे० यही पुस्तक, ७, दण्डनीति मिलाइये, शान्ति, ७६, ५, १३८, ४७–८। अ० ५९, ११०, १९–२६।
५—वही ६९, १८।

में रखकर ही मानव-हित का उत्तरदायित्व वहन करने वाली शासन-सत्ता की नीति का निर्धारण उचित है।

इसके विपरीत मैकियावेली मानव-स्वभाव की स्वार्थपरायणता और दुष्टता में ऐकान्तिक विश्वास रखता है। यद्यपि अपने नीतिग्रन्थ की भूमिका में उसने स्वयं अपने आजीवन निःस्वार्थ और ईमानदार रहकर कार्य करने तथा इसके प्रमान के रूप में दरिद्र होने का उल्लेख किया है, तो भी मैकियावेली का विश्वास है कि सामान्यतया मनुष्य सदैव अपने स्वभाव में निहित दुष्टता का परिचय देने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। यदि उन्हें भले रहने के लिए बाध्य ही न कर दिया जाय[1]। उत्तरदायित्व और कर्तव्य के सूत्रों को वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों के लिए सदैव तोड़ डालते हैं[2]। महाशय जे० डवल्यू० एलन ने मैकियावेली के उक्त विश्वास की व्याख्या करते हुए लिखा है, मैकियावेली की इस घोषणा का, कि सभी मनुष्य दुष्ट होते हैं, केवल यही तात्पर्य हो सकता है कि उसका स्पष्ट विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज-विरोधी समाज के हितों के लिए घातक व्यवहार करने के लिए हर समय तैयार रहता है, यदि उसे ऐसा करते समय अपना कोई निजी हित दिखाई देता है। भलाई उसी को कहा जाता है जिसे मैं अपने ही निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर, अपने पड़ोसी के द्वारा कार्य रूप में परिणत किये जाते देखना चाहता हूँ। परन्तु वह पड़ोसी भी और मैं भी, अपने निजी स्वार्थों के लिए, बुराई को अपनाने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। मनुष्य की इच्छा, मूलरूप से समाज विरोधी और अराजकता पूर्ण माननी पड़ती है और यही वस्तुतः वह प्रमुख मूल तथ्य जो राजनीति और व्यावहारिक शासन-संचालन के क्षेत्र की केन्द्रीय समस्या है[3]। हम देखते हैं कि मैकियावेली ने अपनी उक्त धारणा के कारण ही ऐकान्तिक क्रूरता के उचित उपयोग का परामर्श दिया है। हांलांकि पुनर्जागरण काल के इटली में भी सभी लोग उसके उक्त सिद्धान्त से सहमत नहीं थे और मानव-स्वभाव में निहित साधुता में भी विश्वास करते थे[4]।

१—प्रिंस, २३।

२—वही, १७। मानव-स्वभाव के विषय में मैकियावेली के विचारों के लिए दे० यही पुस्तक, अ० २।

३—जे०डवल्यू० एलन, हिस्टरी आफ् पौलिटिकल थाट इन द सिक्टीन्थ सैंचुरी, पृ० ४५३। दे० प्रिंस, १७, १८।

४—दे० हर्वर्ट वटरफील्ड द्वारा, वही, पृ० १११ पर टिप्पणी में उद्धृत जिसियाडिनी, ओपेरे इनेडाट्ट (फायरेंज १८५७) पृ० १, पृ० १०—११, का एक अंश, संपूर्ण मानव-जाति दुष्ट नहीं है। हां यह ठीक है कि किसी राज्य की स्थापना करते समय, तथा अन्य सभी आयोजनों में, ऐसा प्रवन्ध अवश्य किया जाना चाहिए कि यदि कोई दुष्टता पर उतारू हो जाये तो उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने के सामर्थ्य से वंचित किया जा सके। परन्तु यह इस कारण नहीं किया जाय कि सभी मनुष्य सदैव दुष्टता करने को तैयार रहते हैं। .. ....

इस विषय में मैकियावेली का मत यह है कि मनुष्य अपने निजी लाभ और सुरक्षा के लिए राज्य की कामना करता है। उसकी स्वार्थमयी कामना का लक्ष्य है व्यवस्था शान्ति और सुरक्षा। अतः यह स्वाभाविक है कि वह सार्वजनिक हित में ही अपना भी हित देखे और इसीलिए वह अपने परम्परागत शान्त, सुखी, संघर्षपराङ्मुख अपेक्षाकृत सरल, शान्त और सुरक्षित जीवन का अभ्यासी और इच्छुक है और इसी-लिए विप्लव, क्रान्ति और परिवर्तन की अपेक्षा व्यवस्था चाहता है। इन्हीं विचारों के आधार पर अपनी नीति की स्थापना करते हुए वह अपने नरेश को अनुग्रहशील बनने, गुणों और योग्यताओं का सम्मान करने, न्याय की स्थापना करने और कृतज्ञता के बन्धनों में अपनी जनता को बांधने का आदेश देता है[1]।

महाभारतकार और मैकियावेली की प्रशासन नीति की चौथी विशेषता सभी उपायों का कूटनीतिक प्रयोग है। महाभारतकार ने शासनसत्ता को सुविचारित एवं सुनियोजित मंत्रणाओं को भी भली प्रकार गुप्त रखते हुए उस प्रकार कार्यान्वित करने का आदेश दिया जिस प्रकार से लोकसंग्रह और लोक कल्याण का अधिक से अधिक सम्पादन हो सके। इन उपायों और नीतियों की सफलता इस बात पर ही सबसे अधिक निर्भर करती है कि उन्हें कितनी कुशलता से सफलतापूर्वक व्यवहार में लाया जाता है। शान्ति पर्व के अनेक सुभाषितों में राजधर्म का उपदेश करते हुए पितामह भीष्म ने सभी कार्यों को आर्जव और चाणाक्षता के साथ सम्पन्न करने और लोगों के सामने अपना और नीतियों का वह पथ प्रस्तुत करने का आदेश दिया गया है जो लोकप्रियता और लोकसंग्रह की दृष्टि से लोगों को भुलावे में डालने के लिए उचित हो। वे कहते हैं, जो बात राजकीय रहस्य हो, विषय के लिए जो लोकसंग्रह दिया जाय राजा (शासक) के हृदय में किसी कारण से जो कोई कुटिल (योजना) हो, अथवा कोई कुटिलता-पूर्ण अथवा आपत्कालीन कार्य हो उसे सावधानी और सरलता के साथ गोपनीय रखना चाहिए और लोगों को भुलावा देने के लिए (दम्भनार्थं च लोकस्य) धार्मिक जैसी (धर्मिष्ठाम्) प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से राजा के लिए राज्य की रक्षा के साधनों का परिगणन करते हुए भीष्म ने कहा है कि गुप्तचर नियुक्त करना, दूसरे राष्ट्रों में अपने राजदूत भेजना सेवकों को उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समय पर वेतन और भत्ता देना, युक्ति से कर लेना, अन्याय से प्रजा के धन को न हड़पना, सत्पुरुषों का संग्रह संगठन करना, शूरता, दक्षता, सत्यभाषण, प्रजा का हित चिन्तन, सरल या कुटिल उपायों से भी शत्रु पक्ष में फूट डालना, पुराने निकेतनों और मन्दिरों का जीर्णोद्धार, दीन दुखियों की देखभाल, समयानुसार शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकार के दण्ड का प्रयोग करना, साधु पुरुषों का त्याग न करना कुलीन व्यक्तियों को अपने पास रखना, संग्रहयोग्य

१—दे० प्रिंस, १७ तथा २४।
२—शान्ति, ५८, १९–२०।

वस्तुओं का संग्रह करना, बुद्धिमान् पुरुषों की सेवा भी करना, पुरस्कार आदि के द्वारा सेना का हर्ष और उत्साह बढ़ाना, नित्य-निरन्तर प्रजा की स्वयं देखभाल करना (प्रजानामन्ववेक्षणम्), कार्य करने में थकान या कष्ट का अनुभव न करना (कार्येष्वखेदः) कोश को बढ़ाना, नगर की रक्षा का पूरा प्रबंध करना, इस विषय में दूसरों के भरोसे न रहना, नागरिकों की गुटबन्दियों में फूट डलवाना, शत्रु मित्र और मध्यस्थों पर यथोचित दृष्टि रखना, दूसरों के द्वारा राजकीय सेवकों में फूट डाले जाने को रोकना, स्वयं ही नगर एवं दुर्ग का निरीक्षण करना, किसी पर पूरा विश्वास न करना, दूसरों को आश्वासन देना, नीति धर्म का अनुसरण करना, सदैव उत्थानशील अर्थात् नये उत्साह, नये उद्योग और पराक्रम में विरत होना, शत्रुओं की ओर से सावधान रहना तथा नीच कर्मों एवं दुष्ट मनुष्यों का सर्वथा सदा के लिए परित्याग कर डालना शासक के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है[1]। यद्यपि महाभारतकार के द्वारा निर्दिष्ट उक्त नीतियाँ आपद्धर्म पर्व में आगे चलकर प्रतिपादित की गई अतीव उग्र और आपत्कालीन नीतियों की तुलना में सामान्य और सैद्धान्तिक जान पड़ती है तो भी इनके पालन में भी बड़ी बुद्धिमता और जागरूकता के साथ व्यवहार करते हुए अपने आपको प्रभावपूर्ण एवं दुर्धर्ष बनाये रखने के महत्त्व पर बल दिया गया है। कहा गया है कि इस प्रकार जागरूकता, पराक्रम और पुरुषार्थ (उत्थानेन) के द्वारा राक्षसों का संहार करके ही इन्द्र ने स्वर्ग और इस लोक में श्रेष्ठता प्राप्त की है[2]।

महाभारतकार की उक्त नीति की तुलना में मैकियावेली यद्यपि इसी प्रकार कुशलता पूर्वक प्रशासन की नीतियों के कार्यान्वित किए जाने की प्रेरणा देता है परन्तु उसमें अपेक्षाकृत कहीं अधिक चाणाक्षता और कुटिलता पर बल दिया गया है। स्पेन के शासक फर्डीनेण्ड का उदाहरण देते हुए उसने कूटनीति और दम्भ के राजनीतिक प्रयोग के एक विशेष व्यवहार-शस्त्र का ही प्रणयन कर दिया है[1]। आधुनिक राजनीति में जिसे प्रचारतंत्र (अ० प्रोपैगण्डा टेकनीक्) कहा जाता है उसी प्रकार की एक कुशलतापूर्वक संचालित नीति, मैकियावेली के अनुसार, प्रशासन की सुरक्षा और सफलता के लिए आवश्यक है। महाशय डबल्यू० टी० जोन्स ने मैकियावेली की इसी विशेषता को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मैकियावेली के अनुसार बुद्धिमान् शासक अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिये केवल शक्ति पर ही भरोसा नहीं करेगा। क्योंकि आखिरकार शक्ति और शास्त्रों की नौक से शासन चलाना न केवल परिणाम में अत्यन्त व्ययसाध्य और अप्रभावी साधन होगा अपितु इसकी अपेक्षा सामान्य तथा उचित रूप से सन्तुष्ट जनता पर शासन करना कहीं

१—वही, ५८, ५–१२।
२—शान्ति, ५८, १४।
३—दे०, यही पुस्तक, अ० ६।

अधिक सरल होगा। क्योंकि जनता के लिए विशेष अनुग्रह किए विना भी कुछेक उपायों के द्वारा उन्हें अनुशासित, शान्त और सन्तुष्ट रखा जा सकता है[1]। अतः मैकियावेली के कुशलतापूर्वक जनता को वहलाये रखने तथा साथ ही घृणा और अनादार से वचे रहने की नीति को राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वतलाया है। तभी तो वह उदारगुणों से युक्त होने या उनके अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा वैसा दिखाई देने की आवश्यकता पर अधिक वल देता है। अपनी इस मान्यता के आधार पर प्रकाश डालते हुए वह फिर मानव-स्वभाव और मानव-योग्यता की ओर संकेत करते हुए कहता है कि नरेश को सत्य और साधुता के विरुद्ध जहाँ तक हो सके, (यदि वह ऐसा करने के वाध्य ही न हो जाय) आचरण नहीं करना चाहिए परन्तु उसे यह आना चाहिए कि यह कैसे किया जाय। नरेश को अपने आचार, व्यवहार और वोलचाल से अपने आपको क्षमाशील, सत्यवादी, मानवीय, न्यायशील और धार्मिक दिखलाने की चेष्टा करनी चाहिए। धार्मिकता से युक्त दिखाई देना सवसे अधिक आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य व्यक्ति को हाथों की अपेक्षा आँखों से ही अधिक परखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वही देखता है जैसा कोई दिखाई देता है। वास्तविकता रूप को वहुत थोड़े लोग जान सकते हैं और वे वहुसंख्यक समर्थकों की राय के विरोधी होने का साहस नहीं कर सकते। मैकियावेली ने शायद फर्डीनेण्ड की ओर संकेत करते हुए यही लिखा है कि वर्तमान काल की एक नरेश...केवल शान्ति और सत्य धर्म का ही उपदेश देता रहता है और वह इन्हीं दोनों का परम द्रोही है। और शान्ति या धर्म एक का भी यदि उसने कभी भी पालन किया हो तो उसकी ख्याति और राज्य कितनी ही वार नष्ट हो गये होते[2]। प्रिंस में यही आगे वह कहता है कि हमारा अनुभव यह वताता है कि जिन नरेशों ने वड़े कार्य किए हैं उन्होंने अच्छी नैतिकता या धार्मिक जीवन को कम ही महत्त्व दिया है। उन्होंने बुद्धि के कूट प्रयोगों द्वारा मनुष्यमात्र की बुद्धि को चमका देना ही जाना और अन्त में उन लोगों पर अपना अधिपत्य जमा लिया जिन्होंने उनके वचनों पर विश्वास किया[3]। मैकियावेली का कहना है कि शासक को अपने असली रूप को छिपाने (दम्भनार्थ) में वड़ा कुशल और पक्का छद्मवेषी होना चाहिए। यही प्रशासकीय सफलता का गुर है। क्योंकि मनुष्य इतने सीधे-सादे और सरल होते हैं कि वे अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदैव लालायित रहते हैं और इसलिए सफलता पूर्वक वहकाये जा

१—डवल्यू० टी० जोन्स, मास्टर्स आफ् पोलिटिकल थाट (एडवर्ड मैकशेस्ने द्वारा संपादित, १६४७) ३ ए संस्करण, भाग २, पृ० ४६, (यहीं देखिये मैकियावेली के द्वारा इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर रोमनों द्वारा मजहव के उपयोग करने के लिए विषय में डिस्कोर्सेज, १, ११–१४ का उद्धरण)।

२—प्रिंस, अ० १७।

३—वही अ० १८, १३७।

सकते हैं[१]।

महाभारतकार ने परम्परागत राजधर्म और राजनीति को धर्म मानकर पालन करने का आग्रह किया है[२]। तो भी उनका यह स्पष्ट मत है कि क्षत्रिय को ऐसी नीति का पालन करना चाहिए जिसमें क्रूरता, चाणाक्षता, उग्रता और कठोरता का सन्तुलित समन्वय हो। उसे नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके भी अपने युद्ध में विजय प्राप्त करने के कार्य में सफलता प्राप्त करनी चाहिए। उसे बुद्धि और वल दोनों का उपयोग करते हुए अपने परम्परागत कर्तव्य का पालन करना ही चाहिये[३]। इसी आधार पर शान्ति पर्व में महाभारत-युद्ध में सफलता प्राप्त कर लेने पर भी निर्वेद के आवेश में वैराग्य धारण करने की इच्छा रखने वाले युधिष्ठिर को अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी और अन्त में मुनिवर देवस्थान के द्वारा क्षत्रिय-धर्म का ही पालन करने का उपदेश दिलाया गया है[४]। साथ ही नैतिकता और शील के महत्त्व पर वल देते हुए सत्य और धर्म के अनुसार व्यवहार को राज्य और राजा की सुरक्षा का स्रोत वतलाया गया है[५]। कहा गया है कि राजा धर्मानुकुल, आचरक तीव्र शासन कानून और न्याय की प्रतिष्ठा, बलात्कार और भय तथा दरिद्रता का निवारण करते हुए सुशासन की स्थापना करने पर ही प्रजा की आय का छटा भाग करके रूप में ग्रहण करने और उसका उपभोग करने का अधिकारी है अन्यथा वह यदि प्रजाओं का पालन ठीक ढंग से न करे तो निरा चोर (पार्थिवतस्करः) है[६]। कहा गया है कि जिसके राज्य में जनता निरन्तर उद्विग्न रहती है, कर के भार से पीडित रहती है तथा उसे नाना प्रकार के अनर्थ सताने रहते हैं उसका पराभव निश्चित है[७]। इसके विपरीत जिसकी प्रजा सरोवर में कमलों की तरह विकास एवं बुद्धि को प्राप्त होती वह सभी प्रकार के फलों का भोग करता है तथा स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है[८]।

१—वही, १८, १३८।

२—क्षत्रिय के स्वधर्म के लिये दे० यही पुस्तक, अ० ४, तथा मिलाइये, वन २९७, ३१–३२, उद्योग, ७०–७१, ८०, १६–१७, १३०, ७–८, भीष्मपर्व २३–४० (भगवद्गीता), २४, ३१ विराट् ४०, ४२–४३, ४५–७ श्री घोषाल द्वारा उद्धृत पृ० २५१–२।

३—घोषाल पृ० २५२–५३।

४—शान्ति, ८–२२ तक। मिलाइये सत्य और धर्म के अनुरूप व्यवहार के विषय में, शान्ति, ६६, ७–१३, ९७, १--२।

५—दे० प्रह्लाद–उपाख्यान, शान्ति, १२४, ६४–६।

६—शान्ति, १३९, ९७–१०८।

७—शान्ति, १३९, १०९।

८—वही, १३९, ११०। मिलाइये उतथ्य–मान्धाता–संवाद, शान्ति, ९१, ९२–९५ मनु० ९, ३०१, वौद्धतम के लिए यही पुस्तक, अ० ६, शान्ति, ११०, ४–१८। ७६, १५--३४ १०१, २–५।

इससे यह स्पष्ट है कि महाभारतकार की उक्त सीमित राजतंत्र के द्वारा प्रशासित सर्वहितकारी राज्य की सी वैध और शान्तिपूर्ण शासन-नीति परम्परागत और शान्ति कालीन ही है क्योंकि इसके विल्कुल विपरीत एक अन्य आपत्कालीन और नैतिकता के बन्धनों से उन्मुक्त विजिगीषा, सुरक्षा और समृद्धि के लिये सभी नैतिक और आर्य व्यवहारों का तिलांजलि देने वाली आपद्धर्म का भी आगे चलकर पृथक् प्रतिपादन किया गया है[1]।

महाभारतकाल की जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों ने आपद्धर्म पर्व में अभिव्यक्त नीतियों को जन्म दिया है वे निश्चित रूप से संघर्ष, विप्लव क्रान्ति अस्थिरता और अशान्ति से पूर्ण रही होंगी। इसी के परिणामस्वरूप जनता राज्य दोनों की अस्त-व्यस्त और संकटपूर्ण स्थिति में भी सुरक्षा करने के लिए उग्र किन्तु अस्थायी और आपत्कालीन नीतियों का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यह मानना होगा कि ये आपत्कालीन नीतियाँ महाभारततकार के समग्र राजधर्म का एक अस्थायी अल्प अंश ही है। महाभारतकार ने केवल आपत्काल में और राज्य के वाहरी और भीतरी शत्रुओं के विरुद्ध ही ऐसी कूट और उग्र नीतियों का प्रयोग करने की अनिच्छा पूर्वक अनुमति दी है[2]। राज्य के अनेक शत्रुओं से घिर जाने, मित्रों के द्वारा साथ छोड़ दिए जाने, सेना और कोष के नष्ट हो जाने, मन्त्रियों के द्वारा विश्वासघात किए जाने, शत्रुराष्ट्र पर अभियान कर चुकने के वाद किसी अन्य शत्रु का आक्रमण हो जाने, देश में वहुत समय से शासक और अतिदमन के कारण विघटन हो जाने पर ही आपद्धर्म के पालन का आदेश दिया गया है[3]।

आपद्धर्म का स्वरूप—आपद्धर्म की असामान्य नीतियों के अतिरिक्त सामान्य महाभारतीय चिन्तन का आदर्श यही रहा है कि नैतिकता के अनुकूल आचरण वहीं तक उचित होता है जहाँ तक व्यक्ति और समाज की सुरक्षा और समृद्धि के लिए वह उचित और आवश्यक हो[4]। सत्य और धर्म के अनुसार आचरण करना ही यदि असत्य और अधर्म बन जाता हो तो महाभारतकार उसकी अनुमति नहीं देते। सत्य और धर्म का लक्ष्य प्राणियों की रक्षा और समृद्धि है उन्हें क्षति और विनाश का लक्ष्य बनाना नहीं। वेद यद्यपि धर्म के स्रोत हैं परन्तु सभी कुछ वेदों में ही नहीं लिखा है। अपने या अन्य किसी के प्राणों का संकट उपस्थित होने पर, विवाह सम्बन्ध स्थापित करने आदि के प्रसंगों में बुद्धि से काम लेना उचित है ऐसे समय असत्य ही सत्य बन जाता है। इस प्रकार उक्त उद्धरण में महाभारतकार ने यह प्रमाणित किया है कि नैतिक मूल्यों के पालन का प्रश्न सापेक्ष है। कहा गया है कि कोई कितना भी धर्मनिष्ठ हो,

१—शान्ति, १३१-१४२ (आपद्धर्म—पर्व)
२—दे० शान्ति १४०, ७० १३० ५—९।
३ वही १३० १—४।
४—वही, ११०, ४—१८।

वह चाहे राजा हो या गृहस्थ अथवा ब्रह्मचारी, पूर्णतया धर्म का आचरण नहीं कर सकता। जो राजा धृष्ट, निर्भय, शूरवीर, प्रहार करने में कुशल, नृशंसता से रहता, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और राज्य के धन का प्रजाओं पर संविभाग करने वाला हो वही जनता के जीवन का आधार होता है। कितने ही शासक धर्म का थोड़ा उल्लंघन करके भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। इस विषय को लेकर उपस्थित किये गये युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने स्पष्ट कहा है कि कुछ लोगों का मत है कि धर्म की प्रतिष्ठा और स्वायित्व सत्य से ही सुरक्षित रहता है। कुछ लोग इसके विपरीत युक्तिवाद (उपपत्या) से ही धर्म की प्रतिष्ठा करने में विश्वास करते हैं। कुछ लोग धर्म की प्रतिष्ठा के लिये नैतिक मूल्यों के अनुसार आचरण को (साध्वाचारतया) महत्व देते हैं तथा कुछ लोग यथावश्यक साम, दान, दण्ड, भेद आदि उपायों के यथोचित प्रयोग को धर्म मानते हैं। वस्तुतः तो दोनों ही नीतियाँ (द्वे प्रज्ञे) हैं सरल और कुटिल और कुटिल भी (ऋज्वी वक्रा च)[१] इस प्रकार सत्य, बुद्धि और अच्छी परम्पराओं का पालन करते हुए राज्य और अपनी सुरक्षा तथा समृद्धि के लिये शासक को विवेक पूर्वक सचेष्ट होने का आदेश दिया गया है। कहा गया है कि शास्त्रों का स्वाध्याय करने से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है (विजानाति) विज्ञान से ही उचित उपाय का निर्णय करने की शक्ति-योग-निश्चयात्मिका बुद्धि की प्राप्ति होती है यही ऐश्वर्य का सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।[२] धर्म के अनुसार आचरण करने से न्यायोचित जीवन, बल (शक्ति) की उपलब्धि हो ही जाय यह निश्चित नहीं है इसलिये आपत्तिकाल में अधर्म भी धर्म हो जाता है और यदि अधर्म होता भी है तो आपत्तिकाल के टल जाने पर उसका परित्याग कर प्रायश्चित किया जा सकता है। आचरण वह किया जाये जिससे धर्म की हानि भी न हो और राज्य की स्वाधीनता भी बनी रहे उसे शत्रुओं के अधीन न होना पड़े।[३] और अधिक स्पष्ट शब्दों में इसी नीति को प्रस्तुत करते हुए, अन्याय से भी कोश-संग्रह करने का आदेश देते हुए महाभारतकार ने कहा है सामर्थ्यशाली पुरुषों का धर्म दूसरा है और आपत्तियों में ग्रस्त पुरुषों का दूसरा। पहले कोश-संग्रह कर लेने पर ही धर्म-पालन का अवसर प्राप्त होता है इसलिये आजीविका या जीवन निर्वाह (वृत्तिः) धर्म की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। (धर्माद् गरीयसी)[४] फिर राजा को अपने धर्म का पालन करने के लिये क्षत्रियोचित वृत्ति का परित्याग तथा हिंसा का आश्रय भी स्वीकार करना पड़े तो ठीक है। भाग्य के भरोसे या कानूनी ढंग से ही चलते हुए तो जीवन चलाना भी कठिन है फिर उससे प्रजा-पालन की इच्छा की पूर्ति कैसे हो सकती है। यज्ञ की क्रियाओं में यज्ञ के लिये क्या अकार्य भी नहीं किये जाते। इसलिये

१—शान्ति, १०१, १–५।

२—विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः॥ वही १३०, १०–११।

३—यथा ध्योन ग्लायेन्नेयात् शत्रुवश यतः॥ शान्ति, १३०, १७।

४—वही, १३०, १४।

अर्थ और अनर्थ का निर्णय बुद्धि के द्वारा किया जाना चाहिये।[1]

इस प्रकार आपद्धर्म की न्याय्यता का समर्थन करते हुए महाभारतकार ने जिन प्रशासन नीतियों का प्रतिपादन किया है उनकी विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है। महाभारतकार का कथन है कि इस आपद्धर्म का उपदेश भारद्वाज कणिक ने सौवीर देश के राजा शत्रुन्जय को दिया है।[2] यहाँ हम उसके केवल प्रशासन-नीति से सम्बन्धी विचारों का ही संग्रह करेंगे क्योंकि युद्ध और विदेश नीति सम्बन्धी अधिकांश मान्यताओं पर अगले अध्याय में विचार किया ही जायगा। कणिक का कहना है कि सदैव दण्ड देने के लिये उद्यत रहना चाहिये और नित्य निरन्तर पुरुषार्थ (पौरुष) का परिचय देना चाहिये अपनी दुर्बलताओं को नहीं रहने देना चाहिये और शत्रुओं की दुर्बलताओं पर दृष्टि रखनी चाहिए। इस प्रकार के शासक से लोग बहुत डरते हैं इसलिये दण्ड के द्वारा ही समस्त प्राणियों को वश में करना चाहिये।[3] चारों उपायों में दण्ड ही प्रधान और उपादेय है। (९)। संकटकाल में सुन्दर मंत्रणा, उत्कृष्ट पराक्रम और उत्साह-पूर्वक युद्ध करना चाहिये परन्तु अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंग से पलायन भी करे। राजा को केवल वाणी से ही विनयशील होना चाहिये परन्तु हृदय में छुरे की तरह तीखा बना रहे, मुस्कराकर मीठे वचन बोले तथा काम और क्रोध दोनों से दूर रहे (१३) जिस किसी की बुद्धि संकट में पड़कर शोकाभिभूत हो जाये उसे अतीतकाल की बातें बतलाकर जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है उसे भविष्य में लाभ की आशा दिलाकर और निडर और बुद्धिमान लोगों को तत्काल धन-सम्मान आदि देकर शान्त करे (१४)। अवसर देखकर शत्रु के सामने हाथ जोड़े, शपथ खाये, आश्वासन दे, सिर झुकाकर बात करे, आँसू पोंछे परन्तु कन्धे पर वहन किये गये शत्रु को भी समय आने पर उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ दिया जाता है (१७–१८) कृतघ्न व्यक्तियों से अर्थ-सम्बन्ध न रखे। प्रयोजन सिद्धि की इच्छा वाले लोग काम आ सकते हैं, जिनका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है वे उपकारी पुरुष की उपेक्षा कर देते हैं इसलिये सभी कार्य दूसरों के लिये अधूरे करके रखे (२०) बगुले की तरह कर्तव्य विषयों (अर्थात्) का चिन्तन करे, सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे, भेड़िये की तरह शत्रु को खा डाले और बाण की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़े (२५)। राजा बांस का धनुष बनाये, हिरन की तरह चौकन्ना सोये, समय के अनुसार अन्धा और बहरा भी बन जाये, सभी कार्य करते समय देश; काल का विचार करे। इस प्रकार की सन्तुलित

१—वही, १३०, २४–३९। इसी विषय पर दे० १३०, १–१८, १३१–१३२, १४०, १–३३ आदि।

२—शान्ति, १४०; ७–६९।

३—मिलाइये प्रिंस, अ० १७, मनुष्य जिसे प्यार करता है उसके विरुद्ध कार्य करने में कम संकोच का अनुभव करता है परन्तु जिससे वह डरता है उसके प्रति ऐसा नहीं करता।

रीति-नीति का आदेश देते हुए भी महाभारतकार का कहना है कि राजा मछुए की तरह दूसरों के मर्म विदीर्ण किये विना, दारुण और क्रूर कर्म किये विना तथा हिंसात्मक हत्या आदि कृत्यों के विना बहुत बड़ी समृद्धि का स्वामी नहीं हो सकता। करुण निवेदन करने वाले शत्रु को भी कभी क्षमा न करे उसे कभी न छोड़े, पूर्वापकारी को मारने में दुःख न माने, दोषदृष्टि का परित्याग करके, संग्रह और अनुग्रह करके लोक-संग्रह करता रहे तथा साथ ही शत्रुओं का दमन भी प्रयत्नपूर्वक करे (५०–५३)। महाभारतकार का मत है कि उक्त दारुण कार्य करते हुए भी शासक को अपने इस क्रूर रूप को ढांपने के लिये नितान्त धार्मिकों का सा आचरण करना चाहिये। कहा गया है कि प्रहार करने के लिये उद्यत होने पर भी प्रिय वचन ही बोलना चाहिये, प्रहार करने के बाद भी प्रिय वाणी ही बोले, यहाँ तक कि शत्रु का मस्तक स्वयं तलवार से काटकर भी शोक करे और रोये (५४) मधुर वचन बोल कर दूसरे का सम्मान करके और सहनशीलता का परिचय देते हुए लोगों को अपने पास आने का निमन्त्रण दे। जो राजा अपने ऐश्वर्य की कामना करता हो वह लोक की आराधना अर्थात् जनता का सम्मान और अनुनय अवश्य करे (५५)। किसी कार्य को अच्छी तरह सम्पन्न किये विना न छोड़े, सदा सावधान रहे (६०) दूर दृष्टि, लक्ष्यपरायणता, सावधानी, पराक्रम सशंकता और चाणाक्षता का व्यवहार क्रमशः गिद्ध, बगुले, कुत्ते, सिंह, कौए और सर्प के समान करे (६२) जो अपने से शूरवीर हों उन्हें हाथ जोड़कर वश में करे, डरपोकों को भय दिखाकर, लोभियों को धन देकर तथा अपने समान लोगों के साथ संघर्ष (विग्रह) करके उन्हें वश में लाये (६३) विद्वान् पुरुष से विरोध मोल न ले। उससे विरोध करके यह सोचकर आश्वस्त न रहे कि मैं दूर हूँ। बुद्धिमान् व्यक्ति की बाहें बहुत लम्बी होती हैं (उसके द्वारा किये गये प्रतिकार के उपाय दूर तक प्रभाव डालते हैं) अतः यदि उस पर चोट की गई तो वह अपनी इन्हीं बाहों से शत्रु का विनाश कर डालता है। अन्त में महाभारतकार ने बड़ी आलंकारिक भाषा में बतलाने की चेष्टा की है कि कर्तव्य-कर्म करने से पहले शासक को भली प्रकार सोच कर ही कोई कदम उठाना चाहिये। कहा गया है कि जिसे पार न कर सके वहाँ तैरने का प्रयास ही न करे, जिसे दूसरा फिर छीन कर ले जा सकता हो उसे छीने ही नहीं, जिसकी जड़ को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो उसे न खोदे और उस पर आघात ही न करे जिसका सिर धरती पर काट कर न गिरा सके।[1]

आपद्-धर्म की न्याय्यता—

ऊपर लिखी गई तथाकथित आपत्कालीन नीतियों का प्रतिपादन करते हुए भी महाभारतकार ने नैतिक दृष्टि से अनुचित जैसे लगने वाले और समाज की नैतिक चेतना में स्वाभाविक रूप से विद्रोह और विकार को जन्म देने वाले व्यवहारों का समर्थन केवल इसलिये किया है कि कहीं धार्मिक और नैतिक मर्यादाओं से पंगु होकर

१—शान्ति, १४०, ६९।

शासक का कर्तृत्व अकस्मात् उपस्थित हुई परिस्थितियों में (आपद्) में उचित विवेक पूर्ण निर्णय लेने में हिचक न जाये। राजा का क्षत्रिय का सबसे बड़ा धर्म रक्षा करना है। धर्म, कर्तव्य और कर्म क्या है इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी ठीक निर्णय नहीं दे सकते।[1] अतः उचित ही है कि महाभारतकार एक ऐसी प्रशासन-नीति की स्थापना करते जो रूढ़ और परम्परागत धर्म और उद्देश्यों के लिये पूरक होते हुए भी वर्तमान की परिस्थितियों के अनुकूल हो, लचीली, परिवर्तनशील और इसीलिए देश और काल के अनुरूप होने के कारण अधिक प्रभावी तथा विजयदायिनी हो। महाभारतकार ने इसीलिए इसे नीति का प्रतिपादन अलग और भिन्न शीर्षक से किया है।

आपद्धर्म तथा सामान्य महाभारतीय नीति—

महाभारत में अभिव्यक्त अन्य प्रशासन-नीति सम्बन्धी मान्यताओं से इस आपत् नीति की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नीति में पर्याप्त रूप में पाये जाने वाले व्यावहारिकता के तत्त्व किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण महाभारतीय मान्यताओं में ओत प्रोत हैं। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों की सी आदर्शवादिता का प्रभाव महाभारतीय मान्यताओं पर उतना नहीं है, उसकी अपेक्षा अर्थशास्त्रीय कूटनीतिक एवं व्यावहारिक राजनीति के तत्त्व कहीं अधिक प्रचण्ड रूप में विकसित होते प्रतीत होते हैं। शान्तिपर्व में ही १२०वें अध्याय में राजा को राजपक्षी मोर का सा आचरण करने का उपदेश देते हुए बड़ी आलंकारिक भाषा में जिन व्यावहारिक नीतियों का उपदेश किया गया है उन्हें यहाँ अवतरित करना पुनरावृत्ति मात्र होगा।[2] इसके अतिरिक्त महाभारत के सबसे पहले पर्व में ही प्रायः सम्पूर्ण आपद्धर्म को इसी रूप में हम कणिक नीति के नाम से संकलित पाते हैं। कूटनीति अर्थात् मायापूर्ण नीति का विवेकपूर्ण आचरण मानवीय संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में एक अनिवार्य आवश्यकता थी।[3] इस प्रसंग में महाराज धृतराष्ट्र के श्रेष्ठ मन्त्री कणिक ने राज्य के कण्टकों का मूलोच्छेद करने, कठोर और उग्र उपायों का प्रयोग करते हुए भी लोगों को आश्वासन और भुलावा देकर ही वैसा करने, शत्रुओं के साथ कपटपूर्ण नीति अपनाने, शपथ खाकर धन देकर, विष प्रयोग से या माया से जैसे भी बने शत्रु का संहार करने, स्वयं किसी के द्वारा न ठगे जाने, शत्रुओं से सदैव सशंक और सावधान रहकर बुद्धिपूर्वक उचित तैयारी करते रहने आदि का उपदेश दिया है।[4] इससे आगे सभापर्व में देवर्षि नारद ने प्रश्नात्मक शैली में युधिष्ठिर से जिन राजनीतिक विषयों की चर्चा की गई है उनसे

१—दे०—किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः,
गहना कर्मणो गतिः। भीष्म: २८, १६–७।

२—शान्ति, १२०, ४–१६।

३—आदि, १४०। दे० महाभारतीय तत्वदर्शन के आधारभूत हेतुओं के अनुशीलन के लिए, यही पुस्तक, अ० २ और ३।

४—आदि, १४०, ६–२३ या ५०–८६ तक।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शासन-विज्ञान का इतना जटिल और पूर्ण विकास भारतीय राजशास्त्र की विस्मयजनक प्रगति का द्योतक है।[1] इस विवरण से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार ने उग्र उपायों और नीतियों का समर्थन केवल उन व्यक्तियों और राष्ट्रों के साथ निपटने के लिए किया है जो नैतिक नियमों की अवहेलना करके कपटपूर्ण उग्र और घातक उपायों से आततायिता के द्वारा राज्य की सुरक्षा को ही खतरे में डालने पर तुले हों। कार्यसाधकता के सिद्धान्त और विचारों के द्वारा समर्थित इन नीतियों के कारण राजनीति के धार्मिक नैतिक एवं सर्वहितकारी रूप की हानि कदापि वांछनीय नहीं है। इनके सांकेतिक दिग्दर्शन से हमें यह अनुभव करने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि महाभारतीय काल में प्रशासन सम्बन्धी विषयों के विषय में व्यापक, गहन और सोपपत्तिक विवेचन किया गया था। इस विकसित और शासन-कला ने ही भारतीय राजनीतिक ढाँचे की अच्छे-बुरे सभी कालों में रक्षा की। इसमें कोरी रूढ़िवादिता, अध्यात्मप्रधानता या धर्मभीरुता के दर्शन नहीं होते, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक यथार्थ एवं आदर्श का समन्वित सामंजस्य इसकी विशेषता है। इसकी तुलना में मैकियावेली के द्वारा अपने प्रिंस में प्रस्तुत शासन-कला केवल आपत्कालीन और विशिष्ट परिस्थितियों में विशेष प्रकार का शासन चलाने के लिए उपयुक्त दिखाई देती है। सामान्य काल में सर्वसामान्य परम्परागत शासनतन्त्रों को चलाने के लिए जिस प्रकार की प्रशासन-नीति अपेक्षित है उसके विषय में प्रिंस में बहुत कम लिखा गया है।[2]

मैकियावेली ने जिस शासन-विज्ञान का प्रतिपादन किया है वह एकांगी एवं आपत्कालीन सा है उसमें सार्वकालिक सार्वदेशिक तथा समग्र तत्त्वदर्शन की सी पूर्णता का अभाव है। वस्तुतः देखा जाय तो उसकी मानव स्वभाव सम्बन्धी मान्यतायें जिनका हम पहले ही विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं, जिनके आधार पर उसने अपनी प्रशासन-नीतियों का निर्माण किया है सर्वथा अनेकान्तिक, एकांगी और उसकी निजी है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि मैकियावेली जिन लोकतन्त्रीय मान्यताओं के लिए डिस्कोर्सेज के आधार पर विख्यात है वह मान्यतायें प्रिंस लिखते समय तक ऐतिहासिक घटनाओं के तथा इटली की आन्तरिक परिस्थितियों के कारण उसकी श्रद्धा का विषय नहीं रह गई थी। जन सामान्य की साधुता, परम्परागत विधियों और संविधानों के सामर्थ्य और सार्वजनिक जीवन की वलवती संभावनाओं में उसे विश्वास नहीं रहा था। इसीलिए उसने पुनर्जागरण काल के इटली के सार्वजनिक जीवन के भ्रष्टाचार का निराकरण तथा प्राचीन चारित्र्य, सामर्थ्य और गौरव का निर्माण करने वाली स्वतन्त्र संस्थाओं की स्थापना करने के लिए राष्ट्रीय जीवन के सम्पूर्ण सामर्थ्य और साधुता

१—सभा, ५। विशेषतः दे० श्लोक क्रम २०, ३२, ३५, ५२, ६७, ६६, ७१।
२—दे० हर्बर्ट वटरफील्ड, वही पृ० ६०।
३—दे० यही पुस्तक, अ० २।

का केन्द्र नरेश को मानकर अपने देश के स्वर्णिमभविष्य की कल्पना की। भ्रष्टाचार ग्रस्त, पद-दलित और खण्डित इटली को एक सबल और स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य के रूप में गौरवोन्नतमस्तक होकर खड़ा होने की प्रेरणा देने के लिये तथा उसके लिये आवश्यक वरणीय नीतियों को अनुकरणीयता का समर्थन करने के लिये उसने रोमनों के गौरवमय इतिहास की घटनाओं और पद्धतियों को उद्धृत करके अपने अरमानों के नरेश को प्रोत्साहित करना चाहा। अपने तत्त्वदर्शन को व्यावहारिक और प्रामाणित रूप देने के लिए अनेक समकालीन या निकट अतीत के नरेशों की सफलताओं और विफलताओं तथा रीति-नीतियों की अपने लक्ष्य के अनुसार क्रमशः प्रशंसा व निन्दा करके उसने अपने निजी अनुभवों और व्यावहारिक राजनीतिक सत्यों पर आधारित सोपपत्तिक नीति वाक्यों को प्रिंस में एक पूर्ण चिन्तन के रूप में प्रस्तुत किया। परन्तु इसके सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि मैकियावेली का ध्यान प्रशासन के केवल उन पहलुओं पर ही अधिक केन्द्रित है जिन्हें जिनमें शासन-सत्ता की ही प्राप्ति और राज्य पर अपना आधिपत्य बनाये रखना राज्यों का विकास के मार्ग में आने वाले विघ्न तथा विघटन आदि। वह अच्छी विधियों, अच्छी सेवाओं, अच्छे मित्र राष्ट्रों और अच्छे पराक्रमी, दूरदर्शी, व्यवहार कुशल तथा सार्वजनिक भावना व राष्ट्रहित की कल्पना से युक्त नरेशों की आवश्यकता पर बल देकर एक शक्तिशाली इटली राष्ट्र के उदय का स्वप्न देखता है। स्पष्ट है कि इतने बड़े निर्माण-कार्य के लिए धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से भी निर्दोष एवं सर्वथा वैज्ञानिक और व्यावहारिक शासन-नीतियाँ अपेक्षित हैं। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि प्रिंस में इस प्रकार के समग्र शासन विज्ञान का प्रतिपादन नहीं है। प्रिंस में वर्णित नीतियां इटली की विशिष्ट परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट उद्देश्यों से प्रेरित होकर मैकियावेली जैसे उत्कृष्ट स्वप्न द्रष्टा की निजी विशिष्ट अनुभूतियों के आधार पर एक विशिष्ट काल के लिए प्रतिपादित की गई हैं। इसीलिए उसके इस प्रकार एकांगी होने के कारण उसमें अनेक अन्तर्विरोध, अनुपपत्तियाँ और असंभावनायें भरी हैं और शतशः समालोचकों ने कभी तो उसके स्वरूप को लेकर तथा कभी उनकें परिणामों की कल्पना करके अनेक प्रकार से उनका खण्डन-मण्डन किया है।[1] आलोचना-प्रत्यालोचना के अनावश्यक विस्तार में न जाते हुए यहाँ हम

१—महाशय फ्रांसिस्को जिसियार्डिनी ने मैकियावेली को उसके तत्त्वदर्शन के आधार पर अपनी सम्मतियों के बारे में असंयत तथा नई और असाधारण बातों का आविष्कारक कहा है (मैकियावेली को पत्र दिनांक १४ मई स० २१, मैकियावेली, लेटर फेमिलियरी, १८१), महाशय फ्रेडरिक चेबोड ने प्रिंस के २१वें अध्याय से उद्धरण देते हुए बताया है कि यहाँ अपने राजनीतिक प्रनियम का समर्थन करने के लिए मैकियावेली बड़े मानवीय और नैतिक पर बल देते हुए कहता है कि मनुष्य इतने बेईमान कभी नहीं होते कि वे कृतघ्नता के ऐसे उदाहरणों के द्वारा आपको परेशान करेंगे। यह विचार मानव स्वभाव विषयक उसी के विचारों से मेल नहीं

(शेष पृष्ठ ३९८ पर)

केवल प्रिंस के आधार पर मैकियावेली की शासन-नीतियों के स्वरूप का विवेचन ही करना चाहेंगे जिससे कि महाभारतीय तत्त्वदर्शन की भूमिका में उनका उचित मूल्यांकन और पर्यालोचन किया जा सके।

मैकियावेली ने नये नरेशों को दृष्टि में रखकर उन्हें अपने भाग्य अथवा योग्यता से ही प्राप्त हुए अपने नये राज्यों की समस्याओं का समाधान करने तथा राज्यों पर सुदृढ़ आधिपत्य बनाये रखने में सफल सहायता देने के उद्देश्य से अपनी शासन-नीतियों का निर्धारण किया है[1]। क्योंकि वह इटली में एक सुशक्त एक राज्य का स्वप्नद्रष्टा है प्रिंस के दूसरे अध्याय में उसने लिखा है कि वंशानुसंक्रमित राज्यों के शासन और संरक्षण में नये राज्यों की अपेक्षा कम कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जिन राज्यों में कोई शासक-वंश बहुत लम्बे समय से अभिमत होकर राज्य करता आया हो उनके शासक के लिए इतना ही पर्याप्त है कि (१) वह अपने पूर्वजों की परम्पराओं का उल्लंघन न करे तथा (२) जैसे ही ज्यों ही जो भी परिस्थितियाँ उपस्थित हों उनका विवेकयुक्त समाधान करता जाय। इस प्रकार केवल इतने से सामान्य सामर्थ्य एवं योग्यता वाला पुरुष भी आपको अपने राज्य पर प्रतिष्ठित रख सकेगा। यदि वह किसी असाधारण और अत्यधिक प्रबल शक्ति के द्वारा ही प्रभुत्त्व से वंचित न कर दिया जाय। यदि वह इस प्रकार अपदस्थ हो भी जाय तो जब कभी इस नये विजेता से कोई अपराध बन पड़े या उस पर विपत्ति आ जाय तो नरेश अपने राज्य को फिर से प्राप्त कर सकता है। वंशानुसंक्रमित राज्य में निग्रहात्मक कार्यवाही करने के कारण कम आते हैं और इसकी आवश्यकता भी कम पड़ती है। अतः यदि नरेश किन्हीं असाधारण दोषों के कारण घृणा-पात्र ही न बन गया हो तो वह और ही अधिक लोकप्रिय होता चला जाता है।

शासन-नीतियों के संक्षिप्त दिग्दर्शन और मैकियावेली के राजा के आचार-व्यवहार कर्तव्य और उत्तरदायित्व आदि के विषय में अभिव्यक्त किए गये विचारों के अध्यायों में किए गये पर्यालोचन से एक बात स्पष्ट रूप से समक्ष जाती है कि वस्तुतः मैकियावेली ने उन मानवीय नियमों और नीतियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिनके आधार और अवलम्बन पर शासक का कठिन कार्य सफलतापूर्वक चल सके[2]। अत; निकोलो का यह प्रिंस इन्हीं साहसिक यथार्थ नीतियों का एक स्पष्ट निदर्शन हैं।

(पृष्ठ ३९१ का शेष)

खाता। उदाहरण के लिए १८वें अध्याय में वह कहता है कि क्योंकि वे (मनुष्य), दुष्ट-खल होते हैं, और आपके साथ कभी ईमानदार नहीं रहेंगे। मैकियावेली खण्ड रिनेसा, पृ० ६३ टिप्पणी।

१—मैकियावेली के राजतंत्र के विशद विवेचन के लिए दे० यही पुस्तक अ० ३।

२—देखिए यही पुस्तक, अ० ६। राजा उत्तरदायित्व, कर्तव्य और प्रकाश आदि के विषय में।

हमारा यह विश्वास है कि निकोलो के तत्त्वदर्शन का अनुशीलन प्रिंस में वर्णित राजनीति और उसकी पृष्ठभूमि को ही ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए समालोचकों के द्वारा अपने निजी पूर्वाग्रहों के आधार पर उक्त राजनीति के परिणामों को भी अच्छे बुरे रंगों में निकोलो पर ही थोपकर एक नितान्त अन्यायपूर्ण परम्परा का श्रीगणेश इस विषय में किया गया है। मैकियावेली की शासन-नीति की यह समालोचनाएँ विविधता परस्पर विरोध कहीं-कहीं अनगलिता में अपना सानी नहीं रखती। प्रसिद्ध अंगरेज विद्वान् वोलंग ब्रोक ने मैकियावेली की शिष्यता और अधर्मणता स्वीकार करके स्वयं अपने देश प्रजातन्त्रीय इंलैण्ड में सार्वजनिक भ्रष्टाचार से गस्त जीवन के लिए मैकियावेली के तत्त्वदर्शन को देशभक्त सम्राट् के सिद्धान्त के रूप में प्रचारित किया, इस तथ्य का उल्लेख करते हुए भी हर्बर्ट बटरफील्ड ने अत्यन्त अन्याय्य और कटु समालोचना के सार पर उतरते हुए मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन को केवल कार्यसाधकता परक, अनैतिक, सनकीपन और पागलपन से उद्भूत, कोरे सिद्धान्तवाद पर आधारित और इतिहास के अवैज्ञानिक तथा अराजनयिक अध्ययन और अन्धानुकरण से प्रेरित कहा है। हर्बर्ट वस्तुतः मैकियावेली की समालोचना करते करते गालियों तक उतर आया है[1]। इस क्षेत्र में हर्बर्ट के प्रतिरथी विख्यात इटलीवासी मनीषी फ्रेडरिक चेवोड का मैकियावेली विषयक विवेचन नितान्त वज्ञानिक और सचाई से भरा हैं। श्री चेवोड ने पुनर्जागरण काल के इटली की मैकियावेली की समकालीन परिस्थितियों पर विद्वतापूर्ण प्रकाश डालते हुए उसकी प्रिंस में अभिव्यक्त राजनीति की मीनेख, होवोन जिसियार्डिनी, फेरारी, ओरिमानी, जौन, एडिंगटन, मेयर, दे मक्टिस, वेटोरी तथा पैसी आदि विद्वानों के विभिन्न मतों का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया है कि मैकियावेली ने अपनी सर्वातिशायी और पूर्ण प्रतिभा के द्वारा यह समझकर कि संगठित, अभ्रष्ट जनशक्ति ही स्वतंत्र जीवन बिताने की योग्यता प्रदान करती है (प्रिंस ६ तथा ६) तथा यह मानकर कि नरेश में निहित प्रभुता और साधुता के द्वारा नियंत्रित राजशक्ति ही इटली के सन्तुलनहीन और भ्रष्ट जीवन का नियंत्रण कर सकती है, मानवीय चरणों के द्वारा अनन्तकाल से अनुसृत राजमार्ग पर एकता और वैभव की ओर इटली राष्ट्र केवल इसी प्रकार चल सकता है और यही मार्ग है 'जिसके द्वारा इटली के वैभव का पुनरुत्थान सम्भव है[2]। यही नही एक अन्य विद्वान् जान बी० मौरल ने मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन पर विचार करते समय कहा है कि हम मैकियावेली के राज्यकारण सम्बन्धी सिद्धान्त (अ० प्रिसींपिल आफ् रेजन डि स्टेट) से सभी परिचित हैं। इसके द्वारा राजनीतिक उद्देश्य के लिए अनैतिक साधनों को भी न्याय ठहराया गया है, और हम इस तथ्य से भी परिचित हैं कि प्रिंस की सनकी (मानव

१—हर्बर्ट बटरफील्ड, १३५—१६५ मैकियावेली एण्ड ब्रोक, तथा पृष्ठ ८९—१३२।
२—फ्रेडरिक वे बोक, मैकियावेली एण्ड दि रिनेसां, मैकियावेली के राजनीतिक चिन्तन के लिए प्रथम अध्याय तथा समालोचना के लिए दे० पृ० ६१—११२ तक।

द्वेषी, नक चढ़ी) सूक्तियाँ केवल पुनर्जागरण काल के इटली की व्यवहार में प्रचलित स्वभाव में अनुस्यूत, राजनीतिक क्रियाओं की स्पष्टोक्तियाँ मात्र हैं। प्रायः लोगों को यह मालूम है कि मध्यकालीन राजनीतिक विचारधारा में यह विश्वास किया जाता था कि शासनसत्ता जनता के सामान्य हित के लिए असाधारण, आपत्कालीन, साधनों का प्रयोग कर सकती है। यह मैकियावेली की ओर ही एक काम था[१]। उक्त कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि गत शताब्दी में मैकियावेली की प्रशंसा या निन्दा के लिए की गई समालोचना का कोई विशेष उपादेय परिणाम नहीं हो सकता। इसलिए हमने समालोचकों के मतों की परीक्षा करने की अपेक्षा अपने आपको मैकियावेली और उसकी रचनाओं के अनुशीलन पर अधिक ध्यान देते हुए उसकी शासन--नीति को इस प्रकार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि उसके वास्तविक रूप का निष्पक्ष अध्ययन किया जा सके।

२—जोन बी० मौरल, पोलिटिकल थाट इन मैडीकल टाइम्स पृ० १३५।

नवम अध्याय
अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध (राजनय)
तथा
युद्ध एवं सैन्य-संगठन

- मौलिक राजनयिक तत्त्व
- भारतीय राजनय का उद्भव, विकास और विशेषता
- विदेश-नीति
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में छः नीतियाँ
- विदेशनीति का मण्डल-सिद्धान्त
- दूत-संस्था—योग्यता एवं नियुक्ति
- दिग्विजय—उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व
- राजनय के आधार
- युद्ध और सैन्य संगठन
- युद्ध-नीति
- सेना-सैन्यसंगठन एवं व्यवस्था
- आदर्श सेना
- वास्तविक युद्ध
- शस्त्रास्त्र
- प्रतिरक्षात्मक युद्ध
- युद्ध के नैतिक नियम
- मैकियावेली के सैन्य-चिन्तन से तुलना

नवम अध्याय

अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध (राजनय) तथा युद्ध एवं सैन्य-संगठन

मौलिक राजनयिक तत्व

महाभारतीय राज्य-व्यवस्था का प्रस्तुत अध्ययन उसकी वैदेशिक नीति, राजनयिक व्यवस्था और सैनिक संगठन पर प्रकाश डाले विना पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त राज्य और शासनतन्त्र के विभिन्न पहलुओं के विस्तारपूर्वक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में राजतन्त्र की शान्तिकालीन और युद्धकालीन नीतियों को भली प्रकार समझने के लिये उन राजनयिक तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है जो उक्त नीतियों के सैद्धान्तिक आधार माने गये हैं।

राजनय का लक्ष्य—

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक उद्घोष हीं संपूर्ण विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनायें (कृण्वन्तो विश्वमार्यम्) यह था और यही भावना सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में मूर्तरूप लेकर भारत के राष्ट्रीय उद्घोष के रूप में इस प्रकार परिणत हुई कि समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी के लिए एक राज्य की स्थापना ही उसका एक ही सार्वभौम सम्राट् हो।[1] ऋग्वेद आदि वैदिक कालीन तथा अन्य संम्पूर्ण प्राचीन भारतीय धार्मिक और लौकिक साहित्य में राजसूय, वाजपेय और अश्वमेघ यज्ञों के द्वारा इसी सार्वभौम सत्ता की प्रतिष्ठा करने के आदर्श और लक्ष्य को संपन्न करने वाले नरपुंगवों की प्रशंसा की गई है। महाभारत की भावना का मूलमन्त्र भी है "उत्थान"। प्रगतिशील सार्वभौम सत्ता की स्थापना और उसकी रक्षा के लिए बुद्धि और बल का पुरुषार्थ प्रधान प्रयोग करने का आग्रह सदैव किया गया है।[2] राज्य की तीन दशाओं का उल्लेख किया गया है क्षय स्थान और वृद्धि।[3] राज्य का यह कर्तव्य है कि क्षय को रोककर अपनी समृद्धि को स्थिर वनाये और उसे इस प्रकार नियमित करे कि सर्वांगीण वृद्धि होती जाय।

१—'सार्वभौमः सर्वायुषः आन्तादापराध्यात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्'
—ऐतरेय ८, १८।

२—दे० यही पुस्तक अ० ८ 'शासन-नीति'।

३—द्रष्टव्य शान्ति १४०, ५– अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम्॥'

उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासक को अपने संपूर्ण शक्ति-स्रोतों का उपयोग करना चाहिए। ये शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं;— १–शासन सत्ता का प्रभाव (प्रभुशक्ति) २–मनोवल (उत्साह-शक्ति), ३–राजनय[1] (मंत्रशक्ति) मंत्रज्ञ कणिक भरद्वाज के द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए उपदेश तथा देवर्षि नारद के द्वारा युधिष्ठिर को सुझाये गये उपायों से यह स्पष्ट है कि महाभारत में राजनीतिक सफलताओं के लिए युद्ध की अपेक्षा राजनयिक सूझ-बुझ और योग्यता को बड़ा महत्त्व दिया गया है।[2] कहा गया है कि शासक को उद्यम एवं पुरुपार्थ का अवलम्बन करना चाहिए। उद्यम ही पौरुष (मर्दन) है।[3]

इस सफलता की प्राप्ति के लिए चार विशिष्ट साधनों की प्राप्ति की ओर शान्तिपर्व में संकेत किया गया है। विजिगीषु को चाहिए कि वह राष्ट्र (राज्य की जनता) मित्र (मित्र राष्ट्र) वल (सशक्त सशस्त्र सेना) और कोश का संग्रह एवं संगठन करे।[4] इन सभी शक्तियों के तुलनात्मक महत्त्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि उत्साह शक्ति (पराक्रम, साहस एवं मनोवल) की अपेक्षा प्रभु-शक्ति (कोश और सेना का सामर्थ्य) श्रेष्ठ है और प्रभु-शक्ति से भी मन्त्र-शक्ति (राजनयिक प्रतिभा एवं विवेक, कहीं अधिक श्रेष्ठ है।[5] वल की अपेक्षा बुद्धि के प्रयोग पर ही अधिक वल दिया गया है। बुद्धि के दो भेद वतलाये गये हैं (उभे प्रेज्ञ वेदितव्ये) ऋजु (सरल) और वक्र (कूटनीति) और इनमें भी जहाँ तक वन पड़े कूटनीति का सहारा न लेने का आग्रह किया गया है (वक्रां न सेवेत)।[6]

सामनीति—

महाभारत में इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए चार उपाय वतलाये हैं, साम, दान, भेद और दण्ड। महाभारतकार का आग्रह है कि इनमें भी साम, दान और भेद इन्हीं तीनों उपायों के द्वारा सफलता प्राप्त हो सकती हो उसी पर सन्तुष्ट रहते हुए राज्य का हित चाहने वाले नरेश को सदैव युद्ध (दण्ड) को टालने का प्रयत्न करना चाहिए।[7] सभा

१—आश्रमवासिक ७, ६। 'उत्साह प्रभुशक्तिभ्यां मन्त्रशक्त्या च भारत।
उपपन्नो नृपो यायात्…… ……… …,

२—आदि १४०; सभा ५।

३—उद्योग १२७, १६ 'उद्यमो ह्येव पौरुपम्'।

४—शान्ति १४०, ५।

५—अर्थ० ६, १।

६—शान्ति १००, ५ 'उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रे च भारत !
जानन् वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥'

७—वही ६६, २३-२४; 'वर्जनीयं सदा युद्धम्० आदि' सभापर्व (५, २१) में उक्त चार के साथ मन्त्र, औषध, और इन्द्रजाल ये तीन मिलाकर सात उपाय बतलाये गये हैं, वनपर्व (१५०, ४०) में सामादि चार के साथ पाँचवा उपाय उपेक्षा तथा उद्योग पर्व (१३२–२६–३०) में सामादि के चार के अतिरिक्त पाँचवा गुण या उपाय 'नय' बतलाया गया है।

पर्व में युद्ध से पहिले विधिपूर्वक उक्त राजनयिक उपायों का अनुसरण करने पर बल दिया गया है।

समझा बुझाकर, फैंसले की बातचीत द्वारा वृत या मध्यस्थ के माध्यम से या पंच फैसले के द्वारा समस्याओं को सुलझाना साम कहलाता था। भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन में राजनय का यह पहलू वस्तुतः इतना महत्वपूर्ण है कि राजनय के प्रसिद्ध लेखक श्री राघवेन्द्र सिंह ने आधुनिक प्रचलित शब्द 'कूटनीति' की अपेक्षा 'डिप्लोमैसी' के पर्याय के रूप में 'सामनीति' शब्द का प्रयोग कहीं अधिक वैज्ञानिक माना है।[1] क्योंकि इसका अभिप्राय उस कला या विद्या से होता है जिसमें शान्तिपूर्ण या समझौते की प्रणाली काम में लाई जाय।[2] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि आज भी 'राजनय' शब्द के साथ जितने प्रमुख एवं गौण राजनीतिक तात्पर्य सम्बन्धित हैं उनका बड़ा उत्कृष्ट एवं विकसित रूप महाभारत में भी, दूसरे परिधान में ही क्यों न सही, दृष्टि-गोचर होता है।

साम तथा इसके अतिरिक्त दान (कुछ दे-लेकर या रिश्वत देकर मना लेना या अपने अभीष्ट की सिद्धि करना-कराना) और भेद (फूट डलवा कर अर्थात् शक्ति सन्तुलन की नीति से समस्याओं का समाधान) के द्वारा अर्थात् इन राजनयिक उपायों के सरल या कूट प्रयोगों के द्वारा ही सफलता प्राप्त करने का तथा युद्ध की विभीषिकाओं और रक्तपात आदि दुष्परिणामों से वचने का आदेश महाभारत के सहस्रों वाक्यों में निहित है। यह महाभारतीयतत्त्वदर्शन की सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनाओं के नितान्त अनुकूल ही है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण वह प्रसंग प्रस्तुत करता है जिसमें दो विरोधी सत्ताओं (पाण्डवों तथा कौरवों) के आपस के विवाद को सुलझाने के लिए भगवान् कृष्ण स्वयं पूर्ण शक्तिधारी (अं० प्लैनी पोटैंशरी) दूत के रूप में पाण्डवों की ओर से समझौता-वार्ता का संचालन करने के लिए महाराज धृतराष्ट्र की राज्य-सभा में उपस्थित होते हैं। शान्ति के अग्रदूत कृष्ण के दूत बनकर हस्तिनापुर जाने का उद्योग पर्व में वर्णित यह प्रसंग महाभारत में उपलब्ध राजनय सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से नितान्त महत्वपूर्ण है।[3] श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध को टालने के लिए अपने अनेक प्रयासों और पाण्डवों के लिए केवल पाँच गाँव ही देकर समझौता कर लेने की शान्ति-वार्ता के असफल हो जाने के पश्चात् ही युधिष्ठिर को तथा बाद में युद्ध से कतराने वाले अर्जुन को धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित किया।[4] उद्योग-पर्व में सबसे

१—राघवेन्द्र सिंह, राजनय पृ० ४–५ 'सामनीति ही क्यों'।

२—'डिप्लोमैसी' अर्थात् राजनय से सम्बन्धित आधुनिक तात्पर्यों के लिए द्रष्टव्य—सर अर्नेस्ट सेटी—'गाइड टू डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस पृ० ३, एच० निकलसन, 'डिप्लोमैसी' पृ० २७, वेब्सटर्स, 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' (१९२८), 'एन्साइक्लोपीडियाब्रिटानिका' पृ० ७ (१४ वां संस्करण) आदि।

३—उद्योग, ७२–९६।

४—उद्योग ९५; 'अयुद्धं सौम्य भाषस्व' अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परन्तप' आदि।

पहिले स्वयं युधिष्ठिर ने विद्वान् सूत संजय को भेजकर महाराज धृतराष्ट्र, कुरु सभा और दुर्योधन आदि सभी से युद्ध का मार्ग न अपनाने के लिए अनुरोध किया था।

यहीं युधिष्ठिर ने प्रार्थना की थी कि हम केवल शान्ति चाहते हैं, हमें हमारे राज्य का एक अंश ही (राज्यैकभागमपि) दे दिया जाय। अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी वारणावत तथा कोई भी एक और ग्राम मिलाकर इस प्रकार पाँच ग्राम हम पाँचों भाइयों के लिए सुयोधन देना स्वीकार करें। और इस प्रकार प्रसन्नता, सौमनल्य, स्वास्थ्य और शान्ति से सभी कुरु-पांचाल सुखपूर्वक रहें[1]। परन्तु दुर्भाग्यवश इस प्रकार के शान्ति प्रस्ताव पर भी जब कोई ध्यान नहीं दिया गया तब भगवान् कृष्ण ने उक्त गतिरोध को दूर करके बिगड़ी बात को पुन: बनाने के सदुद्देश्य से स्वयं हस्तिनापुर जाना स्वीकार किया। जाते समय उन्होंने युधिष्ठिर से कहा कि 'यदि मैं पाण्डवों के हित की हानि न होने देते हुए वहाँ शान्ति की स्थापना करने में सफल हुआ तो मेरा यह कार्य बड़ा पुण्यवान्, सुफलवान् तथा महान् होगा। इस प्रकार मैं कुरुवों, पाण्डवों, सृंजयों और धृतराष्ट्र के पुत्रों को तथा इस सम्पूर्ण पृथ्वी को मृत्यु के पाश से बचा सकूँगा[2]।' 'हमारा वहाँ जाना निरर्थक न होगा। हो सकता है कि कदाचित् उद्देश्य सफल ही हो जाय और यदि ऐसा न भी हुआ तो अन्त में हमें 'अवाच्यता' अर्थात् निर्दोषता अवश्य प्राप्त होगी अर्थात् संपूर्ण लोक में कोई हमें युद्ध छेड़ने का दोषी नहीं ठहरा सकेगा[3]। यहीं युधिष्ठिर ने कृष्ण की सफलता की कामना करते हुए उन्हें कृतार्थ वीर स्वस्थ रूप में शीघ्र लौटने के लिए विदा करते हुए जो वाक्य कहें हैं उनसे तत्कालीन सामनीति की विशेषताओं पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। युधिष्ठिर ने कृष्ण से कुरु-प्रदेश में जाकर भारतवासियों से शान्ति-सन्धि करने का अनुरोध किया है जिससे कि सभी में आपस में प्रसन्नता और सौमनस्य बना रह सके। युधिष्ठिर नें कहा है कि 'तुम भाई हो, सखा हो, मेरे वीर अर्जुन के प्रिय हो; सुहृद्भाव के कारण सर्वथा विश्वसनीय हो (अविशंक्य:) तुम ऐश्वर्य और कल्याण के भाजन होओ। तुम हमें जानते हो, दूसरे पक्ष (परान्) को जानते हो, कार्यो एवं हितों के जानकार हो, और भाषण करना जानते हो, दुर्योधन से वह सब कुछ कहो जो हमारे लिए हितकर हो। जो कोई हितकर बात, शान्ति की अथवा अन्य प्रकार की, अधर्म से युक्त होने पर भी यदि सौपपत्तिक एवं न्याय हो (उपपयेत) तो आप नि:संकोच कहें[4]।

इस प्रकार युधिष्ठिर से विदा लेकर कौरवों की राजसभा में भीष्म, द्रोण, विदुर तथा अन्य महानुभावों की उपस्थिति में धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कृष्ण ने कहा कि 'पाण्डव अपना यथोचित अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् आपकी सेवा करने

१—उद्योग ३१; १९–२३
२—वही ७२; ८०–८१
३—वही ७२–८८
४—उद्योग ७२, ९९–१०३।

के लिए प्रस्तुत है और नहीं तो युद्ध के लिए भी तैयार हैं जो आपको हितकर जंचता हो आप स्वीकार कर लें[1]। इसके बाद न केवल धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और विदुर ने ही अपितु पतिव्रता माता गान्धारी ने भी शान्ति-प्रस्ताव का ही अनुमोदन किया, किन्तु दुर्योधन ने सभी की बात अनसुनी करते हुए अन्त में मातंग ऋषि के "उद्यम ही करना धर्म है, यही पौरुष है, चाहे बीच से (अपर्वणि) टूट जाये किन्तु किसी के आगे झुके नहीं[2], इस मत को उद्धृत करते हुए कृष्ण को यही उत्तर दिया कि 'तीखी सुई की नोंक से जितनी भूमि बिंधती हो उतनी भी पाण्डवों को नहीं देंगे[2]।'

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने, समझौता—वार्ता के लिए अथक प्रयत्न करने के पश्चात्, हस्तिनापुर में ही अनेक उपायों से कौरव-पक्ष के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की सहानुभूति अर्जित करते हुए 'दान' और भेद का भी प्रयोग करने के पश्चात् भी कोई फल निकलते न देखकर युधिष्ठिर से कहा है कि 'दुष्टात्मा दुर्योधन तुम्हारा यथोचित भाग छोड़ने के लिए तैयार नहीं है, अपितु वह युद्ध के लिए वह अपनी सेना को लेकर कुरुक्षेत्र की ओर प्रयाण कर चुका है इसलिए उन पापियों के विषय में मैं केवल चौथे उपाय दण्ड को ही एकमात्र उपाय समझता हूँ[3]। न केवल पाण्डवों ने ही अपितु दुर्योधन ने भी एक बार पहले पाण्डवों के साथ कूटनीतिक प्रयोग ही करने का विचार किया था। 'आदि-पर्व' में दुर्योधन ने धृतराष्ट्र के सामने प्रस्ताव रखा है कि विश्वस्त कुशल और सुगुप्त ब्राह्मणों के द्वारा कुन्ती के तीनों पुत्रों और माद्री के दोनों पुत्रों (नकुल व सहदेव) में भेद डलवा दिया जाय तथा राजा द्रुपद, उसके पुत्रों तथा मंत्रियों को प्रभूत धनराशि देकर लुभा लिया जाय जिससे कि वे युधिष्ठिर का पक्ष छोड़ दें दुर्योधन ने मृदु और तीक्ष्ण उपायों द्वा ा पाण्डवों में ईर्ष्या व द्वेष उत्पन्न कराने या उपाय कुशल छद्म पुरुषों के द्वारा भीम को मरवा देने के द्वारा उन्हें दुर्बल और हतोत्साह बना देने, पृष्ठ-रक्षक भीम के न रहने पर अर्जुन को भी कर्ण का मुकाबला करने योग्य न रहने देने, इस प्रकार वशीभूत हुए दुर्बल पाण्डवों को नीतिशास्त्र के अनुसार एक-एक को सुलटने अथवा सुन्दरी रमणियों के द्वारा एक-एक को लुभाकर फिर द्रौपदी को नाराज कर देने, उन्हें बुलाने के लिए कर्ण के भेजे जाने या और सुगुप्त मायापूर्ण उपायों का यथासमय प्रयोग करके उनके द्वारा उन्हें पतित करने का सुझाव दिया है[4]। यद्यपि यही कर्ण ने दुर्योधन को सावधान किया है कि साम, दान, और भेद के द्वारा पाण्डवों को नष्ट नहीं किया जा सकता

१—द्रष्टव्य– उद्योग ६५, ३; ६५, ११–१३ तथा ६२, 'स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिताः योद्धुमरिंदमाः।'

२—यावद् हि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेनः पाण्डवान् प्रति ॥ वही १२७, २५।

३—उद्योग १५०, १८–१९ (व) पूना सं० १४८।

४—आदि पर्व २०१।

इसलिये पंचाल और द्वारका आदि प्रवेशों से जब तक उन्हें सहायता प्राप्त नहीं होती उससे पहले ही उन्हें आक्रमण करके नष्ट कर दिया जाय। कर्ण का कथन है कि दुर्योधन को चाहिए कि वह पाण्डवों को युद्ध से (विक्रमेण) जीत कर सम्पूर्ण पृथिवी का भोग करे। इसके अतिरिक्त कोई कार्य साधक उपाय नहीं सूझता[1]। परन्तु दुर्योधन और कर्ण की उक्ति सम्मति के विरुद्ध भीष्म, द्रोण और विदुर ने पाण्डवों को उनका राज्य शान्ति पूर्वक लौटा कर युद्ध को टालने का सुझाव दिया और सौभाग्यवश धृतराष्ट्र ने इसी परामर्श के अनुसार खाण्डवप्रस्थ का राज्य पाण्डवों को दे दिया जहाँ उन्होंने इन्द्रप्रस्थ जैसी रमणीय राजधानी का निर्माण कराया[2]। यद्यपि दुर्भाग्यवश यह सब कुछ प्राप्त करके भी युधिष्ठिर ने जुए में हार कर गंवा दिया।

युद्ध को टालकर शान्ति बनाये रखने के महाभारत के उक्त ऐतिहासिक पक्ष का अनेक आभ्यान्तर पाठों से भी समर्थन होता है। शान्तिपर्व में बृहस्पति के मुख से इन्द्र के प्रति यह कहलवाया है कि अपकार करने वालों अर्थात् शत्रुओं का भी नियन्त्रण कलह या युद्ध के द्वारा करने की इच्छा न करे। सहनशीलता और क्षमा न होना निरा बचपन (मूर्खता) है[3]। यही आगे कहा गया है कि युद्ध में विजय किसी भी पक्ष को प्राप्त हो सकती है अतः ऐसी अवस्था में विजय के लिए युद्ध छेड़ने में पहल कदापि नहीं करनी चाहिए[4]। महाभारतकार ने यही अनेक कूटनीतिक उपायों जैसे अपने अनुकूल और शत्रु के प्रतिकूल परिस्थितियाँ निर्माण करने, गुप्तचरों और विश्वस्त व्यक्तियों के द्वारा शत्रु सेना में फूट डलवा देने तथा घूस देकर (उपप्रदानेन) लोगों को अपने पक्ष में मिला लेने तथा विभिन्न औषधियों आदि का प्रयोग करके सुदीर्घकाल तक सशस्त्र संघर्ष को टालने का प्रयास करने का ही उपदेश दिया है। बृहस्पति के मत को ही उद्धृत करते हुए महाभारतकार ने बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि "राज्य का हित चाहने वाले बुद्धिमान् शासक को चाहिए कि वह सदा युद्ध को टालने का प्रयत्न करे। साम, दान और भेद को ही अर्थ-सिद्धि का उपाय बनाये। सुलह समझौते से (सान्त्वेन) ले-देकर या फूट डलवाकर जो कार्य सिद्ध किया जा सके बुद्धिमान् शासक को उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए[5]।

१—न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव तान् जहि ॥
तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुंक्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥ आदि २०२, २०–२१ आदि।

२—वही २०७।

३—शान्ति १०३, ७।

४—वही १०३, १३ न संनिपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति ?

५—वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप।
यदर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्येत पंडितः ॥ शान्ति ६९, २३–४।

कुन्ती ने कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर को यह सन्देश भिजवाया है कि तुम क्षत्रिय अर्थात् क्षति से रक्षा करने वाले (क्षतात् त्राता) हो तुम्हें अपने शस्त्रों के द्वारा जीवित रहना है। भिक्षा या कृषि तुम्हारा धर्म नहीं है, अतः साम, दान तथा भेद के द्वारा अथवा युद्ध से या राजनय से (नयेन) अपनी पैतृक सम्पत्ति का प्राप्त करना तुम्हारा धर्म है[1]। उपर्युक्त सामादि उपायों के विकास के विषय में हाप्किन्स का कहना है कि तीन उपायों की मान्यता प्राचीन और चार उपायों की कल्पना अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। हाप्किन्स की इस सम्मति का भी कोई तर्कसम्मत आधार नहीं है। वस्तुतः हाप्किन्स के मतों का दोष उनका इस निराधार पूर्वाग्रह से ग्रस्त होना ही है कि महाभारत में विकास के कालविषयक तीन स्तर हैं[2]। महामहोपाध्याय काणे ने भी हाप्किन्स के उक्त मत को निराधार माना है[3]।

भारतीय राजनय का उद्भव, विकास और विशेषता

महाभारत में वर्णित राजनय की भी अपनी निजी विशेषता है। राजनय-विशेषज्ञ निकल्सन का यह मत महाभारतकाल के विषय में भी सर्वथा समीचीन है कि परराष्ट्रीय सम्बन्धों तथा राजनयिक-नियोजन के क्षेत्र में मान्यताओं एवं संस्थाओं के विषय में व्यावहारिक भिन्नताओं का मूल वस्तुतः विशिष्ट राष्ट्रीय चारित्र्य परम्परा तथा आवश्यकताओं के अन्तरों में निहित होता है[4]। इसीलिए अंग्रेजों के राजनय को प्रायः 'व्यापारी-कूटनीति', जर्मनी के राजनय को राज्यों को चारों ओर से घेर लेने की प्रवल प्रहार कूटनीति' (अं० ब्लिट्ज डिप्लोमैसी), इटली वासियों की नीति को 'गतिशील राजनय' (अं० मोबाइड डिप्लोमैसी) आदि नामों से पुकारा जाता है। महाभारतीय राजनय का मूलमंत्र राज्य की प्राप्ति, पालन एवं विस्तार है। संपूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र निष्कंटक साम्राज्य की स्थापना का लक्ष्य महाभारतीय राजनय का प्राण है। महाभारत का राजनय महाभारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन की मान्यताओं और महाभारत के इतिहास पक्ष के अनुकूल सर्वथा नैतिक है परन्तु महाभारतकार ने नैतिक मान्यताओं को राजनयिक कार्य-व्यवहार में बाधक न होने देने के लिए आवश्यकता पड़ने पर या आपत्ति काल में नैतिकता को गौण और राजनयिक उपायों को सर्वोपरि प्राथमिकता दी है। शान्तिकालीन स्वराष्ट्रीय और मित्र-राष्ट्रीय नीतियों में जहाँ सज्जनों

१—उद्योग १३२, २९–३० दे० उपायों में उपेक्षा की भी गणना के लिए वन १५०, ४२ तथा सात उपायों के लिए सभा ५, २१ तथा अर्थ० ११, १ आदि जहाँ इन्द्रजाल और माया तथा अक्ष (द्यूत) को भी गिना गया है। दे० मनु० ७, १००–१०९।

२—हाप्किन्स पृ० १८२–१८३ टिप्पणी।

३—काणे ३, १७३।

४—निकल्सन, डिप्लोमैसी पृ० १२७। इस उद्धरण और अन्य तथ्यों के लिए दे० टी० एन० रामास्वामी 'इसैन्शल्स आव इंडियन स्टेटक्राफ्ट' पृ० ३३–३७।

के संग्रह, शौर्य, निपुणता, सत्य और प्रजाहित का ध्यान रखे जाने का आग्रह किया गया है, वहाँ शत्रु पक्ष के साथ व्यवहार करने में सरल और कुटिल दोनों ही नीतियों से शत्रुओं में फूट डालने और उन्हें नष्ट कर डालने की आवश्यकता पर बल दिया गया है[1]। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए लोक संग्रह और यथापेक्षित उत्थान-शील विजिगीषु राजनय महाभारतकार को अभिमत है।

विदेशनीति

विदेश-नीति के क्षेत्र में राजनय के अनेक सिद्धान्तों और नीतियों का विकास महाभारत में बड़ी उन्नत दशा में प्रतिविम्वित मिलता है यद्यपि महाभारतीय विवेचन में उतनी शास्त्रीय व्याख्या और विस्तृत विवेचन तथा मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है जैसा अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। तो भी अर्थशास्त्रीय राजनय और 'विदेश नीति' के प्रायः समग्ररूप के दर्शन महाभारत में भी आनुषंगिक एवं व्यावहारिक रूप में हो जाते हैं। पाश्चात्य भारत-विद्या-विशारद विदेश नीति के इस रूप से बड़े प्रभावित हुए हैं। डा० स्पैलमैन जैसे एकाध विद्वान् की सनक को छोड़ दीजिए जिसके कारण उसने भारतीय राजनय को अधूरा और अपूर्ण बतलाने की चेष्टा की है[2]। इसके ठीक दूसरी काष्ठा का निर्दशन डवल्यू० एच० थामस का यह मत है कि 'विदेश नीति' के क्षेत्र में हमें भारतीय प्रतिभा का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है, इसका विवरण बड़ा नहीं है, इसका विव ण बड़ा क्रमवद्ध है, सिद्धान्त इसके मैकियावेली के से हैं। नीति के उद्देश्य बड़े नहीं है, इसका मुख्य आधार राजाओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं असूया है, उसमें कीर्ति और साम्राज्य की स्पृहणीय कामना भी प्रेरक तत्त्व हैं[3]। इस प्रकार के परस्पर विरोधी मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके निरर्थक ग्रन्थ विस्तार करने की अपेक्षा हम 'विदेश-नीति' के उन मौलक-तत्त्वों का ही विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे जिनसे अभिरुचिपूर्ण विद्वान् स्वयं ही वास्तविकता का अनुशीलन कर सकें।

अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में छः नीतियाँ

कुशल राजनीतिज्ञों और राजनय विशारदों को अपनी परराष्ट्रनीति का निर्धारण करते हुए जिन उपायों या नीतियों का आशय लेना पड़ता है उनका शास्त्रीय वर्गीकरण करते हुए उनकी संख्या छः बतलाई गई है। ये हैं, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समात्रय। महाभारतकार ने इन छः गुणों अथवा नीतियों को दण्डनीति का सार माना है[4]। महाभारत में इन नीतियों के अनेक प्रकारों तथा इनके

१—सत्तां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम्।
अनाजवैराजवैश्च शत्रुपक्षस्य मेदनम्॥ शान्ति ५८, ६।

२—स्पैलमैन पृ० १४४ 'डिप्लोमैटिक पालिसी एण्डटैक्टिक्स'!

३—डवल्यू० एच० थामस "रैपस्नस हिस्टरी आव् इण्डिया, पृ० ४६०।

४—षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु। शान्ति ५६, ७६ दे० मनु० ७, १६०; याज्ञ १, ३४६।

विस्तार का भी वर्णन किया गया है तथा इन नीतियों के यथोचित संयुक्त व्यवहार का भी निर्देश किया गया है। महाभारतकार ने "सन्धि' के तीन प्रकार बललाये हैं उत्तम, मध्यम और हीन। धन लेकर की गई वित्त संधि उत्तम है, सत्कार पाकर की गई संधि मध्यम और भय के कारण की गई संधि अधम मानी गई है[1]। अस्थायी हानि होते हुए भी स्थायी लाभ के लिए बलवान् शत्रु से भूमि, धन या सेना आदि देकर भी की जाने वाली संधि की चर्चा की गई है। 'विद्रोह' नीति का अभिप्राय विजिगिषु के द्वारा सर्वथा सशक्त होने पर विजय के लिए छेड़े गये युद्ध से है। महाभारत में विजय तीन प्रकार की कही गई है। धर्म-विजय, अर्थ विजय तथा आसुर-विजय[2]।

"यान" का अभिप्राय उस नीति से है जिसके अनुसार उचित काल, देश और बलाबल का विचार करके शत्रु पर चढ़ाई (यात्रा) की जाती थी। शत्रु पर चढ़ाई करने के चार अवसर ये हैं—(१) अपने मित्रों की वृद्धि, (२) अपने कोश का भरपूर संग्रह (३) शत्रु के मित्रों का नाश और (४) शत्रु के काश की हानि। शत्रु पर चढ़ाई करते समय या शत्रु के द्वारा चढ़ाई कर दिए जाने पर अपेक्षित तैयारियों का विस्तृत वर्णन जगह जगह किया है[3]। 'आसन' का तात्पर्य परराष्ट्र या शत्रुपक्ष को धोखा देते हुए तैयारी पूर्ण करने के लिए विलम्ब से है। महाभारत के अनेक वाक्यों में उचित काल आने तक शत्रु से सन्धि करने या उसे कन्धे पर भी वहन किए रहने पर समय आते ही उसे उस प्रकार नष्ट कर देने का आदेश दिया गया है जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ डाला जाता है[4]। शत्रु के अधिक बलवान् होने पर एक से सन्धि करके दूसरे से युद्ध ठान देने की नीति को द्वैधी-भाव कहा गया है तथा समाश्रय का अभिप्राय किसी शक्तिशाली मित्र (अं० ऐलाइ) का आश्रय लेना है।[5]

मित्र राष्ट्रों का महत्व

उक्त नीतियों के साथ ही साथ सैद्धान्तिक आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था भारतीय राजमय और विदेशनीति की विलक्षण विशेषता है। भारतीय विदेशनीति में स्वराष्ट्र राष्ट्रीय सेना और राष्ट्रीय कोश के साथ ही मित्र राष्ट्रों को बड़ा महत्त्व दिया गया है।[6] वैदिक युग से ही राष्ट्रों के मैत्री सम्बन्धों तथा मित्र राष्ट्रों

१—शान्ति ५६, ३७

सन्धिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः।
भय सत्कार वित्ताख्यं कात्स्न्र्येन परिवर्णितम्॥

२—वही ५६, ३८–३९।

३—शान्ति ५६, ३८ दे० वही अ० ६९ तथा अ० ९५ आदि।

४—दे० विशेष रूप से आदि १४०, शान्ति १४० आदि, यही पुस्तक अ० ८, 'शासन-नीति'।

५—इन नीतियों (षाड्गुण्य) के विस्तृत विवेचन के लिए दे० अर्थ० ७।

६—'राष्ट्रं मित्रं बलं कोशम्०' शान्तिपर्व।

के इकट्ठे होकर एक ही नेतृत्व में युद्ध करने के अनेक वर्णन मिलते हैं।[1] उद्योग पर्व में तो मित्र राष्ट्रों की लम्बी लम्बी सूचियाँ ही मिलती हैं।[2] शान्ति-पर्व में चार प्रकार के मित्र बतलाए गये हैं—(१) सहार्थ, (२) भजमान, (३) सहज और कृत्रिम।[3] कर्ण पर्व में चार प्रकार के मित्रों में (१) सहज, (२) धन के द्वारा प्राप्त, (३) शान्ति वार्ता के द्वारा मित्र बने तथा (४) प्रताप के द्वारा आये हुए साथियों की गणना की है।[4] परन्तु महाभारतकार का दृष्टिकोण मित्रों के विषय में नितान्त व्यावहारिक राजनीति पर आधारित है। कहा गया है कि मानव चित्त अस्थिर है, असाधु भी साधु, साधु भी क्रूर, शत्रु भी मित्र और मित्र भी अमित्र बन जाता है, फिर 'भला किसी पर कैसे विश्वास किया जाय।'[5] आगे कहा गया है कि न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु, स्वार्थ को ही लेकर मित्र और शत्रु के रूप में सब एक दूसरे से बंधे हैं।[6] न कोई जाति से ही शत्रु होता है और न मित्र ही। सामर्थ्य योग या शक्ति सन्तुलन से ही मित्र और शत्रु बनते हैं।[7]

मण्डल सिद्धान्त

मित्र राष्ट्रों का प्रश्न स्वराष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है यह कहने की आवश्यकता नहीं। अतः इसी से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में भारतीय विदेशनीति का 'मण्डल-सिद्धान्त' सीधा सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त के अनुसार विजिगीषु राष्ट्र के चारों ओर की भौगोलिक अवस्था के अनुसार ही उसके चारों ओर के राज्य उसके मित्र या शत्रु होते हैं।

महाभारत में इस सिद्धान्त का ऐसा विस्तृत एवं शास्त्रीय विवेचन नहीं किया

१—दे० ऋग्वेद १,३६, १८।
२—उद्योग ४, २ आदि।
३—शान्ति ८०, ३; इनके विशेष विवरण के लिए दे० यही पुस्तक अ० ७ 'मंत्रि-मण्डल'।
४—कर्ण ८८, २८।
५—शान्ति ८०, ८–९

"असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत्।'

६—वही, १३८, ११०।

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैर्वनगजा इव।'

७—वही, १४०, ५१ 'सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा'।

गया है जैसा अर्थशास्त्र में।[1] परन्तु अनेक स्थलों में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे महाभारतकार इसे सर्वविदित सामान्य वात समझकर केवल सूत्र रूप में ही कह देना पर्याप्त मानते हों। शान्ति पर्व में द्वादश राजमण्डल और उससे सम्बन्धित ७२ विचारणीय एवं प्रतिकार-योग्य विषयों का उल्लेख इसी प्रकार किया गया है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि अपने राज्य की रक्षा करते हुए अपने राष्ट्र की वृद्धि और विस्तार करने की इच्छा करने वाले विजयेच्छु महत्त्वाकांक्षी शासक (विजिगीषु) की दृष्टि से ही उक्त मण्डल-सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

१२ मण्डल और ६० विषय

आश्रमवासि पर्व में नीति-कोविद आचार्यों के मतों के अनुसार मण्डलों का वर्णन किया गया है। ये हैं अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, विजिगीषु, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यम और उदासीन। तथा इन १२ मण्डलों के साथ ६० विचारणीय विषयों (अर्थात् कृषि आदि विषयक ८+सन्धि कर्म २०+नास्तिक्य आदि दोष १४ तथा मन्त्री आदि प्रकृति १८) को मिलाकर इन ७२ विषयों में क्षय, (हानि), स्थान (यथापूर्व स्थिति) तथा वृद्धि (उन्नति) का विचार किया जाना चाहिए तथा इन्हीं को दृष्टि में रखकर छः नीतियों (षाड्गुण्यम्) का प्रयोग किया जाना चाहिए (एषामायत्तम्)।[3]

शत्रु-मित्र-विषयक सैद्धान्तिक कल्पना

इस मण्डल में मित्रराष्ट्रों के दो क्षेत्रों की कल्पना की गई है। यदि विजिगीषु के राष्ट्र 'अ' को केन्द्रीय राज्य माना जाये तो उसके चारों ओर की परिधि से लगे हुए पड़ौसी राज्य 'व' विजिगीषु के (अरि-राष्ट्र) माने जायेंगे। 'व' राज्य के अगले पड़ौसी 'स' को स्वाभाविक मित्र तथा 'स' के अगले पड़ौसी 'द' को 'स' का शत्रु किन्तु 'व' का मित्र (अरि-मित्र) माना जायगा। इसी प्रकार आगे की ओर पांचवे 'ह' राज्य को 'स' का मित्र (मित्र-मित्र) तथा उससे अगले छठे राज्य 'फ' को 'द' का मित्र (अरिमित्रमित्र) माना जायगा। इन छः राज्यों के अतिरिक्त पीछे की ओर विजिगीषु पर पीछे से आक्रमण करने वाले राष्ट्र 'अ' को पृष्ठशत्रु (पार्ष्णिग्राह) माना जाता था। किन्तु 'अ' के पड़ौसी तथा सहायता के लिए बुलाने पर विजिगीषु की सहायता के लिए आने वाले 'अ' के पड़ौसी राष्ट्र 'व' को पृष्ठमित्र (आक्रन्द) तथा पृष्ठमित्र 'व' के लगे हुए राज्य को पृष्ठशत्रु 'अ' का मित्र (पार्ष्णिग्राहासार) एवं उसके पड़ौसी किन्तु 'अ' के मित्र राज्य को पृष्ठमित्र का मित्र (आक्रन्दासार) कहा जाता है। भौगोलिक सामीप्य के कारण स्वाभाविक ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा के द्वारा उत्पन्न शत्रुता और

१—अर्थशास्त्र ४, २।

२—'रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम्' आदि।—शान्ति ५९, ७०—७१। दे० अर्थ० ६, २ तथा ७; मनु० ७, १५४—२११।

३—आश्रमवासिक ६, १—६।

उसी के कारण उत्पन्न आपेक्षिक मित्रता के इन सम्बन्धों से सर्वथा तटस्थ रहने वाले राष्ट्र को मध्यम कहा गया है तथा उक्त मण्डलीय संघर्ष से बहुत दूर रहने वाले शक्तिशाली राष्ट्र को उदासीन माना गया है।[1]

मण्डल सिद्धान्त की समीक्षा

मण्डल के उक्त सिद्धान्त को विद्वान् विचारक डवल्यू० एच० थामस ने 'अतर्क-सम्मत नहीं है ('अं० नोट अनरीजनेवल) कहकर[2] तथा डा० स्पैलूमैन ने 'विलक्षणतम विचार' कहकर सराहा है[3]। किन्तु एक भारतीय विद्वान् श्री इन्द्र का कहना है कि इस मण्डल सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में घोर अव्यवस्था का सृजन किया है तथा इसके द्वारा राज्यों में 'मत्स्य-न्याय' की सी स्थिति उत्पन्न हो गई।[4] वस्तुतः इन्द्र का यह मत कौटिल्य के कोरे सैद्धान्तिक विवेचन की आलोचना के रूप में भी केवल अर्द्धसत्य ही माना जा सकता है। महाभारत युद्ध में कौरवों और पाण्डवों का पक्ष लेने वाले राजाओं की भौगोलिक स्थितियों का अध्ययन करने तथा अन्य विश्व युद्धों के शत्रु-मित्र पक्षों का अनुशीलन करने से उक्त सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित होती है और ऐसा लगता है कि यह सिद्धान्त आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी श्रेयस्कर मार्ग-दर्शन कर सकता है। फिर भी यहाँ यह वतला देना अनुचित न होगा कि महाभारतकार तत्वदर्शन की सर्वसाधारण व्यावहारिकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप ही इस सिद्धान्त के विषय में महाभारतीय मान्यताओं का आधार कोरे सिद्धान्तवादी या भौगोलिक तथ्यों पर आधारित अव्यावहारिक विचार नहीं है, क्योंकि महाभारतकार ने स्पष्ट कहा है कि 'न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु। मित्रता और शत्रुता का आधार हैं स्वार्थ और सामर्थ्य-योग। जिससे अपने स्वार्थ की सिद्धि हो और जो समर्थ हो उसी से लोग मित्रता करते हैं[5]। सभा पर्व में दुर्योधन ने शत्रु की बड़ी मार्मिक एवं व्यावहारिक व्याख्या की है। उसका कहना है कि 'जिसके साथ जिसकी आजीविका वृत्ति या स्वार्थ समान हैं वही उसका शत्रु है। न कोई किसी का सम्बन्धी है न मित्र[6]।' उक्त व्यावहारिक दृष्टिकोण के प्रकाश में समीक्षा करने पर ऐसा लगता है कि मण्डल-सिद्धान्त के विषय में महामहोपाध्याय काणे का कहना है कि कौटिल्य ने ही मण्डल-सिद्धान्त का सबसे पहले और सबसे पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, सम्भवतः सर्वथा ठीक नहीं है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विचारों के सुन्दर सामंजस्य की दृष्टि से महाभारतीय विदेश-नीति अत्यन्त

१—इन्द्र, 'आइडियोलोजीज आफ् आर एण्ड पीस इन एश्यैण्ट इण्डिया' पृ० ८२—३।
२—थामस, अन्यत्र उद्धृत, पृ० ४९०।
३—स्पैल्मैन, पृ० १५६।
४—इन्द्र, वही, पृ० ८३ टिप्पणी।
५—शान्ति—अन्यत्र उद्धृत, १३८, तथा १४०, ५१।
६—'येन च सदृशी वृत्तिः स वै शत्रुरुदाहृतः'।

महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसका और अधिक विस्तृत और पूर्ण विवेचन अपेक्षित है। महाभारत के ऐतिहासिक पक्ष एवं सैद्धान्तिक पक्ष के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि महाभारतीय विदेश नीति मण्डल-सिद्धान्त या किसी अन्य सिद्धान्त के प्रति अन्य श्रद्धा या रूढ़िवादिता से रहित है एवं पर्याप्त लचीली है। कभी-कभी विवाह, राजनयिक प्रयत्न और नियोजन, सैन्यशक्ति की स्थिति, लाभ और उदय का विचार, वैयक्तिक शत्रुता, और इसी प्रकार के अन्य अनेक पहलुओं के आधार पर भी प्रायः सत्ता-संघर्षों का नियमन होता था। इतना ही नहीं राज्य की सुरक्षा और राज्य विस्तार की दृष्टि से क्षय, स्थान और वृद्धि का विचार करते हुए साम-दान, दण्ड, युद्ध, माया, औषधियाँ, इन्द्रजाल आदि उपायों का यथोचित सहारा लेकर विभिन्न शत्रु और मित्र सत्ताओं के साथ यथोचित नीति का सरल और कुटिल ढंगों का यथावश्यक सहारा लेकर प्राचीन भारत के राजनय-विशेषज्ञ भी वैसे ही एक बड़े शतरंज का सा खेल खेलते थे जैसे आजकल के राजनयज्ञ खेलते हैं। इस खेल की कुछेक चालें कुछ विशेष उद्देश्यों के लिये अत्यन्त प्रभावी मानी जाती थीं। परन्तु यह जानते थे कि मण्डल-सिद्धान्त केवल एक कृत्रिम व्यवस्था है जिसके अनुसार वे पड़ौसी राष्ट्रों के विषय में कुछेक संभावनाओं का निर्धारण कर सकते हैं। तथापि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मित्र राष्ट्रों के साथ राजनयिक व्यवहार करने में भौगोलिक स्थिति का बड़ा भारी महत्त्व है और इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उक्त सिद्धान्त का आधार तर्कसम्मत, व्यावहारिक राजनयिक मान्यताएँ हैं।

दूत संस्था–योग्यता एवं नियुक्ति—

उपर्युक्त राज्य मण्डल में सुनिश्चित विदेश-नीति के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन दूत-संस्था के द्वारा होता था। राज्यों में सन्धि या विग्रह दूतों पर निर्भर रहते थे। दूत अपने राजाओं का सन्देश दूसरे राजाओं तक यथावत् पहुँचाते थे और दूसरे राजाओं के सन्देश और समाचारों से अपने राजा को यथावत् अवगत कराते थे। ऐसा न करने पर दूत वध्य समझा जाता था[१]। इसके अतिरिक्त दूत परराष्ट्र में जाकर स्वयं तथा अपने साथियों की सहायता से अपने राज्य के उद्देश्यों को सिद्ध करने की दृष्टि से गुप्तचर के कार्य भी करता था, वह सुगुप्त रीति से शत्रुपक्ष के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को मधुर एवं कुशल वाग्मिता के द्वारा या लोभ आदि दिखाकर अपनी ओर मिलाने का कार्य भी करता था। वह अपने भाषण-कौशल के द्वारा पर राज्य के राजा तथा राज-सभा के सम्मुख बुद्धिमत्तापूर्वक अपना पक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता था कि अपने मन्तव्य को मनवाने की परिस्थितियाँ

१—यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन्। —उद्योग ७० (भगवद्यान पर्व), ७।

निर्माण करा सके[1]। शत्रु राज्य में जाते समय दूत को बड़ी सावधानी बरतनी होती थी। मायावी तथा धूर्त राजा बहुत सा धन, सुविधाएँ और लोभ--लालच ही नहीं, सुरा-सुन्दरी-प्रयोग के द्वारा भी राजदूत को अपने हित के लिए प्रयोग करने की चेष्टा करते थे। कई बार राजदूत के बन्दी बना लिए जाने का भी भय रहता था धृतराष्ट्र ने श्री कृष्ण को लुभाने के लिए ऐसे ही अनेक प्रपंचों की व्यवस्था की थी[2]। दुर्योधन तो उन्हें कैद ही कर लेना चाहता था परन्तु प्रारंभ में उसका यह दुष्ट संकल्प भीष्म के समझाने से धृतराष्ट्र ने नहीं माना[3]। और बाद में कृष्ण के साथी सात्यकि आदि महारथियों तथा सैनिकों की तत्परता तथा स्वयं कृष्ण की दुर्धर्ष वीरता के कारण दुर्योधन उन्हें कैद नहीं कर पाया[4]। श्री कृष्ण ने अपने सम्मान और सुख-सुविधा के भुलावे में न आकर अपने उद्देश्य को ही महत्त्व दिया और दुर्योधन के द्वारा उपस्थित किए गये खाने-पीने के पदार्थों को बड़े मधुर शब्दों में यह कहकर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया गया कि 'दूत पहले अपना कार्य सम्पन्न कर लेते हैं तभी भोजन करते हैं तथा और सम्मान ग्रहण करते हैं। कृतार्थ हो जाने पर मैं अपने अमात्यों के साथ-साथ आपका सत्कार स्वीकार करूंगा[5]।' और इसके पश्चात् उन्होंने विदुर के घर ही आतिथ्य ग्रहण किया। कृष्ण ने पाण्डवों के पूर्ण-प्रभुता-प्राप्त (अं० प्लैनी पोटैंशरी) दूत के रूप में धृतराष्ट्र के समक्ष सन्धि-प्रस्ताव रखा। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया कि उन्होंने शान्ति-वार्ता की सफलता के लिए सभी प्रयत्न किए, दान और भेद के द्वारा भी शत्रु-पक्ष को युद्ध-मार्ग से हटाने के लिए प्रयास किया किन्तु उन धूर्तों और दुष्ट पापियों के लिए केवल दण्ड (युद्ध) ही एकमात्र उचित उपाय है[6]। उद्योगपर्व के उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि कार्य के अनुरूप उचित व्यक्ति को दूत का उत्तरदायित्व सौंपा जाता था। दूत के व्यक्तित्त्व और उसके कार्य के महत्त्व के अनुरूप ही उसे भेजने वाले राजा और प्रतिपक्षी भी उसका स्वागत सत्कार करते थे तथा उसी के अनुरूप साज-सामान तथा सेवकों, परिजन

१—दे० उद्योग पर्व में द्रुपद के वृद्ध पुरोहित (अ० ५) युधिष्ठिर के सूत संजय (अ० ३१) तथा भगवान् श्री कृष्ण के (अ० ७२ आदि) दूत बनकर हस्तिनापुर जाने के वर्णन।

२—उद्योग ८६ तथा ८७।

३—वही ८८।

४—वही १३०।

५—कृतार्था भुंजते दूताः प्रजां गृहणन्ति चैवह।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत॥ वही ६१, १७–१८।
अलघूकृतमग्रस्तंमनिरस्तमसंकुलम्।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद्वाक्यमुत्तमम्॥

६—दे० उद्योग अ० ८६–६५ तथा अ० १२४–१५०।

तथा अंग-रक्षकों आदि की व्यवस्था उसके लिए की जाती थी। दूत गुप्तचरों का सा कार्य भी करते थे। कृष्ण के राजदूत बनकर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करने की सूचना पहले ही धृतराष्ट्र के दूतों ने हस्तिनापुर पहुँचा दी थी[1]। आजकल के राजदूत भी प्रायः यही सब कार्य सम्पन्न किया करते हैं।

दूत के गुण—

उक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में यह मानना स्वाभाविक है कि दूत-कार्य बड़े योग्य व्यक्तियों को ही सौंपा जाता होगा। महाभारतकार ने लिखा है कि दूत को कुलीन, शीलवान्, वाग्मी (भाषण कुशल), दक्ष, प्रिय-वचन बोलने वाला, सन्देश को ज्यों का त्यों कहने वाला और स्मरण-शक्ति से सम्पन्न अर्थात् इस प्रकार सात गुणों से युक्त होना चाहिए[2]। उद्योग पर्व में दूत के आठ अन्य गुण बतलाये गये हैं। कहा है कि दूत को अहंकार रहित (अस्तब्धम्) सामर्थ्यवान्, अदीर्घसूत्री अर्थात् शीघ्रता से कार्य करने वाला, दयावान्, मृदु, दूसरों के द्वारा अभेद्य (अहार्यमन्यैः) सर्वथा नीरोग तथा उदार वाक्य अर्थात् युक्तियुक्त, उदार एवं अर्थगौरव से युक्त वाक्य बोलने वाला होना चाहिए[3]।

दूत की अवध्यता—

दूत को सर्वथा अवध्य समझा जाता था। शान्तिपर्व में कहा गया है कि राजा कभी किसी आपत्ति में भी किसी के दूत की हत्या न करे। दूत का वध करने वाला नरेश अपने मंत्रियों के सहित नरक में गिरता है। जो क्षत्रिय धर्म का पालन राजा किसी यथोक्तवादी (अर्थात् अपने स्वामी के सन्देश को ज्यों के त्यों कहने वाले) दूत की हत्या करता है उसके पितरों को भ्रूण हत्या का फल भोगना पड़ता है[4]।

महाभारतकार ने स्वयं कृष्ण के युधिष्ठिर के दूत के रूप में हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करने से लेकर उनके वापिस लौटने तक के कार्य-कलापों का वर्णन करके यह स्पष्ट कर दिया है कि विदेश-नीति के क्षेत्र में दूत-कार्य और दूत-संस्था के विकास की दृष्टि से महाभारतीयकाल में पर्याप्त विकास हो चुका था। ऐरियन और मैगस्थनीज के उद्धरणों से उक्त संस्था के विकसित प्राचीन भारतीय स्वरूप का पता चलता है[5]।

१—उद्योग, ८५, १ तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम्'।

२—'कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः'॥ शान्ति ८५, २८।

३—उद्योग ३७, २७।

४—शान्ति ८५, २६–२७। मिलाइये रामायण, सुन्दर ५२, १०–४५।

५—दूत संस्था के विकास की प्राचीन भारतीय स्थिति के पूर्ण अध्ययन के लिए पढ़िए अर्थ० १, १६, ३०–३२, मनु० ७, ६३–६६, रामायण, अयोध्या० १००,

(शेष पृष्ठ ४११ पर)

महाभारत में राजनयिक कौशल अर्थात् प्रज्ञा-बल एक विशेष कला के रूप में विकसित हुआ परिलक्षित होता है। यही कारण है कि महाभारत में अनेक उपाख्यानों के द्वारा इस कला का प्रशिक्षण और प्रसार करने का सप्रयोजन प्रयास दृष्टिगोचर होता है। शान्ति पर्व के कालक वृक्षीय मुनि (अ० ८२, १०४, १०५, १०६) वाघ व सियार (अ० १११) सरिताओं और समुद्र (११३) दूरदर्शी, तत्कालज्ञ और दीर्घसूत्री मछलियों (१३७) विलौटे (विडाल) और चूहे (१३८) राजा ब्रह्मदत और पूजनी चिड़िया (१३९) विश्वामित्र व चाण्डाल (१४१) तथा गीध व सियार (१५३) आदि के उपाख्यानों के द्वारा विदेश-नीति एवं राजनय के गम्भीर और गूढ़ तत्वों का सरल और व्यावहारिक विश्लेषण महाभारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से यहाँ उसका केवल संकेत ही विद्वान् पाठकों की अभिरुचि जगाने के लिए किया गया है।

राजनयिक कौशल का महत्त्व—

महाभारत में यद्यपि सैन्य सम्वन्धी विषयों पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है तो भी यह एक विस्मयावह तथ्य है कि महाभारत में राजयनिक कौशल को सैन्य बल की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। उद्योग पर्व में कहा गया है कि सभी वलों (शक्तियों) में जो सर्वश्रेष्ठ है वह प्रज्ञा-वल ही है[1]। महाभारतकार के व्यावहारिक तत्त्वदर्शन में शक्ति का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि बलवान् लोगों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है, बलवान् व्यक्तियों का सव कुछ (करना-धरना) शुद्ध (शुचिः) अर्थात् ठीक है। धर्म बलवानों के वश में उसी प्रकार होता है जैसे भोगवान् व्यक्तियों के वश में सुख[2]। धर्म भी बल का अनुसरण करता है जैसे धुआं वायु का बेचारा निर्बल धर्म बल के सहारे इस प्रकार स्थिर रहता है जैसे लता वृक्ष के सहारे[3]। आश्रमवासिक पर्व में तो यहाँ तक कह दिया

(पृष्ठ ४१० का शेष)

हाप्किंस पृ० १६२–१६३, काणे २, १२८, आल्टेकर २२२–३, हीरालाल चटर्जी, 'इण्टरनेशनल ला एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एश्यैंट इण्डिया' पृ० ७१; आर० के० मुकर्जी, अशोक, २९–३०; बी० ए० सलेटोर, इंडियाज डिप्लोमेटिक रिलेशन्स विद द वैस्ट तथा 'इंडियाज डिप्लोमेटिक रि० विद द ईस्ट'।

१—यद्वलानां वलं श्रेष्ठ तत्प्रज्ञावलमुच्यते। उद्योग ३७, ५५, मिलाइये-आदि, १७ ४५, 'धिग्वलं क्षत्रिय वलं ब्राह्मतेजोवलं वलम्।

२—वशे धर्मः बलवतां, सुखं भोगवतामिव।
नास्त्यसीध्यं वलंवता, सर्वं बलवतां शुचिः॥ शान्ति १३४, ८।

३—'धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमेवल्लीव संश्रिता॥
शान्ति १३४, ७।

गया है कि वलवान् व्यक्तियों के लिए सब कुछ पथ्य है, वलवान् व्यक्तियों का सब कुछ कार्य धर्म है और सब पर वलवान् पुरुषों का स्वत्व है।[१] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभारतीय राजनीति का आधार शक्ति हैं, चाहे फिर वह वौद्धिक शक्ति हो सैनिक। बौद्धिक तथा सैनिक शक्ति का राजनयिक प्रयोग करते हुए विजिगीषु राजा लक्ष्य अपने राज्य का यथा सम्भव विस्तार करते हुए आसमुद्र पृथिवी पर साम्राज्य की स्थापना के द्वारा राजसूय तथा अश्वमेघ यज्ञ करके चक्रवर्ती पद की प्राप्ति करना युधिष्ठिर ने इसी प्रकार के राजसूय यज्ञ का आयोजन करके सम्राट् पदवी प्राप्त की थी[२]। इसी प्रकार एक वार फिर युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् हस्तिनापुर में प्रवेश करके अश्वमेध यज्ञ करके संपूर्ण पृथिवी के सम्राट् की उपाधि धारण की[३]।

दिग्विजय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व

उक्त दोनों यज्ञों से पहले विजिगीषु पाण्डवों ने दिग्विजय करते हुए सभी समकालीन राजाओं को जीतकर सम्राट् युधिष्ठिर को कर या वलि देने और उनके यज्ञ में उपस्थित होने के लिए वाध्य किया। परन्तु इस विजय का लक्ष्य राज्यों एवं राजवंशों का विनाश न होकर केवल उन्हें जीतकर अपने वश में कर लेना ही था[४]। कई राजा युद्ध के विना ही राजनयिक वार्ता के द्वारा ही सम्राट् युधिष्ठिर को कर देने के लिए तत्पर होकर राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञों में सम्मिलित हुए थे। राजसूय के अवसर पर कृष्ण की पूजा और सम्मान को सहन न करके कठोर शब्दों में युधिष्ठिर की भर्त्सना करते हुए शिशुपाल के शब्दों से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। शिशुपाल ने कहा है कि हम सब इस महात्मा युधिष्ठिर को इसके भय से, किसी लोभ या समझाने से कर नहीं देते हैं। अपितु इसके धर्मपरायण (धर्मप्रवृतस्य प्रवृद्धस्य) तथा साम्राज्य की स्थापना करने की इच्छा रखने वाला (पार्थिवत्वं चिकीर्षतः) होने के कारण ही इसे कर देते हैं और वही यह युधिष्ठिर हमारा मान नहीं करता। इससे अधिक हमारा अपमान क्या होगा कि इसने राजाओं की इस सभा में छत्र और चामर आदि राजलक्षणों से हीन कृष्ण (अप्राप्तलक्षणं कृष्णम्) की पूजा की है,[५] इससे शिशुपाल आदि अनेक राजाओं का युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करके या बलि देने पर राजी हो जाने पर भी अपने क्षेत्र में पर्याप्त प्रभुत्व वाले होना सिद्ध होता है क्योंकि आगे चलकर धर्म-पुत्र युधिष्ठिर ने सम्राट् होते हुए भी अतीव शिष्ट और मधुर शब्दों में

१—आश्रमवासिक ३०, २४।

२—दे० सभा पर्व में (राज सूयारम्भ पर्व) अ० १३–१९ तथा (राजसूय पर्व) अ० ३३–३५ आदि।

३—आश्वमेघिक ७१–८८।

४—द्रष्टव्य—सर शिवस्वामी अय्यर, ' इवोल्यूशन आफ् हिन्दू मारल्स', पृ० ११४।

५—सभा ३७, १९–२१।

ही शिशुपाल को समझाने का प्रयास किया है[1]। दिग्विजय के उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए युद्ध अवश्यंभावी होने पर भी यह ध्यान रखा जाता था कि युद्ध का उद्देश्य शत्रु राजाओं को हराकर अपनी अधीनता स्वीकार करा लेना और उनसे कर या बलि वसूल करके उन्हें राजसूय या अश्वमेध में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करना ही होना चाहिए। विजीगीषु राजा हारे हुए राजाओं को उनके राज्य वापिस कर देता था और यदि किसी शत्रु राजा की युद्ध में मृत्यु हो जाती तो उसके ही वंशज पुत्र या कन्या को राज्य पर अधिष्ठित करा देता था। सभा पर्व में युद्ध के नितान्त इस मानवीय एवं रोमाञ्चकारी राजनयिक प्रयोग का एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। कहा गया है कि 'प्राग्ज्योतिष' (असम की महाभारतकालीन राजधानी) के राजा भगदत्त से अर्जुन का महान् भीषण युद्ध हुआ। राजा भगदत्त की सेना में किरात, चीनी, सागर के तटवासी तथा अन्य अनेक जातियों के सैनिक थे। यह युद्ध आठ दिन तक चलता रहा। तब राजा भगदत्त ने हँसकर यह स्वीकार किया कि वह अर्जुन की इच्छा और आज्ञा के अनुसार चलने को तैयार है। अर्जुन ने भगदत्त से कहा—'धर्मपुत्र, धर्मज्ञ तथा सत्यसंध, कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर विपुल दक्षिणा देकर यज्ञ कर रहे हैं। मैं उन्हें संपूर्ण पृथिवी के सम्राट् देखना चाहता हूँ (तस्य पार्थिवतामीप्से)। आप उनके लिए कर देकर अधीनता स्वीकार करें। आप मेरे पिता के मित्र हैं और मैं भी आपको स्नेह करता हूँ, इसलिए मैं अपनी ओर से आपको आज्ञा नहीं देता, आप स्वयं प्रीतिपूर्वक कर दे दें[2]। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारतीय विजय नीति में धर्म-विजय तथा धन-विजय के तत्त्व ही विद्यमान थे। आसुरी विजय अर्थात् शत्रु राजा के प्राण, पत्नी, पुत्र तथा राज्य के अपहरण का उद्देश्य लेकर दिग्विजय करना धर्म के विपरीत माना जाता था। प्राचीन भारतीय विजिगीषु अपनी आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताओं के कारण तो ऐसा आचरण करते ही थे साथ ही कुछेक व्यावहारिक राजनीतिक मान्यताओं का प्रभाव भी उक्त आचरण का कारण था। शान्ति पर्व में पितामह भीष्म ने कहा है कि 'अधर्म से पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए क्योंकि अधर्म से विजय प्राप्त कर लेने पर किसी भी राजा को सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। अधर्म से प्राप्त की गई विजय पापपूर्ण भी होती है और अस्थायी भी। ऐसी विजय से राजा और राज्य (राजानं महीं च) दोनों का पतन होता है[3]।

सामन्तवाद तथा उपनिवेशवाद का अभाव

उक्त महाभारतीय राजनयिक तत्त्वदर्शन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में एक ऐसी

१—वही ३८, १–५।

२—सभा पर्व २६, ७–१६; तुलनीय—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २०, १, १ 'सार्वभौम'; मैत्री उपनिषद्, १, ४, चक्रवर्ती; क्षीर स्वामी का मत, म० म० काणे, ३, ६६; एम० मोनियर विलियन्स 'संस्कृत डिक्शनरी; पृ० ३८१।

३—शान्ति ६६, १–२।

व्यवस्था को जन्म दिया जिसका उदाहरण विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। सभी को स्थानीय स्वराज्य देने की इस नीति के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष एकात्मक राज्य के रूप में तो विकसित नहीं हो पाया। परन्तु इस नीति के कारण सामान्तवाद और उपनिवेशवाद जैसी मानवता विरोधी एवं अन्याय्य विस्तारवादी व्यवस्थाओं से भारतीय राजनीति सदैव मुक्त रही। धर्म विजय की इसी भावना से प्रेरित होकर भारतीय सम्राटों ने कभी भी भारतवर्ष की सीमाओं को पार कर पड़ौसी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया[1]।

धर्म विजय के इस सिद्धान्त का प्रभाव न केवल परराष्ट्र नीति एवं राजनय पर ही पड़ा, भारतीय युद्धनीति पर भी इसका पर्याप्त व्यावहारिक प्रभाव था। परन्तु महाभारत में उनके साथ धर्म से जो धर्म से युद्ध करें, जो छल या कपट से लड़े उनके साथ छल से ही युद्ध करके विजय प्राप्त करना उचित बतलाया गया है[2]।

इस प्रकार हम देखते हैं महाभारत विजय नीति का पहला उद्देश्य अन्य अविजित प्रदेशों को जीतकर उन्हें सम्राट् की अधीनता स्वीकार कराना होता था और उसके लिए वे सम्राट् को कर देने के लिए बाध्य होते थे[3]। दूसरे, परराष्ट्रों को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करने के लिए प्रायः प्रथमतः राजनयिक उपायों का प्रयोग किया जाता था और उससे कार्य सिद्ध होने की आशा न रखने पर ही युद्ध को सीमित राजनयिक प्रयोग करने की परम्परा थी[4]।

इस नीति के परिणामस्वरूप सम्राट् के सम्पूर्ण साम्राज्य में राजनीतिक व्यवस्था एवं स्थायिता बनी रहती थी और साथ ही बलि या कर के रूप में प्रचुर धनराशि प्राप्त होने के कारण उसके कोश की वृद्धि होती जाती थी[5]।

सम्राट् युधिष्ठिर की आज्ञा से दिग्विजय के लिए उत्तर दिशा में अर्जुन, पूर्व की ओर भीम, दक्षिण की ओर सहदेव तथा पश्चिम दिशा की ओर नकुल ने प्रस्थान किया। सभी विजिगीषु पाण्डवों ने समझौते के द्वारा सान्त्वना देकर या प्रीतिपूर्वक विजित राजाओं को युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया तथा ऐसा सम्भव न होने पर ही युद्ध का सहारा लिया गया। मध्यकालीन यूरोप तथा विश्व के अन्य देशों की परम्पराओं की तरह उन्होंने विजित राज्यों को अपने सेनापतियों और सैनिकों को जागीरों के रूप में नहीं दिया। किसी को किसी प्रदेश का सामन्त (अं० फ्यूड) नहीं

१—दे० यही पुस्तक अ० ३ तथा अ० ६।
२—शान्ति ६५, ६।
३—दे० शान्ति पर्व ६६; ४–५ वही ६७, १–४; वन पर्व २७१ (जयद्रथ की भीम द्वारा पराजय) विराट् पर्व ३३ तथा सभा २८।
४—सभा २८, ६–१० (कुन्तिभोज की पराजय)।
५—अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों के द्वारा एकत्रित करके लाये गये करों के वर्णन के लिए दे० सभा, दिग्विजय पर्व अ० २५–३२।

वनाया। अतः महाभारत के करदाता राजाओं को सम्राट् के सामन्त नहीं कहा जा सकता। सामन्तवाद का यह अभाव भारतीय राजनय की विशेषता है। उपनिवेशवाद का कहीं लेशमात्र भी भारतीय राजनीति में दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ भारतवर्ष जैसे भौगोलिक दृष्टि से विशाल देश में शून्य जनपदों में वस्तियाँ वसाना राज्य की सुरक्षा और प्रतिरक्षा की दृष्टि से उपादेय समझा जाता था। परन्तु इस सूने प्रदेशों को बसाने (शून्यानां च निवेशनम्) के कार्य को उपनिवेशवाद की उस परिधि में नहीं लाया जा सकता जिस अर्थ में गत शताब्दियों की साम्राज्यवादी राजनीति में इसका प्रयोग होता आया है[1]।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में कुछ भ्रामक मतों का खण्डन—

उक्त विवेचन के प्रकाश में कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के उन भ्रान्तिपूर्ण मतों की संक्षिप्त समीक्षा करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा जिसका आधार प्राचीन भारतीय राजनयिक परिस्थितियों का अज्ञान या अधूरा ज्ञान मात्र है, यद्यपि ग्रन्थ विस्तार के भय से इन मतों की आलोचना न करके हम उन्हें केवल प्रश्नात्मक रूप में उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। प्रश्न यह है कि क्या प्राचीन भारत में राजनय तथा युद्ध के द्वारा की जाने वाली उक्त दिग्विजय और साम्राज्य की स्थापना के प्रयास कीर्ति और वड़प्पन के भूखे आक्रान्तों के राजनीतिक और सैनिक अपवित्र इरादों के परिणाम थे? क्या इन आक्रामक चेष्टाओं के युग में कोई अन्तर्राष्ट्रीय अथवा यों कहिए अन्तर्राज्यीय कानून और राजनय नहीं रह गया था? क्या एक राज्य दूसरे राज्य के वीच केवल एक ही सम्बन्ध था केवल युद्ध? विना किसी कारण के ही सैनिक तैयारियाँ पूर्ण करके कोई भी सशक्त राजा विना न्याय्य आधार के ही पड़ौसी पर आक्रमण करके युद्ध छेड़ देता था? इन सभी प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए महाशय इन्द्र ने राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों को 'निश्चित रूप से आक्रामक कार्यवाही के उपकरण' कहकर अपने मनमने नये निष्कर्षों की स्थापना की है।

महाभारत युद्ध को न्याय्य आधार पर लड़ा हुआ युद्ध मानकर भी आगे चलकर स्वयं ही इस युद्ध के भीषण परिणामों पर सौ-सौ आँसू वहाते हुए शायद अपनी भावुकता के कारण और शान्ति प्रियता के नाम पर इसे केवल आक्रामक प्रवृत्तियों का परिणाम वतलाया है। आगे चलकर वे अश्वमेध को 'केवल अपने महत्त्व के विस्तार' (अं० सैल्फ एग्रैंडाइजमैंट) का प्रभावी साधन' कह वैठे हैं। उन्होंने युधिष्ठिर के पश्चात परीक्षित द्वारा गंगा के किनारे शारद्वत के पौरोहित्य में कराये गये तथा जन्मेजय के द्वारा इन्द्रोत दैवापि शौमक के पौरोहित्य में सम्पन्न कराये गये अश्वमेधों पर भी बड़ा

१—दे० एन० एन० ला, 'इण्टर स्टेट' रिलेशन्स, पृ० ९१ 'हमारे विचार में उपनिवेशवाद राज्य की अभिमत नीति नहीं थी'; पी० एन० वोस ने अपने ग्रन्थ 'दि इण्डियन कोलोनी आव् स्याम', पृ० २५ में स्पष्ट किया है कि वृहत् भारत के युद्ध के प्रसिद्ध उपनिवेश भी किसी राज्य या सम्राट् की नियोजित सहायता से नहीं बसाये गये।

खेद प्रकट किया है और पार्जीटर को उद्धृत करते हुए इस बात से सन्तोष माना है कि जन्मेजय के तीन पुत्रों को साम्राज्य नसीब नहीं हुआ यद्यपि जन्मेजय के पौत्र जन्मेजय द्वितीय ने उक्त यज्ञ सम्पन्न किया।[1] महाशय इन्द्र की उक्त टिप्पणियों और धारणाओं पर आधारित उनका राजसूय और अश्वमेध सम्बन्धी 'थीसिस' कितना निराधार और अनधिकृत है यह कहना आवश्यक नहीं। इन्हीं महाशय के द्वारा प्रशंसा करते हुए उद्धृत किया गया प्रोफेसर रैप्सन का मत भी विचारणीय है। इसमें कहा गया है कि 'जिस समाज में युद्ध एक पेशा वन चुका था और सैनिक एक पेशेवर लड़ाकू जाति का सदस्य होता था, उस समाज की परिस्थितियों में ऐसी सैनिक कारवाइयाँ आये दिन की सामान्य वात वन गई थीं। इन सैनिक कृत्यों के द्वारा राजा को वे अवसर मिलते थे जिनके द्वारा वह अपने राज्य का विस्तार करने की महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण कर सकता था जिसे मनु ने भी उसकी सर्वश्रेष्ठ योग्यता का लक्षण मान लिया'। इस मत के अनुसार प्रेरित होकर श्री इन्द्र ने वैदिक युग में क्षुद्र जातिय अभिमान को छोटे-छोटे मामलों पर लड़ बैठने का कारण और सभी जगह अपनी कीर्ति फैलाने और राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा को युद्ध की मूल प्रेरणा माना है और कहा है कि 'यद्यपि आक्रामक कार्यवाहियों की घोषणा के लिए किन्हीं तर्कसम्मत वहानों का आविष्कार कर लिया जाता था'।

यह कहना पड़ेगा कि उक्त विद्वान् के सभी साहसिक उद्घोष अनेक भारतीय विद्या के मर्मज्ञ विद्वानों की सम्मतियों के विरुद्ध तथा सर्वथा अनधिकृत और अप्रामाणिक हैं। राजसूय और अश्वमेध राजनीतिक एवं धार्मिक यज्ञ थे जिन्हें विजिगीषु शासक "स्वेच्छा से" अन्य राज्यों को अपने अधीन करने के लिए सम्पन्न नहीं कर सकते थे। ये यज्ञ पहले से ही अधिगत की गई प्रभुसत्ता की स्थापना के लिए किए जाते थे, ये शक्ति प्राप्त करने के साधन नहीं थे[2]।

१—द्रष्टव्य—पार्जीटर, एँश्यैंट इंडियन हिस्टरीकल ट्रैडीशन, पृ० ११४। अश्वमेध-यज्ञ के विकास और विशेषताओं के लिए दे० तै० ब्राह्मण, ३, ८, ९; ऋग्वेद, ४, ३८, १०; जैमिनीय ब्रा० २, २६७; तै० ब्रा०, ३, ८, ५; शतपथ ब्रा० १३, १, ६, ३; तै० संहिता, ५, ४, १२, ३; शतपथ ब्रा० १३, ३, ३, ६ (स्पैल्मैन, १७२ पर उद्धृत); अश्वमेध करने वाले राजाओं के वर्णन के लिए, एच० सी० राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्टरी आफ् एँश्यैंट इंडिया, पृ० १७०–१; काणे, पुस्तक २, भाग २, पृ० १२३८–९; पुस्तक ३, पृ० ७०–७१।

२—यद्यपि राजसूय या अश्वमेध यज्ञ से पहिले ब्राह्मणों, राज प्रकृतियों और मित्र राष्ट्रों की सम्मति लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना जाता था (दे० सभा पर्व में युधिष्ठिर का राजसूयारंभ पर्व और अश्वमेधिक पर्व में जनता, ऋषियों तथा कृष्ण की सम्मति लेना। (उक्त प्रकार की ब्राह्मणों की सम्मति प्राप्त न होने के कारण ही कर्ण के द्वारा दिग्विजय कर लेने पर भी दुर्योधन राजसूय यज्ञ नहीं कर पाया क्योंकि ब्राह्मणों की सम्मति में युधिष्ठिर के रहते हुए यह संभव नहीं था)।

डा० स्पैल्मैन के साम्राज्य सम्बन्धी विचार बड़े विचित्र हैं। इनका कहना है कि 'बौद्ध-ग्रन्थों में बार-बार धर्मसम्मत राज्य के महत्त्व पर बल दिया गया है। महाभारत की धोखेबाजी (अं० ट्रैचरी) और कौटिल्य की चाणाक्षता (अं० ट्रिकरी) का स्थान एक कहीं अधिक शक्तिशाली सिद्धान्त ने ले लिया है जो विजय का अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी साधन है। ऋग्वेद की कबीले वाली क्रूर लड़ाकू प्रवृत्तियों से लेकर बौद्ध-साहित्य के चक्रवर्ति-सिद्धान्त तक के विकास काल में भारतवर्ष पूर्व में राजनीतिक तत्वदर्शन की सबसे श्रेष्ठ उर्वर भूमि बन गया था[1]।' केवल बौद्धकाल में ही धर्म राज्य के सिद्धान्त के विकास की अनधिकृत कल्पना करने वाले तथा वेदों, धर्मशास्त्रों और रामायण तथा महाभारत के लिए ही नहीं हिन्दू साम्राज्य के पुनर्जागरण के प्रतीक अन्य साम्राज्यों तथा गुप्त साम्राज्य तक की अवहेलना करने वाले तथा उन कालों की राजनीति को धोखेबाजी और कूट आदि अशोभनीय नाम देकर बदनाम करने की इच्छा करने वाले उक्त विद्वानों के वस्तुस्थिति से विद्रोह करने वाले उक्त मत उनकी 'हिन्दू-विरोधी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इस प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर किए गए ये अनधिकृत और अतर्कसम्मत आविष्कार ही वस्तुतः वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र के सबसे बड़े अभिशाप हैं। भारतीय राजनीतिक तत्वदर्शन तथा राजनयिक व्यवहार का क्षेत्र इतना व्यापक है और उसकी मान्यताएँ इस प्रकार स्पष्ट तथा असंदिग्ध हैं कि उनके विषय में आजकल ऐसे पूर्वाग्रहों तथा अनर्गल निष्कर्षों तथा 'थीसिसों' का ठहरना असंभव है। महाभारत के सामान्य तत्वदर्शन को आपत्कालीन, अस्थाई किन्तु व्यावहारिक राजनय के साथ मिला देने की भूल के परिणामस्वरूप भी अनेक गलतफहमियाँ हुई हैं।

राजनय के आधार—

महाभारत के राजनय का मूल आधार गीता का वह तत्त्व-चिन्तन है जिसके अनुसार विश्वबन्धुत्व, सर्वभूत-हित, विश्व-शान्ति और सर्व-सुख की सर्वाधिक प्रसारित आर्य मान्यताओं का जन्म हुआ है।[2] डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'विभिन्न जातिय समस्याओं के समाधान के लिए हिन्दू धर्म में एक प्रजातंत्रीय पद्धति का विकास हुआ है जिसके अनुसार प्रत्येक जातिय वर्ग को दूसरे वर्गों के हितों को हानि न पहुँचाते हुए अपने अन्तर्निहित श्रेष्ठ सद्‌गुणों को विकसित करने की स्वतन्त्रता दी गई है। आर्यों के

१—स्पैल्मैन पृ० १७५—'द कन्सैप्ट आव् वर्ल्ड रूलर'।

२—भीष्म पर्व २८, १८; दे० यही पुस्तक अ० २।

अनुशासन १७५, ८ 'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं वदात्मनः॥' दे० भीष्म २६, ३५, 'स्वधर्म' तथा भगवानदास 'इशैंश्यल यूनिटी आव् आल रिलीजन्स', पृ० २३ पर 'यूनिवर्सल रिलीजन' के विषय में विचार, मौलिक सैद्धान्तिक तथा बड़ी बातों में एकता, अमौलिक तत्वों एवं छोटी और ऊपरी बातों में स्वाधीनता, सभी बातों में उदारता या दानशीलता (अं० चैरिटी)।

इरादे विश्वजनीन रहे हैं और उन्होंने सम्पूर्ण मानवता के लिए आचारसंहिता अर्थात् एक मानव-धर्म का विकास किया है। भारत में जिन महापुरुषों ने विभिन्न जातिय वर्गों का समन्वय और संगम कराने का प्रयास किया उन्हें हिन्दू समाज के निर्माताओं के रूप में पूजा जाता है। राम, कृष्ण और बुद्ध ने यही किया है।[१] इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी भी काल में क्षुद्र संकीर्ण तथा अमानवीय, अपने तथाकथित राष्ट्रीय और जातिय हितों को ही सर्वोपरि मानकर उनकी वृद्धि के लिए आर्यों का हित एवं विनाश तक की प्रेरणा देने वाले तथा दूसरों के प्रति घृणा का प्रचार करने वाले भाव भारतवर्ष में कभी आहत नहीं हुए[२]। यद्यपि वैदिक साहित्य के युग से ही मातृभूमि के प्रति भक्ति की उदार भावना के अनुरूप 'पृथिवी मेरी माँ है, मैं उसका पुत्र हूँ, मैं उसकी हिंसा न होने दूं वह मेरी हिंसा न करे[३] ऐसे ही राष्ट्रीय और देशभक्ति के विचार भारत में व्यापक रूप से मान्य रहे हैं। सम्पूर्ण आसेतुहिमाचल भारत-भूमि की तीर्थयात्रा के लिए प्रदक्षिणा का क्रम महाभारत में भी प्रचलित दिखाई देता है। क्षुद्र प्रादेशिक हितों से ऊपर उठकर विश्वजनीनता और अन्तर्राष्ट्रीयता और सम्पूर्ण विश्व या वसुन्धरा की रक्षा एवं ऐश्वर्य और समृद्धि की भावनाओं का सबसे प्रभावी उपादान वे धार्मिक राजनीतिक तथा राजनयिक संस्थाएँ ही रही हैं जिनका महाभारतकाल में पर्याप्त विकसित रूप प्राप्त होता है। यह भारतीय राष्ट्रीय चेतना किसी भी धर्म-विरुद्ध आक्रामक सैनिक कृत्य के प्रति विद्रोही रही है और उसका निवारण करने के लिए लड़े जाने वाले युद्धों को 'धर्म-युद्ध' मानती आई है। युद्ध को टालने के लिए राष्ट्रीय हितों और सम्मान का बलिदान इसे सहन नहीं है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण शान्तिप्रिय कृष्ण के द्वारा की गई महाराज भोज की वह भर्त्सना है जिसमें उन्हें मगध-नरेश की दासता स्वीकार करने के लिए धिक्कारा गया है क्योंकि उन्होंने विना युद्ध में परास्त हुए ही तथा अपनी शक्ति और स्वाभिमान तथा आत्म-गौरव की परवाह न करते हुए दुष्ट जरासन्ध की दासता स्वीकार कर ली। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को कौरवों का विनाश करने के लिए धर्म-युद्ध में वेखटके प्रवृत्त होने की प्रेरणा केवल इसीलिए दी क्योंकि दुर्योधन आदि कौरव धर्मपराङ्मुख, धूर्त, लोभी, आततायी तथा मायावी एवं आक्रामक इरादे लेकर स्वयं पहले युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र में आ डटे थे। ऐसे शत्रुओं के कारण उपस्थित हुए आपत्तिकाल में यथासम्भव ऋजु और कुटिल सभी प्रकार की नीति अपनाने का आग्रह महाभारतकार की विशेषता है यह आपत्कालीन नीति आत्मरक्षा और शत्रुओं के विनाश के लिए अनिवार्य होने के

१—राधाकृष्णन्, 'हिन्दू व्यू आव् लाइफ' पृ० ९६।

२—इसका सुपुष्ट प्रमाण यही है कि भारत में आक्रान्ता के रूप में आए हुए यूनानी, हूण, शक आदि विदेशी तत्व भी भारतीय संस्कृति में ही घुल-मिल गए। उनके प्रभाव से भारतीय जीवनधारा विकृत नहीं हुई। दे० हावेल—'एरियन रूल इन इंडिया', पृ० ६३।

३—अथर्व १२, १, १२।

कारण सर्वथा नैतिक मानी गई है यद्यपि शान्तिकाल में इसका प्रयोग न करने का ही उपदेश दिया गया है।[1]

पाश्चात्य और भारतीय कूटनीतिक व्यवस्था में अन्तर—

उक्त विवेचन को पृष्ठभूमि मानकर अब हम महाभारतीय राजनय की विशेषताओं का उल्लेख और उनका मैकियावेली के राजनय से तुलनात्मक अध्ययन करना चाहेंगे। इस तुलनात्मक अध्ययन के प्रारम्भ में यह बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि महाभारत के केवल उसी राजनीतिक एवं राजनयिक तत्त्वदर्शन की तुलना मैकियावेली के तद्विषयक विचारों से की जा सकती है जिन्हें महाभारतकार ने 'आपद्धर्म' के रूप में प्रतिपादित किया है। महाभारत के सामान्य राजनयिक तत्त्वदर्शन का विवेचन हम सूत्र रूप से गत पृष्ठों में कर चुके हैं। गत अध्याय में शासन-नीतियों के विवरण के प्रसंग में महाभारतकार के द्वारा प्रतिपादित आपत्कालीन नीतियों का भी प्रतिपादन किया गया है और वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मैकियावेली का अपने काल की विषम राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित चिन्तन प्रायः आपत्कालीन और परिस्थितिपरक ही है। अतः इस प्रसंग में उक्त नीतियों की विस्तारपूर्वक आलोचना के द्वारा अनावश्यक ग्रन्थ विस्तार न करते हुए उक्त नीतियों की मूलभूत समानताओं और विभिन्नताओं पर आधारित विशेषताओं की दृष्टि से ही यहाँ तुलनात्मक विवेचन अपेक्षित है।[2]

(१) महाभारत के सिद्धान्त-पक्ष और इतिहास-पक्ष के द्वारा यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है कि महाभारतकार की दृष्टि से राष्ट्र के त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति रूपी साध्य के लिए राज्य एक महत्त्वपूर्ण साधन है, वह स्वयं साध्य नहीं। राज्य की प्रभुता सर्वोच्च शासक में निहित नहीं है, वह भी सर्व संप्रभुता सम्पन्न धर्म' के अनुसार राष्ट्र का पालन करने वाला साधन या कार्यकारी सत्ता मात्र है। राजनय और युद्ध भी राज्य की रक्षा और संवर्धन के सशक्त उपादानमात्र हैं। यदि किसी परिस्थिति में शान्ति और युद्ध दोनों में ही कार्य सिद्धि सम्भव हो तो, जैसा कि हम अभी पहिले कह चुके हैं, युद्ध की विभीषिकाओं का ध्यान रखते हुए शान्ति का ही आश्रय लेने को अच्छा माना गया है। यहाँ तक कि कुटिल की अपेक्षा ऋजु बुद्धि या राजनय को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामादि उपायों, सन्धि आदि नीतियों तथा राज्य मण्डल आदि के मित्र राष्ट्रीय विषयों के वैज्ञानिक विवेचन में और सामयिक राजनीति परिस्थितियों में इन सब राजनयिक शस्त्रों के समुचित प्रयोग के उद्देश्य से राजनय को ही सर्वश्रेष्ठ कला के रूप में विकसित

१—दे० यही पुस्तक, अ० ७।

२—महाभारतकाल और कौटिल्य की आपत्कालीन मान्यताएँ समान सी हैं, इनकी मैकियावेली के साथ तुलना के लिए दे० वोटाजी, पृ० २१ तथा हिलेब्राण्ट पृ० ३६।

किया गया है। महाभारत का यह राजनय कोरा सैद्धान्तिक, शास्त्रीय, आदर्श एवं रूढ़ियों तथा परम्पराओं का दास नई परिस्थितियों के पंगु तथा अव्यावहारिक न हो कर बड़ा लचीला, व्यावहारिक तथा सभी राजनीतिक परिस्थितियों की चुनौतियों के लिए बड़ा सशक्त वैज्ञानिक साधन है क्योंकि इसमें सरल और कुटिल, नैतिक और अनैतिक आदर्श और व्यवहार इन सभी का यथोचित एवं देशकालानुकाल सामंजस्य मिलता है। विदेश नीति और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का नियमन और नियन्त्रण राष्ट्र के हित में करने की यह कला महाभारत में अपने बड़े उत्कृष्ट रूप में मिलती है। उदाहरण के लिए 'शत्रु से भी व्यवहार करते समय क्रोध, असहिष्णुता, द्वेष, अविश्वास का प्रदर्शन या ऐसा कोई व्यवहार करना मूर्खतापूर्ण या कोरा बचपन बतलाया गया है जिससे शत्रु सावधान, उद्विग्न या उत्तेजित होता हो। जिस प्रकार बहेलिया सावधानी से उन्हीं पक्षियों की बोलियाँ बोलता है, जिन्हें वह पकड़ना चाहता है, इसी प्रकार अपनी राजनयिक चाणाक्षता से शत्रु को वश में करना चाहिए या आवश्यकता हो तो नष्ट कर देना चाहिए। शत्रु, ऋण तथा रोग को नष्ट तो करना ही चाहिए उन्हें रहने देना सर्पयुक्त घर में रहना और विनाश को आमंत्रण देना है परन्तु यह करने के लिए भी मृदु और तीक्ष्ण उपायों का प्रयोग बड़ी चतुरता से करना चाहिए। नष्ट करने से पहिले शत्रु को कन्धे पर भी ढोना चाहिए और फिर उसे, घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ने की तरह, नष्ट करके या स्वयं प्रहार करने के बाद मृत्यु पर आँसू बहाने चाहिये[1]।' स्पष्ट है कि महाभारतकार अपने राजनयिक और राजनीतिज्ञ को भी आवश्यक होते हुए भी कोई ऐसा कार्य नहीं करने देना चाहते जो लोक-संग्रह और मित्र-संग्रह की दृष्टि से घातक और शासक के प्रति घृणा और उद्वेग उत्पन्न करने वाला हो। मंत्रणाओं की गोपनीयता, विस्तृत गुप्तचर-व्यवस्था, विशाल राजनयिक संगठन और परिष्कृत और बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियाँ इसी बात का प्रमाण है कि राजनीतिक एवं राजनयिक कार्यों का इस प्रकार का नियोजन ही महाभारतकार को अभिप्रेत है जो लोक-संग्रह करने वाला त्रिवर्ग का अविरोधी और स्थायी फल देने वाला तथा मित्र राष्ट्रों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में सहायक किन्तु शत्रुओं में उद्वेग और उत्तेजना न निर्माण करने वाला हो। महाभारतकार एक-एक करके मित्रों की संख्या बढ़ाने और शत्रुओं की भी संख्या को एक-एक करके ही समाप्त करते जाने का उपदेश देते हैं। यह सतर्कता और सावधानी उक्त राजनयिक तत्त्व दर्शन की पूर्णता की द्योतक है[2]। महाभारत का राजनय वस्तुतः पूर्ण राजधर्म का पूर्ण राजनय है।

इस महाभारतीय राजनय की तुलना में वैदेशिक सम्बन्धों के राजनय के अपूर्ण और एकाँगी रूप से स्पष्ट निदर्शन के रूप में हम मैकियावेली के केवल सैनिक पक्ष को

१—आदि० १४० आदि।

२—राजनयिक नीतियों के विस्तृत विवेचन के लिए दे० यही पुस्तक, अ० ७ तथा शान्ति पर्व अ० १०२, १०३, १०४ (श्लोक ५–६१) और १०६ (१०–२६) इत्यादि।

ही महत्त्व देने वाली राजनय को रख सकते हैं। उदाहरण के लिए मैकियावेली का कथन है कि 'नरेश को युद्ध के अतिरिक्त कोई अन्य लक्ष्य या विचार नहीं रखना चाहिए, शासन करने वाले से जिसका सीधा सम्बन्ध है वह कला केवल युद्ध ही है[1]। राजनयिक दृष्टि से मैकियावेली राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से मित्र राष्ट्रों की आवश्यकता और मित्र शक्ति की विश्वसनीयता पर वल अवश्य देता है परन्तु साथ ही साथ वह फिर सैनिक पक्ष पर ही असन्तुलित महत्त्व का आरोप करते हुए यहाँ तक कहता है कि जिसके पास अच्छी सेनाएँ हैं, उसे अच्छे मित्र मिल ही जायेंगे। यही नहीं युद्ध और सैन्य-शक्ति के राजनयिक प्रयोग पर मैकियावेली ने इतना अधिक वल दिया है कि महाशय टी० मैक्स्विनी[3] को भी यह कहने के लिए वाध्य होना पड़ा है कि लोग राज्य के विषय में यथार्थवादी धारणा रखने का दावा करते हैं। उनका कहना है कि सन्त भी वही सफल हुए हैं जिनके पास सशस्त्र शक्ति थी, मीठी वाणी से सफलता नहीं मिली, उनके अनुसार शक्ति ही राज्य का चरम अनुपात है, सामर्थ्य ही सर्वश्रेष्ठ गुण और सफलता ही एक मात्र लक्ष्य। वे ही राष्ट्रीय शक्ति का सबसे शक्तिशाली उपादान केवल युद्ध को ही मानते हैं। सफलता को ही लक्ष्य मान लेने के कारण उसकी प्राप्ति के लिए सभी भले-वुरे साधन अर्थात् क्रूरता, धोखेवाजी, पाखण्ड और दम्भ तक भी आदरणीय मान लिए गये हैं।' मैकियावेली, जो ऐसे तथाकथित यथार्थवादियों का सम्राट् है, कहता है कि नरेश को अपने द्वारा सम्पन्न प्रतिज्ञाओं, वचनों तथा सन्धियों के पालन के विषय में रुढ़िवादी ढंग से सच्चा नहीं होना चाहिए। उसे उस समय विल्कुल ईमानदार दिखाई देना चाहिए जव वह प्रतिज्ञाएँ की जायें, परन्तु जव कभी वे सफलता के मार्ग में वाधा बन जाय तभी उन्हें तोड़ देना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने शासित प्रजावर्ग को या तो सन्तुष्ट या प्रतिरोध करने में नितान्त दुर्वल वनाये रखे। अन्य राज्यों के लोगों के सम्बन्ध में उसका कहना है कि दूसरे राज्य पर आधिपत्य जमाने वाले नरेश को जितनी क्रूरताएँ प्रयोग में लानी वह आवश्यक समझे एक साथ कर डालनी चाहिए[2]। वह आगे कहता है कि जो विजेता किसी स्वतन्त्र नगर को जीत तो लेता है परन्तु उसे नष्ट भ्रष्ट कर उसका विध्वंश नहीं करता, वह बड़ी भारी भूल करता है और उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह किसी दिन स्वयं नष्ट कर दिया जायेगा, क्योंकि जव कभी वहाँ के नागरिक विद्रोह के लिए सन्नद्ध हो जायेंगे, हाँलाकि यह सव कुछ वे स्वतन्त्रता के तथाकथित पवित्र नाम पर तथा अपने पूर्वजों के पवित्र कानूनों के नाम पर ही करेंगे, और कितना भी लम्वा समय तथा कितना भी कृपापूर्ण व्यवहार उनकी इस भावना को नाम शेष नहीं कर पायेगा[4]। इस प्रकार मैकियावेली का राजनय

१—प्रिंस १४, १११।
२—वही १६, १४०।
३—टी० मैक्स्विनी, 'प्रिंसीपिल्स आव् फ्रीडम', पृ० १६२–३।
४—प्रिंस अ० ३।

अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित और सरल कुटिल सभी उपायों के प्रयोग को केवल राज्य पर अधिपत्य जमाये रखने और उसका विस्तार करने के लक्ष्य से उचित मानता है। इसी लक्ष्य के लिए वह नग्न धूर्तता और तथाकथित शान्त, सतर्क, वैज्ञानिक अत्याचारों को भी व्यवहार्य कहता है तथा जघन्य क्रूरताओं का भी समर्थन करता है। वह यह भूल जाता है कि इस प्रकार के आचरण का प्रभाव मित्रराष्ट्रों पर कितना अनिष्ट पड़ेगा और उसकी ऐसी नीतियाँ उसके शत्रुओं को उद्विग्न, उत्तेजित और कहीं अधिक संगठित बना देंगी और उन्हें उसके विरुद्ध संगठित कार्यवाही करने की प्रेरणा देंगी।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि अनिवार्य संकटकालीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर 'केवल शत्रुराष्ट्रों' के विरुद्ध आपद्धर्म के नाते कूटनीति का कुशलतापूर्वक प्रयोग करने का आदेश महाभारतकार ने दिया है परन्तु उसका उद्देश्य आत्मरक्षा ही है राष्ट्र पर आक्रमण होने, विप्लव हो जाने, सैन्य संगठन विगड़ जाने और राजनीतिक जीवन के अस्त व्यस्त हो जाने पर येन केन प्रकारेण स्वराज्य और सुशासन की स्थापना करने के लिए केवल राज्य के बाह्य और आभ्यान्तरिक शत्रुओं के साथ ही 'तीक्ष्ण उपायों' का अस्थायी और उचित प्रयोग करने की अनुमति दी गई है और साथ ही यह कह दिया गया है कि इन नीतियों का प्रयोग सामान्य काल में कदापि न किया जाय।

इसके अतिरिक्त महाभारतकार ने छः राजनयिक नीतियों में से युद्ध को केवल एक उपाय या नीति के रूप में विग्रह नाम से स्वीकार किया है, जिसका प्रयोग भी केवल समानशक्ति वाले शत्रु से करने की अनुमति दी गई है क्योंकि अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने का परिणाम नितान्त भयंकर होना स्वाभाविक है और दुर्बल पड़ोसियों के साथ इसका प्रयोग क्रूरता पूर्ण और अबुद्धिमत्ता का सूचक है। मैकियावेली ने शासक को अपने तथा अपने राज्य के महत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए सुनियोजित युद्ध अभियान करने और इस प्रकार की विजयों के द्वारा अपने महत्त्व की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा दी है[1] जबकि महाभारतकार ने जैसा हम पहले कह चुके हैं, इसे स्पष्ट बचपन और मूर्खतापूर्ण कृत्य माना है।

महाभारत के राजनय में शतरंज के खेलने की कला के समान सुनियोजित, सुसंस्कृत और दूरदर्शितापूर्ण जिस प्रकार की चतुर व्यूह कुशलता और प्रयोग-सौकर्य के दर्शन होते हैं, उसकी तुलना में मैकियावेली की व्यावहारिक तथा इटली की विशेष परिस्थितियों से प्रभावित, सैनिक तथा तीक्ष्ण पक्ष पर अधिक महत्त्व देने वाली कूटनीति में क्रूरता और कुटिलता ही प्रायः अधिक दिखाई देती है।

महाभारत का मूलभूत राजनीतिक तत्त्वदर्शन विश्वबन्धुत्व और 'धर्म की संप्रभुता' जैसी उदार भावनाओं से अनुप्राणित होने के कारण तथा विजिगीषु-वृत्ति का

१—प्रिंस अ० २१।

सर्वथा समर्थन और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की चरम सीमाओं को धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वीकृति प्रदान करने वाला होने पर भी एकता में अनेकता तथा समानता में विविधता का तथा 'स्थानीय स्वशासन' और 'स्वराज्य' का समर्थक है। अतः इसी की मूल प्रेरणाओं से अनुप्राणित भारतीय राजनय में उन तीक्ष्ण उपायों के प्रयोग के लिये अवकाश कम है जो मैकियावेली के राजनय की विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत मैकियावेली के राजनय के मूल में भी अपने पददलित राष्ट्र इटली को उसके प्राचीन गौरव, राष्ट्रीय शक्ति और स्वाभिमान की फिर से प्राप्ति कराने की देशभक्ति और सद्भावना से पूर्ण उदार भावनाएँ हैं परन्तु फिर भी है वे कोरी राष्ट्रीय ही जिनमें मेरा राष्ट्र, मेरे राष्ट्र का हित, की संकुचित भावना उदार मानवीय दृष्टिकोण को सीमित बना देती है। सामन्तवाद के अभिशाप से ग्रस्त, पुनर्जागरण काल के इटली में जहाँ इटली के भिन्न भिन्न प्रदेशों में स्थापित सामन्त राज्यों का सन्तुलन विगड़ा हुआ था, राज्य पर डटे रहना आसान न था, पड़ौसी राज्यों का भय निरन्तर बना रहता था, एक राज्य का नरेश दूसरे राज्य पर आक्रमण कराने के लिए किसी विदेशी शक्ति को आमन्त्रित न कर ले यह डर हर समय बना रहा करता था तथा प्रायद्वीप के बड़े बड़े राज्यों में भी राज्य का तख्ता आये दिन कहीं न कहीं उलटता रहता था और इटली वासी जनता इन उथल-पुथलों से अभ्यस्त, परिवर्तनों के लिए मानसिक दृष्टि से तैयार और इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार से ग्रस्त थी, ऐसी आपत्कालीन परिस्थितियों में मैकियावेली के राजशास्त्र और राजनय का हिंसात्मक प्रवृत्तियों से अभिनिविष्ट तथा कूट एवं कुटिल होना स्वाभाविक है। परन्तु इसकी स्वाभाविकता स्वीकार कर लेने पर भी इसमें निहित इसकी अव्यावहारिक अपूर्णता और राजनयिक अदूरदर्शिता से इंकार नहीं किया जा सकता।

परन्तु हम सैद्धान्तिक और नैतिक आधारों पर तथा एक पूर्ण राजधर्म या राजनीतिक तत्त्वदर्शन की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण ही मैकियावेली के राजनयिक विचारों की अवहेलना नहीं कर सकते। मैकियावेली का राजनय एक विशेष युग के विचार एवं व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है। मध्यकाल के अन्तिम दौर में तथा आधुनिक युग की देहरी पर खड़े होकर निर्भीक, निर्द्वन्द्व तथा अधिकार पूर्ण आर्ष प्रतिभा के द्वारा अपनी कल्पना के भावी इटली नरेश को मैकियावेली ने जिस राजनय को क्रियान्वित करने का आदेश दिया है, उसके अनेक पक्ष आज भी इतने व्यावहारिक और उपादेय तथा अनुभव सिद्ध हैं कि उनका प्रयोग आज के राजनयिक व्यवहार में भी उपादेय और हितकर है। मैकियावेली की कूटनीति का सैद्धान्तिक आधारों पर विरोध करने वाले राजनीतिक नेताओं ने भी प्रायः व्यवहार में उसी का अनुकरण किया है। नैपोलियन जैसे सफल व्यक्तित्व और प्रभावशाली सम्राट् के चरित्र को मैकियावेलीवाद की सफलता का निदर्शन स्वीकार किया गया है।

अतः उन पक्षों का संक्षेप में परिगणन आवश्यक है। अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों और विदेश नीति के विषय में मैकियावेली के राजनय को केवल शक्ति सन्तुलन की कला कहा जा सकता है। (१) मैकियावेली मित्र शक्तियों तथा अन्य सहायक तत्त्वों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी राष्ट्रीय आत्म निर्भरता पर सबसे अधिक वल देता है क्योंकि वह दूसरों की सद्भावना और सहायता को सर्वथा चंचल और अस्थिर मानता है। (प्रिंस ७, ४६)। (२) अपने आदर्श चरित नायक सीजर बोर्जिया की राजनयिक निपुणता की प्रशंसा वह इन चार नीतियों के कारण करता है, १—विजित सत्ताओं का मूलोच्छेदन, २—सम्भावित हस्तक्षेपों को रोकने के लिए नियोजित मैत्री सम्बन्धों की अपेक्षित व्यवस्था, ३—अपने प्रताप और प्रभाव का ऐसा विस्तार कि अन्य सत्ताएँ सहायता करना चाहें किन्तु विरोध करते हुए डरें, ४—सम्भावित प्रतिद्वन्द्वियों का विध्वंश (वही ७)। (३) राष्ट्रीय और परराष्ट्रीय नीतियों के विषय में आवश्यक एवं अनिवार्य प्रवन्ध करने और नीति निर्धारण में मैकियावेली ने दीर्घ सूत्रिता और चिरकारिता की अपेक्षा सत्वर और साहसिक राजनयिक प्रयोगों की सराहना की है और इसके लिए प्रिंस के २५ वें अध्याय में पोप जुलियस की प्रशंसा की है। (४) मैकियावेली ने अपने नरेश को लोमड़ी और सिंह का सा मिला-जुला आचरण करने की प्रेरणा देते हुए प्रिंस के १८ वें अध्याय में यह प्रतिपादित किया है कि पराक्रम के साथ-साथ राजनयिक कूट प्रयोगों से मानव बुद्धि को चकमा देकर राष्ट्रीय हितों को सिद्ध करना और दूसरों के राजनयिक जालों में फंसने से बचने की योग्यता रखना भी आवश्यक है। (५) मैकियावेली ने राजनयज्ञ को सिद्धान्तपरक और रूढ़िवादी न बनकर देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थितियों में अपने विचारों, नीतियों, सन्धियों और प्रतिज्ञाओं तक में अपेक्षित एवं आवश्यक परिवर्तन करना राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि के लिए अनिवार्य वतलाया है (वही १८) (६) प्रिंस के उन्नीसवें अध्याय में मैकियावेली अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में से एक को धोखा देकर दूसरे से युद्ध करने की सैवरस की प्रशंसा करता है। (७) विजित राज्यों पर अधिकार वनाये रखने के लिए मैकियावेली ने अपने पक्ष के समर्थक लोगों को समर्थ और सशस्त्र कर देने (२०,१६४) उन्हीं के द्वारा उस प्रदेश की शासनसत्ता का संचालन करने (अ० ३) विद्रोही और असन्तुष्ट तत्त्वों पर विश्वास न करके उन्हें निरस्त्र कर देने या फिर उन्हें मृदु स्त्रैण वना देने (२०, १६६) तथा उस प्रदेश में सैनिक छावनियों की स्थापना की व्यवसाध्य व्यवस्था की अपेक्षा, वहाँ के उपद्रवी तत्त्वों को तितर-बितर और दरिद्र बनाकर उनके बीच में राजभक्त तत्त्वों के उपनिवेश वसा देने की सिफारिश की है (अ० ३)। (८) शत्रु राष्ट्रों को उलझाये रखने तथा उनका ध्यान युद्ध पर ही केन्द्रित बनाये रखने के द्वारा मैकियावेली ने उन्हें आर्थिक तथा सामाजिक विकास न करने देने की नीति को आवश्यक वतलाया है और कहा है कि उन्हें धीरे धीरे प्रभावित और आतंकित करके उन पर अपने अधिकार और प्रभुत्व का आरोप करना चाहिये (२१, १७३) युद्ध के इस कूट-नीतिक एवं सन्तुलित प्रयोग के लिए स्पेन के नरेश फर्डीनेंड की प्रशंसा की

है। (९) मैकियावेली राष्ट्र की तटस्थ नीति का विरोधी है उसका विचार है कि उसे या तो सच्चा मित्र होना चाहिए या कट्टर शत्रु। तटस्थ राष्ट्र शत्रुओं और मित्रों दोनों की ही दृष्टि में गिर जाते हैं तथा उपेक्षा, अनादर और घृणा के पात्र बनते हैं। दो वर्गों के संघर्ष में वह किसी भी एक वर्ग का बुद्धिमत्तापूर्वक साथ देने की हिमायत करता है। अस्थिरचित्तता और निर्णय लेने में असमर्थता के कारण स्वीकार की गई तटस्थ नीति को वह राष्ट्र के लिये घातक मानता है, और यदि अनिवार्य हो तो साहस और बुद्धिमत्ता के साथ न्यूनतर अनिष्ट (अं० लैसर इविल) का चयन करने की प्रेरणा देता है। उसका कहना है कि ऐसी परिस्थितियों में जो आपका शत्रु होगा वही आपके तटस्थ रहने की बात करेगा (अ० २, १७४–५), परन्तु मैकियावेली ने किसी की भी दया पर आधारित न रहने, शक्तिशाली का पक्ष ग्रहण न करने, किसी के इंगित पर न चलने और तैयारी न होने पर कदापि युद्ध करने की घोषणा न करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा, संप्रभुता और प्रतिरक्षा के लिये आवश्यक होने पर ही वह तटस्थता की नीति अपनाने का समर्थन करता है। (१०) मित्र राष्ट्रों के संगठन और नये मित्रों की उपलब्धि पर बल देते हुए मैकियावेली ने अपने मित्र-राष्ट्रों का अगुआ बने रहने की नीति का प्रतिपादन किया है, परन्तु इस प्रकार की विदेश नीति में वह यह आवश्यक मानता है कि किसी भी विदेशी या बाहरी शक्ति को पैर न जमाने दिया जाय तथा इस संगठन में सबल शक्तियों निर्बल ही बनाकर रखा जाय। केवल युक्ति संगत और उचित सहायता देने की नीति का समर्थन करते हुए भी मैकियावेली ने चेतावनी दी है कि दूसरे की उन्नति का हेतु बनने वाला स्वयं नष्ट हो जाता है (अ० ३) (११) बड़ी सतर्क, सावधान, प्रचण्ड, दुर्धर्ष एवं दूरदर्शिता पूर्ण तथा प्रत्युत्पन्न कूटनीति एवं राजनय का समर्थक होते हुए भी मैकिया-वेली भाग्य की विडम्बनाओं और आघातों का कायल है। परन्तु जिस प्रकार बाढ़ का पूर्ण नियन्त्रण असम्भव होने पर भी सुरक्षा के लिए बाँध, पुश्ते और नहरें आदि बनाकर उसकी भयंकरता को कम करने का प्रयत्न किया जाना आवश्यक है उसी प्रकार शान्तिकाल में ही सम्भावित विपत्तियों के प्रतिकार के लिए पूरी तैयारियाँ करते रहने तथा दुर्धर्ष साहस से और सावधानी की अपेक्षा कहीं अधिक दुःसाहसपूर्ण धृष्टता से उन दैवी आघातों का सामना करने की आवश्यकता पर बल देता है (वही अ० २४ तथा २५)। (१२) अन्त में मैकियावेली ने राष्ट्रीय वैभव की वृद्धि के लिए कर्मठता, दृढ़निष्ठा, श्रद्धा तथा असीम मनोबल का सृजन करते हुए, राष्ट्रीय शक्ति के उद्बोधन और संगठन तथा उसके कुशल नेतृत्व पर बल देते हुए यह आदेश दिया है कि यदि प्राचीन पद्धतियों और परम्परागत नीतियों से नई समस्याओं का समाधान तथा नये संकटों का निराकरण संभव न हो तो नेतृत्व कौशल का प्रदर्शन करते हुए नई पद्धतियों और नई नीतियों का अवलम्बन करना चाहिए (वही अ० २६)।

ग्रन्थ विस्तार के भय से उक्त नीतियों की आलोचना प्रत्यालोचना के अनावश्यक प्रपंच में न पड़ते हुए भी हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि उक्त नीतियों का अनुशीलन

करने से हमारा प्रतिपाद्य स्वयं सिद्ध हो जाता है कि मैकियावेली न केवल 'युग का शिशु' है वह आने वाले युगों का मार्गद्रष्टा ऋषि भी है। आज के युग के राजनय का विद्यार्थी भी मैकियावेली के द्वारा ४०० वर्ष से भी पूर्व प्रतिपादित उक्त राजनयिक उपायों तथा नीतियों की पूर्ण नहीं तो आँशिक समीचीनता को स्वीकार करेगा। यह स्पष्ट है कि गत अध्याय के प्रतिपादित महाभारतीय नीतियों और मैकियावेली की नीतियों में विलक्षण साम्य के दर्शन होते हैं।

युद्ध एवं सैन्य-संगठन—

युद्ध के राजनयिक प्रयोग और तत्सम्बन्धी प्रश्नों पर हम गत पृष्ठों में विचार कर लेने के पश्चात् महाभारत में उल्लिखित उन विचारों का अनुशीलन अपेक्षित है जिनका युद्ध और सैन्य-संगठन सम्बन्धी महाभारतीय स्थिति से सीधा सम्बन्ध है। अति शान्ति-प्रिय शासकों को सावधान करते हुए महाभारतकार का कहना है, 'युद्ध न करने वाले राजा और प्रवास न करने वाले ब्राह्मण दोनों को ही भूमि इस तरह निगल जाती है जिस तरह चूहे आदि विल में रहने वाले जन्तुओं को सांप'[1] और इस प्रकार शासक की आत्म रक्षा के पहलू पर वल देते हुए और सदैव उत्थानपरक विक्रमशील आत्म गौरवाकांक्षी[2] राजनीति का प्रतिपादन करके आत्म विस्तार को महत्त्व देकर महाभारतकार ने युद्ध को, धर्म्य युद्ध को[3], क्षत्रिय के लिए सबसे अधिक श्रेयस्कर बतलाया है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत में राज्य के सात अंगों में सेना (या दण्ड) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा राज्य की रक्षा के लिए कोश, मित्र और राष्ट्र के संग्रह करने पर वल दिया गया है[4]। महाभारत में राजा होने के लिए अपेक्षित योग्यताओं में सेनाप्रकर्षण अर्थात् सेना का नेतृत्व करने की योग्यता एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। साथ ही महाभारत कथा का मूल वर्ण्य विषय युद्ध होने के कारण इसके अध्ययन से यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष और विशेषतया उतर भारत युगों तक युद्धों, संग्रामों और सैनिक क्रान्तियों की विशाल रंगस्थली बना रहा है। कितने ही राज्य बने और विगड़े। शक्तिशाली विजिगीषुओं ने धन, क्षेत्र, कीर्ति और दिग्विजय के लिए देश के एक कौने से दूसरे कौने तक अभियान किए, सामरिक रक्तपात और राजनय के माध्यमों से सम्पन्न कीं गई दिग्विजयों के द्वारा वड़े-वड़े साम्राज्यों की स्थापना की गई।

मनुष्य के स्वभाव से लड़ाकू होने के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार आत्मरक्षा और आत्म विस्तार की मूल प्रवृत्तियों में से एक या दूसरी या दोनों की ही प्रेरणा से मानव क्रमशः व्यक्ति व्यक्ति के विरुद्ध, गोत्र गोत्र के विरुद्ध और वाद में राष्ट्र-राष्ट्र

१—शान्ति ५७, ३।
२—वही ५६, १४–१५; ५८, १३–१८; १३९, ८२।
३—भीष्म २६, ३१–३३।
४—दे० यही पुस्तक अ० ५।

के विरुद्ध लड़ते आये हैं तथा यह स्पष्ट है कि भारत इसका अपवाद नहीं है[1]।

वैदिक काल से ही राजा और राज्य के सैनिक पक्ष का युद्ध से महत्त्वपूर्ण सम्वन्ध रहता चला आया है। स्वाभाविक ही है कि महाभारत में प्राचीन भारतीयों के सैन्य सम्वन्धी विचारों, प्रथाओं और परम्पराओं से सम्वन्धित विपुल सामग्री का अध्ययन नितान्त मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और एक स्वतन्त्र शोध का विषय होने योग्य रहा हो। परन्तु प्रस्तुत प्रवन्ध में सैन्य सम्बन्धी कतिपय विषयों का ही विवेचन अपेक्षित है। प्रश्न यह है कि इस क्षेत्र में महाभारत में उपलब्ध विपुल सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक साक्ष्य प्राचीन भारत के किस काल का प्रतिनिधि है। इस विषय में यह विवेचनीय है कि महाभारत के भीष्म, अर्जुन, द्रोण तथा कर्ण आदि महारथियों के रथों पर चढ़कर युद्ध करने का ही वर्णन विशेष रूप में किया गया है। उसी काल के यूनानी लेखकों के द्वारा यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है (यदि हम इस विषय में कौटिल्य से प्राप्त साक्ष्यों को एक ओर छोड़ भी दें) कि भारतीय लोग चौथी शताब्दी ईस्वीय पूर्व में युद्धों में लड़ने के लिए विशेष रूप से पाले गये और सिखाये गये हाथियों पर कहीं अधिक निर्भर रहा करते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में उपलव्ध सैन्य सम्वन्धी सामग्री का प्रायः संपूर्ण भाग सिकन्दर और मौर्य सम्राटों से पहिले के युग की परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करता है। महाभारत में सेनापतियों के चुनाव की परम्परा और प्रणाली से सम्वन्धित तथ्य भी इसी बात की पुष्टि करते हैं[2]।

युद्ध की न्याय्यता—

महाभारतकार ने वेदों और शास्त्रों के प्रमाणों की चर्चा करते हुए मानवीय वाहुवल पर आधारित क्षात्र-धर्म को सभी धर्मों में श्रेष्ठ सभी धर्मों और अवस्थाओं का अपने में समावेश कर लेने वाला, सभी वर्णों की रक्षा करने वाला, सर्वाधिक सनातन त्याग की अपेक्षा रखने वाला तथा सम्पूर्ण वेदों और वैदिक धर्मों की रक्षा का एक मात्र साधन वताया है[3]।

युद्ध के व्यावहारिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महाभारतकार ने स्पष्ट किया है कि महती राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए मछलियों को पकड़ने और मारने वाले मछुए की तरह, शत्रुओं के मर्मों के काटने, दारुण कर्म करने तथा हत्या करने के विना काम नहीं चल सकता। शत्रु की सैन्य शक्ति का विनाश करना ही चाहिए। शत्रु की सेना के कृश, व्याधित, थकी हुई, घास-पानी के अभाव से ग्रस्त और अति-विश्वस्त होने के कारण शिथिल होने पर उस पर प्रहार करना आवश्यक है। भय से तभी तक डरना ठीक है जब तक वह उपस्थित न हो। परन्तु जब भय आ ही खड़ा हो तो निर्भीक की तरह प्रहार करना चाहिए। क्योंकि युद्ध पर उतारू हुए

१—देखिए डा० पी० सी० चक्रवर्ती, आर्ट आव् वार इन एंश्यैंट इन्डिया भूमिका।

२—डा० चक्रवर्ती, वही, पृ० ४।

३—शान्ति ६३, २४–३०।

(युद्धोपनतम्) शत्रु पर जो व्यक्ति अनुग्रह करेगा धन-मान आदि के द्वारा शान्त करना चाहेगा वह अपने विनाश को ही आमंत्रित करेगा जैसे खच्चरी का गर्भ ही उसका घातक होता है[१]। सभापर्व में महाबली भीम ने युधिष्ठिर से कहा है कि उत्साह एवं आरम्भ (अं० इनिशियेटिव) से हीन, किन्तु दुर्बल होने पर भी उचित उपाय और युक्ति से काम न लेकर बलवान् से भिड़ जाने वाला राजा दीमक के बनाये हुए मिट्टी के ढेर की तरह नष्ट हो जाता है[२]। यही श्रीकृष्ण ने पाँच सम्राटों अर्थात् मान्धाता, भगीरथ, कार्तवीर्य अर्जुन, भरत और मरुत की चर्चा करते हुए कहा है कि उन्होंने क्रमशः जीते जा सकने योग्य (जय्यान्) शत्रुओं को जीतकर, प्रजा पालन के द्वारा तपस्वी वृत्ति से, अतुल पराक्रम (बल) से तथा अपनी समृद्धि और उत्तम नीति के प्रभाव से पूर्ण साम्राज्य की स्थापना की[३]। भीम ने पुनः वनपर्व में अपनी भूमि की वृद्धि न करने वाले, अस्पष्ट नीति वाले तथा युद्ध करने से कतराने वाले और शत्रुतापूर्ण कृत्यों का प्रतिशोध एवं प्रतिकार न करने वाले शासक को निर्बल बैल की तरह अवसाद ही भोगने वाला बतलाया है[४]। उत्साहपूर्वक धर्मयुद्ध में लड़ने वाले कर्मयोगी क्षत्रिय के दोनों ही हाथों में लड्डू होने की ओर संकेत करते हुए कृष्ण ने अर्जन से निश्चिन्त होकर युद्ध करने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि वह युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो पृथिवी के राज्य का उपभोग[५]। हिंसा-अहिंसा के विषय में महाभारत का दृष्टिकोण जीवन के कठोर यथार्थ से प्रभावित है। इसीलिए महाभारत के हजारों वाक्यों में युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले सैनिकों को स्वर्ग के उच्चतम वैभव और अमरता की प्राप्ति होने का प्रतिपादन किया है[६]। साथ ही युद्ध से पीठ मोड़कर अपने साथियों को छोड़कर अपनी जान बचाने के लिए भागने वाले कायरों और नामर्दों पर देवताओं का प्रकोप टूटना निश्चित कहा गया है तथा यह आदेश दिया गया है कि इस प्रकार के कायरों को ढेलों और डण्डों से पिटवाकर मृत्युदण्ड दिया जाय या जीवित ही घास की आग में जला दिया जाय[७]। क्षत्रियों के लिए घर में मरना प्रशंसा नहीं कही गई है। कहा गया है कि यह वीरों के लिए वीरता के विरुद्ध बात (शोटीराणाम् अशोटीर्यम्) और दीनतापूर्ण अधर्म है[८]।

१—आदि १४०, ७७–८ व ८२–३।
२—सभा १५, १२।
३—सभा १५, १५–१६।
४—वनपर्व ३५, ७।
५—भीष्म २६, ३७।
६—देखिए प्रतोदन से युद्ध छिड़ने से पहिले राजर्षिजनक द्वारा अपने सैनिकों को प्रोत्साहन, शान्ति ९९, युद्धस्थल में वीर गति को प्राप्त हुए शूरवीर को पति के रूप में वरने के लिए उतावली अप्सराओं के वर्णन शान्ति ९७, ४६, तुलनीय ऋग्वेद १०, १५४, २–५ अर्थ० १०, ३।
७—शान्ति ९७, २० तथा २१–२२।
८—शान्ति ९७, २५।

क्षत्रिय के योग्य मृत्यु का वर्णन करते हुए यहीं (२८) कहा गया है कि अपने सजातीय बन्धुओं से घिरे हुए समरांगण में महान् संहार मचाते हुए तीखे अस्त्र-शस्त्रों से चारों ओर से घायल होकर प्राणों का परित्याग करना वीर योग्य मृत्यु है।

युद्ध एक यज्ञ—

युद्ध को सबसे अधिक पापपूर्ण और विनाशकारी वतलाने वाले युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए पितामह भीष्म ने कहा है कि 'पापियों को दण्ड देने, सत्पुरुषों को आदर पूर्वक अपनाने, यज्ञों का अनुष्ठान करने तथा दान करने से राजा लोग सब प्रकार के दोषों से मुक्त होकर निर्मल हो जाते हैं[1]। जनता का उनके धन पर आक्रमण, हत्या, क्लेश और लुटेरों के डर से रक्षा करके प्राण देने वाले तथा युद्ध के पश्चात् उस राज्य के लोगों की सर्वांगीण उन्नति करने वाले किन्तु युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के द्वारा वध्य शत्रुओं का वध करने वाले योद्धा नरेशों को खेत की निराई करने वाले किसान की उपमा दी गई है' जो धान के खेत और उसमें उगी घास-फूंस आदि अवांछनीय तत्वों की गुड़ाई और सफाई करता है और यदि उससे कोई धान भी कट जाते हैं तो भी उससे धान की फसल नष्ट नहीं हो जाती (अपितु निराई के वाद भी उसकी उपज और बढ़ती है[2]।) आगे चलकर यहीं ९८वें अध्याय में युद्ध की तुलना यज्ञ से की गई है। युद्ध को यज्ञ ही वतलाया गया है[3]। इस 'यज्ञ' में योद्धाओं को दीक्षित संग्राम-यज्ञ के अधिकारी, हाथियों को ऋत्विक, घोड़ों को अध्वर्यु, शत्रुओं के मांस को ही हविष्य और उनके रुधिर को घृत आदि कहा गया है[4]। परन्तु महाभारतकार ने विजिगीषु को वार-वार सम्वोधित किया है कि विशाल चतुरंगिणी सेना संगठित करके रखने पर भी पहले सामनीति के द्वारा शत्रु से सन्धि करने का ही प्रयास करना चाहिए। यदि वह सफल न हो तो फिर युद्ध के लिए प्रयत्न करना उचित है[5]।

युद्ध नीति—

युद्ध की घोषणा या चढ़ाई करने से पहिले शत्रु के मित्रों में फूट डलवाने के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था करने और उससे अधिक बलशाली अन्य राज्यों से सन्धि कर लेने की आवश्यकता पर वल देते हुए महाभारतकार ने यह स्पष्ट किया है कि शत्रु का भली प्रकार दमन कर डालने और विजय प्राप्त कर लेने के वाद ही अपना

१—शान्ति ९७, ३।
२—शान्ति ९७, ७—८।
३—शान्ति ९८, इन्द्र और अम्बरीष का संवाद।
४—शान्ति ९८, १२—४३ तक।
५—सम्भृत्य महतीं सेनां चतुरंगां युधिष्ठिर।
साम्नैव वर्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥
—शान्ति १०२, १६। साथ ही दे० वही १०२, २२।

यश बढ़ाने के लिए शत्रु के साथ क्षमापूर्ण व्यवहार करना चाहिए' इससे विजिगीषु के महान् अपराधों को भी भूलकर शत्रु भी उस पर विश्वास करते हैं। परन्तु क्षमापूर्ण व्यवहार के विषय में शम्बरासुर के मत को उद्धृत करते हुए यह भी चेतावनी दी गई है कि शत्रु का दमन करने के बाद ही क्षमा करनी ठीक है (कर्षयित्वा तु क्षमा साध्वी) क्योंकि टेढ़ी लकड़ी को यदि बिना गर्म किए ही सीधी किया जाय तो वह फिर ज्यों की त्यों हो जाती है। परन्तु आचार्य लोग शत्रु को भी बेटे की तरह बिना क्रोध और विनाश का आश्रय लिए ही वश में करने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि क्रोध और विनाश का मार्ग प्रशंसनीय और साधु पुरुषों का निदर्शन नहीं है[1]।

महाभारतकार ने साम नीति के उपायों को आगे रखकर (श्लोक ६१) अपनी तीनों प्रकार की शक्तियों (प्रभु, मन्त्र तथा उत्साह शक्तियों का मन्त्र, कोश एवं भृत्य-शक्तियों) को भली प्रकार सम्पन्न करके शत्रु पर उस समय वेगपूर्वक आक्रमण करना उचित बतलाया गया है जब वह किसी विपत्ति में फँसा हो[2]। ऐसे शत्रु पर आक्रमण करने से पहिले अपने पार्ष्णिमूल राज-मण्डल (पार्ष्णिमूल, आक्रन्द, पार्ष्णिमूलासार, आक्रन्दासार आदि तथा मध्यस्थ और उदासीन आदि) का भली भाँति विचार करके (विज्ञाय) ही कदम उठाया जाय।

शत्रु राष्ट्र पर उस समय आक्रमण करना उचित कहा गया है जब फसल के कटने का समय हो (लवम्) या दुर्भिक्ष आया हो क्योंकि फसल पकी होने पर अपनी सेना को अन्न मिल सकेगा और दुर्भिक्ष में अकाल पीड़ित आक्रान्त शत्रु को सरलता से जीता जा सकेगा। शत्रु राष्ट्र में ऐसे विश्वस्त अपने अधिकारियों का जाल बिछा देने की भी आवश्यकता बतलाई गई है जो विजिगीषु के कार्यों को सिद्ध करने का प्रयास करें और आपस में एक दूसरे की रक्षा करते रहें।

शान्ति पर्व में शत्रु के संकट में होने पर उस पर आक्रमण करने की उक्त नीति का समर्थन करते हुए यह भी कहा गया है कि यदि अस्त्र-शस्त्र तैयार हों और योद्धा भी शत्रुओं से भिड़ने के लिए दृढ़ निश्चय हों तो चैत्र मास को या मार्ग शीर्ष की पूर्णिमा सेना के प्रस्थान का उत्तम काल है[3], क्योंकि उस समय खेती पक जाती है,

---

१—शान्ति १०२, २९–३३ तुलनीय सभा ५, ५५।

२—सभा ५।

३—शान्ति १००, १०–१२ दे० उद्योग ८३, १४२, १८।
दे० वही ६९, १९–२२ 'शत्रु के मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओं से रहित दूसरों से युद्ध में फंसे हुए, लापरवाह, और दुर्बल होने पर पहले सारी तैयारी करके यात्रा का विधान है। अन्यथा उसके बलवान् होने पर गुप्त रूप से शस्त्र, आग, विष, मंत्रिमंडल और अन्य समर्थक वर्गों में फूट डालना आदि के कूटनीतिक प्रयोगों से उसे दुर्बल बना डाला जाय।'

भूमि पर पानी प्रचुर मात्रा में मिलता है न अधिक शीतल और न अधिक उष्ण हवाएँ चलती हैं[1]।

सैन्य संगठन एवं व्यवस्था—

महाभारतीय काल में सेना का सभी प्रकार भरण-पोषण, संगठन, प्रशिक्षण तथा निरीक्षण करने वाले अधिकारी को 'सेनाध्यक्ष'[2] और सेना का समरांगण में नेतृत्व करने वाले तथा उसका सभी प्रकार से संचालन करने के लिए उत्तरदायी अधिकारी को 'सेनापति' कहा जाता था। सामान्य सैनिक अफसर 'बलमुख्य' कहलाते थे[3]। महाभारतकार ने इन बलमुख्यों को सब प्रकार के युद्धों में निपुण, धृष्ट और निष्कपट तथा राजा द्वारा आदर-सम्मान प्राप्त करने वाले बतलाया है। इन सबका राजा में अनुरक्त होना, प्रमुखतया कुलीन होना तथा राजकीय कार्यों के लिए प्राण न्यौछावर करने वाले होना विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। महाभारतकार ने सेनापति के गुणों पर विशेष महत्त्व देते हुए कहा है कि सेनापति सन्धि और विग्रह के अवसरों को जानने वाला, धर्मशास्त्रों का तत्वज्ञ, बुद्धिमान्, धैर्यशाली, लज्जावान्, रहस्यों को गुप्त रखने वाला, कुलीन, उत्साही एवं साहसी तथा शुद्ध हृदय वाला होना चाहिए[4]। सभा पर्व में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त उसका कुलीन होना और अनुरक्त होना और आवश्यक माना गया है[5]।

महाभारत में सेनापति के चुनाव और अभिषेक की परम्परा विशेष ध्यान देने योग्य है। उद्योग पर्व (अध्याय १५१ तथा १५५), द्रोण पर्व (अ० ५) तथा कर्ण पर्व (अ० १०) में इस परम्परा के सजीव चित्रण मिलते हैं।

प्रायः राजा ही, सभा की सर्वमान्य राय को समझकर सर्वाधिक सम्मत, प्रस्तावित व्यक्ति को सेना का नेतृत्व सम्हालने के लिए आमंत्रित करता है। राजा का यह निर्णय अन्तिम माना जाता है। सभी महारथी और सैनिक इसका अनुमोदन करते हैं। सभी सैनिक नए नेता को बधाई देते हैं और उसका जय-नाद करते हैं।

युधिष्ठिर ने सेनापति के चुनाव के लिए बुलाई गई सभा में कहा है 'हे नर-श्रेष्ठ वीरो! आप मेरी सेना का विभाजन कर दें (सेना-विभागं कुरुध्वम्) यहाँ विजय के लिए सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित हुई है। इनके प्राणों की परवाह न करने वाले सात सेनापति विख्यात हैं। ये हैं द्रुपद, विराट्, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यिकि, चेकितान और भीमसेन। ये सभी वेद (धनुर्वेद या चारों वेदों) के ज्ञाता, नीति कुशल, चारित्र्य और व्रत की दृष्टि से श्रेष्ठ, सर्वयुद्ध विशारद, सभी अस्त्र-शस्त्रों के युद्धों में निपुण

१—दे० उद्योग पर्व ८३, ७; १४२, १८।
२—दे० यही पुस्तक अ० ५।
३—सभापर्व ५।
४—शान्ति ८५, ३०–३१।
५—सभा ५, ४६।

तथा स्वयं सभी अस्त्रों से युद्ध करने वाले हैं। इन सातों में से सेनाओं के प्रविभाग (संगठन) को जानने वाला जो कोई सर्वश्रेष्ठ नेता (सेनापति) हो और जो युद्ध में भीष्म का मुकावला करने में समर्थ हो सके, उसका निर्णय आप लोग करें (प्रब्रूहि)। ऐसा कहते हुए उन्होंने सहदेव से अपना मत (स्वमत) वतलाने का आग्रह किया। फिर क्रमशः सहदेव ने राजा विराट् का, नकुल ने राजा द्रुपद का और अर्जुन ने हस्तलाघव और चित्र-युद्ध में निपुण, अमोघकवच, द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न का नाम प्रस्तावित किया तथा भीम ने भीष्म को परास्त करने में केवल उसे ही समर्थ मानते हुए शिखण्डी का नाम प्रस्तुत किया। युधिष्ठिर ने कृष्ण से अपना मत व्यक्त करने की प्रार्थना की और उन्हीं के निर्णय का पालन करने की इच्छा प्रकट की। कृष्ण ने धृष्टद्युम्न के नाम का समर्थन किया और इसका सभी राजाओं ने हर्षध्वनि से स्वागत किया। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि धृष्टद्युम्न की नियुक्ति के विषय में यह कहना निराधार ही होगा कि उसकी नियुक्ति केवल युधिष्ठिर ने ही की थी, यह दर्शनीय है कि इस नियुक्ति में निर्वाचन के तत्व निश्चित रूप से विद्यमान हैं और इसमें किसी भी प्रकार की विसंगति का प्रश्न ही नहीं उठता[१]।

सेना के अंग या भाग—

सेना को चतुरंगिणी कहा जाता था।[२] इनमें पैदल (पदाति) घोड़े (अश्वारोही) रथ (रथारोही) और हाथियों (गजारोही थी सेना का वर्णन बार-बार किया गया है।[३] सेना के उक्त चार भागों के अतिरिक्त सेना से सम्बन्धित चार अन्य विभागों का वर्णन भी शान्ति पर्व में किया गया है। ये हैं (१) विष्टि (गतायात पूर्ति एवं संचार की व्यवस्था करने वाला कर्मकर विभाग) (२) नौ सेना (नावः) (३) गुप्तचर विभाग (चराः) तथा (४) दैशिक या दैशिकमुख्य (सेना का मार्ग दर्शन करने वाले स्काउट और गाइड) शान्ति पर्व में सेना के उक्त आठ प्रकारों को प्रकट या प्रकाश सेना कहा गया है, इसके विपरीत गुप्त सेना को वहुत विस्तृत वतलाया गया है (गुह्यस्तुवहुविस्तरः)।[४]

उपर्युक्त आठों अंगो वाली सेना के चार अन्य भेद वतलाये गये हैं। इसी वर्गी-

१—सेना शस्त्र और सेनानी आदि के विषय में दे० ऋग्वेद ६, ७५; १०, ८४, २ तथा अर्थ० ६, २।

२—'रथा नागा हयाश्चैव पादानाश्चैव' शान्ति ५६, ४१ इसके अतिरिक्त दे० आदि ६६, ४; उद्योग ५, १७, १६, १; द्रोण १६४, ६; विराट् ६८, १३; विराट् ५२, १७, १६१ द्रोण, १६४, ६।

२—द्रोण २०, १४ आदि, कोप और यन्त्र को मिलाकर सेना को षडुंगिनी भी कहा गया है।' दे० उद्योग ६६, १६; शान्ति १०३, ३८; मनु० ७, १८५।

४—शान्ति ५६, ४०।

करण का आधार सेना के संगठन का स्रोत है।[1] आश्रमवासिक पर्व में इनके वलावल का भी विचार करते हुए कहा गया है कि राजा को (१) मौल (परम्परागत अं० हैरेडिटेरी) (२) मैत्र (मित्र वल अं० एलाइड फोर्सेज) (३) मृत (भाडे की सेना, अं० मर्सिनरी) तथा (४) श्रेणी-वल इन चारों प्रकारों की सेना का संग्रह करना चाहिए (आददीत)। इनमें मूल वल और मित्रवल (मूल सेना और मित्र सेना) को विशेष रूप से श्रेष्ठ और विश्वसनीय वतलाया गया है कि मेरे विचार से भृत सेना और श्रेणी सेना एक समान ही होती है।[2]

महाभारतकाल में सभी वर्णों, जातियों तथा उपजातियों के सैनिक क्षात्र-धर्म स्वीकार करके सेना में सम्मिलित होते थे। उद्योग पर्व में आये समाट् दम्भोद्भव के उपाख्यान से यह सिद्ध होता है।[3]

उद्योग पर्व में महाभारत-युद्ध में भाग लेने के लिए आये हुए अनेक प्रदेशों एवं नगरों तथा अनेक जातियों एवं प्रजातियों के वीरों के अनेक नामों से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि सैनिक जीवन में क्षत्रियों का ही एक मात्र एकाधिकार नहीं था।[4] शान्ति पर्व (अ० १०१) में कहा गया है कि वीर, शूरवीर और महावली पुरुष सभी जातियों में प्राप्त होते हैं।

गान्धार, सिन्धु और सौवीर (सौराष्ट्र) के योद्धाओं को वघनखे (नखर) और भालों से लड़ने वाले निडर तथा महावली कहा है और उनकी सेना को सवको लांघ जाने वाली वतलाया गया है। (३) उशीनर प्रदेश के योद्धा सभी अस्त्र-शस्त्रों में कुशल और वड़े वलशाली होते हैं, पूर्वीय यौद्धा हाथियों पर सवार होकर लड़ने की कला में कुशल और कपट युद्ध में निपुण होते हैं (४) यवन कम्वोज और मथुरा के चारों ओर रहने वाले व्रजवासी मल्ल, अर्थात् द्वन्द्व युद्ध में निपुण और दक्षिण प्रदेशों के निवासी तलवार के धनी होते हैं। सभी प्रकार के योद्धाओं के आँख, नाक, कण्ठ स्वर, वाल और खाल आदि रूप रंग पर आधारित शारारिक लक्षणों का मनोरंजक वर्णन करते

१—सभा ५, ६३ 'कच्चिदष्टांगसंयुक्ता चतुर्विधवला चमू:' दे० शान्ति १२१, ४४-७।

२—आश्रमवासिक ७, ७-८। सभा ५, ६३ की टिप्पणी में नीलकण्ठ ने 'मोलमैत्र भृत्याटविकै: वलैर्यक्ता' कहकर आटविक (वनवासियों की) सेना को चौथा स्थान दिया है। अर्थशास्त्र १०; २ में अटवीवल के साथ अमित्रवल को भी मिलाकर छः भेद किए गये हैं।

३—उद्योग ९६, ७

४—डा० विलकान्ति मजूमदार—'मिलिटरी सिस्टम इन एश्येण्ट इन्डिया' पृ० ३९-४०। दे० मनु अ० ७ में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचालि और शूरसेन प्रदेशों के योद्धाओं को विशेष रूप से उत्तम कहा गया है। महाभारत में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण सभी दिशाओं के योद्धाओं की विशेषताओं का वर्णन व्यापक दृष्टिकोण का सूचक है।

हुए महाभारतकार ने गठीले शरीर, चौड़ी छाती और सुडौल अंग-प्रत्यंग वाले तथा युद्ध में डट कर खड़े होने वाले, युद्ध का धौंसा सुनते ही कुपित हो उठने वाले और लड़ने-भिड़ने में आनन्द का अनुभव करने वाले योद्धाओं की चर्चा की है (१२) यहीं अन्त में विलाव जैसी भीषण आकृति वाले मोटे और लम्बे तगड़े तथा बड़े घोर, कठोर एवं क्रोधी तथा रौद्र रूप में सिंहनाद करते हुए युद्ध करने वाले अन्त्यज वीरों (कोल-किरात) का वर्णन किया गया है। धर्म को न जानने वाले मर्यादाहीन और अतिक्रोधी बतलाते हुए उन्हें जान हथेली पर लेकर लड़ने वाले और कभी पीछे न हटने वाले कहा गया है ये धैर्यपूर्वक शत्रु की मार सह सकते हैं और आक्रमण करके शत्रु को भी मारते हैं। इन्हें सेना के अग्रभाग में रखना चाहिए (पुरस्कार्याः) और इन्हें बड़ी सावधानी से मीठी-मीठी बातो से समझाकर काबू में रखना चाहिए अन्यथा ये राजा पर बुरी तरह बिगड़ कर कुपित हो सकते हैं। उपर्युक्त वर्णनों के उक्त कतिपय निदर्शनों से यह स्पष्ट है कि महाभारत में सेना की भर्ती और नेतृत्व आदि विषयों पर पर्याप्त विचार किया गया है।[1]

शान्ति पर्व (१०२) में महाभारतकार ने कहा है कि उस सेना की विजय निश्चित है जिस सेना के यौद्धा और वाहन प्रसन्न एवं उत्साहयुक्त (उदीर्णमनसः) होते हैं (५) शस्त्रों, यन्त्रों, कवचों और ध्वजाओं तथा जवानों (यूनाम्) के दमकते हुए चेहरों से प्रकाशित होती हुई जिस सेना की ओर शत्रुओं को देखने का भी साहस नहीं होता (१२) तथा जिसके योद्धा जवान सेना में उत्साह रखने वाले (शुश्रूषवः) अहंकार रहित आपस में एक दूसरे का हित चाहते हुए सुहृदभाव रखने वाले तथा शुद्ध आचरण करने वाले होते हैं क्योंकि यही विजय के शुभ लक्षण हैं (१३)।

महाभारतकार का कहना है कि एक दूसरे को जानने वाले, हर्ष और उत्साह से परिपूर्ण, प्राणों का मोह छोड़ देने वाले, मरने-मारने वाले के दृढ़ निश्चय से युद्ध पचास शूरवीर भी सारी शत्रुसेना का संहार कर सकते हैं। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में पाँच, छः या सात तक सैनिक भी सुसंगठित, दृढ़ निश्चय, कुलीन और राज्य द्वारा सम्मानित (पूजिताः) हों तो विजय प्राप्त कर सकते हैं[2]। परन्तु यदि सेना में भगदड़ पड़ जाये तो विशाल सेना भी जल के महान् वेग के समान या भयभीत हुए महामृगों (सिंह आदि) के समान भाग खड़ी होती है। उसे तब रोका नहीं जा सकता चाहे उसमें अनेक बलवान् शूरवीर भी हों (उदार सारा)। 'कुछ लोग भाग खड़े हुए हैं' यही देखकर सब लोग भागने लगते हैं, यद्यपि भागने का कारण किसी को मालूम नहीं रहता।[3]

१—'सैन्य संचालन की रीति-नीति' विषय में दे० शान्ति १००।
२—शान्ति १०२, ३०-१।
३—सेना में युद्ध में भगदड पड़ जाने के विषय में वही १०२, १८ १९।

सैन्य संगठन—

महाभारत के वर्णनों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में वड़ी वड़ी विशाल सेनाओं के स्थायी संगठन की परम्परा दृढ़मूल हो चुकी थी। आश्वमेधिक पर्व (६०, १४-२०) में कहा गया है कि जव गुरु द्रौणाचार्य ने कौरव सेना का सेनापति-पद सम्हाला तव इस सेना की संख्या ग्यारह से घटकर नौ अक्षौहिणी रह गई थी। कर्ण के सेनापति वनने तक उसकी संख्या ५ अक्षौहिणी रह गई थी तथा तव पाण्डव सेना में केवल ३ अक्षौहिणियां रह गई थीं पाण्डवों शल्य के सेनापति होने पर कौरवों की केवल तीन पाण्डवों की एक ही अक्षौहिणी सेना वची थी। स्त्री पर्व (२६, ६) में युद्ध में मारे गये सैनिकों की संख्या करोड़ों में वतलाई गई है उद्योग पर्व (१५५, २५-२६) में एक अक्षौहिणी सेना की संख्याओं का विवरण देते हुए कहा गया है कि ५०० हाथी, ५०० रथ, १५०० घोड़े और २५०० पैदल यौद्धाओं के सैन्य-विभाग को सेना कहा जाता है, १० सेनाएं—१ पृतना, १० पृतनाएं—वाहिनी, १० वाहिनियां—ध्वजिनी, १० ध्वजिनियां—चमू और १० चमू—अक्षौहिणी। कौरवों की सेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवों की ७ अक्षौहिणी थी। आदि पर्व (३, १६-२०) में दी गई संख्याओं के अनुसार एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० हाथी उतने ही रथ, ६५६१० घोड़े और १०६३५० पैदल सैनिक होते थे[1]। परन्तु यदि उद्योग पर्व में दी गई दूसरी तालिका से गणना की जाये तो अक्षौहिणी के सैनिकों की और वाहनों की संख्या और अधिक होगी। यहां (१५५, २८-२६)। कहा गया है कि ५५ व्यक्तियों की एक पत्ति होती है, ३ पत्ति—सेनामुख अथवा गुल्म, ३ गुल्म—गण, तथा कौरव सेना में इस प्रकार से १० हजार गण थे। आदि पर्व (२, १६-२२) की एक अन्य तालिका उक्त दोनों तालिकाओं से भिन्न है। उद्योग पर्व (१५५; २२) के अनुसार प्रत्येक अश्वारोही सैनिक के साथ दस पादरक्षक सैनिक भी होते थे। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से और व्यवहार में भी पैदल सेना की संख्या रक्षारोही और अश्वारोही सैनिकों की अपेक्षा कहीं अधिक होती थी तो महाभारत युद्ध के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि उसकी अपेक्षा रथों, अश्वारोहियों को अधिक महत्व दिया जाता था।

१—अक्षौहिणी के स्वरूप के लिए आदि २, १६-२२—

"एको रथो गजश्चैको नराः पंचपदातयः।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥
पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं वुधाः।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्याभिधीयते ॥
त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः,
स्मृता-स्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः।
चमूस्तु पृतनास्तिस्रः तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥"

ग्रादर्श सेना संगठन, प्रशिक्षण एवं अनुशासन—

महाभारतकार ने आदर्श सेना के विषय में परम्परागत हिन्दू मान्ताओं का विस्तार से उल्लेख किया है। भीष्म पर्व में धृतराष्ट्र ने अपनी सेना की प्रशंसा करते हुए कहा है– हमारी सेना की अनेक विशेषताएं और अनेक अनुपम गुण हैं, वह अनेक प्रकार की है, शास्त्रों के अनुसार व्यूहों में सुसज्जित होने के कारव असक्य है। यह सेना भली प्रकार प्रसन्न, हमारी हिताकांक्षी, विनयशील, अनुशासित और व्यसनहीन है। पहले ही इसका पराक्रम देखा जा चुका है : इसके सैनिक न वहुत वूढ़े हैं और न ही वालक, न वहुत दुवले हैं और न वहत मोटे अपितु वे प्राय: फुर्तीले (लघुवृत्तम्) और लम्वे चौड़े (आयतप्रायम्) हैं: वे नीरोग और वड़े शक्तिशाली योद्धा हैं। वे कवचो और अनेक शस्त्रों से सुसज्जित हैं। वे खड्ग-युद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्ध में निपुण हैं। ये प्रास, कृष्टि, तोमर, फौलादी परिघ, भिन्दिपाल शक्ति, मुसल, कम्पनों तथा धनुषों तथा कण्सों के द्वारा फेंके जाने वाले व अद्भुत शस्त्रों तथा घूँसे वाजी (मुष्टियुद्धेषु) आदि में समर्थ हैं। ये सभी शस्त्र ग्रहण करने की विद्या व कलाओं में भली प्रकार से प्रशिक्षित (परिनिष्ठितम्) हैं। हमारी सेना, आरोह. पर्यवस्कन्द, सरण (अं० क्रालिग) सान्तरप्लुत (अन्तर लेकर दूर दूर अन्तर से फैल जाने) अचूक प्रहार करने, चढ़ाई करने तथा पीछे हटने आदि विशेप युद्ध कार्यों में निपुण हैं। हाथी, घोड़े और रथ इन सभी वाहनों के प्रयोग में ये अनेक प्रकार से परीक्षित हैं और परीक्षा करने के पश्चात् इन्हें न्यायानुसार वेतन दिया गया है। इनकी इनके पदों पर नियुक्ति इनके गुणों के आधार पर हुई है, किसी प्रकार की गोष्ठी उपकार, वन्धु-सम्वन्ध, मित्रता और अकुलीन की भर्ती आदि कारणों से इनकी नियुक्ति नहीं हुई है। ये सभी आर्य, समृद्ध परिवार वाले, सभी प्रकार से संतुष्ट सम्वन्धी और वान्धवों से युक्त, यशस्वी और मनस्वी (स्वाभिमानी) तथा वहुत से उपकार करने और स्वीकार करने वाले हैं। इस विश्वविख्यात सेना का नेतृत्व अनेक युद्धों के अनुभवी, लोकपालों के समान शूरवीर सैनिकों की अपनी सी जाति के अनेक मुख्यों के द्वारा किया जा रहा है। पृथिवी भर में विख्यात और लोकप्रिय अनेक ऐसे क्षत्रिय इस सेना की रक्षा कर रहे हैं जो स्वयं अपनी इच्छा से हमारे पक्ष में अपनी सेवाओं और अनुयायियों के साथ जाकर मिले हैं।[१] उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त विचार सैन्य संगठन एवं संचालन की दृष्टि से कितने ठोस वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक हैं।

सैनिकों का नियमित वेतन—

महाभारतकार ने सेना के वेतन, भत्ते और वस्त्र, वाहन, शस्त्र आदि सामग्री के समय पर नियमित रूप से दिये जाने का आदेश दिया है[२]। इसमें निश्चित काल का

१—भीष्म ७६, १-१३; ७७, ४-७।

२—कच्चिद् वलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ सभा ५, ४८।

अतिक्रमण करना या कमी कर देना घातक माना गया है, क्योंकि ये लोग निर्धनता से पीड़ित होकर जो अनर्थ कर देते हैं वह वड़ा भयंकर होता है[1]।

युद्ध में वीरता और शौर्य तथा नेतृत्व का अद्‌भुत मानवोत्तर प्रदर्शन करने वाले शूर सैनिकों को दुगुना वेतन दिया जाता था। शान्ति पर्व (१००, ३०) में कहा गया है कि जो शत्रु की आक्रमण पंक्ति को तितर-वितर कर देते हैं और जो अपनी तितर वितर होती हुई सेना को दृढ़ता पूर्वक संगठित और स्थिर रखने का सामर्थ्य रखते हैं, उन सैनिकों का वेतन दुगुगा कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त आदेश के अनुसार शत्रुओं के युवराज एवं सेनापति आदि का वध करने वाले तथा अन्य पुरस्कार योग्य कार्य करने वाले सैनिकों को अतिरिक्त सम्मान से विभूषित किया जाता था। उन्हें प्रभूत धन वेकर यथा योग्य पुरस्कार प्रदान करके तथा विविध मधुर वचनों और सान्त्वना आदि के द्वारा सत्कार करके सर्वोत्तम सम्मान दिया जाता था[2]।

पेंशन—

युद्ध में राज्य के हित के लिए मृत्यु का वरण करने वाले वीर पुरुषों या युद्ध में क्षतिग्रस्त हुए योद्धाओं (व्यसनं चाभ्युपेतानाम्) के परिवारों के पालन पोषण का उत्तर-दायित्व वहन करना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था[3]।

सेना के जवानों और बल मुख्यों को कर नहीं देना पड़ता था और शान्ति-काल में उन्हें अन्य नागरिकों की तरह आजीविका के सभी सामान्य साधनों को अपनाने की अनुमति दी जाती थी। सेवा-निवृत्त और वृद्ध सैनिक भी युद्ध की घोषणा होने पर नवयुवक सैनिकों का उत्साह बढाने के लिए सेना में सम्मिलित होते थे। उन्हें राज्य की ओर से अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे परन्तु उन्हें समाज में मिलने-जुलने और कार्य-व्यवहार करने की खुली छूट नहीं थी। उद्योग पर्व में राजभृत्य और सेवाजीवी लोगों को व्यवहार में वर्जनीय वतलाया गया है। अर्थात् उससे कोई व्यापारिक समझौते या साझेदारी आदि करना वर्जित माना गया है[4]। इसका कारण सम्भवतः यही है कि इन लोगों की अपनी आजीवका-सम्वन्धी परिस्थितियाँ इतनी कठोर और अनिश्चित होती हैं कि उन्हें व्यापारिक उत्तरदायित्वों का पालन करने के लिए राज्य की ओर से भी वाध्य नहीं किया जा सकता।

वास्तविकयुद्ध—

शत्रु से भिड़ने के लिए प्रयाण करने (अं० एडवांस टू कान्टेक्ट) की सामरिक

१—वही ५, ४६; दे० वन पर्व १५, २२–३।

२—कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसंचयैः।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च॥ शान्ति ९९, ९२।

३—सभा ५, ५४—'कच्चिद् दारान् मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्ति भरतर्षभ॥'

४—उद्योग ३७, ३०।

क्रिया के लिए महाभारत में 'योग', 'सेनायोग' या 'यात्रिकम्' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। युद्ध के लिए यात्रा करने के मार्ग के औचित्य पर भी विचार किया गया है। मार्ग की समता, जल और घास आदि की सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही वन में रहने या विचरण करने वाले वनवासी, कुशल और भली प्रकार अभ्यास किए हुए मार्ग दिखाने वाले गुप्तचरों की नियुक्ति को विजय के लिए अनिवार्य कहा गया है[1]।

सेना में सबसे आगे कुलीन और शक्तिशाली पैदल सिपाहियों को आगे रखने का आदेश देते हुए महाभारतकार ने पैदल सेना के महत्त्व को स्वीकृति दी है[2]। यहीं आगे कहा गया है कि जिस सेना में पैदल की संख्या अधिक होती है वह मजबूत होती है, रथों और घोड़ों की अधिक संख्या से युक्त सेना केवल उन दिनों में ठीक रहती है जब दिन अच्छे हों और वर्षा आदि न होती हो (सुदिनेषु प्रशस्यते)। उस भूमि में पैदल सेनाओं के द्वारा ही सफलतापूर्वक युद्ध किया जा सकता है जो अत्यन्त दुर्गम, अधिक घास-फूंस वाली, बाँसों और बेतों से भरी हुई तथा पर्वतों और उपवनों से युक्त हो, वर्षाकाल में सेना में पैदल सैनिकों तथा हाथियों की अधिक संख्या प्रशंसनीय होती है। घुड़सवार सेना के लिए युद्ध-कुशल लोग उस भूमि की प्रशंसा करते हैं जिसमें कीचड़, पानी, ऊँचे बाँध और ढेले न हों। इसी प्रकार रथ सेना के लिए कीचड़, गड्ढों से रहित भूमि तथा गजारोही योद्धाओं के लिए वह भूमि अच्छी मानी गई है जिसमें छोटे नाटे वृक्ष, बहुत अधिक घास फूँस और जलाशय हों, उपर्युक्त गुणों का ध्यान रख कर देश और काल के अनुसार सेना का संचालन ठीक ठीक किए जाने पर (सम्यक प्रयोजयन्) विजय सदैव प्राप्त होती है।

हम देखते हैं कि महाभारत युद्ध में रथों का ही प्रयोग अधिक हुआ है, अश्वारोही और पैदल सेना के कार्यों का भी वर्णन किया गया है और इनकी तुलना में गजारोही सेना का योगदान नहीं के बराबर है[3]। केवल इने गिने प्रसंगों में हाथियों के प्रयोग का उल्लेख हुआ है, जैसे विराट् पर्व (६५, ६) में विकर्ण के द्वारा हाथी पर सवार होकर अर्जुन पर आक्रमण करने, भीष्म पर्व में दुर्योधन के हाथी पर सवार होने और यहीं (६५, ३२-३३) पर भगदत्त के हाथी पर सवार होकर भीमसेन पर आक्रमण करने का वर्णन किया गया है। महाशय काणे का मत है कि इस विषय में महाभारत वैदिक परम्परा का अनुगामी है[4]।

१—शान्ति १००, १२-१४।

२—शान्ति १००, १५।

३—दे० हाप्किन्स पृ० २६१-६२ रथारोही योद्धा (महारथी) की प्रहार शक्ति एक पूरी सेना के बराबर।

४—महामहोपाध्याय काणे ३, २०३।

सेना के व्यूह—

चतुरंगिणी सेना के द्वारा शत्रु का संगठित रूप से प्रतिकार करने के लिए व्यूह की रचना की जाती थी। मनु की तरह महाभारतकार ने भी सैन्य संचालन और रण-कौशल की दृष्टि से व्यूह-रचना के महत्त्व को स्वीकार किया है। महाशय हाप्किस का यह कहना ठीक नहीं है कि प्रयाण करती हुई सेनाएँ केवल राजा को मध्य में रख कर चलती थीं, युद्ध-स्थल पर पहुँचकर ही वे व्यूह-रचना करती थीं[1]। वस्तुतः किसी न किसी प्रकार की व्यूह-रचना के बिना संगठित रूप में इतना लम्बी यात्रा करके युद्ध स्थल तक पहुँचना भी सम्भव नहीं है[2]। कुरुक्षेत्र में पहुँचने वाली सेना के ऊँचे मनोवल और सुसंगठित व्यूह-रचना का वर्णन किया गया है। इन व्यूहों की रचना युद्ध प्रारम्भ होने से पहिले ही भली प्रकार विचार विनिमय करके तथा शत्रुओं की व्यूह-रचना का समुचित प्रतिकार करने की दृष्टि से की जाती थी। इन व्यूहों का सविस्तार विशेष अध्ययन करने के लिए तो तत्सम्बन्धी प्राविधिक शास्त्रों का अध्ययन अपेक्षित है। परन्तु महाभारत में दण्ड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़, वज्र और पद्म तथा चक्र आदि अनेक व्यूहों का उल्लेख मिलता है। इतनी बड़ी सेनाओं को किसी विशेष व्यूह संगठित करना तथा उसकी रक्षा के लिए उपयुक्त सैनिकों और सेनापतियों को आगे पीछे और पार्श्वों आदि में नियुक्त करना उत्कृष्ट सैन्य-संचालन और संगठन का चमत्कार मानना पड़ेगा। धृष्टद्युम्न की व्यूह-रचना की प्रशंसा दुर्योधन जैसे अभिमानी राजा ने भी की[3]।

यह स्मरणीय है कि आचार्य द्रोण व्यूह-रचना के क्षेत्र में विलक्षण प्रतिभा के धनी थे और श्रीकृष्ण आदि पाण्डव पक्ष के नीतिज्ञ भी अपने गुप्तचरों से यह शीघ्रातिशीघ्र पता लगाने मी ताक में रहते थे कि द्रोणाचार्य अब कौन से व्यूह की रचना युद्ध-स्थल में करने वाले हैं[4]। डा० वी० आर० आर० दीक्षितार ने पाण्डवों की उत्कृष्टतर व्यूह रचना को ही उनकी विजय का कारण माना है। उनका कथन है कि कौरवों

१—हाप्किस पृ० १६१ दे०।

२—दे० प्रयाण करती हुई पाण्डव सेना की व्यूह-रचना में अग्रानीक में भीमसेन और नकुल तथा सहदेव के नियुक्त किए जाने और सेना के पृष्ठभागों में अभिमन्यु द्रौपदी के पाँचों पुत्रों और धृष्टद्युम्न के नियुक्त होने तथा भीमसेन के नेतृत्व में सबसे आगे प्रभद्रक और पांचाल सेनाओं के प्रयाण करने और मध्य में राजा युधिष्ठिर के चलने का वर्णन। —देखिए डा० बी० के मजूमदार, मिलिटरी सिस्टम इन एंश्येंट इंडिया पृ० ४६ मिलाइये मनु० ६—८७—८८।

३—भीष्म २५, ३।

४—उद्योग ६, ८, १६, ३८ दे० अनीकानि व्यकर्षत उद्योग १६४, ४ वन पर्व (२८५, ६—७) में रावण की सेना के शुक्राचार्य के द्वारा और राम की सेना के बृहस्पति के द्वारा प्रतिपादित नियमों के अनुसार संगठित होने का वर्णन।

में भीष्म और द्रोण ने गरुड़ सर्वतोभद्र, एवं चक्र-व्यूह की तथा कर्ण ने मकर व्यूह की रचना की तथा इसके प्रतिरोध में अर्जुन ने वज्र, कोंचारुण, अर्द्धचन्द्र तथा शृङ्गाटकादि व्यूहों की रचना की[१]।

युद्ध से पहले सैनिक तैयारियाँ—

राजनयिक पहलुओं और कूटनीतिक नियोजन (अं० स्ट्रेटेजिकल कंसीडरेशन) की समस्याओं और उनके यथापेक्षित समाधानों पर विचार कर लेने के बाद युद्ध का निर्णय कर लेने पर प्रतीकारात्मक या प्रतिरक्षात्मक सैनिक कार्यवाहियों की पूर्ण और प्रभावी सफलता के लिए सतर्कता से तैयारियाँ की जाती थीं। शान्ति पर्व में विजय के लिए अभियान करने से पहिले ही बहुत भारी संख्या में बहुत सी वस्तुएँ निर्माण कराकर इकट्ठी कर लेने का आदेश दिया गया है। इनमें गाय बैल या अजगर के चमड़ों से बने हुए हाथियों की रक्षा के लिए कवच, बहुरंगी ध्वजा-पताकाएँ और चँवर, सफेद और पीले और लाल जिरह बख्तर (संनाहाः) तीखी कृष्टियाँ, तोमर, खड्ग, तीखे फरसे फलक और ढालें विशेष रूप से अपने पास रखनी चाहियें।

सेना-निवेश या छावनी—

छावनी या सेना-निवेश अथवा शिविर के लिए ऐसे दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है जहाँ पहुँचना आसान न हो, जो ऊँचे प्रकार और खाइयों से सुरक्षित हो जिसके चारों ओर खुला आकाश हो जिससे कि शत्रुओं का समीप पहुँचना रोका जा सके। दुर्ग न होने पर खुले आकाश में शिविर बनाने की अपेक्षा वन के समीप शिविर बनाना अधिक उपयुक्त बतलाया गया है। युद्ध-कुशल लोगों का कहना है कि यह शिविर वन से अधिक दूर नहीं होना चाहिए। ऐसे वन में वाहनों से उतरना होता है पैदल सेना को छिपाना होता है, शत्रु पर जवाबी हमला (शत्रु प्रतीघातम्) संभव होता है तथा आपत्ति आने पर रक्षा हो सकती है[२]। उद्योग पर्व में पाण्डवों और कौरवों के शिविरों का विस्तृत विवरण सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है[३]। कहा गया है कि स्थिर और चलने फिरने वाले गुल्मों को नियुक्त करके धन-धान्य तथा स्त्री, सेवक, दास-दासी आदि की रक्षा के लिए मूल शिविर का ठीक प्रबन्ध करके पाण्डव विशाल स्कन्धावार (छावनी) के साथ कुरुक्षेत्र पहुंचे। इनकी सेना के साथ भार ढोने वाली गाड़ियाँ, दुकानें, वेश्याएँ, अनेक वाहन, कोश, यंत्रायुध; वैद्य और चिकित्सक[४] आदि तथा कृश, दुर्बल तथा फालतु सैनिक भी साथ ले जाये गये। शंखों दुन्दुभियों और नगारों की ध्वनियों, वीरों के सिंहनादों और वाहनों की आवाजों से सागर की तरह गरजता उमड़ता हुआ यह सेना-सागर कुरुक्षेत्र पहुँचा। युधिष्ठिर ने समतल, सजल, (स्निग्ध)

१—दीक्षितार, वही २७२–३।
२—शान्ति १००, १५–१८।
३—उद्योग १५१–३ तथा वही १९५, १२–१९।
४—भीष्म, १२०, ५५ में 'शल्योद्धरणकोविदाः वैद्याः ॥'

और चारे और इंधन के आधिक्य वाले प्रदेश में सेना-निवास बनाया। इस उपजाऊ और पानी वाले (मधुरानूपरे) प्रदेश में (श्मशानों, मन्दिरों, आश्रमों और तीर्थों, तथा वस्तियों को छोड़कर) सेना ने पड़ाव डाल दिया और फिर सैकड़ों हजारों योद्धाओं के साथ अर्जुन को लेकर श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के गुल्मों को भगाते हुए चारों ओर शिविर की परिक्रमा करके (समन्तात् पर्यक्रामत्) शिविर सीमाएँ निश्चित की (मायया-मास शिविरम्) हिरण्वती नदी के किनारे शिविर होने का लाभ उठाते हुए शिविर के चारों और जल से भरी खाई खुदवाई गई तथा शिविर की रक्षा के लिए पहरेदार और सन्तरी सैनिकों की नियुक्ति करते हुए वह सभी प्रवन्ध पूरे किए गए जो शिविर के लिए आवश्यक होते हैं। सैनिकों ने अपने खेमे गाढ़ लिए। राजाओं के लिए विमानों जैसी सुन्दर छोलदारियाँ लगाई गई। भक्ष्य, भोज्य और पेय सामग्रियों के विशाल भण्डार तथा युद्ध-सामग्री के पर्वतों जैसे ढेर लग गये। यह सब देखकर दुर्योधन ने भी सभी सामरिक तैयारियों के आदेश दिए। उसका स्कन्धावार किसी उत्सव में हंसते खेलते मनुष्यों से भरा हुआ सजा सजाया नगर सा लगता था और पांच योजन तक फैला हुआ था। कहा गया है कि दुर्योधन के शिविर में नगर की तरह आवश्यक समझे जाने वाले शिल्पकार, चारण-भाट, व्यापारी, गणिकाएँ, तथा दर्शकों और बाहर के लोगों का भी निवास और भोजन आदि की सुविधाएँ दी गई थीं।

स्कन्धावारों में अपने और पराये की पहचान के लिए सकेत शब्द (अं० वाच वर्ड), निशानियाँ और आभूषण आदि दिए गये तथा यह वतलाया गया कि इस प्रकार अमुक वात जानने वाले को पाण्डव पक्ष का समझा जाय[1]।

उपर्युक्त प्रतिरक्षात्मक कार्यवाहियों के वावजूद एक शिविर के समाचार. दूसरे शिविर तक पहुँच जाते थे। एक सेनापति या पूरे स्कन्धावार की योजनाएँ दूसरे पक्ष के सैनिक नेताओं और योद्धाओं तक पहुंचती ही थीं। विराट् पर्व में धृतराष्ट्र के और कृष्ण के गुप्तचरों का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। शत्रु पक्ष की योजनाओं और कूटनीतिक कार्य प्रणालियों तथा चालों का पता लगाने वाले ये गुप्तचर सेना के आठ अंगो में से एक अंग या पृथक विभाग के रूप में संगठित होते थे और प्रकाश रूप में कार्य करने वाले दूतों से पृथक् होते थे। क्योंकि दूतों का कार्य प्रायः राज-नयिक उद्देश्यों को पूर्ण करना होता था।

शस्त्रास्त्र

महाभारत में खड्ग आदि शस्त्रों तथा बाण व प्रास आदि शस्त्रों के विषय में इनके विभिन्न प्रयोगों तथा इनके द्वारा किए गये वास्तविक युद्धों के विषय में इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि वह एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का विषय बनने के लिए पर्याप्त है। अतः परम्परागत शस्त्रास्त्रों के अर्थात् खड्ग, कृष्टि, धनुष-बाण, गदा, फरसा, अंकुश, चक्र, त्रिशूल, शक्ति, वज्र, आदि के अतिरिक्त हम केवल

१—भीष्म १, ११।

उन्हीं महास्त्रों एवं यन्त्रों का उल्लेख यहाँ करना चाहेंगे जिनका महाभारतीय युद्धनीति और युद्ध-कौशल से विशेष सम्बन्ध है और जिनकी प्रकृति और मारकशक्ति आदि पर विचार किए बिना महाभारत-युद्ध से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का समाधान ही नहीं हो सकता। अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में हजारों योद्धाओं का संहार कर देने वाले तथा भीषण प्रहार-शक्ति से परम्परागत शस्त्रों को लेकर युद्ध करने वाली सामान्य सेनाओं में त्राहि-त्राहि मचा देने वाले अद्भुत आग्नेयास्त्रों के प्रयोग का वर्णन महाभारत में बार-बार आया है। कर्णपर्व में द्रोणाचार्य के द्वारा अपने पुत्र अश्वत्थामा को सौंपे गए महान् अस्त्रों के चार भेदों का वर्णन करते हुए संजय ने बतलाया है कि ये हैं—(१) चित्र (अनेक प्रकार के आयुधों को छोड़ने वाले) शुभ (दीप्तिमान्), दिव्य (मन्त्र प्रयोग से चलाए जाने वाले) तथा विहित (कृत्रिम अर्थात् अपने हाथ से बनाये जाने वाले)। यहीं भाष्यकार नीलकण्ठ ने चार प्रकार के उक्त अस्त्रों से धनुर्वेद में वर्णित (१) दृढ़वेधी (२) दूरवेधी (३) सूक्ष्मवेधी तथा (४) शब्द वेधी इन चार अस्त्रों से ही तात्पर्य होना स्वीकार किया है[१]। प्रश्न यह उठता है कि क्या उक्त प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करने के लिए महाभारतकारों के युग में गोली बारूद का प्रयोग होता था। प्रसिद्ध भारतीय विद्या विशारद डा० गुस्तर औपर्ट का मत है कि अथर्ववेद (१, १६, ४) में स्पष्ट रूप से सीसे की गोलियों और उन्हें चलाने वाली नाल का वर्णन है (भूमिका, नीति प्रकाशिका, पृ० १०–१३)। डा० औपर्ट ने यह भी सिद्ध किया है कि १३वीं शताब्दी से कहीं अधिक पहले प्राचीन भारत में ही आर्यों को गोली बारूद के प्रयोग का ज्ञान था। वह महाभारत के आग्नेयास्त्रों को बन्दूकों और तोपों जैसे बारूदी अस्त्र मानता है[२]। डा० जी० टी० दाते ने भी महाभारत में उल्लिखित अनेक शस्त्रास्त्रों का वर्णन करते हुए गोली बारूद का प्रयोग होना स्वीकार किया है[३]। वनपर्व में शाल्व के द्वारा द्वारका पर चढ़ाई करने का वर्णन करते हुए द्वारका की प्रतिरक्षात्मक तैयारियों का भव्य वर्णन करते हुए महाभारतकार ने द्वारका को पताकाओं, तोरणों, योद्धाओं (सचक्रा), बुर्जों, यन्त्रों और खनकों से युक्त बतलाया है। कहा गया है कि वहाँ की गलियों में नुकीली कीलें गाड़ दी गई थीं, मोर्चे खोद लिए गये थे, उल्काओं से युक्त अलात (काठ के हत्थे वाले लोहे के जलते हुए बाण) फेंकने वाली पोथिकाएं (नालें) तथा शतघ्नियाँ (तोपें) चारों और बुर्जों पर लगी थीं[४]। यहीं ऋष्टि, तोमर, अंकुश, परश्वध (फरसा)

१—कर्ण ७, ६।

२—डा० औपर्ट, वेपल्स, आर्मी आर्गनाइजेशन एण्ड पोलिटिकल मैग्जिम्स आफ एँश्यैंट हिन्दूज १८८०।

३—जी० टी० दाते, आर्ट आव् वार इन एंश्यैण्ट इण्डिया (लन्दन १९२९)

४—वन पर्व १५, ५–८ मिलाइये रामा० युद्धकाण्ड ३, १३ में लंका का वर्णन तथा बालकाण्ड ५ में अयोध्या का वर्णन, हरिवंश, भविष्य ४४, २०, मनु० ७, सभा पर्व, २१ में जरासंध की राजधानी का वर्णन।

लोहे की ढालें और अन्य आयुधों के साथ भुशुण्डियों और पत्थर की गोलियों के होने का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त शतघ्नी का उल्लेख आदि २०७, ३४, वन पर्व १६६, १६ तथा २८४, ५ और २६०, २४ द्रौरण १५६, ७० कर्ण ११, ८, शल्य, ४५, ११० शान्ति ६६, ४५, ७५ आदि में भी हुआ है। वनपर्व में (२८४, ३१) में किए गये शतघ्नी के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि इन्हें हाथों से धकेला जाता था, इनमें पहिए होते थे और इनसे गोल-गोल पत्थर या गेंद जैसे गोले फेंके जाते थे। द्रोरण पर्व में घटोत्कच की शतघ्नियों में पहिए होने और शतघ्नी के एक प्रहार से चार घोड़ों के मर जाने का उल्लेख है। द्रौरण पर्व (१६६, १६) में इनमें दो या चार पहिए होने का वर्णन है। वनपर्व में (२८४, ४) में सर्ज-रस के चूर्ण (साल वृक्ष के गोंद) के इकट्ठे किये जाने का उल्लेख है[1]। इन सभी संकेतों के आधार पर महामहोपाध्याय कारणे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह संभव प्रतीत होता है कि पहियों पर आरोहित किसी नाल वाले यन्त्र के द्वारा सर्ज रस के चूर्ण का वारूद की तरह प्रयोग करते हुए पत्थर के गोले फेंके जाते थे। परन्तु ऐसा लगता है कि वारूद (अं० गन पाउडर) का प्रयोग शायद नहीं होता था। शतघ्नियों के कारण उठने वाले धुएँ का वर्णन कहीं नहीं है। हाप्किन्स ने (ज० ओ० सी० १३, २६६–३०३) यह मत प्रकट किया है कि गोला वारूद और वारूदी यंत्रों का प्रयोग महाभारत में अपरिचित है और अपने ज्ञान की वर्तमान स्थिति में हमें यही मत ठीक दिखाई देता है[2]। महाशय काणे के उक्त मत के विरुद्ध महाशय हालहड ने शतघ्नी को तोप और विल्सन तथा औपर्ट ने इसे 'राकेट' माना है[3]। डा० दीक्षितार ने भी यह स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में लघु नालीक से अग्नि वारण तथा वृहद् नालीक से लोहे, जस्ते और अन्य धातुओं के वने गोले फेंके जाते थे[4]।

प्रतिरक्षात्मक युद्ध—

अपने से अधिक बलवान् शत्रु के द्वारा आक्रमरण कर दिए जाने पर महाभारत में प्रतिरक्षात्मक युद्ध करना श्रेयस्कर माना गया है। शान्तिपर्व में ऐसी परिस्थितियों में बुद्धिमान् राजा को दुर्ग का आश्रय लेने का आदेश दिया गया है तथा यही शत्रु का प्रतिरोध करने की अनेक तैयारियों का भी निर्देश किया गया है। वन पर्व (अ० १५–१७) में शाल्व के द्वारका पर आक्रमरण कर देने पर इसी प्रकार की प्रतिरक्षा की भी सभी तैयारियाँ पूरी कर लेने पर भी यादवों ने दुर्ग से बाहर निकल कर शत्रु सेना से टक्कर लेकर उसे परास्त करके खदेड़ दिया है। इस प्रकार के अनेक युद्धों और प्रतिरक्षात्मक तैयारियों के वर्णनों के साथ ही साथ दुर्गों के महत्त्व पर बल देने से यह

१—वन पर्व २८४, ४—५।
२—काणे, वही ३, २१३—२१४
३—डा० पी० सी० चक्रवर्ती वही पृ० १७२–१७३ पर उद्धृत।
४—डा० दीक्षातार, वार इन एंश्यैंट इंडिया पृ० १६७–८।

स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतीय काल में दुर्ग या राजधानी राज्य का स्नायु केन्द्र माना जाता था। महाशय काणे ने इसे राज्य की धुरी (अ० पिवट) बतलाया है[1]।

महाभारतकार ने छः दुर्ग बताये हैं—(१) धन्व दुर्ग (जिसके चारों ओर मरुभूमि हो) (२) मही दुर्ग (उठी हुई भूमि पर प्राकारों और परिखाओं से घिरा हुआ किला) गिरि–दुर्ग, पर्वतीय प्रदेश में किसी दुर्गम शिखर पर बना हुआ) (४) जल दुर्ग (चारों और गहरे पानी से घिरा हुआ द्वीप जैसा जैसे लंका) वन दुर्ग (चारों ओर योजनों तक फैले जंगलों से घिरा हुआ) तथा (६) नर दुर्ग[2]। इनमें मनु ने गिरि दुर्ग का सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है, किन्तु महाभारतकार सेना–निवेश के लिए गिरि दुर्ग जैसे ऐसे स्थान की प्रशंसा तो करते हैं जहाँ पहुँचने का मार्ग दुर्गम हो, जहाँ पानी से भरी खाइयाँ हों और ऊँचा परकोटा हो, परन्तु फिर भी उन्होंने नर-दुर्ग के ही प्रतिरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन होने की घोषणा की है[3]। हो सकता है कि चतुरंगिणी सेना के द्वारा चारों ओर से सुरक्षित राजधानी या सेना-निवेश को या चारों ओर हृष्ट-पुष्ट राजभक्त और वीर जनता से घिरी हुई राजधानी को नर–दुर्ग की संज्ञा देते हुए तथा उसे ही सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए महाभारतकार अपने काल की उत्तर भारत की भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रभावित रहे हों।

दुर्ग की सी तैयारियों से युक्त (दुर्ग सम्पन्न) नगर में अन्न और शस्त्रास्त्रों, दृढ प्राकारों और खाइयों, हाथियों, घोड़ों तथा रथों, विद्वान् कारीगरों, आवश्यक वस्तुओं के सुसंचित भाण्डारों तथा उत्कृष्ट कोटि की दक्षता से युक्त धार्मिक नागरिकों आदि तथा अनुशासित (वश्य) सेना का होना आवश्यक माना गया है[4]। प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए वन पर्व (अ० १५) में शाल्व के द्वारा डाले गये घेरे के विरुद्ध द्वारका के दुर्ग में की जाने वाली तैयारियाँ बड़ी मनोरंजक हैं। उदाहरण के लिए द्वारका में बुर्जों के शिखरों पर से शत्रुओं के ऊपर डालने के लिए खौलता हुआ गुड़ रखा गया था। दुर्ग के मध्य में ऊँचे स्थान पर नियुक्त एक गुल्म का यह लक्ष्य था कि वह चारों ओर वाण आदि दूर तक मार करने वाले अस्त्रों के द्वारा शत्रु को क्षति पहुँचाते हुए दुर्ग की रक्षा करे। आगे बढ़कर लड़ने वाली पलटने (उत्क्षिप्त गुल्मैः) नियुक्त कर दी गई। उग्रसेन और उद्धव आदि ने नगर में शराब पीने के निषेध की घोषणा करा दी थी। जिससे कि कोई प्रमाद न हो जाये और

१—काणे ४, १७८।

२—शान्ति ८६, ५।

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गं अब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट्॥ प्रतिरक्षात्मक तैयारियों के लिए दे० ५६, ३५, ८६, ६–१०, ६९, ३३–६३, वन १५।

३—शान्ति ५६, ३५।

४—वही ८६, ६–१०।

आक्रान्ता कहीं लापरवाह और प्रमादयुक्त यादवों पर ही आक्रमण न कर बैठे। सभी नाचने गाने वाले एवं नट नर्तक दुर्ग से बाहर निकाल दिए गये। सभी सेतु (संक्रमाः) तोड़ दिए गये। कोशों की रक्षा का प्रबन्ध कड़ा कर दिया गया। नावों का आना जाना रोक दिया गया। खाइयों और बावड़ियों में कीले गढ़वा दी गईं और चारों ओर एक-एक कोश तक की भूमि विषम करा दी गई। इस प्रकार सुरक्षित और सुगुप्त दुर्ग में बिना मुद्रा के किसी के आने या जाने का निषेध कर दिया गया। सभी सड़कों और चौराहों पर बहुत सी गजारोही और अश्वारोही सेना लगा दी गई। सैनिकों का भत्ता और वेतन तथा शस्त्रास्त्र और वस्त्र बाँट दिए गये। न कोई सैनिक वेतन में ताँबे आदि धातु कुप्य लेने वाला, न ही वेतन से अधिक लेने वाला न कोई और अनुग्रह पर पाला जाने वाला और न ही कोई सैनिक ऐसा था जिसका पराक्रम पहले ही देखा न जा चुका हो। उग्रसेन ने इस प्रकार पूरी तैयारी करके (सुविहिता) द्वारिका की रक्षा का उत्तरदायित्त्व स्वयं स्वीकार किया[1]।

महाभारतकार ने प्रबलकर शत्रु के आक्रमण कर देने पर दुर्ग में डटकर उसका सामना करने वाले राजा को कुछ ऐसी नीतियों का पालन करने का आदेश दिया है जिस प्रकार की प्रतिरक्षात्मक नीतियों का प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध में रूसियों ने जर्मनी की आक्रामक सेनाओं के विरुद्ध किया था।[2] इनमें आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों में होने वाली हानि से बचाने के लिए घोषों (पशुशालाओं) को मार्गों पर बसा देने, ग्रामों को उठाकर शाखानगरों में, मिला देने तथा बार-बार समझा-बुझाकर धनी-भागी लोगों तथा सैनिक-नेताओं को गुप्त दुर्गम प्रदेशों में भेज देने का आग्रह किया है (३४–३६)। इसके अलावा फसलों को कटवाकर किले में रख लेना और ऐसा सम्भव न होने पर उन्हें स्वयं आग से जलाकर नष्ट कर देना (३९), शत्रु के प्रदेश की फसलों को नष्ट करवाकर अन्नसंकट पैदा कराना, नदी मार्गों के पुलों और बाँधों को तुड़वा देना, जलाशयों के जल को इधर-उधर बहा देना और जो बहाया न जा सके उसे दूषित करा देना, शत्रु के शत्रु राजा से उसी समय आक्रमण करा देना, आदि अनेक उपाय, आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। दुर्ग के चारों ओर के छोटे-छोटे वृक्षों को (चैत्य-वृक्षों को छोड़कर) जड़ से कटवा देना, बहुत बड़े वृक्षों की शाखाएँ कटवा देना, परकोटों पर शूरवीरों के बैठकर लड़ने के लिए स्थान (प्रगण्डी) बनवाना, खाइयों को जल से भरवा कर उसमें त्रिशूल वाले खम्भे गड़वाना और उसमें मगरमच्छ छुड़वा देना, न मगर के खाली करने के लिये गुप्त एवं सुरक्षित संकटद्वार बनवाना, ईंधन और पीने के पानी का पर्याप्त प्रबन्ध करना, आग लगने की दुर्घटनाओं को रोकने के लिए छप्परों को मिट्टी से लिपवा देना, चैत्र में ही सभी घासफूस हटवा देना, केवल रात्रि को ही आग जलाने और भोजन बनाने की अनुमति देना, दिन में

१—वन, १५।
२—शान्ति, ६९, ३३–६३।

(अग्निहोत्र के अतिरिक्त) किसी प्रकार भी आग न जलाने की घोषणा करना लौह'र आदि की भट्टियों या सूतिकागृहों में 'भी बड़े सुरक्षित रूप से ही (घरों में ढ़ककर) अग्नि जलाने की आज्ञा देना, भिक्षुओं गाड़ीवानों, नपूसंकों, पागलों तथा नाटक करने वालों (कुशीलपाल) को दोष-परिहार की दृष्टि से निर्वासित कर देना, चौराहों, तीर्थों, सभाओं और धर्मशालाओं में गुप्तचरों की नियुक्ति करना, वड़ी-वड़ी सड़कें और उन पर यथा स्थान प्याऊ और वाजार वनवाना आदि कार्यों को सुरक्षा के लिए आवश्यक वतलाया गया है। भण्डारों, शस्त्रागरों, योद्धाओं के निवास-स्थानों, अश्वशाला, गजशाला, सैनिक शिविर खाइयों, गलियों, बुर्जों तथा उद्यानों को गुप्त रखना और ऐसा प्रवन्ध करना कि शत्रु इन्हें न देख सके। धन संचय के अतिरिक्त घायलों की चिकित्सा के लिए तेल, चर्वी, शहद, घी, सभी प्रकार की औषधियाँ तथा अंगार, कुशा मूँज, ढाक के पत्ते, शर, रंग वाले पदार्थ भुस, ईंधन और विष में वुझे वाण आदि का भी संचय किया जाय। साथ ही जनता के मनोरंजन के लिए तथा नगर की शोभा के लिए नटों, नर्तकों, पहलवानों, तथा इन्द्रजाल दिखाने वालों को आश्रय देने का आग्रह किया गया है।

सभापर्व में दुर्ग के लिए सवसे अधिक आवश्यक सामग्री का उल्लेख करते हुए महाभारतकार ने राज्य के सभी दुर्गों में धन, धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल अनेक यन्त्र (शतघ्नी आदि) और शिल्पी तथा धनुर्धरों के अधिक से अधिक होने पर वल दिया है[१]।

पक्के किले दुर्गों के विषय में हापकिन्स के मत की आलोचना

दुर्गों के उपर्युक्त वर्णनों को देखते हुए हाप्किन्स का यह मत उपहासपद और स्पष्ट रूप से गलत सिद्ध हो जाता है कि 'इस काल में पक्की ईंटों या पत्थरों के वने परकोटों और दुर्गों के निर्माण से भारतीय अपरिचित थे[२]।' वैदिक साहित्य में पाये जाने वाले नगरों और दुर्गों के उल्लेखों (हत्वी दस्यूनपुर आयसीः ऋक् २, २०८)[३], तैत्तरीय संहिता (६, २, ३, १) में किए गये नगरों के वर्णनों तथा शतपथ ब्राह्मण में 'अग्निचयन' के लिए हजारों पक्की ईंटों की आवश्यकता के उल्लेख तथा इन सभी साक्ष्यों से ऊपर मोहेन-जो-दण्डों में प्राप्त हुई पकी ईंटों की दीवारों के अवशेषों[४] से प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि घर प्रासाद, और दुर्गों के प्राकार ईंट के नहीं वनाये जा सकते थे। यूनानी लेखकों के द्वारों पाटलीपुत्र के प्रकार को लकड़ी का वना हुआ लिखने से ही हमारी उक्त मान्यता का खंडन नहीं होता क्योंकि इसे अपवाद ही माना जा सकता है।

१—सभा, ५ ३६। दुर्ग के विषय में दे० अर्थशास्त्र, २, ३–४। मनु, ७, ७१।
२—हार्पूकिंस, पृ० १७४–५।
३—ऋक् १, ६३, ७ में इन्द्र द्वारा सात नगरों का विध्वंस।
४—मार्शल, पु० १, पृ० १५–२६।

वास्तविक संग्राम और उसमें सेना-संचालन—

महाभारत युद्ध के वर्णनों से यह स्पष्ट है न केवल सम्पूर्ण युद्ध अपितु उसके दैनन्दिन के संग्रामों में भी समरांगण विनाश की भीषण रंगस्थली बन जाता था। क्षात्र धर्म से प्रेरित शूरवीर एक दूसरे को ललकारते हुए (आह्व) आगे बढते हुए (आक्रन्द) शत्रुपक्ष को पीस डालने की भावना लेकर (आमर्द) प्राणों की बाजी लगाकर (रणे प्राणद्यूतपणे, द्रौण, ८५, २७ भीष्म ५६, ३६) मानो ताण्डव नृत्य करते हुए[1]। (क्रीडन्निव नृत्यन् वन, २८०, ६४–५; भीष्म ११४, २६) सबसे आगे वाली पंक्ति में ही लड़ने का उत्साह लेकर (अनीकयोः, शान्ति, ६ , ८; ६७, १८) ऐसे जूझ पड़ते थे जैसे सागर में मगरमच्छ[2]। सेनाओं के तीव्र वेग से टूट कर (हंसा इव महोदधौ) प्रहार करने वाले सैनिकों के प्रहारों से तुमुल संग्राम में व्यस्त सेना आग की लपटों के चक्र की तरह विनाश-लीला करती थी[3]। रक्त और मांस से भूमि में कीचड़ हो जाती थी[4]। लाशों के अम्बार लग जाते थे। ऐसी स्थितियों में अक्षौहिणियों की संख्या में सेनाओं का एक ही युद्ध में केवल १८ दिन में खप जाना आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास साक्षी है कि पानीपत के मैदान में कई-कई लाख सैनिकों वाली सेनाओं के भाग्य का फैसला केवल एक ही दिन में हो गया है।

युद्ध में सैन्य-संगठन—

यद्यपि सेना के संगठन की १:३ के अनुपात की प्रणाली और १:१० के अनुपात दशमलव की प्रणाली दोनों ही सैन्य-संगठन के क्षेत्र में आर्यों को ज्ञात थीं और व्यवहार में लाई जाती थीं तो भी युद्ध में प्रयोग करने के लिए महाभारतकार ने दशमलव प्रणाली पर अधिक बल दिया है। कहा गया है कि दशाधिपतियों (दस सैनिकों के नायक) शताधिपत्यों (अर्थात् दस दशाधिपतियों पर एक-एक शताधिपति) की नियुक्ति की जानी चाहिए। और उनके ऊपर एक सतर्क, सावधान, प्रमाद और आलस्य से रहित (अतन्द्रितम्) शूरवीर को सहस्राधिपति नियुक्त किया जाना चाहिए[5]।

युद्ध से पहिले प्रतिज्ञा—

महाभारतकार (शान्ति, १००, ३२–४२) का कहना है कि संग्राम छिड़ने से पहिले मुख्य-मुख्य वीरों को एकत्रित करके उन्हें यह प्रतिज्ञा दिलाई जाय कि 'वे युद्ध में एक दूसरे का साथ न छोड़ेंगे।' उन्हें सावधान कर दिया जाय कि जो लोग तुमुल संग्राम करते हुए स्वयं शत्रु के प्रधान वीर (प्रवीरम्) का वध कर सकें वे ही यहाँ ठहरें

१—भीष्म, ९३, ४३ में युद्ध को स्वयंवर के समान बतलाया गया है।
२—प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा। आदि, १३८, ३०; दे० कर्ण ७७, १०; शल्य १८, ९०।
३—अलातचक्रवद् बलम् द्रोण, ७,५३; ३९, ६ आदि।
४—लोहितकर्दमे संग्रामे, कर्ण २७, ४०।
५—शान्ति, १००, ३१।

जो कोई डरपोक हों वे यहीं से लौट जायें, क्योंकि ऐसे डरपोक लोग घमासान युद्ध में न शत्रुओं को मार ही सकते हैं और न उन्हें भगा ही सकते हैं। सैनिकों को समझा दिया जाना चाहिए कि युद्ध से पीठ दिखाकर भागने वाले कायरों को न केवल आर्थिक हानि, प्राण हानि तथा कीर्ति की हानि ही उठानी पड़ती है उन्हें अनेक अप्रिय और कड़वी दुःखदायिनी बातें सुननी पड़ती हैं। ऐसे लोग मनुष्यों में अधम होते हैं वे केवल संख्या ही बढ़ाते हैं (राशिवर्धनमात्राः) उनका मरना और जीना दोनों बेकार हैं, शत्रु लोग प्रसन्नचित्त होकर उनका पीछा करते हैं। इसके विपरीत विजयी लोग चन्दन और आभूषणों से सम्मानित किए जाते हैं। सैनिकों को कहा जाना चाहिए कि 'आप लोग विजय को धर्म का और सभी सुखों का मूल समझें। वीर पुरुष युद्ध में उन्हीं प्रहारों और मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करता है जिससे कायर घबराते हैं (४०) आप लोग निश्चय करलें कि हम स्वर्ग की कामना करते हुए संग्राम में विजय प्राप्त करेंगे या युद्ध में सद्गति प्राप्त करेंगे।' कहा गया है कि इस प्रकार प्रतिज्ञा लेकर प्राणों का मोह छोड़कर वीर पुरुष निडर होकर शत्रु सेना पर टूट पड़ा करते हैं (४२)।

युद्ध की पद्धति—

महाभारतकार ने युद्ध प्रारम्भ होने पर अपनाई जाने वाली पद्धति का वर्णन करते हुए कहा है कि सबसे आगे तलवार और ढाल वाले (असिचर्मवताम् पुरुषानीकम्) सैनिकों की पंक्ति (अनीकम्) होना चाहिए[1]। पहली पंक्ति के इन सैनिकों में केवल उन्हीं लोगों को रखा जाय जो पहले से ही अपनी शूरता के लिए सम्मानित हों, धैर्यशाली और स्वाभिमानी हों। वे ही आगे रहें और दूसरे लोग उन्हीं के पीछे चलें[2]। पैदल सैनिकों को शत्रुओं का सामना और विनाश करने के लिए प्रोत्साहन देने और जोश दिलाने वाले नगर के अगुआ लोग चाहे वे वृद्ध भी हों उनके साथ-साथ चलें।[3]

उपर्युक्त शूरवीर और मनस्वी पुरुषों के अतिरिक्त अन्य साधारण या डरने वाले सैनिकों का भी महत्त्व बतलाते हुए महाभारतकार ने (वही, १००, ४६) कहा है कि 'युद्ध भूमि में डरपोक लोगों का भी उत्साह प्रयत्नपूर्वक बढ़ाते रहना चाहिए। वे सेना का विशेष समुदाय दिखाने के लिए (स्कन्धदर्शनमात्राद्) कन्धे से कन्धा मिलाकर ही खड़े रहें।

युद्ध में सैन्य संचालन की दृष्टि से महाभारतकार का कहना है कि यदि अपने सैनिक थोड़े से हों तो उन्हें एक साथ संघबद्ध होकर युद्ध करने का आदेश देना चाहिए और यदि बहुत से योद्धा हों तो उन्हें इच्छानुसार बहुत दूर तक फैलाकर रखना चाहिए। यदि थोड़े सैनिकों को बहुतों से लड़ाना पड़े तो सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी

१—शान्ति, १००, ४३।
२—वही, ४५।
३—वही, १००, ४४।

होता है[1]। कहा गया है कि अपनी सेना उत्कृष्ट अवस्था में हो या निकृष्ट अवस्था में, बात सच्ची हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर हल्ला मचाते हुए घोषणा करनी चाहिए कि 'वह देखो शत्रु भाग रहे हैं, भाग रहे हैं, मेरी मित्र सेना आ पहुँची है, निडर होकर प्रहार करो'। इतनी बात सुनते ही धैर्यवान् और शक्तिशाली वीर भयंकर नाद करते हुए शत्रुओं पर टूट पड़ें। आगे बढ़ते हुए लोग गर्जन-तर्जन करते हुए किलकारियाँ भरते हुए क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदंग और ढोल आदि बजाते हुए बढ़ते चले जायँ[2]। यहीं आगे यह आदेश दिया गया है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सेना का संचालन करते समय बड़ी सावधानी से क्रूरता-मिश्रित सान्त्वना का प्रयोग करते हुए सैनिकों को लड़ने में प्रेरित किया जाय।[3]

युद्ध में मनोबल—

युद्ध होने से पहिले स्वयं राजा उसके मन्त्री या सेनापति आदि के द्वारा सैनिकों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हुए अपने वीर-धर्म का पालन करते हुए वीरगति पा जाने किन्तु कदापि पीठ दिखाकर न भागने की प्रेरणा दी जाती थी[4]। पुरोहित शत्रुओं के विनाश की भविष्य वाणियाँ करते थे। दैवज्ञ ज्योतिषी शकुनों और निमित्तों का हवाला देकर युद्ध में हमारी विजय निश्चित है यह घोषणा करते थे। महाभारतकार ने सूर्य, शुक्र, बृहस्पति और वायु को पीठ पर रखकर युद्ध करने में विजय प्राप्त होना निश्चित बतलाया है। रण-कौशल की दृष्टि से सेना की पीठ की ओर सूर्य और वायु का होना व्यावहारिक दृष्टि से भी सहायक है ही।

युद्ध के नैतिक नियम—

महामहोपाध्याय काणे ने यह मत प्रकट किया है कि यद्यपि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार की मायावी और कूट नीतियों का पालन करना उचित बतलाया है, महाभारतकार ने इस क्षेत्र में एक उन्नत आदर्श की प्रतिष्ठा की है[5]। उक्त मत से सर्वथा असहमत न होते हुए भी यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि महाभारत युद्ध में सैद्धान्तिक रूप से बड़ा उन्नत आदर्श प्रस्तुत किया है तो यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार या इतिहास-पक्ष से दूसरी निरपवाद पुष्टि नहीं होती। इस युद्ध में ऐसी भी अनेक घटनाएँ (जिनके सुविदित होने के कारण

१—संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह॥ वही, ४७।

२—शान्ति, १००, ४७–५०।

३—वही, १०२, २८।

४—दे० राजा जनक द्वारा अपने सैनिकों का उत्साहवर्धन शान्ति ९९। वीरों के लिए प्रकाशपूर्ण तेजस्वी लोकों और गन्धर्व कन्याओं की प्राप्ति तथा युद्ध से भागने के लिए साक्षात् नरक और सदा के लिए अपकीर्ति मिलने का वर्णन, वही ९९, ४–५।

५—म० म० काणे वही ३, २०८–९।

यहाँ उल्लेख अनावश्यक है) हुई हैं जिन्हें धर्म युद्ध के नियमों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। तो भी यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पहिले पाण्डवों और कौरवों ने युद्ध के कुछ सर्वसम्मत नियमों को (युद्ध धर्मान्) पालन करने की प्रतिज्ञा की (समयं चक्रुः) उन्होंने यह परस्पर सहमति और निर्णय प्रकट किया कि 'युद्ध समाप्त होने या वन्द हो जाने पर वे आपस में प्रीतिपूर्वक व्यवहार करेंगे। किसी भी पक्ष की ओर से अन्याय आचरण या समान से समान का जोड़ (योगः, युद्ध में भिड़ना) आदि का उल्लंघन नहीं होगा।

इस प्रकार के युद्ध नियमों का आधार महाभारतकार की वह विचारधारा है जिसमें क्रूर शस्त्र-शक्ति और प्रभूत संख्या दोनों को ही युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अपेक्षाकृत कम महत्व देते हुए कहा गया है कि विजिगीषु लोगों की विजय के साधन केवल वल और पराक्रम ही नहीं होते। वास्तविक विजय तो सत्य, नृशंसता का अभाव, धर्माचरण और उद्यम से प्राप्त होती है[1]। शान्ति पर्व में युद्ध के नैतिक नियमों के पालन के महत्व पर वल देते हुए यहाँ तक कहा गया है कि धर्म के नियमों के अनुसार युद्ध में जूझते हुए मर जाना छल-कपट से प्राप्त हुई विजय से कहीं अधिक अच्छा है[2]। परन्तु यहीं साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि शत्रु छल से युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीति से उसका सामना करे और यदि वह धर्म युद्ध करे तो धर्म युद्ध से ही उसका सामना करे[3]। भग्नशस्त्र, विपत्तिग्रस्त, जिसकी डोरी कट गई हो तथा वाहन मार डाले गए हों, ऐसे घायल व्यक्तियों पर प्रहार न किया जाय, उनके घावों की चिकित्सा करके उन्हें ठीक हो जाने पर छोड़ दिया जाय और उनके घर भिजवा दिया जाये[4]।

साधु व्यवहार पर बल—

कहा गया है कि छल-कपट पर जीने वाला व्यक्ति वस्तुतः अपने आप अपनी हिंसा करता है। यह दुष्टों का काम है। श्रेष्ठ पुरुष को दुष्टों पर भी धर्म से ही विजय प्राप्त करनी चाहिए (असाधून साधुना जयेत् १५–१६) कहा गया है (श्लोक १७) कि पृथ्वी में वोये वीज की तरह अधर्म का फल तुरन्त तो नहीं मिलता परन्तु यह मूल और शाखाओं तक को जलाकर भस्म कर देता है। इसी प्रकार मानवता और वीरता की भावनाओं से अनुप्राणित अनेक नैतिक युद्ध नियमों का उल्लेख महाभारत के अनेक

१—भीष्म २१, १०। न तथा वल वीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणोद्यमेन च॥

२—युद्ध के नियम के लिए देखिए—शान्ति ९५, १७–१८, ७–११।

३—स चेन्निकृत्या युद्धयेत निकृत्या प्रतियोधयेत्। वही श्लोक ९।

४—वही, श्लोक १३–१४। दे० डा० वेणी प्रसाद, थियरी आफ् गवर्नमेंट इन एंश्येंट इंडिया पृ० ६२–६३।

स्थलों में किया गया है[1]। सौप्तिक पर्व में कहा गया है कि सोते हुए व्यक्ति पर भी प्रहार न किया जाय[2]।

यद्यपि हाप्किन्स तथा कहीं-कहीं उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर डा० स्पैल्मैन ने भी यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि महाभारत में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली हीन सांस्कृतिक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं और व्यवहार में नैतिक नियमों के पालन की अपेक्षा उनका भंग ही अधिक किया जाता था[3]। परन्तु यूनानी लेखकों के ऐतिहासिक उद्धरणों से यह निर्विवाद रूप में सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में युद्ध के उत्कृष्ट नैतिक नियम व्यवहार में लाये जाते थे। मैगस्थनीज ने लिखा है कि वहुत समीप ही युद्ध होते रहने पर भी किसान लोग विना भय के खेतों में काम करते रहते थे। शत्रु के प्रदेशों को आग लगाकर जलाना या वृक्षों का काटना भी बुरा माना जाता था[4]। युद्ध में नैतिक नियमों के व्यावहारिक पालन के विना सामान्य जनता के कृषक आदि वर्गों में इतना विश्वास उत्पन्न होना असम्भव है।

इसके अतिरिक्त सामान्य मानवीय व्यवहारों में तथा विशेष रूप से युद्ध और राजनीति जैसे विषयों पर विचार करते हुए हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि नैतिकता और धर्म आदि की धारणाएँ कदापि जीवन निरपेक्ष न रही हैं और न हो सकती हैं। ये धारणाएँ और उनका व्यवहार में कार्यान्वित करना सर्वथा सापेक्ष बातें हैं। विश्व में घटित हुए युद्धों के इतिहास की अनेक घटनाएँ तथा विशेषतया भारतीय इतिहास की कई दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ इस बात की साक्षी हैं कि नैतिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त, सत्य और धर्म के पक्ष का अनुसरण करने वाली शक्तियों को भी कई बार वर्बर आक्रामक शक्तियों से केवल इसीलिये पराजित होना पड़ा है कि क्योंकि वे उन धोखेवाज छल कपट पूर्ण और दूसरे पक्ष की नैतिकता का दुरुपयोग करके उसकी पीठ में छुरा भोंकने वाली आसुरी शक्तियों का शठे शाठ्यम् की ईंट का जवाव पत्थर से देने की नीति का पालन करते हुए उचित प्रतिरोध नहीं कर पाये। वर्तमान काल में पंचशील और विश्वशान्ति के पुरस्कर्ता भारतीय राजनय को वर्बर चीनी आक्रान्ताओं की घोर दुर्विदग्ध शठता और सैन्य संचालन की कूटनीति के हाथों जिस प्रकार निकट अतीत में ही पराजित और अपमानित होना पड़ा है उसके परिप्रेक्ष्य में तथा महमूद गजनवी आदि मुसलमान आक्रान्ताओं और क्लाइव जैसे कूट युद्ध के क्रूर अंग्रेज सूत्रधारों के हाथों पराजय और पराधीनता के अभिशाप को भोगने के पश्चात् निश्चित

१—शान्ति ९६, ३।
२—सौप्तिक ५, ११।
३—दे० हाप्किन्स।
स्पैल्मैन पृ० १५९–१६०।
४—जे० डवल्यू मैक्क्रिंडल, एंश्येंट इंडिया एज डेस्क्राइब्ड वाइ मैगस्थनीज एण्ड एरियन पृ० ३२, ८४, २१६।

रूप से महाभारत की वह नैतिकता कम से कम भारतीयों के लिये समझनी कठिन नहीं है जिसमें यह कहा गया है कि वह व्यवहार करना चाहिए जिससे अपने शाश्वत धर्म की रक्षा हो और शत्रु की दासता न स्वीकार करनी पड़े। सभी प्रकार से सभी उपायों से अपना विकास एवं उद्धार करना चाहिए। उस समय अपनी या दूसरे की नैतिकता की परवाह नहीं करनी चाहिए। क्योंकि धर्म या न्याय के अनुसार व्यवहार दुर्बल या संकटग्रस्त व्यक्ति नहीं कर सकता, जीवन धर्म से भी बड़ा है और धर्म के द्वारा शक्ति की प्राप्ति निश्चित रूप से हो ही जाती हो यह निश्चित नहीं है[1]। यहीं आगे चलकर यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धर्म और अधर्म के विषय में निर्णय कठिन है, जैसे भेड़िये का पदचिह्न है या कुत्ते का अतः धर्म और अधर्म के प्रश्न के द्वारा कार्य में व्यवधान नहीं होना चाहिए। धर्माधर्म का फल कभी यहां किसी ने प्रत्यक्ष नहीं देखा है। अतः राजा को शक्ति प्राप्त करने का ही प्रयास करना चाहिए[2]। महाभारत के इतिहास पक्ष से भी उक्त आपत्कालीन एवं आपेक्षिक व्यावहारिक कूट-नीति का समर्थन होता है। पाण्डवों का विनाश करने के लिए प्रारम्भ से ही विष, अग्नि, और पूत आदि अनेक कूट प्रयोगों का आश्रय लेने वाले अनैतिक कौरवों के विरुद्ध पाण्डवों ने भी युद्ध में अनेक कूट प्रयोगों का आश्रय लिया है[3]। परन्तु इन घटनाओं को भयंकर अपवाद ही मानना चाहिए। इनके आधार पर यह कहना अन्याय होगा कि प्राचीन भारत में युद्ध के नैतिक नियमों का पालन ही नहीं किया जाता था।

जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में युद्ध के बीच में ही कुछ दिनों के लिए घटित होने वाले युद्ध विराम आज हमें असंभव लगते हैं, हमारा विचार है उन धार्मिक युद्ध विरामों (अं० रिलीजस ट्यूस) को जीवन का वास्तविक तथ्य बना देने वाली वैसी ही धार्मिक मान्यताओं के कारण प्राचीन भारतीय भी उसी प्रकार के नैतिक नियमों को व्यवहार में परिणत करने के लिए प्रेरित होते होंगे। परन्तु इस विषय में वास्तविकता चाहे कुछ भी हो, धर्म्य और न्याय्य युद्ध के इन नियमों से नितान्त मानवीय नैतिकता के उच्च स्तर का परिचय मिलता है जो आदर्श के नाते आधुनिक युग की नैतिकता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

शस्त्रों के प्रयोग के नियम

विभिन्न शस्त्रों से किए जाने वाले युद्ध के लिए अलग-अलग नियम निश्चित थे। उदाहरण के लिए गदायुद्ध में नाभि से नीचे प्रहार कहना वर्जित माना जाता था[4]। किन्तु महाभारत की युद्ध प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मयुद्ध के पर-

१—शान्ति १३०, १४–१८।

२—शान्ति १३४, २–३।

३—दे० दीक्षितार पृ० २७४।

४—शल्य पर्व ६०, ६; तथा अ० ६१।

म्परागत नियमों और विधियों में इसी काल में पर्याप्त परिवर्तन होने लगा था। जैसे देखते हैं कि सामान्य नियम के अनुसार सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द हो जाता था[1]। परन्तु द्रोण पर्व में हमें रात्रि में हुए युद्धों का भी वर्णन मिलता है और यहाँ यह भी बतलाया गया है कि रथों हाथियों और घोड़ों के सवारों को मशाल रखनी चाहिए[2]। यहाँ यह दर्शनीय है कि ऐसे अवसर प्रायः चरम कोटि के आतंक और आक्रोश से पूर्ण परिस्थितियों में ही आते होंगे अन्यथा सामान्यतया महाभारत युद्ध में सूर्यास्त के समय और कई बार तो उससे कुछ पहिले ही सेनाएँ युद्ध-स्थल से लौट पड़ती थीं।

सेनापति की मृत्यु या ऐसी कोई अन्य भयंकर घटना न होने पर सामान्यतया योद्धा सैनिक ज्यों ही शिविर में लौटते थे वे आपस में युद्ध की चर्चा नहीं करते थे[3]। आपस में एक दूसरे को नमस्कार करते हुए और प्रशंसा करते हुए, अपने घावों की चिकित्सा करके, भोजन करते और सो जाते थे और सूर्योदय तक सोते थे। सेनापतियों तथा अन्य महावीरों के स्नान करने संगीत आदि सुनने और फिर रक्षा के लिए गुल्मों की यथाविधि नियुक्ति करने के बाद सोने का उल्लेख मिलता है[4]।

सेनापति रात्रि को सोने से पहिले अपने राजनीतिज्ञ परामर्शदाताओं से तथा अन्य सहयोगियों से मंत्रणा करते थे। सेनापति की मृत्यु हो जाने पर सभी सेना मुख्य स्कन्धावार में एकत्रित होते थे और नये सेनापति का चुनाव किया जाता था। वे लोग दिवंगत सेनापतियों के विषय में शोक अथवा विचार तक न करते हुए नये सेनापति का हर्षपूर्वक अभिनन्दन करते थे और उसे इस उच्च पद और सम्मान एवं गौरव की प्राप्ति के लिए बधाई देते थे[5]।

युद्ध में शिष्टाचार—

युद्ध में भी शिष्टाचार और भद्र व्यवहार के नियमों का पालन किया जाता था। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व युधिष्ठिर ने सभी पूज्य गुरुजनों के समक्ष उपस्थित हो कर प्रणाम करने और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने में अवहेलना नहीं की। वह पितामह भीष्म गुरु द्रोण और मामा शल्य आदि को (जो पाण्डवों के शत्रु होने के कारण नहीं अपितु अपने अपने कर्त्तव्य की पुकार पर कौरव-पक्ष की ओर से लड़ रहे थे) यह धर्मानुकूल गौरव प्रदान करके उनकी भी सहानुभूति और शुभ कामनाएँ प्राप्त करने में सफल हुए। युद्ध में भी रक्त सम्बन्धों एवं सौहार्द, सद्भावना और सम्मान पर आधारित निकट सम्बन्धों की पराकाष्ठा का उदाहरण हमें भीष्म पर्व के उन प्रसंगों से

१—भीष्म ४९, ५२–५३।

२—द्रोण १५४ तथा १६३ आदि।

३—भीष्म ८६, ५६ 'न हि युद्धकथां काञ्चित् तत्राकुर्वन्'।

४—वही ८६, ५३ आदि, 'रक्षा कृत्वा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि'—रात्रि के वार्तालाप आदि भीष्म ८०, दे० उद्योग पर्व १६०, २।

५—उद्योग १५६–१६८, कर्ण का उदाहरण।

मिलता है जब सूर्यास्त के पश्चात् पाण्डव भीष्म पितामह के दर्शन के लिए शत्रु-शिविर में जाते हैं और एक प्रसंग में तो उनकी ही मृत्यु के विषय में उन्हीं से प्रश्न करते हैं क्योंकि उसके बिना युद्ध में विजय का प्रश्न ही नहीं उठता। भारतीय संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों की पृष्ठभूमि के प्रति अपने निपट अज्ञान का परिचय देते हुए हाप्किस ने हौल्ट्जमैन की हाँ में हाँ मिलाते हुए उक्त प्रसंगों का प्रक्षेप और महाभारत के परवर्ती संकलन कर्ताओं का अभद्र और कलात्मकताहीन कलंक तक कहने की 'भद्रता' दिखाई है। कलात्मक गालियों का खुलकर प्रयोग करते हुए उक्त विद्वानों ने कल्पना की है कि पाण्डवों के द्वारा अपने पूज्य पितामह की हत्या के जघन्य एवं भयंकर अपराध की भीषणता का परिमार्जन करने के लिए पितामह की ही आज्ञा की कल्पना कोरी कल्पना ही है क्योंकि द्रौण एवं शल्य के विषय में ऐसी किसी हीन भावना का संकेत तक नहीं मिलता। फिर ऐसी कठोर कल्पना का कोई मौलिक सांस्कृतिक आधार नहीं दिखाई देता[१]।

महाभारतकार और मैकियावेली के सैन्य चिन्तन की तुलना—

महाभारतकार ने जहाँ साम,दान और भेद जैसे राजनयिक उपायों के असफल एवं अनुपादेय होने पर युद्ध (दण्ड) को राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति का अन्तिम उपाय माना है, मैकियावेली ने युद्ध को राजनीतिक सत्ता का संप्रभुता का सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय घोषित किया है। वह राजनयिक उद्देश्यों की प्राप्ति तथा राज्य की स्वाधीनता, स्थिरता, और विस्तार के सर्वप्रमुख साधन के रूप में सैन्य शक्ति की ही बार-बार सराहना करता है। वह कहता है कि नरेश को युद्ध, इसके नियम और अनुशासन के अतिरिक्त अन्य किसी बात को अपने लक्ष्य या चिन्तन के विषय के रूप में समक्ष नहीं रहना चाहिए और न ही और विषय को अध्ययन के लिए चुनना चाहिए क्योंकि यही एक मात्र कला है जिसका सम्बन्ध शासन करने वाले से है और यह इतनी प्रभावशाली है कि यह न केवल जन्मजात नरेशों की सत्ता में स्थिर रखती है अपितु प्रायः कई एक सामान्य लोगों को नरेश के महनीय पद पर आसीन होने के लिए समर्थ बना देती है और इसके विपरीत यह देखा गया है कि जब सेना की अपेक्षा आराम के विषय में ही नरेशों ने अधिक चिन्तन किया है—उन्हें अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा है[१]। मैकियावेली ने उस युद्ध को धर्म-युद्ध की संज्ञा दी है जिसे टाला नहीं जा सकता (प्रिंस अ० २६)। यह स्मरणीय है कि अपने राष्ट्र इटली की तत्कालीन दयनीय राजनीतिक दशा से द्रवित होकर ही मैकियावेली ने अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप इटली के मुक्तिदाता के रूप में उत्थान करने वाले नरेश के मार्गदर्शन के लिए ही उपर्युक्त उग्र विचार अभिव्यक्त किए हैं।

१—दे० हाप्किस पृ० १९८ पर उद्धृत 'हाल्ट्जमैन'।

१—प्रिंस १४, १११ दे० अन्य उपायों के असफल होने पर सशस्त्र सेनाओं को ही उत्तेजित करने की आवश्यकता पर बल अ० २६। मिलाइये राजपद की योग्यता विषयक महाभारतीय विचार—यही पुस्तक अ० ६।

सैन्य चिन्तन पर परिस्थितियों का प्रभाव—

उस समय सन् १५१३ में इटली प्रायद्वीप की भूमि विदेशी बर्बर आक्रान्ताओं से पद-दलित तथा उनके भीषण युद्धों से क्षत-विक्षत थी अपितु गत २० वर्षों से प्रारम्भ हुई वह दुर्भाग्यपरम्परा उन दिनों अपनी चरम सीमा पर थी। नेपल्स में चार्ल्स अष्टम के प्रवेश से फ्राँसी और स्पेनवासी आक्रान्ताओं में प्रायद्वीप पर आधिपत्य जमाये रखने के लिए प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था। १५१३ में स्पेन वाले नेपल्स में और स्विस लम्बार्डी में थे और फ्राँसी आक्रान्ता पृष्ठभूमि में एक नये आक्रमण का सूत्रपात करने वाले थे[1]। अनेक राजनीतिक एवं राजनयिक कारणों की अपेक्षा इटली की सैन्य-शक्ति की दयनीय दुर्बलता ही निकोलो को इटली पर हुई विदेशी आक्रमणों, अत्याचारों एवं अनाचारों का सबसे प्रमुख एवं ज्वलन्त कारण दिखाई दी[2]। उसने उपर्युक्त दासता की घृणित परिस्थितियों को दूर करने के लिए तथा बर्बर आक्रान्ताओं के पाशविक एवं विनाशकारी आधिपत्य को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त होते देखने के लिए इटली की सैन्य-शक्ति को पर्याप्त सामर्थ्यशाली बनाने के प्रश्न पर गहन चिन्तन किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित अपनी राष्ट्रीय सेनाओं के संगठन को सर्वाधिक महत्त्व दिया। उसने दीर्घकालीन अनुभव और प्राचीन रोम वासियों के उज्ज्वल इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि इटली की भाड़े की सेनाओं के द्वारा उक्त महनीय उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती, इटली की दासता और अपमानपूर्ण पराभव का कारण भाड़े की सेनाओं का प्रयोग ही है और इसीलिए उसने अपनी ही धरती के लालों की सुगठित और प्रशिक्षित विशेषतः पैदल-सेना की आवश्यकता पर बल दिया। अपनी तीनों पुस्तकों 'डिस्कोर्सेज़' प्रिंस और आर्ट आव् वार में उसने इसी बात का निरन्तर प्रबल समर्थन किया। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध नीति (अं० स्ट्रैटेजी) तथा रणकौशल (अं० टैक्टिक्स) की समस्याओं के विषय में मैकियावेली के असाधारण उग्र और रोचक चिन्तन का मूल अधिष्ठान उसकी इटली की मुक्ति के लिए भाव भरी आकांक्षाएँ ही हैं। प्रिंस के अन्तिम अध्याय में उसने कहा है देखिए—किस प्रकार इटली भगवान् से प्रार्थना कर रही है कि वह किसी ऐसी विभूति को भेजे जो उसे इन अत्याचारों और बर्बर उद्दण्डताओं से बचाए। यह भी दिखाई दे रहा है कि वह एक ध्वज के पीछे चलने के लिए उद्यत और इच्छुक है केवल किसी के यह ध्वज उठा लेने मात्र की देर है[1]। इन

१—जे० डबल्यू एलन पृ० ४६१। इटली की तत्कालीन परिस्थितियों के विषय में तथा उनके प्रभाव से मैकियावेली के चिन्तन में 'स्वाभाविकतावाद', 'आवश्यकतावाद' और 'विवेकवाद' की प्रधानता के लिए दे० मीनेरव का 'मैकियावेलिज्म' पृ० ३८, डा० डबल्यू स्टार्क द्वारा सम्पादित, न्यू हैवन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७।

२—प्रिंस, १२।

१—प्रिंस २६।

भावनापूर्ण शब्दों में नये नरेश को इटली के मुक्तिदाता के रूप में अग्रसर होने का आह्वान करते हुए मैकियावेली ने इटली वासी सैनिकों की कमियों को दूर करने और उनमें अनुशासन और प्रशिक्षण के द्वारा अपेक्षित सामर्थ्य का निर्माण करने की आवश्यकता पर बल देते हुए यह श्रद्धापूर्ण विश्वास अभिव्यक्त किया है कि यदि अवसर का उचित लाभ उठाया जाय तो सफलता निश्चित है। वह कहता है इसका वर्णन शब्दों में करना कठिन है कि उस (मुक्तिदाता) का देश के प्रत्येक प्रदेश में, विदेशी आक्रमणों के कारण जिन्होंने अगणित यंत्रणाएँ सही हैं, वे (इटली वासी) कितना भव्य स्वागत करेंगे और कितनी प्रतिशोध की तृष्णा, कैसी दृढ़ भक्ति, कितनी श्रद्धा और कितने आँसुओं से उसका स्वागत किया जायगा[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैकियावेली की राष्ट्रीय सैन्य शक्ति के उदय की आशाओं का सम्बन्ध इटली में राष्ट्रीय भावनाओं के उद्बोधन से जुड़ा है। वह देशभक्ति की भावना को न केवल राज्य की आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था तथा स्थायित्व के लिए ही आवश्यक मानता है अपितु उसे ही सेना की युद्ध शक्ति का स्रोत भी मानता है। ऐसी राष्ट्रीय भावनाओं के आधार पर ही सामर्थ्य राष्ट्रीय सेना का निर्माण संभव है। जन सेना का विकास राष्ट्रीय एवं देशभक्ति पूर्ण भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रतीक होता है।

युद्ध नीति—

मैकियावेली के सैन्य सम्बन्धी चिन्तन की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को समझ कर ही हम उन कतिपय मान्यताओं को भली प्रकार समझ सकते हैं जिनके द्वारा प्रेरित होकर उसने प्रतिरक्षात्मक की अपेक्षा अभियाना (अ० ऑफेंसिव) युद्ध नीति की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है साथ ही धन को युद्ध का मूल तत्त्व माना गया है, दुर्गों की अपेक्षा जनता के प्रेम को प्रतिरक्षा के लिए कहीं अधिक आवश्यक बतलाया है, अच्छे अनुशासित, देशभक्ति की भावनाओं से पूर्ण तथा प्रशिक्षित पैदल सैनिकों को सबसे बड़ा दुर्ग स्वीकार किया है और अच्छे सैनिकों को ही युद्ध का अनिवार्य तत्त्व उसी प्रकार माना है जिस प्रकार महाभारतकार ने छः प्रकार के दुर्गों में सबसे अधिक श्रेष्ठ दुर्ग नर-दुर्ग ही स्वीकार किया है[2]। युद्ध के अभियानात्मक तथा प्रतिरक्षात्मक पहलुओं से सम्बन्धित रणनीति एवं सैन्य संगठन आदि विषयों में मैकियावेली के विचार महाभारत में अभिव्यक्त विचारों से प्रायः विस्मयावह रूप में मिलते हैं—यद्यपि उनकी पृष्ठभूमि प्रायः एक सी नहीं रही है। महाभारतीय चिन्तन में युगों से प्रचलित और परीक्षित विभिन्न सैन्य संबंधी मान्यताओं तथा तात्कालिक आपद्धर्म का समन्वय है और उसकी तुलना में मैकियावेली का चिन्तन एकांगी, आपत्कालीन एवं तात्कालिक परिस्थितियों से प्रेरित होने के नाते सैन्य-विज्ञान के स्तर से नीचे रह जाता है। इतिहास की परम्पराओं और प्रयोगों का सर्वांगीण एवं पूर्ण सर्वेक्षण

१—प्रिंस २६।
२—शान्ति ५६, ३५

न करते हुए मैकियावेली ने केवल उन्हीं मान्यताओं और नीतियों का समर्थन करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया है। जिनको वह अपनी निजी नीतियों का समर्थन करने के लिए आवश्यक मानता है और न ही उसने अपने काल के बारूदी शस्त्रों के विकास से होने वाले रणनीति विषयक परिवर्तनों पर बल दिया है। इसी-लिए इसमें असन्तुलन और परस्पर विरोध जैसे दोष कहीं कहीं स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

अच्छी सेना

मैकियावेली के अनुसार सभी राज्यों की स्थिरता के दो प्रमुख आधार होते हैं, अच्छी विधियाँ और अच्छी सेनाएँ। उसका कहना है कि अच्छी सेनाओं के अभाव में अच्छी विधियाँ नही रह सकती और जहाँ अच्छी सेनाएँ हों वहाँ स्वाभाविक रूप से अच्छी विधियाँ होती हैं[1]। राज्य की अपनी निजी सेनाओं को ही अच्छी सेना कहा जा सकता है और वह उन्हीं नागरिकों में से संगठित हो सकती हैं जिनमें सामा-जिक या राष्ट्रीय भावनाएँ ओत-प्रोत हों और यह तभी हो सकता है जब अच्छी विधियाँ हों। मैकियावेली उन राज्यों को सैनिक दृष्टि से अजय्य मानता है जिनमें अच्छी विधियाँ हों, वे स्वतन्त्रता और आत्मगौरव के अभ्यासी हों। प्रिंस के ६ वें अध्याय में स्वतन्त्रता के अभ्यासी नगरों का मूलोच्छेदन कर डालने की सलाह देता है क्योंकि ऐसे नगर अपने गौरव और स्वतन्त्रता की हानि कभी नहीं भूल सकते[2]। स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता उसी नरेश के राज्य में रह सकती है जो लोक-प्रिय हो और जिसने राज्य के विधियों के अन्तर्गत अपनी जनता को इस प्रकार की स्वतन्त्रता दी हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि निरंकुशतावाद (अं० एवसोल्यूटिज्म) समर्थक होने के नाते शताब्दियों तक वदनाम किया जाने वाला मैकियावेली वस्तुतः महाभारत के सीमित राजतन्त्र से कुछ ही भिन्न से वैध "एकतन्त्र" का समर्थक है।

प्रिंस (अ० १२) में चार प्रकार की सेनाओं का उल्लेख किया गया है। ये हैं अपनी निजी भाड़े की सहायक और मिश्रित सेनाएँ। मैकियावेली ने राज्य के अपने नागरिकों की सेना को ही सर्वश्रेष्ठ कहते हुए भाड़े की सेनाओं के दुर्गुणों पर प्रकाश डाला है। महाभारत में भी चार प्रकार की सेनाओं (मौल, मित्र, भृत तथा श्रेणी बल) में मौल को ही इसी प्रकार का महत्त्व दिया है महाभारतकार मौल सेना के समान ही मित्र सेना को भी विश्वसनीय मानते हैं[3]। जिस प्रकार राजनयिक क्षेत्र में मित्रराष्ट्रों का महत्त्व निर्विवाद है उसी प्रकार प्रतिरक्षा की दृष्टि से मित्र राष्ट्रों और उनकी सेनाओं का महत्त्व अत्यधिक है। मैकियावेली का कहना है कि यदि किसी राज्य के पास अच्छी सेनाएँ हैं तो अच्छे मित्र मिल ही जायेंगे। इस प्रकार मैकियावेली अच्छी सेना

१—प्रिंस १२।
२—वही अ० ५, ६ तथा ६।
३—यही पुस्तक अ०८।

और मित्र राज्य इन दो तत्वों को आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा के अचूक उपादान मानता है[1]। मैकियावेली यह चाहता है कि मित्र उत्साहपूर्वक सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहने चाहिये किन्तु यह आवश्यक है कि वे विरोध करते हुए घबरायें[2]। वस्तुतः यह तभी हो सकता है जब नरेश की अपनी सेना पर्याप्त सशक्त हो।

अच्छी सेना राज्य की शक्ति का मापदण्ड—

मैकियावेली अच्छी व सशक्त सेना को ही राज्य की शक्ति को मापने का प्रमुख मापदण्ड मानता है। उसका कहना है कि प्रत्येक सामर्थ्यशाली नरेश को अपनी ही शक्तियों के द्वारा अपनी रक्षा करने में योग्य होने के लिए तथा सदैव दूसरों की सहायता पर ही निर्भर न रहने के लिए ऐसी स्थिति बनाये रखना आवश्यक है कि वह किसी भी आक्रान्ता के विरुद्ध किसी भी समय अपनी पर्याप्त प्रचुर जनशक्ति या विपुल धनशक्ति के द्वारा पोषित पर्याप्त बड़ी सेना युद्ध के मैदान में खड़ी कर सके। आगे चलकर भाग्य की विडम्बनाओं और आकस्मिक संकटों से रक्षा के लिए भी मैकियावेली ने यह आश्वासन दिलाया है कि यदि शान्तिकाल में भी संकटकाल का सामना करने की तैयारियाँ की गई हों और संकटकाल आने पर युद्धक्षेत्र में भेजने के लिए पर्याप्त बलिष्ठ सेना हो तो विनाश कदापि नहीं होगा[3]। शान्तिकाल में प्रतिरक्षा की तैयारी का अभाव आक्रमण को निमंत्रण देता है। वह इटली की प्रति-रक्षा-हीन दशा को ही उसके बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा पददलित होने का वास्तविक कारण मानता है[4]।

अच्छी सेना के गुण—

मैकियावेली का यह मत है कि अच्छी सेना वही है जिसमें स्वदेशी पराक्रम स्वदेशी, नेतृत्व, अपने ही देश के धन से भरण-पोषण तथा अपने देश के द्वारा ही सम्मान और प्रोत्साहन प्राप्त होता हो[5]। मैकियावेली ने शक्ति, हस्तलाघव पर विदग्धता से भी बढ़कर महत्त्व बुद्धिमता, नेतृत्व की क्षमता और अनुशासन को दिया है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि समर्थ और योग्य होते हुए भी आज्ञा पालन की वृत्ति का अभाव और मैं सब कुछ जानता हूँ इस प्रकार का अभिमान तथा सामूहिक कर्तृत्व का अभाव इटली की सेनाओं की पराजय का कारण रहा है वह यही संपूर्ण सेना और विशेषतः नायकों की योग्यता और संचालन क्षमता पर बल देता है। वह

१—प्रिंस अ० १९, १४६
२—वही ७, ५८
३—प्रिंस २४, १९१–११२
४—प्रिंस २५ १९६
५—प्रिंस २६, २०८,

चाहता है कि इसके लिए नरेश स्वयं अपनी सेना का संचालन करे[१]। इसके लिए मैकियावेली ने यह आवश्यक वतलाया है कि सेनापति या नरेश युद्ध-कला, इसके इतिहास और इसके विभिन्न प्रयोगात्मक पहलुओं का निरन्तर अध्ययन और अभ्यास करे। शान्तिकाल में भी यह अध्ययन और अभ्यास निरन्तर चलता रहना चाहिए अन्यथा इसकी उपेक्षा का परिणाम विनाश होगा[२]।

सेनापति के गुण

मैकियावेली ने प्रिंस अ० ७ में ड्यूक के सैनिक नेतृत्व की प्रशंसा करते हुए हुए जो कुछ लिखा है उससे यह स्पष्ट होता है कि सेनापति में उन गुणों का होना आवश्यक है जिनके द्वारा वह सैनिकों के लिए अनुकरणीय और उनके सम्मान, श्रद्धा और भक्ति का पात्र बन सके। वीरता, योग्यता, प्रताप, आतंक, प्रभाव, उत्साह वृत्ति, ऊंची महत्त्वाकांक्षाएं और नियमित जीवन ये कुछ ऐसे सद्गुण हैं जिसके द्वारा सेनापति या नरेश नई राजभक्त सेना का निर्माण भी कर सकता है, उसका सफल संचालन भी और यदि आवश्यकता पड़े तो भक्तिहीन सेना का विनाश या विघटन भी[३]। यही आगे चलकर फर्मों के क्रूर शासक ओलिवएत्तो के सैनिक गुणों की चर्चा करते हुए मैकियावेली ने सैनिक व्यवसायों में सर्वोच्च सफलता के लिए बुद्धि कौशल (अं० विट) और शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति (अं० विगर) पर भी वल दिया है[४]। १७ वें अध्याय में हैनीवाल का उदाहरण देते हुए मैकियावेली ने सेनापति के लिए यह आवश्यक वतलाया है कि वह अपने क्रूर कहे जाने की तनिक भी परवाह न करे क्योंकि इस क्रूरता की ख्याति के विना वह अपनी सेना को संगठित और कर्तव्यनिष्ठ नही रख पायेगा। उसका कहना है कि हैनीवाल के अनेक अद्भुत कार्यों में एक यह भी है कि अनेक एवं विभिन्न जातियों के सैनिकों से बनी तथा उसके नेतृत्व में विदेशी भूमियों में भी लड़ती हुई विशाल सेना में भी आपस में यह नरेश के विरुद्ध किसी प्रकार के कोई मतभेद कभी पैदा नहीं हुए, चाहे वे भले या बुरे कैसे भी समय से गुजरे हों। इसका कारण उसकी अमानवीय क्रूरता थी जिसने उसकी असीम शूरता के साथ मिलकर हैनीवाल को उसके सैनिकों की दृष्टि में सम्मान और भय का केन्द्र

१—प्रिंस २६, २०७—८,

२—प्रिंस १४, १११

३—प्रिंस ७, ५७

४—वही ८, ६५ यही दे० एगस्थोक्लीज के सेनापतित्त्व के गुणों में (१) संकटों में प्रवेश करने और अपने आपको उनसे उबार भी लेने का साहस तथा (२) विपत्तियों को सहने और उनका निराकरण करने में मन की महानता एगस्थोक्लीज के दोषों में उसकी बर्बर क्रूरता, मानवता का अभाव और अनन्त कुटिलता का उल्लेख किया गया है जिसके कारण उसकी उत्तम पुरुषों में गणना नहीं की जा सकती।

बना दिया था। इस क्रूरता के बिना उसके अन्य गुण ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते थे[1]। मैकियावेली का कहना है कि अत्यधिक क्षमाशीलता तथा दोषी को भी दण्ड न देने वाला सरल और शिथिल स्वभाव सेनापति के लिए उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि उसके कारण सैनिकों को वह स्वच्छन्दता प्राप्त हो जाती है जो सैनिक अनुशासन के अनुरूप नहीं होती। उसका मत है कि महान् सेनापति सीपियों (जिसे मैकियावेली न केवल अपने ही काल में अपितु मानव-स्मृति में एक मात्र अद्वितीय विलक्षण महापुरुष कहता है) के उपर्युक्त दुर्गुणों के कारण ही उसकी रोमन सेनाओं ने स्पेन में उसी के विरुद्ध विद्रोह किया[2]। मैकियावेली ने उपर्युक्त कमियों के बावजूद सेनापति सीपियों के अनेक विलक्षण सद्गुणों में उसकी जितेन्द्रियता एवं साधुता, सहिष्णुता और सौजन्य, मानवीयता एवं दयालुता तथा उदारता एवं हृदय की विशालता आदि की गणना की है। इन गुणों की प्राप्ति के लिए उसने प्रशंसनीय और विख्यात चरित्र वाले यशस्वी महापुरुषों के आचरण का अनुकरण करना आवश्यक बतलाया है। इसका मत यह है कि सिकन्दर महान् ने स्कीलीजसीजर एलैक्जैंडर, सीपियों तथा सायरस को आदर्श माना था[3]।

मैकियावेली ने अपने नरेश को युद्ध-कला में निपुण बनने की बलवती प्रेरणा दी है। उसका कहना है कि इसके लिए (१) सक्रिय अभ्यास एवं (२) अध्ययन दोनों ही प्रकार की साधना आवश्यक है। क्योंकि सेना को अभ्यास के द्वारा भली प्रकार सुसंगठित और अभ्यस्त रखना सम्भव होता है तथा आखेट आदि सैनिक अभ्यास के कार्यक्रमों में सेनापति का शरीर भी कठिनाइयों का अभ्यस्त बना रहता है तथा उसे प्रदेशों की प्राकृतिक दशा का ज्ञान होता है वह पर्वतों, घाटियों, मैदानों, नदियों और दलदलों आदि के स्वरूप को समझना और उनमें सावधानी पूर्वक कार्य करना सीख लेता है। यह ज्ञान सेनापति के लिए अनिवार्य है। तभी वह यह जान सकता है कि वह शत्रु को किस प्रकार वंचिका (अ० सरप्राइज) दे० कि किस प्रकार युद्ध-स्थल चुने और व्यूह-रचना करे और किस प्रकार अपने ही लाभ के लिए शत्रु के नगरों आदि पर घेरा डाले आदि।

मैकियावेली ने अची के, नरेश फिलोपोमैन का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि स्वयं सेनापति को अपने सहयोगियों के सामने अभ्यास के लिए वह परिस्थितियाँ रखनी चाहिये। जो सम्भवतः शत्रु का सामना करने वाली सेना के सामने उपस्थित होंगी। फिर उसे चाहिए कि वह और लोगों की सम्मतियों को सुने तथा फिर सबल तर्कों के द्वारा पुष्ट करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करे। मैकियावेली का विश्वास है कि

१—प्रिंस १७, १३१
२—वही १७, १३२—इसीलिए सीनेट में फेबियस मैक्सीनस ने उसे रोमन सेनाओं को भ्रष्ट करने वाला बतलाया।
३—वही १४, ११४

इस प्रकार की सतत समीक्षा के कारण युद्धकाल में ऐसी कोई नई अप्रत्याशित परिस्थिति उपस्थित ही नहीं हो सकती जिसका प्रतिकार न किया जा सके[1]। उपर्युक्त सक्रिय अभ्यास के अतिरिक्त मैकियावेली ने वुद्धि को अभ्यस्त करने के लिए ऐतिहासों का अध्ययन अनिवार्य वतलाया है। यह जानने का प्रयत्न करे कि उक्त महापुरुषों ने युद्धों में किन पद्धतियों का अनुसरण किया तथा दूसरे, उनकी विजयों और पराजयों के कारण क्या थे। इन कारणों की मीमांसा इसी दृष्टि से की जानी चाहिए कि विजय के कारणों को अपनाया जा सके तथा पराजय के कारणों से बचा जा सके।

मैकियावेली के उक्त विचारों में जिस प्रकार उन्नत आधुनिक सैन्य विज्ञान की सी विचारधारा के सूत्र दृष्टिगोचर होते हैं, प्रिंस के अन्तिम अध्याय में प्रतिपादित सेनापति नरेश के आवश्यक गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मध्यकालीन प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं है। मैकियावेली के अनुसार इटली की मुक्ति के लिए राष्ट्रीय सेवाओं को नेतृत्व करने वाले नेता में (१) कुलीनता या वंश-परम्परा (२) पराक्रम (३) भाग्य (४) ईश्वर और गिरजे की अनुकम्पा और (५) इस मुक्ति के नेतृत्व को सम्हालने की क्षमता आवश्यक है[2]। ये सभी गुण महाभारतीय मान्यताओं के अत्यन्त निकट हैं[3]। यहीं मैकियावेली ने अवसरों का समुचित लाभ उठाने और उत्कट इच्छा और प्रवल संकल्प के द्वारा लक्ष्यपूर्ति के मार्ग की कठिनाइयों को सफलतापूर्वक दूर हठा देने की क्षमता पर वल दिया है।

मैकियावेली मानवीय श्रेय को ईश्वर पर लादने का पक्षपाती नहीं है[4]। उसका यह लौकिक दृष्टिकोण, तव और स्पष्ट हो जाता है जव वह उन लोगों की मखौल उड़ाता है जिन्होंने यह प्रचार किया है कि इटली के २० वर्षों के पराजय, अपमान, विध्वंस एवं सर्वस्वापहरण का मूल कारण इटलीवासियों के पाप हैं। मैकियावेली के अनुसार यदि पाप ही इस संपूर्ण विनाश के मूल कारण हैं तो हमारे वे पाप वक्ता की कल्पना के अनुसार न होकर वे पाप हैं जिनका वर्णन किया गया है, अर्थात् इटली के नरेशों और जनता ने प्रतिरक्षा के राष्ट्रीय प्रबन्ध न करके भाड़े की सेनाओं के हाथ में देश का भाग्य सौंपकर ही वे पाप किए[5]।

भाड़े की सेनाओं के सेनापतियों के विषय में मैकियावेली ने वड़े कठोर शब्दों में यह कहा है कि वे चाहे योग्य हों या अयोग्य कदापि वांछनीय नहीं होते। यदि वे योग्य भी हों तो भी विश्वनीय नहीं होते क्योंकि उन्हें अपनी महत्ता स्थापित करने

१—प्रिंस १४ ११२–११३
२—दे० यही पुस्तक
३—प्रिंस २६, २०६
४— ,, २६, २०७
५— ,, १२

की ही आकांक्षा रहती है। इसके लिए वे या तो नरेश को दबाते हैं या उसे जो उनका स्वामी होता है या फिर वे उन अन्य लोगों को दबाते हैं जिनका दमन आप उचित नहीं समझते अतः करना नहीं चाहते। और यदि वे अयोग्य हैं अर्थात् कुशल सेनापति नहीं हैं तो आप सामान्यतया नष्ट हो ही जायेंगे।

भाड़े की सेना के दोष—

नरेशों की अपनी सेना न रखकर केवल धन के ही आधार पर भाड़े के सैनिकों से प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करने या फिर कहीं से प्राप्त सहायकसैनाओं पर ही निर्भर रहने की मनोवृत्ति एवं प्रथा का वलपूर्वक खण्डन करने के लिए मैकियावेली ने भृतक (भाड़े की) तथा अन्य सेनाओं के दोषों का विवेचन किया है। वह कहता है कि भाड़े के सैनिकों की तथा सहायक सेनाएं वेकार और खतरनाक होती हैं, इनके आधार पर न तो राज्य सुदृढ़ ही रह सकता है और न सुरक्षित ही। क्योंकि ये सेनाएँ (१) असंगठित (२) निरी महात्वांकाक्षा से पूर्ण (३) अनुशासन-हीन, (४) भक्ति-हीन (५) मित्रों के ही सामने शूर किन्तु (६) शत्रुओं के सामने कायर तथा (७) न तो भगवान् से ही डरने वाली और (८) न ही मनुष्य के विश्वास की रक्षा करने वाली होती हैं[1]। मैकियावेली राष्ट्रीय सेना में जिन सद्‌गुणों के विकास के लिए सुशिक्षा, प्रशिक्षण, अनुशासन और अभ्यास आदि उपायों का समर्थन करता है उनका सर्वथा अभाव इन सेनाओं में मानता है। ऐसी गुणहीन सेना की व्यर्थता पर वल देते हुए वह कहता है कि सर्वनाश की घड़ी तभी तक टली हुई समझनी चाहिए जब तक आक्रमण नहीं होता। ऐसी सेनाओं को पालने वाला नरेश केवल लूटा ही जाता है क्योंकि शान्तिकाल में तो ये सेनाएं उसे लूटती हैं और युद्ध में शत्रु उसे लूटता है। इन सेनाओं को इटली के नाश का कारण वतलाते हुए मैकियावेली ने व्यंग्यपूर्ण भाषा में कहा है कि इसीलिए फ्रांस के राजा चार्ल्स ने हाथ में चाक लिए लिए ही सारी इटली को जीत लिया।

मैकियावेली ने ऐतिहासिक उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि राष्ट्रीय सेनाओं के द्वारा ही राष्ट्र की निरन्तर ऊंची से ऊंची उन्नति होती है, वह स्वतन्त्र बने रहते हैं और ऐसे स्वतन्त्र गणराज्य कठिनता से ही किसी के आधिपत्य में रह सकते हैं। इसके विपरीत इतिहास की साक्षी देते हुए कार्थेजियनं; थेवन, मिलानवासियों नेपल्स की रानी तथा अन्य अनेक नरेशों के उदाहरणों से मैकियावेली ने यह सिद्ध किया है कि भाड़े के सैनिकों से उपलब्धियां तो अपेक्षाकृत वहुत स्वल्प किन्तु हानियां बहुत वड़ी होती हैं। इन अनेक उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भाड़े के सेनापतियों और उनकी सेवाओं के द्वारा जिन परिस्थितियों में हानि नहीं हुई, वे परिस्थितियां केवल ये थीं—(१) पराजय की दशा में (२) संयोगवश (३) महत्वाकांक्षा का क्षेत्र दूसरा होने पर (४) दो सेनापतियों की प्रतिस्पर्धा के कारण दोनों पर

१—प्रिंस १२, ६३।

नियंत्रण होने पर, (५) मित्रता वनाये और वढ़ाये रखने पर, (६) अन्य विजयाभियानों पर उन्हें न भेजकर या (७) उन सेनापतियों को हत्या कर दिए जाने पर।

पैदल सैनिकों की कमी--

मैकियावेली ने भाड़े की सेनाओं की संगठन प्रणाली और युद्ध करने की पद्धति की न्यूनताओं पर भी प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि भाड़े की सेनाओं में पैदल सैनिकों की प्रतिष्ठा को गिराकर तथा उनकी संख्या घटाकर केवल घुड़ सवार सैनिकों पर इसीलिए वल दिया गया है क्योंकि इनकी अपेक्षाकृत थोड़ी संख्या से ही उनकी प्रतिष्ठा भी बनी रहती थी और उनका निर्वाह भी हो जाता था जबकि पैदल सेना के भरण-पोषण और प्रशिक्षण की व्यवस्था कहीं अधिक व्यय-साध्य भी होती है और कष्ट साध्य भी। स्पष्ट है कि पैदल सेना की संख्या कम इतनी कम कि २०,००० सेना में कभी कभी केवल २००० पैदल होने के कारण इन सेनाओं की उपादेयता भी सीमित ही होती है।

सैनिक संहिता और निहित स्वार्थ—

मैकियावेली ने यह प्रतिपादित किया है कि भाड़े की सेनाओं के सेनापतियों ने अपने आपको तथा अपने सैनिकों को थकान और खतरे से वचाने के लिए प्रत्येक कला का प्रयोग करते हुए साक्षात् युद्ध में भी अपने निहित स्वार्थों का ही ध्यान रखकर युद्ध के नियमों और परम्पराओं का निर्धारण और पालन किया है, जैसे संघर्ष में सैनिकों को मारने की वजाय कैद कर लेना,उन्हें विना पावती लिए मुक्त कर देना, नगरों पर रात्रि में आक्रमण न करना, नगरों की प्रतिरक्षा-सेनाओं का भी नगर पर घेरा डालने वाले शत्रु के शिविर पर रात्रि को आक्रमण न करना, अपने शिविरों के चारों और न तो बाड़ें खड़ी करना और न खाइयाँ ही खोदना और सर्दी की ऋतु में युद्ध न करना आदि। भाड़े की सेनाओं की सैनिक संहिता में ये रुब वातें मान्य थीं। मैकियावेली ने उक्त विचित्र सैन्य नियमों की अनुमति का कारण केवल थकान और खतरे को दूर रखने की प्रवृत्ति को ही मानते हुए यह घोषणा की है कि इन सेनाओं की इन्हीं दुर्वलताओं के कारण इटली को अपमान और दासता का पात्र वनना पड़ा है।

यहाँ यह दर्शनीय है कि महाभारत में किसी प्रकार की सेना के लिए भी इस प्रकार के विरोधी एवं निराशाजनक विचार अभिव्यक्त नहीं किए गए हैं। यद्यपि सेनाओं के आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से मूल बल और मित्रबल की अपेक्षा भृतबल और श्रेणी बल तथा आटविक बल आदि को कुछ कम विश्वसनीय वतलाया गया है तो भी मैकियावेली की तरह महाभारतकार ने उनकी सर्वथाहीनता का वर्णन नहीं किया। स्पष्ट है कि मैकियावेली के ये विचार अंशतः उसके अपने दृष्टिकोण से किए गये इतिहास के अनुशीलन पर और अपने निजी कुल राजनीतिक अनुभवों पर आधारित हैं। हो सकता है कि राष्ट्रीय सेना के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए अतिशय पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर भी उसने ये विचार प्रकट किए हों। कुछ भी हो, उसके इन

विचारों का अनेक विद्वानों ने युक्ति-युक्त खण्डन करते हुए इन्हें अनैतहासिक एवं अति-शयोचित पूर्ण माना है[1]।

सहायक सेना—

मैकियावेली ने भाड़े की सेनाओं के समान ही सहायक सेनाओं को भी दूसरी अनुपयोगी सेनाएँ कहा है। वह कहता है कि किसी राज्य के द्वारा अपनी सहायता या प्रतिरक्षा करने के लिए आमन्त्रित किए गए किसी नरेश की सेनाएँ सहायक सेनाएँ कहलाती हैं[2]। इन सेनाओं के दोषों पर प्रकाश डालते हुए मैकियावेली ने इन्हें कभी भी लाभकर सिद्ध न होने वाली बतलाया है चाहे वे अपने आप में कितनी भी उपयोगी और अच्छी क्यों न हों, क्योंकि यदि हार हुई तो आमन्त्रित करने वाले का विनाश होना निश्चित ही है और यदि विजय हुई तो फिर वह उनका कोरा दास होता है। इस प्रकार यह विचारणीय है कि किसी एक भूमि भाग को अधिगत करने के लिए भी विदेशी सेनाओं को आमन्त्रण देना अपने आपको खतरे में डालना ही होता है। मैकियावेली ने आगे कहा है कि स्वयं निःशस्त्र होते हुए दूसरों को अपने लिए विजया-भियान करने के लिए आमन्त्रण देना विपत्तियों को ही निमंत्रण देना है क्योंकि वे सेनाएँ आमन्त्रण पर आकर विजय प्राप्त कर लेने पर युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी फिर उस प्रदेश को छोड़ना नहीं चाहा करतीं और यहीं से दासता का प्रारम्भ हो जाता है। अतः जो विजय प्राप्त ही न करना चाहता हो वही इनका उपयोग करे। मैकियावेली ने सहायक सेनाओं को कहीं अधिक संगठित और दूसरों की आज्ञापालक होने के कारण भाड़े की सेनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक बतलाया है।

पराये शस्त्रो की अविश्वसनीयता—

दूसरों की सेनाओं की तरह दूसरों से प्राप्त शस्त्रों के विषय में आलंकारिक भाषा में उनकी भयंकरता बतलाते हुए मैकियावेली ने कहा है कि दूसरों के शस्त्र या तो आपकी कमर से गिर जायेंगे, या आपको बोझ से दबा देंगे या आपको बुरी तरह बाँध लेंगे। इसी प्रकार दूसरों की सेनाएँ आपके काम न आयेंगी, आप पर बोझ बन जावेंगी या आपकी गति में बाँधा डालेंगी[3]। मैकियावेली ने यही "ओल्ड टेस्टामेंट" की

१—दे० चेवोद पृ० ८६–८८। होव्होम ने (मैकियावेलीज रिनेसां देर क्रीग्संस्कृत बर्लिन १९१३ भाग २ पृ० २८१) भी उसके सैनिकों के प्रति दृष्टिकोण को ऐसा माना है जैसा सरकारी नौकरों के प्रति होता है। चेवोद ने (टिप्पणी पृ० ८६) पेशेवर सैनिकों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि निकोलो ने इनके महत्त्व को कम करने के लिए ही पैदल सेना की आवश्यकता पर इतना बल दिया है कि वह सेना के अन्य अंगों तोपखानों आदि के बारे में कुछ भी नहीं लिख पाया है।

२—प्रिंस १३।

३—प्रिंस १३, १०५–६।

एक गाथा को उद्धृत करते हुए उस प्रसंग का उल्लेख किया है जिसमें डेविड ने फिलिस्तीन के वीर गोलियाथ से युद्ध करने के लिए साल से शस्त्र लेना स्वीकार न करते हुए अपने चाकू और गोफन से ही लड़ना उचित समझा[1]।

इस प्रकार मैकियावेली ने अपने ही राष्ट्र की सेनाओं और अपने ही शस्त्रों से युद्ध करके अपने राष्ट्र का गौरव बढ़ाने को बुद्धिमत्ता बतलाते हुए तथा विदेशी सेनाओं और शस्त्रों को ख्याति प्रदान करते हुए अपने सैनिकों के मूल्य को गिरा देने की निरी मूर्खता, कहकर अपने निम्नलिखित तीन प्रस्ताव रखे हैं। वे हैं—(१) पैदल सेना को नष्ट न किया जाय। (२) अपनी सेना को दूसरे किसी के अधीन न रखा जाय तथा (३) उनमें स्वयं स्वतन्त्र होकर बिना दूसरों की सहायता या साथ के ही लड़ने और जीतने का विश्वास पैदा किया जाय। इस प्रकार की राष्ट्रीय सेना, निकोलो के अनुसार इटली के नव निर्माण का मूल आधार है[2]।

मैकियावेली ने हीरो आव् सायराक्यूज का उदाहरण देते हुए चेतावनी दी है कि यदि देशी और विदेशी सैनिकों वाली भाड़े की सेना को रखना ही पड़े तो सारी सेना को खण्डों में बाँटकर रखना चाहिए। वह आगे कहता है कि अकेली सहायक सेना की अपेक्षा अपनी राष्ट्रीय सेना और उन दोनों को मिलाकर मिली जुली सेना कुछ अच्छी होती है, परन्तु यह भी अपनी पूर्णतया राष्ट्रीय सेना की अपेक्षा कहीं अधिक निकृष्ट होती है[3]। वह मानता है कि अपनी राष्ट्रीय सेना के बिना कोई राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता। जिसके पास राष्ट्रीय सेना नहीं है उसने अपना भविष्य दूसरों के हवाले कर दिया है और उसके पास विपत्तिकाल में रक्षा करने वाली शक्ति नहीं है। बुद्धिमान लोगों का यह मत और निर्णय रहा है कि बिना अपनी स्वयं की शक्ति के आधार पर स्थापित ख्याति और प्रभुता से अधिक अस्थिर और अनिश्चित अन्य कोई वस्तु नहीं होती। मैकियावेली ने रोमन-साम्राज्य के शासकों के द्वारा गोथ सैनिकों के भाड़े पर रखे जाने से साम्राज्य की शक्ति के ह्रास का प्रारम्भ माना है और कहा है कि तभी से वह वीरता और पराक्रम जिसने उन्हें ऊँचा उठाया था दूसरों के दास बन गये[4]।

मैकियावेली ने सेना के संगठन और अनुशासन की दृष्टि से उसके सेनापतियों और सैनिकों पर राज्य का नियन्त्रण और मार्ग दर्शन बनाये रखने के लिए उपयुक्त कानून बनाने और उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक लागू करने की आवश्यकता पर बल दिया है[5]।

१—प्रिंस १३, १०६।
२—प्रिंस पृ० १०६ दे० चेबोद पृ० ८४।
३—प्रिंस पृ० १०७।
४—प्रिंस पृ० १३, १०७।
५—प्रिंस पृ० १२, ९५।

साथ ही उन्हीं नियमों और कानूनों के लागू करने का आदेश दिया गया है जो किन्हीं सफल एवं यशस्वी राज्यों या गणराज्यों में लागू हों[१]।

आदर्श सेना—

मैकियावेली का सैन्य-संगठन सम्बन्धा दृष्टिकोण निरा सैद्धान्तिक ही नहीं है वह उपादेयतापरक तथा प्रगतिशील है। वह देश और काल की प्रतिक्षण बदलती हुई परिस्थितियों के साथ प्रत्येक राजनीतिक रीति-नीति में यथोचित एवं यथावश्यक परिवर्तन किए जाने का हामी है[२]। वह अपने काल में अतीव भीषण और दुर्धर्ष समझी जाने वाली स्विटजरलैंडवासियों तथा स्पेनवासियों की सेनाओं की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हुए कहता है कि स्विस लोग विशेषतः मुठभेड़ की लड़ाई में पैदल सेना से डरते हैं और स्पेनिश सैनिक घुड़सवार सेना का सामना नहीं कर सकते और इसलिये वह चाहता है कि नई इटली की राष्ट्रीय सेना का आविष्कार निश्चित रूप से इस प्रकार का होना चाहिए कि वह सेना घुड़सवारों के आक्रमणों को सहन कर सके और पैदल सेना से कदापि नहीं डरे। वह कहता है कि वस्तुतः इस कार्य में नई सेना खड़ी करने का प्रश्न नहीं है अपितु पुरानी सेना का ही एक परिवर्तित रूप संपादन करने की आवश्यकता है[३]। अतः यह मत सर्वथा उचित है जिसमें मैंकियावेली के द्वारा प्रति पादित सैन्य-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को, उसकी विपुल ज्ञानराशि तथा जीवन भर के राजनीतिक अनुभवों और अपने समय के घटना चक्र से प्राप्त निष्कर्षों तथा उसकी रचनात्मक आर्ष प्रतिभा के सार भाग एवं उसकी वैयक्तिक सृष्टि कहा गया है[४]।

संकटकाल में प्रतिरक्षात्मक युद्ध—

मैकियावेली ने आक्रान्ताओं के विरुद्ध पर्याप्त प्रबल सेना युद्ध के मैदान में खड़ी करने में असमर्थ तथा केवल प्रतिरक्षात्मक युद्ध ही करने का सामर्थ्य रखने वाले नरेशों को मूल्यवान परामर्श दिए हैं[५]। उसका कहना है कि प्रतिरक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लेने वाले शासक के नगर या राज्य पर बाह्य आक्रमण सरल नहीं होगा, यदि हुआ भी तो आक्रान्ता को अपमानित होकर पीछे लौटना पड़ेगा। मैंकियावेली ने जर्मन के सामन्तों के दुर्गों का हवाला देते हुए प्रतिरक्षा के प्रबन्धों की जो चर्चा की है उसका सारांश यह है कि:— (१) राज्य की प्रतिरक्षा के सैनिक प्रबन्ध जैसे उपयुक्त खाइयाँ, दीवारें, दुर्ग, तोपें, सार्वजनिक भण्डारों में एक एक वर्ष तक के लिए पर्याप्त खाने पीने और गोला बारूद का सामान आदि पूरी तरह किए हुए होने चाहिए साथ ही (२) प्रजा में शासक के प्रति घृणा या तिरस्कार की भावना नहीं

१—प्रिंस १३, १०७।
२—प्रिंस २५, २००।
३—प्रिंस २६, २०९–२१०।
४—फैडेरिको चैबोद, मैंकियावेली एण्ड रिनेसां पृ० ८–९।
५—प्रिंस १०

होनी चाहिए अर्थात् वह अपनी प्रजा को पोषण और संरक्षण देने में असफल नहीं होना चाहिए (३) शासक को शक्तिशाली और उत्साही बनकर विपत्ति दीर्घकाल तक नही रहेगी यह विश्वास दिलाते हुए जनता के मनोवल को ऊँचा रखना चाहिए तथा जनता को शत्रु की क्रूरता का डर दिखाकर और शत्रु के द्वारा की गई क्षतियों के कारण उनमें जोश और क्षोभ निर्माण करते हुए कृतज्ञता और उत्तरदायित्व से युक्त व्यवहार करते हुए उन्हें सुदृढ़ और संगठित रखना चाहिए, (४) जनता के अतिसाहसी तत्वों के दृढ़तापूर्वक अपने आपको सुरक्षित रखना चाहिए। मैकियावेली का विश्वास है कि इसी प्रकार डटकर प्रतिरक्षात्मक युद्ध करने के लिए दीर्घकाल तक के लिए कटिवद्ध और समर्थ तथा पराजयों से निरुत्साहित न होने वाले शासक को एक वर्ष तक भी शायद लड़ना पड़े[1]। इसका कारण वतलाते हुए कूटनीति धुरन्धर मैकियावेली का कहना है कि संसार के मामले इतने परिवर्तनशील है कि एक सेना को एक वर्ष तक युद्ध के मैदान में बिना किसी हस्तक्षेप के ही वनाये रखना असंभव है[2]।

मैकियावेली ने तैयारी न होने पर युद्ध छेड़ने का निर्णय करना विनाशकारी बतलाया है और ऐसे काल में प्रतिरक्षात्मक युद्ध ही करने का परामर्श देते हुए शान्ति-काल में भी प्रतिरक्षात्मक तैयारियों को इसी प्रकार मनोयोग, प्रचण्डता और धृष्टता से करते रहने की आवश्यकता पर बल दिया है जिस प्रकार बाढ़ आने से पहले ही उसके नियन्त्रण व उसके बचाव के लिए पुश्ते, बाँध और नहरों आदि का निर्माण किया जाता है[3]। उसने मानव-जीवन के सभी कार्य व्यापारों को मानवीय परिश्रम, पराक्रम या बुद्धि कौशल के द्वारा नियन्त्रण करने की आवश्यकता पर ही बल दिया है। भगवान्, भाग्य या भविष्यता आदि में अंशतः विश्वास करते हुए भी मैकियावेली सांसारिक मामलों को उनके भरोसे छोड़ देना अनुचित और विनाशकारी मानता है। वह इनके नाम पर देश को आक्रामकों के लिए खुला छोड़ देना और प्रतिरक्षा के प्रबन्ध ही न करना न केवल अपराध अपितु पाप मानता है और इसे स्वयं ही दुर्भाग्य को अपने यहाँ लाने का आमंत्रण और प्रेरणा देना समझता है[4]।

इस प्रकार अभियानात्मक और प्रतिरक्षात्मक युद्ध के महत्व और उनके लिए आवश्यक सैन्य-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए मैकियावेली एक ओर तो बर्बर आक्रान्ताओं को इटली से बाहर खदेड़ देने की प्रेरणा देता है और दूसरे यह भी चाहता है कि नरेश के नेतृत्व, नई विधियों और अधिनियमों तथा कई व्यवस्थाओं के द्वारा इटली वासियों में नवजीवन का संचार हो उठे तथा वह अमंगल वातावरण नष्ट हो जाय जिसमें राष्ट्रीय पौरुष और पराक्रम की विरोधी भावनाएँ धीरे-धीरे

१—प्रिंस २४
२—प्रिंस १०, ८२
३—प्रिंस २५, १९८-२०१
४—प्रिंस २५, १९८

राष्ट्रीय शक्ति के मूल को ही नष्ट कर दे रही थी[1]। यह सैन्य दर्शन उस समय प्रतिपादित किया जब उसके समकालीन जिसयार्डिनी जैसे व्यापारी कूटनीतिज्ञ इटली में बर्बर आक्रान्ताओं की उपस्थिति और उनकी आपसी तनातनी के परिणामस्वरूप कभी कभी नगरों को मिल जाने वाली थोड़ी सी नागरिक स्वतन्त्रता पर ही सन्तोष कर बैठे थे और इटली की स्वतन्त्रता के अभियान और अध्यवसाय को व्यर्थ और अव्यावहारिक मानते थे। किन्तु इतिहास साक्षी है कि मैकियावेली ने पैट्राक[2] की जिस वाणी को कि :—

निज क्रोध के हो विरुद्ध वीरत्व खड़ा हो जायेगा।
और युद्ध का फल जल्दी ही यहाँ प्रकट हो जयेगा।
क्योंकि इटालियन लोगों की प्राचीन वीरता विश्रुत है।
निश्चय उनके हृदयों में वह हुई नहीं अब तक मृत है ॥[3]

अपने प्रिंस के 'भरत-वाक्य' की तरह उद्घोषित किया था वह सत्य ही सिद्ध हुई। मैकियावेली की ४०० वीं जयन्ती के अवसर पर संयुक्त स्वतन्त्र इटली की उत्तराधिकारियों ने मैकियावेली की स्मृति में एक सुन्दर यादगार बनाकर उस पर यह उल्लिखित कराकर अपनी राष्ट्रीय कृतज्ञता का परिचय दिया, इस यादगार पर लिखा गया :—

उस निकोलो मैकियावेली के प्रति
जो राष्ट्रीय एकता के निर्भीक भविष्यवक्ता अग्रदूत,
तात्कालिक सेनाओं के स्थान में इटली की अपनी
राष्ट्रीय सेना के प्रथम संस्थापक प्रभु थे
संयुक्त और सशस्त्र इटली ने उनकी ४२० वीं जयन्ती पर
यह शिलाफलक स्थापित कर श्रद्धाँजलि अर्पित की।[4]

मैकियावेली के सैन्य-दर्शन की महत्ता का उद्घोष करने वाली इससे और अधिक सुन्दर प्रशस्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति, युद्ध-नीति तथा सैन्य-संगठन आदि की सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का उसके उद्भव और विकास की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सही मूल्यांकन करने में विद्वान् पाठकों को सहायता देने के लिए ही मैकियावेली के सैन्यचिन्तन को तुल्नात्मक अध्ययन के लिए प्रस्तुत किया गया है। यूरोप के पुनर्जागरण-काल के अग्रदूत इस क्रान्तद्रष्टा

१—प्रिंस ९
२—प्रिंस २६
३—राधानाथ चतुर्वेदी द्वारा अपने प्रिंस के हिन्दी अनुवाद ग्रन्थ नरेश में पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के सौजन्य से प्राप्त कर प्रकाशित।
४—सी० इ० डेटमोल्ड, लाइफ आव् मैकियावेली, ४१।

विचारक की पुस्तक 'प्रिंस' आज तक भी उक्त विषयों में विश्वभर के राजनयज्ञों की 'गीता' बनी हुई है। तो भी यह दर्शनीय है कि महाभारतकार ने साम, दान और भेद आदि राजनयिक उपायों के असफल और अनुपादेय होने पर ही युद्ध (दण्ड) को राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति का अन्तिम उपाय माना है। महाभारत में राजनयिक व्यवस्था एवं सैन्य-स्थिति के विषय में उपलब्ध मान्यताएँ और संस्थाएँ बड़ी उच्च कोटि की परिपक्व, विकसित लौकिक एवं प्रगतिशील राजनीतिक चेतना की द्योतक हैं। महाभारत में युगों से प्रचलित और परीक्षित सैनिक-मान्यताओं का तथा आपद्-धर्म का भी समन्वय होने के कारण एक समग्र एवं पूर्ण राजधर्म के दर्शन होते हैं। उसकी तुलना में मैकियावेली का चिन्तन एकांगी, आपत्कालीन तथा तात्कालिक परिस्थितियों से प्रेरित होने के नाते सैन्य-विज्ञान के स्तर से नीचे रह जाता है। परन्तु विश्व की नितान्त व्यावहारिक वस्तुस्थिति पर आधारित होने के कारण न केवल यह चिन्तन महाभारतीय चिन्तन का पूरक है अपितु आज की राजनयिक परिस्थितियों में भी सर्वथा मननीय और उपादेय है। और इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किए गये इस तुलनात्मक अध्ययन के यदि कृपालु पाठकों का कुछ भी मनोरंजन या हित साधन सम्भव हो तो यह विनम्र प्रयास सर्वथा सफल माना जायगा।

दशम अध्याय

सामान्य निष्कर्ष ओर उपसंहार

दशम अध्याय

सामान्य निष्कर्ष और उपसंहार

उपसंहार—

महाभारत में प्रतिबिम्बित प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिन्तन और शासन-तन्त्र के विशेषतया राजतन्त्रीय पक्ष का मैकियावेली के प्रिंस में वर्णित यूरोप के पुनर्जागरण काल की राजनीतिक मान्यताओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इस प्रबन्ध में इसके वर्ण्य-विषय और क्षेत्र के अनुरूप इतने प्रश्नों का विवेचन किया गया है कि उनका परिगणन भी इस प्रसंग में संभव नहीं है। परन्तु इस सर्वेक्षण के अन्त में उन तथ्यों और निष्कर्षों की चर्चा एवं उल्लेख आवश्यक है जो भारतीय राजनीतिक तत्वदर्शन को देदीप्यमान विशेषताओं के रूप में प्रत्यक्ष आविष्कृत हुए हैं। अति प्राचीन काल से ही आर्य प्रतिभा की अपनी विशेषताओं (प्रथम अध्याय) के अनुरूप अपने विशेष पर्यावरण में अर्जित सौंदर्य-बोध और नीति-विवेक के अनुसार जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में विशिष्ट भारतीय चिन्तन और भारतीय संस्थाओं की एक अजस्र परंपरा दिखाई देती है। वैदिक वाङ्मय में उद्भूत एवं अंकुरित भारतीय राजनीतिक चिंतन धर्मशास्त्रों तथा इतिहास ग्रन्थों में पर्याप्त पल्लवित और पुष्पित हो गया है, यद्यपि अर्थशास्त्र में ही इसका सुसंश्लिष्ट और सुविकसित रूप दिखाई देता है। इतिहास-ग्रन्थ महाभारत में पर्याप्त पौराणिक जैसी सामग्री भी प्राप्त है तो भी अनुसन्धान की आधुनिक वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रणाली के द्वारा ऐतिहासिक प्रामाणिक साक्ष्य सामग्री के चयन, वर्गीकरण, विश्लेषण तथा मूल्यांकन के द्वारा राजनीतिक चिन्तन का जो स्वरूप सामने आता है वह न तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों का सा निरा शास्त्रीय, आदर्शवादी तथा अध्यात्म-प्रधान है और न अर्थशास्त्र जैसा निरा यथार्थवादी एवं प्राविधिक तथा लौकिक। उसमें भारतीय राजधर्म के नितान्त लौकिक, यथार्थ और आदर्श के अर्थात् दोनों पराकोटियों के सामंजस्य से युक्त पूर्ण एवं व्यावहारिक रूप के दर्शन होते हैं। मैकियावेली का दर्शन भी यूरोप के शा त्रीय (केननिस्ट) प्रमाणवादी (स्कौलैस्टिक) चिन्तन के विपरीत व्यावहारिक बौद्धिकवाद (प्रैग्मैटिज्म) और मानववाद से अनुप्राणित है। महाभारत की राजनीतिक मान्यताओं और संस्थाओं का मैकियावेली की सर्वथा ऐतिहासिक मान्यताओं और अनुभव पर आधारित व्यावहारिक शिक्षाओं के साथ तुलनात्मक विवे-

चन करने के पश्चात् प्राप्त हुई शब्दगत और भावगत समानताओं के आधार पर संदेहातीत विश्वासोत्पादक तथ्यों की उपलब्धि होती है। इस ज्ञान-विज्ञान-राशि के प्रकाश में हिन्दू राजनीति के क्षेत्र में आज तक प्रामाणिक माने जाने वाले अनेक मतों और सिद्धान्तों की असत्यता एवं अर्ध सत्यता प्रमाणित हो गई है। डा० विश्वनाथ प्रसाद जैसे मनीषियों का भी यह कहना है कि राजनीति शास्त्र के मूलभूत प्रश्नों, संप्रभुता, विधि, न्याय, राज्य आदि पर भारतीय दार्शनिकों की कुछ उल्लेखनीय देन नहीं है केवल अत्युक्तिपूर्ण और शोचनीय ही रह गया है। ई० डवल्यू० हाप्किन्स, ब्लूमफील्ड तथा डा० वेणी प्रसाद आदि के पक्षपातपूर्ण और पूर्वाग्रह ग्रस्त मत जिनमें भारतीय मस्तिष्क को विश्लेषणात्मक और निगमनात्मक प्रवृत्तियों के अभाव के कारण तथा धर्म और नैतिकता आदि की भावनाओं से अतीव प्रभावित होने के कारण राजनीतिक चिन्तन के विकास के अयोग्य ठहराया गया है तथा भारतीय समाज के वर्णों और जातियों में बंटा होने के कारण राजनीतिक विकास का आधार ही लुप्त होने का प्रतिपादन किया गया है. महाभारतीय सामग्री के अनुशीलन से सर्वथा निराधार तथा अनधिकृत लगते हैं। डा० राधाकृष्णन्, हावेल, घोपाल, मुकर्जी आदि मूर्धन्य विद्वानों के मतों से भी लेखक की उन मान्यताओं का समर्थन होता है जो महाभारत की मूल सामग्री के अनुशीलन के आधार पर स्थिर की गई है। महाभारत एक ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसमें प्राचीन भारतीय इतिहास के क्लैसिक युग (लगभग ६०० ई० पू० से २०० ई० तक) के भारतीय जीवन के प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षेत्र की आध्यात्मिक एवं लौकिक उपलब्धियों और मान्यताओं को आख्यानों और उपाख्यानों की लड़ियों में पिरोकर रख दिया गया है। लोकमान्य तिलक, डा० भाण्डारकर, तैलंग, दीक्षित, काले, चि० वि० वैय, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० राम गोपाल आदि के मतों की सहायता से तथा महाभारत के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि महाभारत के संकलन-काल की ऊपरी सीमा सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० से भी परे तक जाती है और उससे भी पूर्ववर्ती हजारों वर्षों तक की पुरातन सामग्री इसमें संकलित है। राजधर्म समेत महाभारतीय संकलन की निचली तिथि लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० मानी जानी चाहिए, यद्यपि इसके कलेवर में शताब्दियों बाद तक वृद्धि होती रही है। हम डा० घोपाल के अनुसार अर्थशास्त्र (कौटिल्य) को महाभारत का पूर्ववर्ती मानकर इसके २०० ई० पू० से २०० ई० तक माने गये संकलन-काल का प्रतिपादन करने वाले मत से सहमत नहीं हैं।

महाभारत में अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्वतन्त्रता और आत्म निर्भरता की भावनाओं से ओत प्रोत जीवन-जाग्रति तथा संघर्षपूर्ण पुनर्जागरण की वैतालिक मान्यताएं और लौकिक प्रेरणा से अनुप्राणित क्रान्तिकारी चिन्तन प्रतिध्वनित होते हैं, जिनका ऐतिहासिक पर्यवसान गुप्तकाल के स्वर्ण युग में हुआ है। मैकियावेली भी दुविधा, संघर्ष, विप्लव और राजनीतिक अस्तव्यस्तता से ग्रस्त पुनर्जागरण काल के इटली का क्रान्तद्रष्टा राजनीतिज्ञ है, जिसके राजनीतिक चिन्तन का पर्यवसान भी नये राष्ट्रीय

राज्य इटली के उदय में होता है, इस प्रकार सदियों का कालगत अन्तर होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में दोनों राष्ट्रों की प्रायः एक सी ही क्लैसिक मान्यताओं का प्रभाव और नये अपेक्षाकृत विकसित चिन्तन का उद्वोधन प्रतिविम्वित है। दोनों ही चिन्तनों में राजतन्त्र का समर्थन होते हुए भी गणतन्त्र का विरोध नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि महाभारत के सभी पर्वों से प्राप्त साक्ष्य-सामग्री और तत्कालीन साहित्य से संकलित पूरक सामग्री के अनुशीलन से राज संस्था के समग्र राजधर्म का चित्र उपस्थित होता है जवकि मैकियावेली की दृष्टि शासक के दृष्टिकोण से राज्य की उपलब्धि, परिरक्षण और विवर्धन को ही लक्ष्य करती है और इसलिए अपेक्षाकृत एकांगी है। मैकियावेली का चिन्तन शुद्ध रूप से व्यावहारिक और तकनीकी है जवकि महाभारतकार का तकनीकी होने के साथ-साथ रूढ़िवादी एवं पारम्परिक चिन्तन से प्रभावित भी। इस प्रकार एक सी ही आर्य प्रजाति मूलक प्रतिभा के द्वारा एक ही ध्रुव लक्ष्य की ओर पृथक् पृथक् मार्गों से चलने के लिए प्रेरित करने वाली समान ध्येय दृष्टि के सर्वत्र स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने के कारण प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन की समीचीनता और उपादेयता असंदिग्ध है।

सामाजिक संगठन, राज्य और राजतन्त्र—

भारतीय समाज ने अपने इतिहास में अपने जीवन के वरणीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वहुत काल तक चलने वाले अनेक प्रयोगों, अनुभवों और नियोजनों के आधार पर भारतीय विचारकों के ही साहसपूर्ण मौलिक चिन्तन के द्वारा जिन जीवन मूल्यों और नैतिक पक्षपातों की सृष्टि की है और जो उनके शास्त्रीय विवेचनों और वैधानिक धाराओं के रूप में वाङ्मय में निवद्ध कर दिये गये हैं उनके विशिष्ट अध्ययन के द्वारा ही भारतीय राजनीतिक मान्यताओं का आकलन सम्भव है। महाभारत की इन मान्यताओं की विशेषता (१) कठोर यथार्थवाद (२) अदम्य आशावाद (३) जीवन के प्रति उल्लास और (४) विश्व के नैतिक दृष्टि से नियंत्रित होने के विश्वास में निहित है। सन्तुलन, सामंजस्य, समन्वय, प्रगति और कर्मशील विकास से सारा पर्यावरण अनुप्राणित है। हिन्दू जाति जिनके लिए कुख्यात है वह निराशा, निवृति, परलोकपरायण निर्वेद रूढ़िवाद आदि सांस्कृतिक विघटन की प्रवृत्तियाँ यहाँ अनुपस्थित हैं। धर्म (सदाचार) अर्थ (आर्थिक हित) तथा कम (यौन, भावनात्मक एवं कलात्मक प्रवृत्तियों की तृप्ति) सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थानों के ही लक्ष्य नहीं, प्रमुख जीवन मूल्य (पुरुषार्थ-त्रिवर्ग) हैं। ऋग्वेद के ऋत का यह नया संस्करण धर्म सभी सामाजिक राजनीतिक एवं श्रेय शास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं को समाविष्ट करके लोक का धारण करने वाला सवसे प्रधान तत्त्व है। हापकिन्स और प्रिसीपल मैकैंजी आदि के हिन्दू समाज में नैतिकता के अभाव का प्रतिपादन करने वाले मत सर्वथा असंगत हैं। महाभारतीय जीवन दर्शन आत्म रक्षामूलक सिद्धान्त; देवी-आसुरी सम्पदा के आधार पर साधु-परित्राण और दुष्ट विनाश की

सापेक्ष परम्परा, कर्म का सिद्धान्त, देवासुर-संग्राम की लौकिक कल्पना, नैतिक आचरण पर बल आदि मान्यताओं ने उस काल की हिन्दू राजनीतिक मान्यताओं पर बड़े दूरगामी प्रभाव डाले हैं। महाभारत का आपद् धर्म विषयक सिद्धान्त इसका निदर्शन है। कणिक नीति मानों मैकियावेलीवाद का भारतीय संस्करण है। मैकियावेली की मानव-स्वभाव और मानव-जीवन के मूल्यों तथा मूल्य-दृष्टियों के विषय में विशिष्ट व्यवहारवादी धारणाएँ प्लातीन और अरिस्तू के प्रभाव से मुक्त न होते हुए भी कठोर यथार्थ पर आधारित हैं उसने नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करके अनैतिक उपायों का उपदेश नहीं दिया अपितु साहसी क्रान्तद्रष्टा राजनीतिज्ञ के नाते शासक के दृष्टिकोण से उन सभी नीतियों का प्रतिपादन किया जो पहले से ही प्रचलित थीं। उनका प्रिंस सामान्य जनता के लिए न होकर केवल शासक के लिए है जिसकी नैतिकता को वह समाज की नैतिकता से पृथक् मानता है। समाज की नैतिकता और सामान्य जीवन मूल्यों के विवेचनों में महाभारत और प्रिंस में अद्भुत समानता है। मानव-स्वभाव के विषय में मैकियावेली का दृष्टिकोण एकांगी और दोषपूर्ण है क्योंकि वह मनुष्यों को स्वभाव से स्वार्थी, क्रूर, दुष्ट, चंचल और कुटिल (आसुरी) मानता है। भारत में पिछले युगों की रूढ़ अध्यात्म प्रधान धार्मिक भावनाओं का ह्रास और नैतिकता का अपेक्षाकृत उन्नत और कठोर होना महाभारतकाल की विशेषता है।

हिन्दू समाज-व्यवस्था और उसके राजनीतिक चिन्तन पर पड़े प्रभावों के आकलन के सन्दर्भ में हिन्दुओं की सामाजिक इकाइयों अर्थात् चारों वर्णों के संगठन के आधार, पृष्ठभूमि और प्रभाव की समीक्षा करने से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा विभिन्न और परस्पर विरोधी वर्गों को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता और आर्थिक बन्धुत्व का आधार देकर विभिन्न मनकों को एक सूत्र में पिरो दिया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में हाप्किन्स के पूर्वाग्रहग्रस्त, हिन्दू समाज के घिनौने चित्रणों को यदि सिडनी लो, एब्बे, दुबोस, वैलेण्टीन चिरोल तथा हर्बर्ट रिजेले आदि पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों के प्रकाश में भी परखा जाय तो उनका मनगढ़न्त होना सिद्ध हो जाता है मैकियावेली के सामाजिक संगठन सम्बन्धी विचारों और उसके पूर्ववर्ती विद्वानों के विवेचनों से यह सिद्ध होगा है कि पाश्चात्य समाजों में भी समाज में विभिन्न वर्गों या वर्णों की स्थिति भारत की तरह ही विद्यमान थी।

राज्य की उत्पत्ति के विषय में महाभारत में प्राप्त दोनों पूरक सिद्धान्तों का पृथक् और परस्पर विरोधी न मानकर उनकी समीक्षा करने से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि राज-संस्था की उपादेयता आवश्यकता, स्वरूप उत्तरदायित्व आदि का जिस प्रकार दिव्य रूप में प्रतिपादन किया गया है उससे उसके लौकिक स्वरूप की हानि नहीं होती। राज्य की उत्पत्ति के महाभारतीय सिद्धान्त की आठ विशेषताओं पर बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त साक्ष्यों से प्राप्त सामग्री के आधार पर विवेचन करने से यह

स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की दिव्यता का तात्पर्य वैसा नहीं है जैसा कि इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायों में राज्य की दिव्य उत्पत्ति और उसके दिव्य अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर माना जाता है। इन सिद्धान्तों तथा अनुवन्ध सिद्धान्त आदि पारिभाषिक शब्दों में निहित अर्थों का यह आरोप उचित नहीं है। इस प्रकार हिन्दू राजतन्त्र के विषय में प्रचलित वर्तमान मत केवल अर्धसत्य और असत्य पर ही आधारित है। क्योंकि महाभारतकार का दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त केवल अर्थवाद ही है। महाभारत के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक पक्षों के विश्लेषण से राज्य के सर्वथा लौकिक स्रोतों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

राजनीतिक दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि—

महाभारत के संपूर्ण राजधर्म की पृष्ठभूमि के अनुशीलन से उन मूल दार्शनिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण होता है जो हिन्दू राज्य में शासन-सत्ता और शासित जनता के आपसी सम्बन्धों का निर्धारण करती हुई यह अभिव्यक्त करती हैं कि भारतीय राजनीतिक दर्शन मानव समाज से राज संस्था के प्रति किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता है तथा उसका हेतु एवं प्रयोजन क्या है? महाभारतकार ने निरन्तर इसी शाश्वत सत्य से परिचित कराने का सफल प्रयास किया है कि धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य तथा अच्छाई और बुराई में एक सार्वभौम संघर्ष मानव जीवन की एक अनुल्लंघनीय वास्तविकता है।

समाज के एक सदस्य के नाते और व्यक्तिगत रूप में भी उसकी सर्वांगीण उन्नति और अभ्युदय के लिए मनुष्य की सभी चेष्टाओं और व्यवहारों का नियमन करने वाला आचारशास्त्र या जीवन पद्धति ही धर्म है यही इसे उच्चतम ध्येय की प्राप्ति के योग्य वनाता है। धर्म की संप्रभुता का सिद्धान्त इसी पृष्ठभूमि में मननीय है

धर्म-चक्र-प्रवर्तन के ब्राह्म और बौद्ध ग्रन्थों में समर्थित सिद्धान्त हिन्दू राजतन्त्र के वैध, नियमित, नियंत्रित और सीमित स्वरूप, राजा से अपेक्षित आत्म संयम, राजा का नैतिकता के मापदण्ड और काल के कारण होने का मत आदि के और महाभारतीय राजनीतिक नैतिकता की विशेपताओं के अनुशील के प्राच्य निरंकुशता आदि का प्रतिपादन करने वाले देशी-विदेशी विद्वानों के मत निराधार ही सिद्ध होते हैं।

गीता का तत्त्वदर्शन भारतीय राजशास्त्र में आदर्श मानवीय दृष्टिकोण, सर्वहितकारी, सभी की समानता पर आधारित, संवैधानिक तथा सर्वथा लौकिक (सैक्युलर) राजनीतिक दर्शन की नींव है।

मैकियावेली की दोनों कृतियों प्रिंस और डिस्कोर्सेज के आधार पर उसके राजनीतिक चिन्तन की दार्शनिक दृश्यभूमिका का आकलन करने का प्रयास करने पर उसमें अनेक महाभारतीय तत्त्वों के दर्शन होते हैं किन्तु वैधानिक निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करने के कारण मैकियावेली ने सभी श्रेय और विधियों का भी स्रोत नरेश को ही

माना है जबकि महाभारतकार के मत में वह मत्स्य–न्याय की परिस्थितियों को दूर करके समाज और व्यक्ति की सुरक्षा करने वाला साधन मात्र है, समाज उससे बड़ा है।

राज्य और नागरिक—

प्राचीन भारत के वैदिक वाङ्मय तथा अन्य साहित्य में ही नहीं महाभारत के लगभग तीन चौथाई भाग में वाच्य और व्यंग्य रूप में किसी न किसी प्रकार उस दार्शनिक विवेक का प्रतिपादन है जिसके द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के नागरिकों के प्रति तथा उसी प्रकार नागरिकों के अपने साथी नागरिकों एवं अपने राज्य के प्रति अपेक्षित कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्देशन प्राप्त होता है। भारतीय दृष्टिकोण में राज्य के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के आधार पर ही नागरिकों के अधिकारों का निर्णय होता है। किसी की चोरी न होने देने या चोरी होने पर चोरों को दण्ड देने अन्यथा राजकोष से क्षति पूर्ति करने का राज्य का धर्म ही जनता के धन की सुरक्षा के अधिकार की वैध मान्यता है। इसमें कोई हित विरोध नही है। पाश्चात्य मान्यताओं में राज्य जनता के अधिकारों का हनन करने वाला माना जाता है और नैतिक जीवन से पृथक् निरे लौकिक दृष्टिकोण से जनता के मूल अधिकारों की व्याख्या की जाती है। दृष्टिकोण के इस भेद ने अनेक मतभेदों को जन्म दिया है। प्राचीन भारत में या हिन्दू जाति में अधिकार चेतना के अभाव का प्रतिपादन करने वाले (आल्टेकर, वर्मा, घोषाल और हाप्किन्स आदि के) मत इसीलिए असमीचीन माने जाने चाहिए।

भारत में प्रत्येक वर्ण के नागरिक हिन्दू कर्म की मानवीयता के कारण सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन धारा के अभिन्न अंग रहे हैं। ग्राम पंचायत से लेकर मन्त्रिपरिषद् तक में सभी वर्णों का प्रतिनिधित्व इसका प्रमाण है। मुसलमान और ईसाई अध्यात्म की तरह यहाँ न कोई काफिर है और न पैगम्बर। सभी को समान साझेदारी प्राप्त है। एक ही विराट् का अंग होते हुए भी वर्णों को अपने-अपने कार्य-कलाप, कर्तव्य और उत्तरदायित्व के आधार पर सापेक्षिक महत्व प्राप्त है। राज्य और उसमें नागरिकों की वस्तुस्थिति का विश्लेषण करने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि सभी सामाजिक घटकों के सामान्य कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों की व्याख्या करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता के अधिकारों के मूल दार्शनिक आधार निम्नलिखित हैं—(१) व्यक्ति का आत्मरक्षा का मूल अधिकार, (२) धर्म और न्याय के अनुसार व्यवस्था बनाये रखने का शासक का दायित्व जिसका उल्लंघन करने पर वह स्वयं दण्डनीय है तथा (३) लौकिक सत्ता का ब्रह्म शक्ति पर आधारित किया जाना। ब्राह्मण वर्ण की विशेष स्थिति तथा क्षत्रिय वर्ण की धर्म परायण, स्वाभिमान पूर्ण, क्षात्र धर्म से अनुप्राणित अदम्य शक्ति समाज के बुद्धिजीवी वर्ग के हाथ में इतनी बड़ी प्रभुता दे देती है कि निरंकुश शासक के

विरुद्ध प्रभावी कदम उठाये जा सकते हैं। महाभारतीय मान्यताओं से पाश्चात्यों के अनेक वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के आधार पर किये गये आरोपों का खण्डन विदुर, युयुत्सु, द्रोणाचार्य आदि पात्रों के चरित्रों से ही हो जाता है। हिन्दू राज्य में शासन-सत्ता की अपेक्षा समाज और उसकी परम्परागत विधियों का महत्त्व अधिक है।

इसके विपरीत मैकियावेली शासक के द्वारा स्थापित नागरिक विधियों के द्वारा शासन चलाये जाने का समर्थन करता है। वह शासन की विधायिका शक्ति को अन्तर्यामिनी मानता है और उसका विश्वास है कि लोग विधि के आदर्शों को भय के कारण मानते हैं। महाभारत के अनेक वाक्यों से मैकियावेली के विचारों का समर्थन होता है।

राज्य—

अपने विश्वकोष जैसे स्वरूप के कारण महाभारत में राज्यों के प्रारम्भिक कबीले, जन, गण, राज्य और साम्राज्य आदि अनेक प्रकारों के निदर्शन उपलब्ध हैं। महाभारत में जिन जनपदों का उल्लेख है वे जनमूलक अर्थ के द्योतक न होकर प्रादेशिक अर्थ के द्योतक हैं। जनपदों के नामों के सिन्धु-सौवीर, भद्रगान्धार, आदि जोड़े तथा राजतंत्रीय और गणतंत्रीय शासन पद्धतियों के लिये प्रसिद्ध मगध एवं अंधक वृष्णि-संघ आदि जनपद अनेक प्रकार की संवैधानिक शासन प्रणालियों के द्योतक हैं। राजनीतिक संगठन से पूर्व की अवस्था वाले अवस्थित या अनवस्थित गणों को अराजक राष्ट्र कहा गया है। इन सभी प्रकार के तंत्रों के अपेक्षाकृत पूर्ण अध्ययन के लिये 'प्रिंस' से भी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

राज्य के अनिवार्य कल्याणकारिणी संस्था होने में महाभारतकार और मैकियावेली के मतों में साम्य होने के कारण मैकियावेली की निम्नलिखित आदर्श राज्य सम्बन्धी विशेषताएँ महाभारतीय आदर्शों के साथ मनोरंजक रूप से समान हैं। ये हैं (१) राष्ट्र का एक स्वतन्त्र इकाई का स्वरूप, (२) स्वतन्त्र अस्तित्व (सभी राष्ट्रों से पृथक्) तथा अपनी ही सेनाओं के द्वारा सुरक्षा का प्रवन्ध, (३) राष्ट्रीय राज्य का निर्माण तथा (४) भौतिक और लौकिक विकास का ही लक्ष्य न कि आध्यात्मिक विकास का भी।

राज्य के सात अंगों अर्थात् राजा, मंत्री, जनपद (राष्ट्र) दुर्ग, कोश, सेना और मित्र-राष्ट्र की सत्ता और इनकी सापेक्ष महत्ता का विचार हिन्दू राजतन्त्र-प्रणाली का चमत्कार है। इन अंगों में जनता का परिगणन न होने का (आल्टेकर आदि का) मत सर्वथा निराधार है क्योंकि राष्ट्र में ही उसका भी समावेश होता है।

राज्य के उद्देश्यों कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की दृष्टि से निरे सैद्धांतिक विवेचनों की अपेक्षा उन आनुषंगिक उल्लेखों पर ही अधिक निर्भर रहते हुए जो शासक के मार्ग दर्शन के लिये किये गये नीति विवेचनों में उपलब्ध हैं, अनेक राजनीतिक तथ्यों का बोध होता है। लोक-रक्षा और लोकरंजन का कार्य शासक के अस्तित्व की न्याय्यता

का आधार और उसकी योग्यता और क्षमता की कसौटी है (शान्ति ७१, २५ तथा ५७, ११)। स्वयं भी धर्म के पालन में विवश और बाध्य रहकर दण्ड के द्वारा राज्य में धर्म की स्थापना, अनेक सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन, त्रिवर्ग की सिद्धि आदि समाज के सर्वांगीण विकास का प्रबन्ध करना राज्य का उत्तरदायित्व है। महाभारतकार की तरह मैकियावेली भी शासक को जनता के निरादर और घृणा का पात्र बनने से बचने का उपदेश देते हुए लोक-रंजन के सिद्धान्त का समर्थन करता है।

भारतीय राजनीतिक तत्त्वदर्शन निरंकुश एवं अत्याचारी शासक को अपदस्थ करने तथा मार डालने तक की अनुमति देता है। डा० स्पैल्मैन का जनता में दासों की सी भावना का आरोप करके उसी के आधार पर किया गया राजनीतिक क्रान्ति के अभाव का समर्थन असंगत है। महाभारत में क्रान्ति के स्वरूप और आधार, राजभक्ति की न्यायता, राजद्रोह को भयंकर अपराध मानते हुए भी उचित कारण होने पर विद्रोह का समर्थन, क्रान्ति की न्यायता और उसे कार्यान्वित करने के उपाय आदि विषयों पर इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उसका अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है। मैकियावेली ने भी षड्यन्त्रों से रक्षा शीर्षक से किये गये विवेचन में परोक्ष रूप से राज्य क्रान्ति विषयक अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो सर्वथा मननीय हैं।

राजा और राज-पद—

राज संस्था की प्रभुता एवं शक्ति की न्यायता के प्रतिपादक सैकड़ों वाक्यों की प्रचारात्मकता के बावजूद यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतीय मान्यता के अनुसार मानव जाति ने राज्य को अनिवार्य रूप से आवश्यक बुराई मानकर स्वीकार नहीं किया है। दण्ड-व्यवस्था और व्यवहार के द्वारा धर्म के शासन की स्थापना करते हुए प्रजा की रक्षा करना, राजा के शासकत्व का न्याय आधार माना गया है। इस दायित्व का वहन करने में असमर्थ या अयोग्य 'राजकलि' को वध्य कहा गया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि महाभारतीय राज-संस्था नितान्त मानवीय संस्था है। यूरोप में शताब्दियों तक प्रचलित राजा की दिव्य उत्पत्ति का सिद्धान्त आंशिक रूप में भी हिन्दू राज्य पर लागू नहीं होता (शान्ति ८९)। इसी प्रकार हिन्दू राजतंत्र को एकतंत्र भी नहीं कहा जा सकता अपितु वह सच्चे अर्थों में सीमित राजतन्त्र ही है। महाभारत में राजपद का असैनिक और वैधानिक रूप भी विकसित हुआ परिलक्षित होता है। परीक्षित् जैसे शिशु राजाओं के अभिषेक इसके प्रमाण हैं। साथ ही राजसंस्था की प्रभुता, वस्तु-स्थिति, आवश्यकता और महत्त्व तथा राजसंस्था के वैध आधार के विषय में मैकियावेली के यथार्थवादी विचारों से महाभारतीय चिन्तन की व्यावहारिकता की पुष्टि होती है।

महाभारत में राजा के अपेक्षित गुणों, उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा उससे अपेक्षित उन्नत आचार-विचार एवं कार्य-व्यवहार के द्वारा ऐसा उत्कृष्ट एवं आदर्श चित्रण

प्रस्तुत होता है कि जिसे अतिमानवीय कहा जा सकता है। डा० स्पैल्मैन जैसे विद्वान् ने, डरते-डरते ही क्यों न सही, इनकी वास्तविकता के विषय में सन्देह प्रकट किया है परन्तु इस प्रकार के मानवीय उत्कृष्ट चरित्र भारतीय इतिहास का एक तथ्य है।

राजपद की प्राप्ति के विषय में वंशानुसंक्रमण तथा ज्येष्ठाधिकार आदि अनेक विधाओं में सबसे महत्वपूर्ण विधा राजा के निर्वाचन या वरण के सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुई है। इस प्रसंग में डा० जायसवाल स्पैल्मैन, दीक्षितार, वन्द्योपाध्याय, जिम्मर तथा वर्नेट आदि विद्वानों के विभिन्न मतों की समीक्षा के प्रकाश में तथा महाभारतीय अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट है कि उस काल में जनमत की शक्ति पर्याप्त प्रवल थी और वह जनता अपनी इच्छाओं और अधिकारों को क्रियान्वित भी करती थी।

प्रशासन तन्त्र और व्यावहारिक प्रशासन-कार्य—

महाभारत के समन्वयात्मक तथा सैद्धान्तिक साक्ष्यों के साथ राज्य की उपलब्धि और सुरक्षा के उपायों पर शासक नरेश की हित दृष्टि से ही उपदेशात्मक पद्धति से व्यक्त किये गये मैकियावेली के आदेश वाक्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण से उन व्यावहारिक प्रशासन कार्य सम्बन्धी मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, जो क्रमशः भारत और इटली की मध्ययुगीन शताब्दियों के राजनीतिक इतिहास का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय शासन-पद्धति की विशेष संस्थाओं का समानान्तर पाश्चात्य संस्थाओं के साथ उनके क्रमिक विकास स्वरूप और विशेपता आदि के आधार पर ग्रन्थ-विस्तार के भय से संक्षिप्त अध्ययन करते हुए अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं।

(१) स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्त पर आधारित सुविशाल प्रशासनतन्त्र ही वह शासन-प्रणाली है जिसने हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति की अखंडता, स्वाधीनता और वैयक्तिक विशेपता को अति प्राचीन काल से ही सुरक्षित रखा है। महाभारतकार इसी व्यावहारिक व्यवस्था के पोषक हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में राज्य और उसके प्रशासन तन्त्र में सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय क्रिया-कलापों में अधिकाधिक हस्तक्षेप और नियन्त्रण लागू करने की एकतन्त्रीय प्रवृत्ति है।

(२) वैदिककाल से ही सभा और समिति के रूप में चली आई जन-संस्थाओं का केवल एक ही समन्वित राजनीतिक रूप 'सभा या परिपद्' के रूप में महाभारत में उपलव्ध है, जिसके स्वरूप, संगठन, कार्य और विशेषता आदि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इस युग के भारतीय सरल और भद्र होते हुए भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक थे। उग्र एवं सप्राण राजनीतिक चेतना उन्हें इतना अदम्य और समर्थ बनाये थी कि वे न्याय, प्रमाण और तर्क की शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के सामने झुकना नहीं जानते थे। डा० जायसवाल के द्वारा सभा और समिति तथा पौर और जानपद आदि प्राचीन संस्थाओं के विषय में प्रस्तुत अपेक्षाकृत कहीं अधिक आधुनिक जैसे विवरण केवल कल्पना विकास के द्योतक हैं। ऐतिहासिक पक्ष से उनकी महाभारत में पुष्टि नहीं होती।

महाभारतीय शासन प्रणाली में समन्वयात्मक सन्तुलन के मूल सिद्धान्त के अनुसार राज्य के सुमहान् तन्त्र के संचालन में मन्त्रि-संस्था का महत्व पाश्चात्य चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक है। विभाजित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित हिन्दू राजनीतिक दर्शन राजा को अकेले ही मन्त्रणा करने और शासन करने का परामर्श नहीं देता और न इस कार्य को तीन दिन के लिये भी सम्भव मानता है। मन्त्रि परिषद् के संगठन, कार्य विभाग और राज सेवा के नियम आदि के विश्लेषण से उसका इतना उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत होता है कि वह आधुनिक राज्यों के लिये भी अनुकरणीय है। इस विवेचन के द्वारा अनेक प्रशासनिक तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। मैंकियावेली के राजनीतिक विचारों में उस सामंजस्य और सन्तुलन का अभाव है जो क्षत्रिय शासक और ब्राह्मण मन्त्री के पर्याप्त प्रभुता-सम्पन्न पदों के कारण हिन्दू राजतन्त्र में प्राप्त है। छत्रपति शिवा जी के द्वारा 'अष्ट प्रधान व्यवस्था का अनुकरण और सफल प्रयोग किये जाने से इसकी व्यावहारिकता सिद्ध होती है।

ग्राम से लेकर महाजन पदों तक की राजतंत्रीय और गणतंत्रीय शासन पद्धतियों में प्रशासन तन्त्र का समान ही उल्लेख करते हुए महाभारतकार ने एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम तथा हजार ग्रामों की प्रशासनिक इकाइयों और इनके अधिकारियों का वर्णन किया है। कस्बों और नगरों के प्रशासन, नगर-निवेश की विस्तृत योजना, दुर्गों और राजधानी के विशेष उपादान और उपकरणों आदि से महाभारत की शासन-व्यवस्था का जो रूप उभरता है वह मैंकियावेली के काल की स्थितियों का सा ही विकसित है। इसके प्रकाश में हाप्किन्स का वह मत निराधार सिद्ध हो जाता है जिसके अनुसार वह यह प्रतिपादित करता है कि पक्के दुर्ग बनाने की कला से महाभारतीय काल के हिन्दू अपरिचित थे।

गुप्तचर-व्यवस्था—

महाभारतकार ने अपने राष्ट्र और परराष्ट्रों में शत्रु, मित्र और उदासीन व्यक्तियों के सम्बन्ध में, नगरों और जनपदों में सभी जगह, सभी चिकीर्षित और घटित व्यापारों का पूरा ज्ञान रखने के लिए बड़े व्यापक और प्रभावी गुप्तचर-संगठन की आवश्यकता पर बल दिया है।

कर-व्यवस्था—

महाभारत के प्रणेताओं ने कर-व्यवस्था के विषय में जो सैकड़ों उल्लेख किए हैं उनके राजनीतिक पक्ष पर विचार करते हुए हिन्दू राजनीतिक दर्शन की कर सम्बन्धी मूल मान्यता यही परिलक्षित होती है कि राष्ट्र के सर्वोच्च हित के लिए राज्य की और राज्य की सुरक्षा के लिए राष्ट्र की ओर से पारस्परिक सहयोग और सहकार्य की अनिवार्य आवश्यकता ही सनातन काल से प्रतिष्ठित कर-व्यवस्था की परम्परा की आधार है। पाश्चात्य विद्वानों के इतनी रक्षा के लिए इतना धन जैसे विनिमय का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्तों की निराधारता सामान्य समीक्षा से ही सिद्ध हो जाती है। महाभारतकार ने धर्मशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय परम्पराओं की

तरह की कर-नीति, कर-संचय के प्रकार, धनी-मानी व्यापारियों, मध्यवर्ग तथा शिल्पियों और कृषकों पर लगाये गये जाने वाले कर के अनुपात, राष्ट्र की आय के अनेक साधन, भूस्वामित्व और लगान कोश के आय-व्यय आदि विषयों पर सामान्य सार्वजनिक नीति का प्रतिपादन करते हुए सर्वहितकारी राज्य की सी संविभाग नीति का समर्थन किया है। परन्तु संकट काल के लिए आपद् धर्म के रूप में अपनाई जाने वाली क्रूर एवं कठोर कर-व्यवस्था पृथक् और विशेद अध्ययन की अपेक्षा रखती है।

विधि एवं न्याय-व्यवस्था—

महाभारत में साक्षात् और परोक्ष रूप में प्रतिविम्बित विधि तथा न्याय-व्यवस्था से सम्बन्धित विचारों का वैज्ञानिक अध्ययन वस्तुतः एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का विषय होने योग्य है। विधि का वेद-शास्त्रों के साथ साथ परम्पराओं, आप्त वाक्यों तथा राजाज्ञाओं पर आधारित रूप, इसका क्रमिक विकास और राजनीतिक महत्व, दण्डनीति, न्याय-व्यवस्था और दण्ड व्यवस्था आदि के आधार पर महाभारतीय मान्यताओं का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये धर्मशास्त्र काल की अपेक्षा अधिक विकसित और अर्थशास्त्र के काल से पहले के युग की ओर संकेत करती हैं। मैकियावेली विधि और न्याय-व्यवस्था को राज्य की सत्ता का आधार मानता है। वह जनता में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए तथा वदनामी से बचने के लिए सुयोग्य न्यायधीशों की नियुक्ति का समर्थक है। वह विधि एवं न्याय व्यवस्था का भी राजगीतिक उपयोग करने का उपदेश देता है। इस प्रकार वह विधि के शासन और न्याय व्यवस्था को साध्य की अपेक्षा साधन की कोटि में ले आता है।

प्रशासन की नीतियाँ और आदर्श—

महाभारत के मतानुसार व्यक्ति और राज्य की सुरक्षा और समृद्धि के लिए समाज में अराजकता की परिस्थितियों का निवारण करते हुए धर्म के शासन की स्थापना के लिए सभी सामाजिक घटकों को स्वधर्म का पालन करने के लिए प्रेरित और वाध्य करना तथा स्वयं भी स्वधर्म का पालन करते हुए अपराधियों और दुष्टों का दमन करना प्रशासन का उत्तरदायित्व है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रशासन नीति के प्रमुख सूत्र ये माने गये हैं— मृदु और तीक्ष्ण नीतियों का यथोचित लागू करना (२) सदैव उत्थान शील और जागरुक रहना (३) निग्रह और अनुग्रह का सन्तुलन प्रयोग तथा (४) सभी उपायों और नीतियों का दूरदर्शिता पूर्वक गोपनीयता का ध्यान रखते हुए कूटनीतिक प्रयोग। मैकियावेली की राजनीति में इनका समावेश वड़े अद्भुत साम्य का परिचायक है।

महाभारतकाल की जिन परिस्थितियों ने आपद्-धर्म को जन्म दिया है वे निश्चित रूप से संघर्ष, विप्लव, अस्थिरता अशान्ति एवं क्रान्ति से पूर्ण रही होंगी। उग्र किन्तु अस्थायी और आपत् कालीन ये नीतियाँ समग्र राजधर्म का अंशमात्र हैं। नैतिक मूल्यों का निर्वाह वहीं तक उचित है जहाँ तक व्यक्ति और समाज की सुरक्षा

के लिए वह उचित और आवश्यक हो। इस तथ्य के प्रकाश में इसमें अनैतिकता सोचने वाले मतों को भ्रान्तिपूर्ण मानना होगा।

राजनय और युद्ध—

प्रगतिशील सार्वभौम सत्ता की स्थापना और उनकी उपलब्धि और रक्षा के लिए बुद्धि और बल का पुरुषार्थ प्रधान प्रयोग महाभारतीय भावना का मूल मंत्र है। स्थान, वृद्धि और क्षय की दशाओं का विचार करते हुए प्रभु, उत्साह और मंत्र-शक्तियों के आधार पर राष्ट्र, मित्र, बल और कोश रूपी चारों साधनों का यथोचित उपयोग करते हुए चारों (साम, दाम, दण्ड, भेद) उपायों तथा छहों नीतियों (सन्धि, विग्रह आदि) के समुचित प्रयोग से विजिगीषु को अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए। निवृत्तिपरक परलोकवादी नैतिकता का राजधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के विनाश के द्वारा धर्म की संप्रभुसत्ता की स्थापना के लिये बुद्धि और सैन्य बल का प्रयोग करना और अपने इस धर्म के लिए प्राणों तक को न्यौछावर करने के लिए तैयार रहना यही क्षात्र धर्म है। इस प्रकार की शतशः मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि राजनय के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा का चरम उत्कर्ष हुआ है और उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पर्यालोचन के द्वारा भारतीय राजनीतिक दर्शन की इस उपलब्धि का सर्वांगीण विवेचन करने के लिए महाभारत के साक्ष्य सामग्री का बड़ा भण्डार प्राप्त है।

दूत-संस्था के विकसित रूप से तथा दूतों की अवध्यता, राजनयिक कौशल, और आचार-संहिता आदि अनेक पक्षों से प्रमाणित वस्तु स्थिति के विवेचन के लिए सभी उपाख्यानों और पूरक-सामग्री का उपयोग आवश्यक है। महाभारत के राजनय में सामन्तवाद, उपनिवेशवाद, राजनीतिक हत्याओं, वंशो के मूलोच्छेदन आदि का विशेष रूप से अभाव है जबकि मैकियावेली के तत्व दर्शन में इनकी भरमार है। महाभारतकार तो केवल राष्ट्रीय अस्तित्व के ही संशय में पड़ जाने पर सभी नैतिक मूल्यों को ताक पर रखकर रक्षा करने का समर्थन करते हैं अन्यथा भारतीय राजनय का दृष्टिकोण सदैव मानवीय, विश्वजनीन समन्वयात्मक और धर्म प्रधान रहा है। इसके विपरीत मैकियावेली का राजनय सर्वथा उग्र, धूर्ततापूर्ण सैनिक पक्ष का समर्थन और तथाकथित शान्त, सतर्क, वैज्ञानिक अत्याचारों और जघन्य क्रूरताओं का भी प्रतिपादन करने वाला है। मैकियावेली ने इस तथ्य की ओर दुर्लक्ष्य किया है कि अपनी जनता और मित्र राष्ट्रों पर ऐसे कार्यों का क्या प्रभाव होगा और उसके कितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं। दोनों राजनयों में समान तत्व हैं शक्ति सन्तुलन की कला, राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता, सम्भावित शत्रु का विनाश, अन्य सत्ताओं से मैत्री किन्तु प्रतिद्वन्द्वी का विनाश तथा पराक्रमपरक कूट नीति।

युद्ध एवं सैन्य संगठन—

महाभारत में युद्ध की न्याय्यता, युद्ध नीति, सैन्य संगठन, वास्तविक युद्ध,

आक्रमणात्मक और प्रतिरक्षात्मक युद्ध की तैयारियाँ और नीतियाँ, सेना के प्रशिक्षण, शस्त्रास्त्र-व्यूह, गुण-दोष आदि के विषय में प्राप्त विपुल साक्ष्य-सामग्री के संक्षिप्त पर्यालोचन से सैन्य चिन्तन और सैन्य बल के बड़े विकसित रूप का परिचय प्राप्त होता है। मैकियावेली के सैन्य चिन्तन में राष्ट्रीय सेना को राष्ट्रीय समृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का मूल स्रोत बतलाते हुए इसे ही राष्ट्रीय शक्ति का माप दण्ड माना गया है। अपने शस्त्रों से तथा अपने ही नेतृत्व में विजय प्राप्त करके शत्रु की सेनाओं को परास्त कर देने वाली आत्म विश्वास से पूर्ण राष्ट्रीय सेना की तुलना में भाड़े की सेनाओं को नितान्त घातक और भयावह कहा गया है। मैकियावेली ने सहायक सेनाओं को भी अनिष्टकारी माना है। वह पैदल सेना को अत्यधिक महत्त्व देता है। मैकियावेली का चिन्नन एकाँगी, आपत्कालीन और तात्कालिक परिस्थितियों से प्रेरित होने के नाते सैन्य विज्ञान के स्तर से नीचे रह जाता है जबकि महाभारत में युगों से प्रचलित और परीक्षित सैनिक मान्यताओं का तथा आपद् धर्म का समन्वय मिलता है।

आधुनिक काल की जेनेवा सन्धि से नियमों की तरह महाभारत काल के युद्ध में दोनों पक्षों के द्वारा पालन करने के लिए स्वीकृत नियमों में उच्च मानवीय प्रवृत्तियों और अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के प्रति सम्मान की भावना के दर्शन होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का युद्ध काल में महाभारत के पात्रों के द्वारा निवाहे गये शिष्टाचार और युद्ध के नैतिक नियमों के विषय में संशयालु होना स्वाभाविक है। किन्तु वह उनका दुराग्रहमात्र है। महाभारत में राजसंस्था के प्रति दृष्टिकोण, स्थानीय स्वशासन, प्रशासन तन्त्र, राजनयिक व्यवस्था और सैन्य स्थिति के विषय में जो मान्यताएँ अभिव्यक्त हुई हैं और इन क्षेत्रों में जिन व्यावहारिक उपलब्धियों के संकेत मिलते हैं। वे इतनी उच्च कोटि की परिपक्व विकसित लौकिक तथा प्रगतिशील राजनीतिकता के द्योतक हैं कि आधुनिकतम राज्यों में भी उन मान्यताओं और संस्थाओं का कालोचित अंगीकार करके राष्ट्र के सर्वोच्च हितों की सिद्धि के लिए सफल प्रयास किए जा सकते हैं।

सहायक ग्रन्थों की सूची

अग्नि पुराण, स० आर० मित्रा, अनु० एम० एन० दत्त, २ भाग, १९०३–४
अथर्व भाष्य : सायण
अथर्व वेद—सं० एस० पी० पंडित, बम्बई १८९५–९८
अर्थशास्त्र, कौटिल्य, अनु० उदयवीर शास्त्री, लाहौर १९२५
अर्थशास्त्र, कौटिल्य, सं० आर० शामशास्त्री मैसूर, १९५१
अभिधान राजेन्द्र—रतलाम, १९१९
अमरकोश, अमरसिंह, बनारस १९३७
अरिस्तू की राजनीति, अनु० भोलानाथ शर्मा—प्रकाशन ब्यूरो; लखनऊ १९५६
अर्ली हिस्टरी आव् इंडिया, नगेन्द्र नाथ घोष, सं० ४, इंडियन प्रेस १९६०
अर्ली हिस्टरी आव् इन्स्टीट्यूशन्स, सर हेनरी मेन, १८७५
अल्टिंडिशे लेबन, जिम्मर एच०, र्बालन १८७९
अर्ली इण्डस सिविलाइजेशन्स, इ० मैके, द्वितीय संस्करण, लंदन, १९४८
अल्टिंडिशे पालिटिक, ए० हिलेब्रांट, १८९७
अल्टिंडिशे लेबन, एच० जिमर, र्बालन १८७९
अवदान शतक, सं० स्प्रेयर २ भाग पैट्रोग्रेड, १९०२
अशोक, राधाकुमुद मुकर्जी
अष्टाध्यायी, पाणिनि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९२९
अष्टाध्यायी—भूमिका, बोंलिंग
अत्रि स्मृति (आनन्दाश्रम)
अंगुत्तर निकाय, आर० मोरीस तथा ई० हार्डी, लंदन १८८५, १९००
आइडियोलोजीज आफ वार एण्ड पीस इन एंश्यैंट इण्डिया, इन्द्र वि० शो० सं०, होशियारपुर
आचारांग सुत्त, सं० जैकोबी १८८२ एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल
आर्कटिक होम इन द वेदाज़, लोकमान्य तिलक, र्बो० गं० पूना १८९३
आर्ट आव् वार इन एंश्यैंट इंडिया, डा० पी० सी० चक्रवर्ती
आर्ट आव् वार इन एंश्यैंट इंडिया, जी० टी० दति, बम्बई १९२९
आर्मी आर्गनाइजेशन एण्ड पोलिटिकल मैग्ज़िम्स आव् एंश्यैंट हिन्दूज़, डा० औपर्ट नेपल्स, १८८०
आन इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, पी० के० आचार्य, इलाहाबाद १९५२
आन दि कौमन वैल्थ, सिसरो एम० टी०, अनु० सैबाइन और स्मिथ, कोलम्बिया, १९२९
आन दि मीनिंग आफ् दि महाभारत, डा० ए० बी० सुखथानकर
आपस्तब श्रौत सूत्र, सं० डा० गर्बि, (बी० आई० सिरीज) कलकत्ता

आर्यन रूल इन इंडिया, हाबैल ई० बी०
आर्यों का मूल निवास, (ओरिजिनल होम आफ द आर्याज़) लक्ष्मीधर शास्त्री, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९२५
आशुतोष मुकर्जी, सिलवर जुबिली वोल्यूम्स पुस्तक ३
आश्वलायनगृह्य सूत्र, हरदत्त और सुदर्शनाचार्य की टीकाओं सहित सम्पादित—चिन्न स्वामी शास्त्री, बनारस १९२८
आश्वलायन श्रौत सूत्र, सं० गणेश शास्त्री (आनन्दाश्रम) पूना १९१७
इंटरनेशनल ला एंण्ड इंटरस्टेट रिलेशन्स इन एंश्यैंट इंडिया, हीरालाल चटर्जी, कलकत्ता १९५८
इण्टर स्टेट रिलेशन्स इन एंश्यैंट इण्डिया, एन० एन० ला, कलकत्ता, १९२०
इंडस्ट्रियल आर्टस आव् इण्डिया, जार्ज वर्डवुड
इंडिया आव् वैदिक कल्पसूत्राज़, डा० रामगोपाल, दिल्ली, १९५९
इण्डियन एन्टीक्विटी : लैसन
इण्डियन फिलासफी : डा० सं० राधाकृष्णन्
इंडिया ऐज नोन टू पाणिनि, डा० अग्रवाल, वासुदेव शरण
इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू, वैलेण्टीन चिरोल, १९२१
इंडियाज़ पास्ट, मैक्डानल, आक्सफोर्ड, १९२७
इंडियाज़ डिप्लोमैटिक रिलेशन्स विद दि ईस्ट, भा० आ० सलेटोर १९६०
इंडियाज़ डिप्लोमैटिक रिलेशन्स विद द वेस्ट, भास्कर आनन्द सलेटोर, बम्बई १९५८
इण्डिशेस्टडियन, ए० वेवर, लीपज़िग, १८७८
इण्डिका, एरियन, अनु० मैक्क्रिंडल, १८७७
इण्डो एरियन्स, पु० २, राजेन्द्र लाल मित्र
इनइक्वलिटी आव् मैन, जे० बी० एस० हाल्डन
इन्वेज़न आव् इण्डिया वाइ अलैक्जैण्डर दि ग्रेट, मैक्क्रिंडल वेस्टमिन्स्टर, १८९३
इल् प्रिंसिपे, सं० एल० ए० बर्ड, लन्दन १९०७
इवोल्यूशन आफ इण्डियन पालिटी, आर० शाम० शास्त्री, कलकत्ता १९२०
इवोल्यूशन आव् एंश्यैंट इण्डियन ला, एन० सी० सैन गुप्ता, कलकत्ता १९५३
इवोल्यूशन आव् हिन्दू मोरल आइडियाज़, शिवस्वामी अय्यर, कलकत्ता यूनीवर्सिटी, १९३५
इसैंशल यूनिटी आव् आल रिलीजन्स, डा० भगवान् दास
इसैंशियल्स आफ् इण्डियन स्टेट क्राफ्ट, टी० एन० रामास्वामी
ईशावास्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
उलूक जातक, वी० फौसबोल, अनु० ई० वी० कौवल
ऋग्वेद, सं० एफ० मैक्समूलर, १८९०–९२
ऋग्वेद प्रातिशाख्य, शौनक

ए गाइड टू डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस, सं० नैवाइल ब्लैंड (चतुर्थ संस्करण, १९५७)
एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड दि सोशल लाइफ अण्डर दि पल्लवाज, डा० सी० मीनाक्षी
एथिक्स आफ इण्डिया, हाप्किन्स, ई० डब्ल्यू, १९२४
एन्टीक्युटीज़ आफ इंडिया, एल० डी० बरनैट, लन्दन १९१३
ऐपिक इण्डिया, चिन्तामणि विनायक वैद्य, बम्बई १९०७
एंश्यैंट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन, पी० मैसन-औरसेल, लंदन, १९३४
एंश्यैंट इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन क्लासीकल लिट्रेचर, मैक्क्रिंडल, वेस्ट मिनिस्टर, १९०१
एंश्यैंट इण्डिया एज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, मैकक्रिंडल जे० डब्ल्यू० बम्बई, १८७७
एंश्यैंट इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, के० सी० चक्रवर्ती
एंश्यैंट इण्डियन पोलिटिकल थौट एण्ड इंस्टीट्यूशन्स, भास्कर आनन्द सलेटोर, एशिया पब्लिकेशन्स, १९६३
एंश्यैंट इण्डियन हिस्ट्रीकल ट्रेडीशन, एफ० ई० पार्जीटर, लंदन १९२२
एरियन रूल इन इण्डिया, हावेल
ए० स्टडी इन हिन्दू एण्ड योरोपियन पोलिटिकल सिस्टम्स, राम प्रसाद दास गुप्ता
ए० हिस्टरी आव् पोलिटिकल थियरीज़ एंश्यैंट एण्ड मैडीवल, डब्ल्यू० ए० डनिंग, न्यूयार्क १९०२
ए हिस्टरी आव् इंडियन पोलिटिकल आइडियाज़, उपेन्द्र नाथ घोषाल, बम्बई १९५९
ए हिस्टरी आव् मेडीवल पोलिटिकल थियरी इन दी वेस्ट, कार्यालय, ए० जे० तथा आर० डबल्यू, ६ भाग लन्दन, १९०३–३६, प्रथम पुस्तक (१९०३)
ए हिस्टरी आव् संस्कृत लिट्रेचर, कीथ, ए० बी०, आक्सफोर्ड, १९२८
ए हिस्टरी आव् हिन्दू पब्लिक लाइफ, उ० ना० घोषाल, कलकत्ता १९४५
ए हिस्टरी आव् पोलिटिकल थौट इन दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी, भाग २, अ० २, जे० डब्ल्यू एलन, लन्दन, १९२८
ए हिस्टरी आव् पोलिटिकल थियरी, जार्ज एच० सैबाइन
ए हिस्टरी आव् यूरोप, हेनरी पियरेने
ए हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर, ए० ए० मैकडोनल, लन्दन १९००
ए स्टडी आव् इकोनोमिक कंडीशन्स आव् एंश्यैंट इण्डिया, प्राणनाथ, लंदन, १९२९
ऐतरेय ब्राह्मण, अनु० डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
ऐतरेय आरण्यक, सं० कीथ, ए० बी०, आक्सफोर्ड १९०९
ऐतरेय आरण्यक-भूमिका, राजेन्द्र लाल मित्र
ऐतरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य समेत, अनु० डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, आनन्दाश्रम प्रेस
ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पु० ७, १४वां संस्करण
ऐस्पैक्ट्स आव एंश्यैंट इंडियन पालिटी, नरेन्द्र नाथ लौ, आक्सफोर्ड १९२१

ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स आन दि ओरिजिन एण्ड हिस्टरी आव् दि पीपुल आफ इंडिया, दीयर रिलीजन एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स्, ४ भाग, सं० २, लन्दन १८७२
कम्प्रीहेन्सिव इंगलिश—हिन्दी डिक्शनरी—डा० रघुवीर
कम्पैरेटिव पालिटिक्स, फ्रीमैन
कौटिल्य-अर्थशास्त्र—भूमिका, जे० एफ० फ्लीट
कठक गृह्य सूत्र, सं० डा० केलैण्ड, लाहौर १९२५
कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
कलैक्टड वर्क्स, भण्डारकर, आर० जी० पूना, १९२९
कात्यायन श्रौत सूत्र, सं० विद्याधर शर्मा, बनारस, संवत् १९८७
कामसूत्र, वात्स्यायन, सं० गोस्वामी दामोदर शास्त्री, काशी संस्कृत सिरीज़, बनारस १९२९
कामन्दकीय नीतिसार, सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९१२
कारपोरेट लाइफ इन एंश्यैंट इण्डिया, मजूमदार आर० सी०, कलकत्ता १९१८
कास्ट, इन इण्डिया, सं० सेनार्ट, अनु० सर डेनिसन रॉस, १९३०
क्राइम एण्ड पनिशमेंट इन दि जातकाज़, रतीलाल एन० मेहता
किंगशिप, ए० एम० हौकार्ट, लन्दन १९२७
किंग्स एण्ड काउंसिलर्स, ए० एम० हौकार्ट, कायरो, १९३६
किंगशिप एण्ड ला इन दी मिडिल एजेज़, एफ० कर्न०, आक्सफोर्ड
क्रिमिनल ला एण्ड प्रोसीजर, एम० गर्सिया, ८वां संस्करण, लन्दन १९४९
क्रिश्चियन ऐथिक्स, डीन ईगे
कुल्लूक भाष्य, मनुस्मृति
कृष्ण यजुर्वेद, कठक संहिता, सं० एल० वी० श्रोडर, लीपनिंग, १९००–१९११
कैम्ब्रिज हिस्टरी आव् इण्डिया, पुस्तक १ सं० ई० जे० रैप्सन, कैम्ब्रिज १९२२
कैम्ब्रिज माडर्न हिस्टरी, पु० १, एल० ए० बर्ड, १९०३
कौशीतकी गृह्य सूत्र, सं० रत्न गोपाल भट्ट, बनारस १९०८
गाइड टू दि डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस, अर्नेस्ट सैंटो
पोलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट, गार्नर जे० डब्ल्यू, १९५१
गिलगित मैन्युस्क्रिप्ट्स, नलिनाक्ष दत्त, कलकत्ता
गीता रहस्य, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पूना १९६२
गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स, सं० फ्लीट, कलकत्ता १८८८
गौतम धर्म सूत्र, सं० एल० श्रीनिवास आचार्य, मैसूर १९१७
ग्रीफ पोलिटिकल थियरी, अर्नेस्ट वार्कर
छान्दोग्य उपनिषद् (आनन्दाश्रम) पूना
छान्दोग्य ब्राह्मण, निर्णय सागर संस्करण
जातकाज़, ई० वी० कौवल

जातकक्कालीन भारतीय संस्कृति, पं० मोहन लाल महतो वियोगी, पटना
ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ग्राव् बंगाल, सं० रिज़्ले, कलकत्ता १८९१
डिवल्पमेंट ग्राफ् हिन्दू पौलिटी एण्ड पोलिटिकल थियरीज़, एन० सी० वन्द्योपाध्याय कलकत्ता १९२७–३८
डिप्लोमेटिक पालिसी एण्ड टेक्टिक्स, स्पैल्मैन, जे० डब्ल्यू०
डिप्लोमैसी, एच० निकल्सन
डिस्कवरी ग्राव् इण्डिया, नेहरु, जवाहरलाल
डिस्कोर्सेज़, ग्रनूदित सी० ई० डेटमोल्ड, ४ पुस्तक बोस्टन व न्यूयार्क, १८९१
डिस्कोर्सेज़ ग्रान् इनक्वलिटी, रूसो
डेवलपमेंट ग्राव् हिन्दू पोलिटी एण्ड पालिटिकल थियरीज, एन० सी० वन्द्योपाध्याय कलकत्ता १९२७–३८
तमिल्स एटीन हंड्रेड ईयर्स ऐगो, वी० कनकसमाहं
ताण्ड्य ब्राह्मण, सं० चिन्न स्वामी शास्त्री, बनारस, १९३५
तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस
थियरी ग्राव् गवर्नमेंट इन एंश्यैंट इण्डिया, डा० वेणी प्रसाद, इलाहाबाद १९३७
दास सिस्टम इन देयर वेदांत—डायसन १८८३
दि एज ग्राव् इम्पीरियल यूनिटी, ग्रार० सी० मजूमदार ग्रौर ए० डी० पुशालकर, बम्बई १९५१
दि ग्राक्सफोर्ड हिस्टरी ग्राव् इण्डिया, वी० ए० स्मिथ, ग्राक्सफोर्ड १९५८
दि इण्डियन कोलोनी ग्राव् स्याम, पी० एन० वसु
दि ए० बी० सी० गाइड टू दि कौरोनेशन, एल० ब्रौड, लन्दन १९५३
दि ग्रेट ऐपिक ग्राव् इण्डिया, ई० डब्ल्यू हाप्किन्स, न्यूयार्क १९०१
दि डिवाइन राइट ग्राफ् किन्स, जे० ए० फिगिस
दि डिक्लाइन ग्राफ दि वेस्ट : स्पैंगलर, ग्रनु० सी० वी० ऐटकिंसन
दि निघंटु एण्ड निरुक्त, सं० ल० स्वरूप, लाहौर १९२७
दि पालिटिकल थौट ग्राव् प्लातोन एण्ड ग्ररिस्तू, ग्रर्नेस्ट बार्कर
दि पालिटिकल इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थियरीज, ग्राव् हिन्दूज, विनय कुमार सरकार, १९२२
दि पालिटिकल वर्क्स ग्राव् जेम्स, फर्स्ट, सी० एच० मैकइलवेन, हार्वर्ड पालिटिकल क्लासिक्स
पालिटिक्स ग्राव् ग्ररस्तू, ग्रनु० ग्रर्नेस्ट बार्कर, ग्राक्सफोर्ड, १९४६
दि पीपुल्स ग्राव् इण्डिया, हर्बर्ट रिज़ले
दि फण्डामेंटल यूनिटी ग्राव् इंडिया, राधा कुमुद मुकर्जी
दि महाभारत—ए क्रिटिसिज्म, चिं०, वि० वैद्य, बम्बई १९०७
दि रिलीजन एण्ड फिलास्फी ग्राव् दि वेद एण्ड उपनिषद्स, ए० बी० कीथ, कैम्ब्रिज, मास, १९२५

दि रिनेसां, विल ड्यूरैंड
दि लाइफ एण्ड टाइम्स ग्राव् निकोलो, मैकियावेली, पी० विल्लारी, १८९२
दिव्यावदान, कावेल तथा नील, कैम्ब्रिज
दि वेज ग्राफ् गवर्नमेंट, मैकग्राइवर, न्यूयार्क १८४७
दि वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, ए० एल० बाशम, लन्दन १९५४
दि वैदिक मैगजीन एण्ड गुरुकुल समाचार भाग ७, त्र्यम्बक गुरुनाथ काले
दि साइंस ग्राव् सोशल ग्रार्गनाइजेशन, डा० भगवानदास
दि स्टेट इन एंश्यैंट, वेणी प्रसाद, बनारस १९४९
दि सिटीजन, हाब्स
दि सौशल एण्ड पौलिटिकल ग्राइडियाज़ ग्राव् सम ग्रेट थिंकर्स ग्राव् दि रिनेसां एण्ड रिफोर्मेशन, सं० एफ० जे० सी० हैरन शा, लन्दन, १९१५
दि हिन्दू व्यू ग्राव् लाइफ, डा० एस० राधाकृष्णन्, लन्दन १९२७
दीर्घनिकाय, राइस डेविड्स, एण्ड कारपेन्टर पी० टी एस० १८९०-१९११
देर ऋग्वेद, लुडविग
धर्म एण्ड सोसाइटी
नरेश (प्रिंस का हिन्दी में ग्रनुवाद) ग्र० राधानाथ चतुर्वेदी, इलाहाबाद १९५६
न्यू इंगलिश डिक्शनरी, वेब्सटर्स
नारद स्मृति, जे० जौली, कलकत्ता, १८८५
निरुक्त, यास्क, निर्णय सागर सं०
नेचर ग्राव् दि स्टेट, विलौबी
नेचर एण्ड ग्राउंड्स ग्राव् पालिटिकल ग्राव् लीगेसन्स इन दी हिन्दू स्टेट, जे० जे० ग्रंजारिया, लन्दन, १९३५
पराशर स्मृति, ग्रानन्दाश्रम
पंचविंश, ब्राह्मण
पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेव शरण ग्रग्रवाल
पारस्कर गृह-सूत्र, सं० महादेव गंगाधर बकरे, बम्बई, १९१७
पाणिनि, गोल्डस्टूकर
पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, हरिदत्त वेदालंकार
प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था ग्रौर राजशास्त्र, सत्यकेतु विद्यालंकार
प्राच्य पवित्र पुस्तकें, बूलर
प्रिकर्सरी डी निकोलो मैकियावेली इन इंडिया एंड इन ग्रैशिया कौटिल्य एण्ड टयूसीडाइड, बोटा जी
प्रिंसीपल्स ग्राव् फ्रीडम, टी० मैक् स्विनी
प्रिंसीपिल्स ग्राव् हिन्दू टैक्सेशन, जे० गाँगुली
प्रिंस, मैकियावेली, एवरीमेंस लाइब्रेरी द्वारा ग्रनुदित, संस्करण

पेपर्स आन पाणिनी, एच० स्कोल्ड
पोलिटिकल थियरीज़ आव् दी मिडिल एजेज़, ओटो जियर्के, अ० एफ० डब्ल्यू० मेटलैण्ड वोस्टान १९६०
पोलिटिकल थॉट इन मैडिवल टाइम्स, वी मौरल
पोलिटिकल थियरीज आव् दि एंश्यैंट वर्ल्ड, विलोवी
पोलिटीकल थियरी आव एंश्यैंट इन्डिया, जे० डब्ल्यू० स्पैलमैन, आक्सफोर्ड १९६४
पोलिटिकल फिलासफ़ीज़, मैक्सी, सी० सी०
पोलिटीकल हिस्ट्री आव् एंश्यैंट इण्डिया, एच० राय चौधरी, कलकत्ता १९५०
फिलासफी आफ उपनिषद्स, सं० डायसन, अनु० आर० ए० एस० गेडन, १९०६
फिलासफी आव् धर्म, जे० गांगुली
बाल रामायण
बुद्धिस्ट इंडिया, राइस डैविड्स लन्दन, १९०३
बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आव् दि वेस्टर्न वर्ल्ड, ब्रील
बृहत् संहिता, वाराह मिहिर, डा० कर्न, कलकत्ता
बृहदारयक उपनिषद् आनन्दाश्रम० पूना
बृहद्देवता, मैक्डानल (हरवर्ड ओरियन्टल सिरीज़) १९०४
बृहस्पति स्मृति (आ० सं०)
बौधायन धर्मसूत्र (आ० सं०)
भाण्डारकर—स्मृति ग्रंथ, उत्गीकर
भारतीय संस्कृति —डा० देवराज
भारतीय पुनर्जागरण, (इंडियन रिनेसां,), अरविन्द
भारतीयों के चरित्र, आचार और रीति रिवाज, एब्बे दुबोस
मज्झिम निकाय, वी० ट्रैन्कनर एण्ड आर० चेलम्बर्स, लन्दन १८८८-१९२७
मनु स्मृति, निर्णय सागर
महाभाष्य, पंतजलि, (निर्णय सागर)
मानव श्रौत सूत्र०, सं० एफ० कौयर, पीटर्स बर्ग, १९००-१९०३
मास्टर्स आफ् पोलिटीकल थॉट, सं० एडवर्ड मैकशेस्ने, डब्ल्यू० टी० जोन्स भाग २
मिलिटरी सिस्टम इन इंश्यैंट इण्डिया, विमल कान्ति मजूमदार
महाभारत, (संशुद्ध संस्करण, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
१. आदि पर्व, सं० वी० एस० सुखथानकर १९२७-३३
२. सभा पर्व, सं० एफ० एगरटन, १९४३-४
३. ४, आरण्यक पर्व (वन पर्व) सुखथानकर, १९४१-४२
५. विराट्-पर्व, रघुवीर, १९३०
६. उद्योग पर्व, एस० के० डे० १९३७-४०
७. भीष्म पर्व, एस० के० बेलवलकर, १९४५-७

८. द्रोण पर्व, एस० के० डे० १९५३

९. कर्ण पर्व, एस० के० वैध १९४९-५४

१६-१६ शान्ति पर्व एस० के बेलवलकर १९४९-५४

महाभारत, नीलकण्ठ की भारत-भाव-प्रदीप-टीका, सं० रामचन्द्र शास्त्री, किंजवडेकर, पूना १९२९-३३

मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस

मैकियावेलिज्म, मीनेख, सं० स्टार्क डब्ल्यू०, न्यू हैवेन, येल यूनी० प्रे० १९५७

मैकियावेली एण्ड दि रिनेसां, चैबोद

मैकियावेलीज़ रिनेसां देर क्रीग्स कुस्त : होब होम

मोहनजोदडो एण्ड दि इन्डस सिवलाइजेशन, मार्शल सर जौन, भाग ३

मैकियावेलीज प्रिंस एण्ड इट्स फोररनर्स, एलन० एच०, गिलबर्ट १९३८

मैटाफिजिक्स, अरिस्तू, अनु० अर्नेस्ट बार्कर, आक्सफोर्ड १९४६

मैत्रायणी संहिता डा० श्रोडर, पार्जीटर

मौर्यन पौलिटी, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, मैसूर १९३२

यजुर्वेद (मैत्रायणी संहिता) सं श्रोडर एल० वी० १८८१-८६

याज्ञवल्क्य, स्मृति (निर्णय सागर) १९२६

राजनय, राघवेन्द्र सिंह

राजनीति और दर्शन, डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्

राजनीति दर्शन का इतिहास, जार्ज एच० सैवाइन, २ भाग (अन० विश्व प्रकाश गुप्त) दिल्ली, १९६४

चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स, राधा कुमुद मुकर्जी, मद्रास १९४३

रामायण, वाल्मीकि, सं० आर० नारायणस्वामी, मद्रास १९३३

रिचुअल लिट्रेचर, हिलेब्रांट, १८९७

रिपब्लिक, अनु० विश्वनाथ

रिलीजन आफ दि वेद, ब्लूमफील्ड

रिलीजन्स आफ इण्डिया, वार्थ, ए० लन्दन १८८२

रीडिंग्स इन पालिटिकल फिलासफी, कोकर, एफ० डबल्यू० न्यूयार्क १९३८

लाइफ आफ दि बुद्ध, शैक्हिल, डबल्यू० डबल्यू०

लाइफ आव् मैकियावेली, सी० ई० डेट-मोल्ड

लोकल गवर्नमैंट इन एंश्येंट इण्डिया, राधा कुमुद मुकर्जी, दिल्ली १९५८

विनयपिटक, राकहिल द्वारा लाइफ आफ बुद्ध में संगृहीत संक्षिप्ति

वार इन एंश्येंट इण्डिया, वी० आर० दीक्षितार, सं० २ मद्रास, १९४८

वासिष्ठ धर्मसूत्र, सं० डा० फूरर, बम्बई संस्कृत सीरीज

विष्णु धर्मसूत्र, सं० जे० जौली, कलकत्ता १८८१, इंगलिश अनुवाद, बूलर जी० एस० बी० ई० पु० २ सां० २, आक्सफोर्ड १८८०

विष्णु स्मृति, जे० जौली, कलकत्ता १८८१
विजन ग्राफ इण्डिया, सिडनी लौ (द्वितीय संस्करण) १९०७
वाजसनेयी संहिता, सं० ए० वैवर, लन्दन १८५९
वैदिशे स्टडियन, के० एफ० गैल्डनर
वैदिक इन्डैक्स ग्राफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, ए० ए० मेकडानल और ए० बी० कीथ,
वैदिक एज, सं० ग्रार० सी० मजूमदार, लन्दन १९५१
वैदिक माथालोजी, ए० एफ० हिलेब्रान्ट, १८९१–१९०२
वैदिक हिम्स, एम० मूलर ग्राक्सफोर्ड
वैष्णविज्म, शैविज्य एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, सर डा० ग्रार० जी० भाण्डाकर स्ट्रासबर्ग—१९१३
व्यापारी सुलेमान के विवरण, बाबू जैद, ग्रनु० ऐव० रेनाडोट
शतपथ ब्राह्मण, सं० ए० वेवर, लन्दन १८८५
शान्ति पर्व संस्करण—टिप्पणी, डा० एस० के० वेलवलकर पूना, १९४९–५४
शांकर भाष्य, भगवद्गीता
शुक्र नीति, बी० के० सरकार, इलाहाबाद, १९१४
सम ग्रास्पेक्ट्स ग्राफ ऐश्येंट हिन्दू पालिटी, डी० ग्रार भण्डारकर, बनारस १९२९
सिस्टम्स ग्राफ संस्कृत ग्रामर, वेलवलकर
स्टडीज इन हिन्दू पोलिटीकल थॉट, ए० के० सेन, कलकत्ता १९२६
स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मैंटाफिजिकल फाउण्डेशन्स, डा० विश्व नाथ प्रसाद वर्मा, बनारस
स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंश्येंट इण्डिया, डा० ए० एस० ग्राल्टेकर, बनारस १९४९
स्टेट क्राफ्ट ग्राफ मैकियावेली, हर्बर्ट बटरफील्ड, लन्दन १९४०
संस्कृति या दार्शनिक विवेचन, डा० देवराज
सांख्यायन श्रौत सूत्र, सं० ए० हिलेब्रांट, बी० ग्राई, कलकत्ता १८८०–१८८९
सौवरेन्टी एन ऐंश्येंट इण्डियन पोलिटी, एच० एन० सिन्हा, लैवनब १९३८
सौशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन दि गृह्यसूत्राज, डा० वी० एम० ग्राप्टे, बम्बई १९५४
सौशियोलॉजी, बौगार्ड्स
सौशल ग्रार्गेनाइजेशन ग्राफ नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम; सं० फिक, ग्रनु० एस० के मैत्र, कलकत्ता १९२८

हिन्दू एथिक्स, डा० जान मैक्वेंजी, लन्दन १९२२
हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, एम० ए० शरिंग, भाग ३, १८७२–१८८१
हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्यतन्त्र) डा० काशी प्रसाद जायसवाल, बंगलौर १९४३
हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, दीक्षित्तार वी० ग्रार, मद्रास १९२९
हिन्दू एथिक्स, मैक्केंजी सिरीज
हिन्दू ला एण्ड कस्टम, जे० जौली, ग्रनु० बी० के० घोष, कलकत्ता १९२८

हिन्दू व्यूज आफ लाइफ, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
हिन्दू सभ्यता, डा० राधा कुमुद मुकर्जी, अनु० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
हिम्स आफ् दि अथर्व वेद, (एस० बी० ई०) पु० ४२, एम० ब्लूमफील्ड, आक्सफोर्ड १८९७
हिस्टरी आफ् इंगलिश ला, होल्ड्सवर्थ (चतुर्थ संस्करण)
हिस्टरी आफ इंगलिश ला, पोलक तथा मैंटलेंड
हिस्टरी आफ् इंडियन लिटरेचर, विन्टरनीट्ज एम०, कलकत्ता १९३७ पु० १
हिस्टरी आफ एन्टिक्विटी, डंकर, १९५२-५७
हिस्टरी आफ ऐंश्येंट लिटरेचर, मेक्समूलर, इलाहाबाद १९२६
हिस्टरी आफ दी साइन्स आफ पौलिटिक्स, फ्रैडरिक पोलक
हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे, पूना, १९४१-५३
हिस्टरी एण्ड कल्चर आफ दि इंडियन पीपुल, सं० आर० सी० मजूमदार और ए० डी० पुशालकर, लन्दन १९५०
हिस्टरी दे ला साइंसापोलितिके, पी० जैनेट

पत्र—पत्रिकायें

इंडियन एण्टीक्वरी
इंडियन हिस्टरीकल क्वाटरली, कलकत्ता
इंसक्रिप्शनस् इंडीकेरम्, गुप्ता इंस्क्रिप्शन्स भाग ३
एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्ट्टीयूट, (ए० बी० ओ० आर० वाह०) पूना
एगिग्राफिका इण्डिका
जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, हाप्किन्स, ई० डब्ल्यू, दि सौशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आफ दि रुलिंग कास्ट इन ऐंश्येंट इंडिया ऐग्ररिप्रेजैंटेड इन दि संस्कृत ऐपिक पु० १३, न्यू हैवन, १८८८
जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना
जर्नल आफ दि रायल एषियाटिक सोसायटी आफ् ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड लंदन
न्यूमैन, जे० गोंडा, ऐंश्यैंट इडियन किंगशिप फ्रौम दि रिलिजस पाइन्ट आफ् व्यू, पु० ३-४, १९५६-७
बम्बई गजेटियर, पु० १,२
वार्षिक प्रतिदन—मैसूर पुरातत्त्व विभाग सन् १९२७
साइत्स्क्रिफ्ट देरदाउत्शैन मौर्गनलैण्डिशेन गेसेलशाफ्ट, जैड० डी० एम०.जी०